विषय सूची

पाठ्यक्रम परिचय

एम.ए. हिन्दू अध्य;यन कार्यक्रम प्रथम वर्ष के तृतीय पाठ्यक्रम में आपका स्वाbगत है। इस पाठ्यक्रम का नाम ज्ञान-मीमांसा है। भारतीय ज्ञान परम्पपरा में ज्ञान प्राप्तर करने के मार्ग और सोपान हैं। इन्हें ज्ञान-मीमांसा के नाम से जानते हैं। अर्थ की परीक्षा करने अथवा तात्प्र्य का विश्लेषण करने हेतु प्रमाण की आवश्यत्रकता होती है। तत्वन विवेचन में भी प्रमाण ही अनिवार्य होते हैं। भारत की ज्ञानपरम्पयरा में वाद, संवाद, आख्याभन, अधिकरण एवं तन्त्रकयुक्तियों का महत्वस है। ज्ञानमीमांसा नामक इस पाठ्यक्रम में सात खण्डों एवं 27 इकाइयों के माध्यीम से विषयवस्तुत का वर्णन प्रस्तुमत किया गया है। अध्य्यन की सुविधा के लिए यह पाठ्यक्रम सात खण्डोंअ में विभाजित हैं। जिनके नामकरण अलग-अलग हैं। प्रथम खण्ड प्रमाण सिद्धान्तक का परिचय है। इसमें चार इकाईयों के भीतर विषय सामग्री का प्रस्तुतिकरण है। प्रथम इकाई में आप प्रमाण सिद्धान्त के उद्भव एवं विकास का अध्यसयन करेंगें। दूसरी इकाई में प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण, प्रमा के स्वनरूप को आदर्श ज्ञान के तत्वा के रूप में देखा गया है। तीसरी इकाई की विषयवस्तुइ को प्रमाणों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए स्व त: प्रामाण्यीवाद एवं परत: प्रामाण्य्वाद का वर्णन किया गया है जिससे आपको प्रमाणों की क्रमिक जानकारी प्राप्तख हो। प्रमाण सिद्धान्तव नामक द्वितीय खण्ड है। इस खण्डर में आप प्रत्ययक्ष और अनुमान को जानेगें। ज्ञान के लिए साक्षात्कार आवश्य क है। अनुमान के द्वारा भी ज्ञान प्राप्त होता है। इनकी अलग-अलग सीमायें और साधन हैं। इसी के दृष्टिगत द्वितीय खण्ड का विवरण है। शब्दर, उपमान तथा अन्य प्रमाणों में अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि के विस्तावर से वर्णन हेतु आप तृतीय खण्डा की चार इकाइयों का अध्यायन करेंगें। केवल प्रमाणों से ही नहीं बल्कि उनके अनुप्रयोग से भी तथ्योंत की पुष्टि होती है क्योंपकि तत्वंविवेचन में प्रमाणों के अनुप्रयोग भी भारतीय ज्ञानपरम्पयरा के विविध पक्षों में प्राप्तद है। यही वर्णन आपको चतुर्थ खण्डि में प्राप्तक होगा। भारत की ज्ञान प्रणाली में वाद परम्पधरा का जितना स्थान् है उतना ही अधिकरण और तात्पपर्य निर्णय का भी । यही नहीं, कथायें और श्रवण विधि भी इसके लिए उपयोगी हैं। सम्वाकदपरक तथ्योंर से भी हमें विभिन्न प्रकार के तत्वोंश का ज्ञान होता है। इसी आलोक में पंचम खण्ड की छ: इकाइयों में सभी वर्णन किये गये हैं। आख्या नों का अपना विशेष महत्व है । वेद से ही इनकी प्राप्तिं प्रारम्भग होती है। पुराण में भी आख्या न मिलते हैं। लोक के आख्या नों में भी ज्ञान परम्पमरा का निदर्शन मिलता है। छठा खण्ड आख्या नों के वर्णन का ही है। भारत में ग्रन्थों के निर्माण में अनुबन्ध्चतुष्ट य भी महत्वापूर्ण है। क्यों कि बोध का विषय, उसका अधिकारी, उससे सम्बणन्ध् और प्रयोजन अनिवार्य होते हैं। इसीलिए भारतीय ज्ञान प्रणाली में योग्यभता का महत्वोपूर्ण स्थाअन है। ग्रन्थ् सम्पा्दन की परम्पपरा से भी विषयगत सन्दे्हों को दूर करना भारतीय आचार्य परम्पहरा की विशेषता है। ज्ञानमीमांसा के इस पाठ्यक्रम में सातवां खण्ड ग्रन्थ निर्माण की भारतीय विधि से ही सम्ब न्धित है। इसमें उक्तद तथ्यों का वर्णन तीन इकाइयों के माध्यथम से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुउत पाठ्यक्रम के अध्योयन से आप भारतीय ज्ञानमीमांसा का बोध प्राप्त करते हुए प्रमाण, वाद, अधिकरण, तात्पंर्य निर्णय, कथा, श्रवणविधि , आख्यान, अनुबन्धक चतुष्टतय आदि की व्यांख्या करने में समर्थ हो सकेंगें।

खण्ड 1
प्रमाण सिद्धान्त का परिचय

प्रथम खण्ड का परिचय

एम. ए. हिन्दू अध्ययन के तृतीय पाठ्यक्रम के प्रथम खण्ड में आपका स्वागत है। चार इकाइयों से युक्त इस खण्ड का नाम प्रमाण-सिद्धान्त का परिचय है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए विभिन्न साधन तथा मार्ग होते हैं। भारतीय परम्परा में जिस विषय के अन्तर्गत इन ज्ञान-प्राप्ति के साधनों तथा मार्गों का अध्ययन एवं विश्लेषण किया जाता है, उसे ज्ञान-मीमांसा कहते हैं। ज्ञान-मीमांसा को जानने के लिए सर्वप्रथम प्रमाणों एवं प्रमाण के सिद्धान्तों के विषय में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। इसी क्रम में इस खण्ड में चार इकाइयों में प्रमाण-सिद्धान्त का परिचय प्रस्तुत है। प्रथम इकाई में भारतीय प्रमाण-सिद्धान्त के उद्भव एवं विकास का वर्णन प्राप्त है। किसी भी सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने की प्रक्रिया में चार प्रमुख तत्त्व उपस्थित होते हैं - प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमा। इन्हीं के स्वरूप का विवेचन द्वितीय इकाई में प्रस्तुत है। प्रमा (सम्यक् ज्ञान) को प्राप्त करने के साधन ही प्रमाण कहलाते हैं। प्रमाणों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए, तृतीय इकाई में स्वतःप्रामाण्यवाद एवं परतःप्रामाण्यवाद को वर्णित किया गया है। ग्रन्थों का विश्लेषण करने में प्रमाणों का किस प्रकार से प्रयोग किया जा सकता है? इस खण्ड की अन्तिम इकाई में इसी प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत है। इस प्रकार प्रथम खण्ड के अध्ययन से आप भारतीय प्रमाण-सिद्धान्त से अवगत होंगें। इस खण्ड का अध्ययन करने के पश्चात् आप प्रमाण-सिद्धान्त, आदर्शज्ञान के चार तत्त्व, प्रामाण्यवाद, प्रमाणों का ग्रन्थविश्लेषण अनुप्रयोग आदि विषयों का उल्लेख करनें में सक्षम हो पाएँगें।

इकाई 1 प्रमाण सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप

- प्रमाण सिद्धान्त का वेदों में स्त्रोत जान सकेंगे।
- चार्वाक दर्शन के तार्किक एवं क्रान्तिकारी प्रमाण सिद्धान्त को समझ सकेंगे।
- जैन दर्शन के प्रमाण सिद्धान्त से परिचित होंगे जिन के प्रत्यक्ष के बारे में अन्य दर्शनों से विलक्षण विचार हैं।
- वैशेषिक, न्याय, सांख्य, मीमांसा और वेदान्त के प्रमाण सिद्धान्त से परिचित होंगे।
- उपमान के विषय में न्याय और मीमांसा के विरोध को समझेंगे।
- अर्थापात्र एवं अनुपलब्धि के स्वतन्त्र प्रमाण होने के मीमांसा और वेदान्त के तर्क को भी जान सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

प्रमाण सिद्धान्त भारतीय चिन्तन परम्परा में एक महत्वपूर्ण विषय है। किसी विषय के यथार्थ ज्ञान को प्रमा तथा उसके असाधारण करण को प्रमाण माना जाता है। प्रमाण सिद्धान्त का उत्म निर्विवादरूप से वेद को स्वीकार किया जा सकता है। इस अध्याय में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। वेद में उस प्रकार स्वतन्त्र रूप से प्रमाण मीमांसा नहीं है जैसा कि दर्शनों में है। वहाँ इसके प्रकरण यत्त-2 विखरे पड़े हैं। वैदिक धर्म एवं दर्शन की प्रतिक्रिया में चार्वाक ने बड़े

तार्किक ढंग से शब्द एवं अनुमान प्रमाण का खण्डन किया जिस पर प्रकाश डाला गया है। चार्वाक के इस खण्डका सभी दर्शनों में विरोध है लेकिन जैन दर्शन ने प्रबल तर्क देकर चार्वाकके अनुमान खण्ड का प्रतिकार किया। जैसे बौद्ध, वैशेषिक, काय, सांख्य मीमांसा और वेदान्त के अपने-अपने प्रमाण सिद्धान्तहैं जो काल क्रम में विकसित हुए। इस अध्याय में सभी दर्शनों के प्रमाण सिद्धान्तों का विवेचन है। दो दर्शनों किसी प्रमाण के विमर्श को लेकर जहां मतभेद है उस पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। विशेषकर उपमान के विषय में न्याय एवं मीमांसा का विरोध है। अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि को लेकर भी न्याय से इनका मतभेद है। न्याय जहां इनका अन्तमवि अनुमान में करता है वहां मीमांसा और वेदान्त इन्हें स्वन्त्र प्रमाण मानते हैं और इसके पक्ष में उचित तर्क देते हैं। अनुमान के विषय में न्यायदर्शन में विस्तार से विचार हुआ है। थोड़े-बहुत अन्तर में से सभी दर्शनों ने वैसे ही विचार प्रस्तुत किये हैं।

इस अध्याय में वेद से प्रारम्भ कर रामानुज तक प्रमाण सिद्धान्त के विकास यात्रा को दिखाया गया है। न्याय और वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रमाण सिद्धान्त उन्नीसवीं सदी तक विचार के विषय बनते रहे हैं किन्तु इनका विचलन मूल सिद्धान्तों से नहीं है। अत: इन्हें इस अध्याय में स्थान नहीं दिया गया।

1.2 प्रमाण सिद्धान्त

प्रमाण मीमांसा सभी दर्शनों का एक प्रधान अंग है। प्रमाण शब्द व उपसर्ग पूर्वक या धातु में ल्युद् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है – प्रमा का असाधारण करण। प्रमाण शब्द सामान्यतया प्रमा के कारण के अर्थमें प्रयुत्य होता है किन्तु कहीं-2 प्रमा के अर्थ में भी इसका प्रयोग मिलता है। अनधिगतार्थ गत्रप्रमाणम् अथार्त नये विषय का ज्ञान कराने वाला ही प्रमाण है। यहाँ प्रमाण का प्रयोग प्रमा के लिए किया गया है। मीमांसा दर्शन में प्रमा और प्रमाण दोनों को प्राय: एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। प्रमाण शब्द को समझने के पहले प्रमा को समझना आवश्यक है।

अन्य दर्शनों की अपेक्षा न्याय दर्शन में प्रमाण मीमांसा पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। न्याय मत में किसी वस्तुके यथार्थ रूप की अनुभूति प्रमा है।[1] जो जिस प्रकार है उसका उसी प्रकार से अनुभव करना प्रमा है।[2] सामने रस्सी हो और उसका रस्सी के रूप में अनुभूति हो तो यह अनुभूति प्रमा है किन्तु अन्धकार के कारण यदि उसकी प्रतीति सर्प के रूप में हो तो यह अप्रमा है। अद्वैत वेदान्त में अनधिगत और अवांछित विषय के ज्ञान को प्रमा माना गया है। अर्थात् ज्ञान नवीन हो और उसका बाद में खण्डन न हो। यदि अन्धकार के कारण रस्सी को सर्प के रूप में ज्ञान हुआ तो यह अवांछित नहीं है क्योंकि प्रकाश आने पर इसका खण्डन हो जायेगा, सर्प ज्ञान बाधित हो जायेगा।

प्रमा जिससे उत्पन्न हो उसे करण कहते हैं। प्रमा की उत्पत्ति में अनेक कारण हो सकते हैं। रूप के ज्ञान में निर्दोष चक्षु, पर्याप्त प्रकाश निकटता एवं मन का इन्द्रिय से सन्निकर्ष, इन्द्रिय का रूपवान वस्तु से सन्निकर्ष आवश्यक है। इन सभी कारणों से नित्त असाधारण कारण है। वस्तु हो, प्रकाश हो, ज्ञातासे निकटतामी हो किन्तु यदि निर्दोष नेत्र न होती रूप का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रमा के करण को साधकतम या अत्यन्त साधक माना गया है।[3]

---

[1] यथार्थानुभव: प्रमा। तर्क भाषा पृ. 18

[2] तद्वतितत्प्रकारानुभव: प्रमा। तर्क संग्रह

[3] साधकतमंकरणम्। पणिनि 1/4/22

अत्यन्त साधक किसी कार्य का प्रकृष्ट उपकारक है। 'राम ने रावण को वाण से मारा'। यहां रावण को प्राण जाने में बहुत से कारण हैं – रावण द्वारा सीता हरण, राम का क्रोध, धनुष, वाण, प्रत्यज्ञा आदि किन्तु रावण की सद्य: मृत्यु वाण लगने से हुई। अत: वाण को ही असाधारण करण माना जायेगा।

प्रमा और करण को समझने के बाद प्रमाण के स्वरूप को समझा जा सकता है। न्याय मन्जरी में लिखा है – अर्थ विषयक असंदिग्ध तथा अव्यभिचारी ज्ञान जिससे उत्पन्न हो वह प्रमाण है।[4] यथार्थ ज्ञान (प्रमा) सविषयक होता है, ज्ञान हमें विषय का ही होता है। यह लक्षण ज्ञान को स्मृति से पृथक् करता है क्योंकि स्मृति निर्विषयक होती है।[5] अव्यमिचारि शब्द भ्रम का निराकरण करता है क्योंकि भ्रमात्यक ज्ञान व्यभिचरित होता है, बदल जाता है, खण्डित हो जाता है। असंदिग्ध शब्द निश्चयात्मक ज्ञान को प्रकट करता है। इससे संशय का निराकरण होता है। इस प्रकार स्मृतिभिन्न, संशय, विपर्यय आदि दोष से रहित किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान जिससे प्राप्त है। वही प्रमाण है।

प्रमाणों की संख्या

प्रमाणों की संख्या को लेकर भारतीय दर्शनों में मतभेद है। भारतीय दर्शनों में प्राय: आठ प्रमाण स्वीकार किये गये हैं – (1) प्रत्यक्ष, (2) अनुमान, (3) शब्द, (4) उपमान, (5) अर्थापत्रि, (6) अभाव, (7) संभव और (8) ऐतिध्य।[6] इसके अतिरिक्त चेष्टा एवं परिशेष प्रमाण भी कुछ लोगों ने स्वीकार किया है।

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है। वैशेषिक और बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं जैसी प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक शब्द और उपमान सहित चार प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर मीमांसक इनके अतिरिक्त अर्थापत्ति पांचवां प्रमाण मानते हैं। कुमारिल भट्ट इसमें अनुपलब्धि जोड़ देते हैं। पौराणिक इनके अतिरिक्त ऐतिहस एवं संभव प्रमाण भी मानते है। तान्त्रिक इसमें चेष्टा प्रमाण भी मिला देते हैं। गणित में परिशेष नामक दसवाँ प्रमाण भी स्वीकार किया जाता है।

प्रत्येक प्रमाणों का संक्षिप्त विवरण अग्रलिखित है –

1) **प्रत्यक्ष –** गौतम ने प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हुए लिखा है – इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोल्पयं ज्ञानम् अव्ययदेश्यम् अव्यमिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्[7] अर्थात् इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष (अत्यन्त्र समीप्य) से उत्पन्न अव्ययदेश्य, अव्यमिचारी तथा व्यवसायात्मक (निश्चित) ज्ञान प्रत्यक्ष है। अव्यपदेश्य वह दशा है जिसमें वस्तु है मात्र इसका बोध हो, उसके गुण धर्मोंका बोध न हो। इसे निर्विकल्चक्र प्रत्यक्ष कहा जाता है। व्यभिचारी पद निर्भ्रात्र ज्ञान कर संकेत करता है तथा व्यवसायात्मक पद गुण विशिष्ट सविकल्पक निश्चित

---

[4] अर्थ विषय मसंन्दिग्ध व्यभिचारि च ज्ञानं मेन जन्यते तत् प्रमाणम्। न्याय मंजरी 250

[5] ज्ञानम् अर्थजन्य स्मृति अनर्थजा। तर्कसंग्रह

[6] प्रत्यक्षमेकंचार्वाका: कणाद् सुगतौ पुन:।
अनुमानण्च तच्चापि सांख्या: शब्दण्च ते उये।।
न्यायैकदेशिनोप्येव मुपयानण्च केवलम्।
अर्थापत्या सहैतानि चत्वार्याहु: प्रभाकर:।।
अभाव षपठान्येतानि यहावेदान्तिस्तथा।
संभवैतिध्य पुच्यानि इति पौराणिका जगु:।। वेदान्त कारिका

[7] गौतम सूत्त 1/1/4

ज्ञानका द्योतक है। मन का इन्द्रिय और इन्द्रिय का वस्तु से संपर्क होने पर आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जैसे सामने घर होतो मन का नेत्र से और नेत्र का घर से सन्निकर्ष होने पर आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है।

2) **अनुमान -** किसी लिंग (हेतु या चिन्ह) के ज्ञान से उस लिंग को धारण करने वाली वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान है।[8] सुदूर धूम उठता देख वहाँ आग का ज्ञान करना अनुमान है। यहां धूंआ लिड़ग है और आग लिड़गी। हम जानते हैं कि जहां धूंआ रहता है वहां आग अवश्य रहती है। इसे व्यात्रि सम्बन्ध कहते हैं।[9] इसी आधारपर हम धूंये को देखकर स्थान विशेष जो दृश्य नहीं है, वहां भी आग का ज्ञान कर लेते हैं। चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शनों में इसे स्वीकार किया जाता है।

3) **उपमान** – पहले अनुभूत किसी वस्तु के साथ सादृश्य धारण करने के कारण जहां किसी नई वस्तु का ज्ञान होता है, उसे उपमान कहते हैं। गाय के सदृश् गवम (नील गाय) होती है। इस वाक्य के सुनने के बाद जब पुरूष गाय की समानता वाले पशु को देखकर गवम समझता है तब इन ज्ञान का अनुभव उपमान द्वारा हुआ माना जाता है। उपमान प्रमाण न्याय, वेदान्त एवं मीमांसा दर्शन में स्वीकृत है।

शब्द – आप्त वचन को शब्द कहते हैं –आप्तोपदेश: शब्द:। आप्त पुरूष विश्वनीय होता है और उसके कहे वचन प्रमाण हैं। हमने झूलता पुल नहीं देखा है किन्तु झूलता पुल देखने वाले किसी विश्वस्त पुरूष के कहने पर कि ऋषिकेश में राम झूला झुलता पुल है तो हम उसे स्वीकार कर लेते हैं। शब्द के अन्तर्गत वेद वाक्य भी हैं। पुनर्जन्म, कर्मफल, ईश्वर की सत्ता, स्वर्ग, तर्क आदि का ज्ञान हमे वेद से होता है। सांख्य, न्याय, मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन शब्द प्रमाण को स्वीकार करते हैं किन्तु मीमांसा और वेदान्त मनुष्यों के वचनों को नहीं अपितु वेद वचनों को ही शब्द प्रमाण मानते है।

अर्थापत्ति – दृष्ट या श्रुत अर्थ की उत्पत्ति जिस अर्थ के अभाव में न हो सके, उस की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं।[10] इसमें किसी अर्थ की उत्पत्ति के लिए अर्थानार की कल्पना की जाती है। इससे दो तथ्यों के विरोधाभास दूर होते हैं। मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता। यहां मोटा होने और दिन में न खाने की असंगति को दूर करने के लिए देवदत्त के रात में खानेकी अर्थ-कल्पना (अर्थापत्रि) की जाती। मीमांसक और वेदान्ती अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं।

अनुपलब्धि- वेदान्तियों एवं यादृ मीमांसकों ने अनुपलब्धि नायक स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया। अनुपलब्धि का अर्थ है – प्रत्यक्ष में उपलब्ध न होना। कमरे में घर उपलब्ध नहीं है, ऐसी स्थिति में घटाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है।

संभव – किसी पदार्थ का ज्ञात पदार्थ के अन्तर्गत होने से ज्ञान संभव द्वारा होता है। जैसे जो गज के नाप को जाता है वह गिरह को अवश्य जानता है। जो किताब को जानता है वह यह भी जानता है कि पढ़ाई सौ एवं पाँच सौ ग्राम भी संभव है। पौराणिक लोग संभव प्रमाण स्वीकार करते हैं।

ऐतिध्य – जिस प्रमाण से यह जाना जाता है कि इति अर्थात् ऐसा निश्चयपूर्वक हुआ है। इसमें

---

[8] तल्टिनड़िलिड़ पूर्वकम्।

[9] यत्त यत्त धूम सत्तत तत् वहिनरिति साहचर्य नियमो व्यात्रि।

[10] अर्थापत्ति रजि दृष्ट: श्रुतोवा अर्था इन्यकानोयपद्यते इत्यर्थकल्पना। शांकर भाष्य 1/1/5

समस्त इतिहास आता है। यह ज्ञान किसी अज्ञात व्यक्ति के वचनों के उपर परम्परागत चला आता है। हमारे सभी परम्परागत विश्वास ऐतिध्य के अन्तर्गत हैं।

चेष्टा – चेष्टा को तान्त्रिकों ने स्वतन्त्र प्रमाण माना है। चेष्टा क्रिया विशेष को कहते हैं। यह क्रिया चेष्टा करने वाले व्यत्रिकी तथा जिसके प्रति चेष्टा की जाती है दूसरी हित साधिका होती है। व्यवहार में नेत्रों के भंगाभंग तथा हाथों के संकोच विकास की चेष्टा देखी जा सकती है। कामिनी के नेल संचालन से दर्शक उसके अनुराग को जान लेता है।

परिशेष – गणित शास्त्र में इस प्रमाण का प्रयोग होता है। इसमें अनेक पदार्थों से छटाई करते-करते वास्तविक ज्ञेय पदार्थ तक पहुंच जाते हैं।

प्रमाण सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

अद्वैत वेदान्त मत में प्रमा को अनिधिगत एवं अवाछित ज्ञाना माना गया है। इस मत में चैतन्य ही ज्ञान है और वह अनादि है। यदि प्रमा अनादि है तो प्रमाण भी अनादि सिद्ध है। पर ऐतिहासिक रूप से साहित्य में उपलब्धि के आधार पर इसके उद्भव एवं विकास को समझा जा सकता है।

1.2.1 वेदों में प्रमाण सिद्धान्त

वेद विश्व के प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य हैं। भारतीय चिन्तन परम्परा में प्रमाण मीमांसा का प्रारम्भ वेद से माना जा सकता है। प्रमाण मीमांसा में दो सबसे प्रमुख शब्द है – प्रमा और प्रत्यक्ष। प्रमा का जो अर्थ दर्शनों में स्वीकार किया जाता है उसी अर्थ में वेदों में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। प्रत्यक्ष शब्द भी वेदों में उपलब्ध है। वेदों में दर्शनों की तरह प्रमाण मीमांसा पर विस्तृत चर्चा नहीं है किन्तु उनके बीज एवं स्रोत इनमें विद्यमान हैं।

ज्ञान सूत्र के प्रथम ऋचा में प्रमेय वस्तुओं के नामकरण और ज्ञान प्राप्ति का .... प्रसंग है। सूत्र में कहा गया है कि ज्ञान का स्वामी वृहस्वति सर्वप्रथम प्रमा बाली नाना वस्तुओं को नाम देता है। इनका जो गोपनीय ज्ञान है वह ह्दय में सरस्वती की कृपा से उत्पन्न होता है। यहां ज्ञान का प्रारम्भिक रूप बतलाया गया है। यहां ज्ञान प्राप्ति में मन की सक्रियता भी स्पष्ट है।

वेदों में यथार्थ ज्ञान के लिए प्रमा शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। तद्यका – 'य देषां श्रेष्ठ' यदरि प्रमा सीत् प्रेणा तदेपां निहितं गुहावि[11], कासीत प्रमा[12], सह स्तोमा सहच्छन्दस ड आवृत: स प्रभा ऋटषय: सत्त दैव्या:[13] यस्य भूमि प्रमाडन्तरि इन मुतोदाम्[14]। सायणा चार्य ने ऋग्वेद के प्रमा और प्रमिति शब्दों की व्याख्या करते हुए यज्ञवेदी की इयत्रां परिणाम के लिए प्रथम का अर्थ प्रमाण और इयत्रा परिज्ञान के लिए द्वितीय का अर्थ प्रमिति किया है।[15]

अथर्ववेद में प्रत्यक्ष शब्द अनेकश: आया है – यो वेतान्विद्यात प्रत्यक्ष ब्रहमावेदितं स्यात्[16], एकभ्भत्वा वेद प्रत्यक्ष मिन्द्रे सर्वं समहितम्,[17] इन्द्र त्वा वेद प्रत्यक्ष स्कम्स सर्व प्रतिष्ठितम्[18]।

---

[11] ऋग्वेद 10/7/1

[12] ऋग्वेद 10/130/3

[13] यजुर्वेद 34/49

[14] अथर्ववेद 10/7/32

[15] प्रमा प्रमाण इयत्रा वा कथ भूता आसीत् ... प्रमिति- यज्ञस्ये यत्रा परिज्ञानम्।

[16] अथर्ववेद 10/7/24

[17] अथर्ववेद 10/7/29

वेदों में प्रमा और प्रत्यक्ष शब्दों की विद्यमानता यह दर्शाती है कि वेद प्रमाण सिद्धान्त के उत्स हैं, उद्भव स्रोत हैं।

ऋग्वेद दसवें मण्डल का इक हत्तरवां सूक्त ज्ञान विषयक है। इसके देवता ज्ञान हैं और ऋषि वृहस्पति। इस सूक्त में ज्ञान प्रति की बाधा का निवारण तथा प्रत्यक्ष का मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक पक्ष प्राप्त होता है। इस सूक्त में ज्ञान प्राप्त करते समय किन-किन सावधानियों की आवश्यकता होती है इसका वर्णन है। यहां मन्त्र में अभिव्यज्जना करते हुए कहा गया है कि दिव्य अगिड़रस वृहस्वति अज्ञान अर्थात् ज्ञान के व्यवधान कारक पहाड़ी को तोड़ डालते हैं। जब ज्ञान के व्यवधान कारक नष्ट हो जाते हैं तो सत् ज्ञान का उदय होता है। तभी वह ज्ञान वाणी द्वारा कहने योग्य होता है और वह सत्र स्वर अर्थात् छन्दों द्वारा व्यक्त होता है।[19]

ज्ञानसूक्त के सातवें यन्त्र में कहा गया है कि आंख और कान से सम्पन्न मिल (देवता) मन के भावों को विशिष्टता से व्यक्त करते हैं।[20] यहां प्रत्यक्ष प्रमाण का अवगति प्राप्त होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण में मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का पदार्थ से स्ववि वर्ष होने पर ज्ञान प्राप्त होता है। उत्म यन्त्र में इन्द्रियों के साथ मन की सक्रियता का संकेत मिलता है। कौसीताकि उपनिषद् अध्याय तीन के पचास से तिरप नव यन्त्र तक प्रत्येक इन्द्रिय समन के संयोग से ज्ञान प्राप्ति का वर्णन है। उदाहरणर्थ यन्त्र वावन में लिखा है – प्रज्ञया चक्षु: समारूहत चक्षुषा सर्वाणि रूपाव्यापनोति।[21] इसकी प्रकाशिका में रंग रामानुज मुनीन्द्र ने लिखा कि मन के चक्षु इन्द्रिय से संयुक्त होने पर उसके द्वारा सभी प्रकार के रूपों का ज्ञान प्राप्त करता है।[22] भाष्य परिष्कारक यह दिशेक ने स्पष्ट लिख दिया कि मन के संयुक्त होने पर ही विषय ज्ञान की प्राप्ति होती है।[23] ऋग्वेद का मन्त्र कहता है – मन के सन्तुलित व्यापारों के पश्चात् ही ज्ञाता अर्थात् प्रमाता सत्रू की भांति छानकर[24] (सत्रू को सूप से शुद्ध करते हैं) अन्तर्मन से परिरक्षित कर ज्ञान को वाणी का विषय बनाता है। यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा के सन्तुलित व्यापार या प्रयास को उत्तम यज्ञ माना गया है।[25]

फ्रान्सीसी कवि आर्थ रिम्बारू के अनुसार समस्त इन्द्रियों की लम्बी क्रमिक प्रक्रिया एवं अन्तर्मन द्वारा तर्कपूर्ण नियन्त्रण से कवि अपने कोऋषि बनाता है।[26] स्पष्ट है कि – रिम्बारू के अनुसार वैदिक मन्त्र द्रष्टा ऋषि प्रत्यक्ष की सारी प्रक्रियाओं को अपनाते थे। ऋषि का मानना है कि जो प्रमाता इन्द्रियों से प्राप्त होने वाली संवेदनाओं और अन्तर्मन का सन्तुलन नहीं कर पाते वे देखकर भी नहीं देख पाते, सुनकर भी नहीं सुन पातें।[27] जो प्रमाता इन्द्रियों से मन का ठीक सन्तुलन रखता है, वह उतना ही ज्ञान प्राप्त करता है। एक कक्षा के सभी विद्यार्थी शुरू से शिक्षा प्राप्त करते हैं पर जो इन्द्रियां से मन जोड़ता है वह विषय का बोध कर पाता है, जिसका मन इन्द्रियें में नहीं जुड़ता वह बोध नहीं कर पाता। जो मन को इन्द्रिय से संलग्न करते हैं वे देख और सुन पाते हैं। उनके समझ विषय वैसे ही स्पष्ट हो जाता है जैसे पति के समक्ष उसके पत्नी का

---

[18] अथर्ववेद 10/8/30

[19] ऋग्वेद 10/71/3

[20] अक्षण्वन्त: कर्णवन्त: सखायो मनोजवैष्वसभा भूवु:। ऋग्वेद 10/71/7

[21] कौषीतकि उपनिषद् 3/52

[22] मनसा चक्षुरिन्द्रियमघिष्ठाय तद् सर्वाणि रूपाष्याप्नोति। कौषीतक्यु पनिषत् प्रकाशिका 5/51-53

[23] मन एवं समारोहि विषय प्रापकण्चेति ज्ञत्रये। कौषीतक्यु उप. भाष्य परिष्कार 3/53

[24] सक्तुिमव तिउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसावाचमक्रता। ऋग्वेद 10/71/3

[25] ऋग्वेद 10/71/3

[26] जयदेववेदालकार: भारतीय दर्शन में प्रमाण पृ. 28

[27] उत त्व: पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्व: श्रृण्वन् न ऋणोत्येनाम्। ऋग्वेद 10/71/4

नि:संकोच दिखाया गया शरीर।[28] ऋग्वेद यह भी कहता है कि प्रमाता और प्रमेय के बीच अनेक व्यवधान हो तो प्रमाता का ज्ञान दोषपूर्ण होगा।[29]

वेद में अनुमान के लिए अनुमति शब्द का प्रयोग मिलता है। निरूत्मकार ने कहा है – **अनुमति सुमननात् तस्य ए षमवति।** अनुमान पश्चात् ज्ञान है। अनु अर्थात् उसके पश्चात् मीमते अर्थात् ज्ञायते (जानता है)। तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के बाद जो ज्ञान का साधन बनता है, वह अनुमान है। अनुमान में लिड़ग से लिड़गी का ज्ञान होता है। लिड़ग को चिन्ह और हेतु भी कह सकते हैं। लिड़गी को चिन्ही और साध्य भी कहा जाता है। पर्वत पर धूम (लिड़ग) को देखकर वहां आग (लिड़ग) होने का ज्ञान अनुमान है। इसमें आग का ज्ञान बिना प्रत्यक्ष के किन्तु धूम के प्रत्यक्ष के बाद हुआ है।

अथर्ववेद सप्तम काण्ड का बीसवां सूत्त् अनुमति सूत्त है। इसके देवता अनुमति है। अनुमति का ज्ञान सार्वकालिक होता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए त्रिपद्धति चरति और सूजति शब्दों का प्रयोग मन्त्र में हुआ है।[30] तिष्ठति भूतकालिक ज्ञान है। जैसे नदी जल में तीव्र प्रवाह के साथ फेन, मिट्टी, पत्ते, झाड़ आदि को देखकर यह अनुमान करना कि पर्वत पर वर्षा हुई है। इसे दर्शनों में शेषवत् अनुमान कहा जाता है। चरति शव पर गतौ धातु से निष्पय होता है जिसका अर्थ है गतिपूर्वक। चन्द्रमा को आकाश में भिन्न-2 समयों में भिन्न-2 स्थानों पर देखने पर उनमें गति का अनुमान करना। यह दर्शनों में सामन्यतो दृष्ट अनुमान है। एजति क्रिया 45 पूर्ववत् अनुमान को ध्वनित कर रहा है। एजति का अर्थ है कल्पना करना आकाश या अन्य स्थलों पर कारण के अनुकम्पल से होने वाले कार्य का ज्ञान पूर्ववत् अनुमान से स्वीकार किया जाता है। घने बादल के देखकर वर्षा का अनुमान करना इसका एक उदाहरण है। यह अनुमान भविष्यत कालिक है। अत: वेद के शब्दों में यह अनुमान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान सर्वकालिक है।[31]

कुमारिल महने विशेषतोदृष्ट अनुमान में गोमय इन्धन से उत्पन्न होने वाले विशेष अग्नि का दृष्टान्त दिया है उसका मूल ऋग्वेद के **शकमय धूम मारात पश्यय्**[32] में उपलब्ध होता है। यजुर्वेद में सूर्य एवं नक्षत्रों की गतिका वर्णन कई स्थलों पर मिलता हैं जो आगे चलकर योग भाष्य शाबर आयय और न्याय भाष्य आदि में देवदत्त के स्थानात्न्तर प्राप्त से उसमें गति के अर्थापति ज्ञान का आधार बनता है।[33]

ऋग्वेद नासदीय सूत्त[34] में सृष्टि पूर्व की स्थिति का अनुमान किया गया है। उस प्रलय काल में न असत् था और न सत् न पृथ्वी थी न आकाश। उस समय कहां क्या आच्छादित था? किसके भाष्य से था? गंभीर जल भी कहां था?

उस समय न मृत्यु थी न अमरता। पर प्रश्न है (फिर क्या था? फिर ऋषि ने अनुमान किया) वह एक (बहम) अपनी स्वर्धा प्रकृति के साथ बिना प्राण वायु के प्राणन कर रहा था।

अथर्ववेद में अनुमृश्य एवं अनुमेय पदों का प्रयोग मिलता है। छान्दोयिपनिषद् में **वाकोवाक्य**

---

[28] उतोत्वस्मै तत्वं विसस्ते जयेव पत्य उशती सुवासा:। ऋग्वेद 10/71/4

[29] ऋग्वेद 1/164/37

[30] अनुमति सर्वमिद बयूब भत् तिष्ठति चरति यदुच विश्वमेजति। अथर्ववेद 7/20/6

[31] जयदेव वेदालंकार : भारतीय दर्शन में प्रमाण पृ. 34-35

[32] ऋग्वेद 1/164/43

[33] जयदेव वेदालंकार : भारतीय दर्शन में प्रमाण पृ. 2

[34] ऋग्वेद 10/129/1

विद्या (तर्क विद्या) का उल्लेख मिलता है जिसका प्रमाणों से गहरा सम्बन्ध है। ऐतो ब्राहमण में युक्ति पद उपलब्ध होता है। **अनुभीयन्ते अनुमीमते, अनुविना भाविनी** आदि शब्द उपनिषदों में व्याख्या सहित उपलब्ध हैं।[35] यजुर्वेद एवं ब्राहम ग्रन्थों के साथ ही वृहदारण्यक एवं छान्दोग्योपनिषद में अनुवीक्षण शब्द प्राप्त होता है। यह अनुमान का संकेत करता है। उपनिषदों के संवाद यम-नचिकेता,[36] प्रजापति इन्द्र विरोचन,[37] याज्ञवा स्कय मैलेयी,[38] शब्द प्रमाण को प्रमाणित करते हैं। नचिकेता, इन्द्र और विरोचन एवं मैलेयी को क्रमश यम, इन्द्र एवं याज्ञवल्क्य के वचन प्रमाण हैं। छान्दोग्योपनिषद् में नारद सन्त् कुमार से आत्म तत्व की शिक्षा लेते हैं[39]। नारद को सनत्कुमार के शब्दों पर पूर्ण विश्वास है।

1.2.2 चार्वाक दर्शन में प्रमाण सिद्धान्त

उपनिषदों के बाद शताब्दियों तक अक्रियावाद, यदृच्छावाद, नियतिवाद आदि अनेक अवैदिक मतों का जन्म हुआ। ये लोक में स्थापित भी हुए इन्हें सामान्यत: लोकायत मत कहा जाता है। इनके प्रतिनिधि विचार चार्वाक दर्शन में विद्यमान हैं। इनमें प्रमाण मीमांसा बड़े ही तार्किक ढंग से की गयी है।

चार्वाकों के अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। विषय एवं इन्द्रिय के संपर्क से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्दादि विषयों का ज्ञान हमें क्रमश: आंख जिहवा, नाक, त्वचा एवं कान के द्वारा होता है। प्रमेय की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो सकती है। अदृष्ट, अनास्वादित अनाध्रात, अस्पृष्ट एवं अश्रुत पदार्थ की सत्ता कथमपि स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण नहीं है।

चार्वाक अनुमान एवं शब्द प्रमाण का जोरदार खण्डन करते हैं। अनुमान का खण्डन करते हुए कहते हैं कि अनुमान संभावना है निश्चित ज्ञान नहीं। दृष्ट हेतु से अदृष्ट साध्य का ज्ञान करना अनुमान है। जैसे पर्वत पर उठते हुए धूम को देखकर पर्वत पर अदृष्ट आग्नि का ज्ञान करना। चार्वाकों का कहना है अनुमान का आधार व्यात्रि है और व्यात्रि की स्थापना कथमपि संभव नहीं है। व्यात्रि का अर्थ है व्याप्प व्यापक सम्बन्ध, अर्थात् दो वस्तुओं का अविनाभाव नियत साहचर्य। जहां-जहां धूम है वहां-वहां अग्नि है इस प्रकार के साहचर्य नियम को व्यात्रि कहते हैं। इसी व्यात्रि के आधार पर पर्वत पर उठने वाले धूंए को देखकर आग का अनुमान किया जाता है।

चार्वाक कहता है व्यात्रि की स्थापना प्रत्यक्ष से संभव नहीं है। समस्त धूम युक्त स्थानों को प्रत्यक्ष रूप में अग्नि युक्त देखना संभव नहीं है। व्यात्रि तभी संभव है जब कोई यह दावा करे कि उसने समस्त धूम युक्त वस्तुओं को देखा है और वहां आग पाया है। किन्तु ऐसा असंभव है। प्रत्यक्ष इतना व्यापक नहीं हो सकता। वर्तमान कालिक समस्त धूमयुक्त स्थान पर अग्नि को देखना असंभव है और सूतकालिक और भविष्यत् कालिक विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष से संभव नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष वर्तमान तक सीमित है।

नैयामिक व्यात्रि की स्थापना के लिए सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष की बात करते हैं। चार्वाक कहता

---

[35] जयदेव वेदालंकार : भारतीय दर्शन में प्रमाण पृ. 3

[36] कठोपनिषद्

[37] छान्दोग्योपनिषद अध्याय 8 खण्ड 7

[38] वृहदारण्यक उपतिवद् अ. 2, बालक - 4

[39] छान्दोग्योपनिषद् अध्याय 7 खण्ड 1

है प्रत्यक्ष से जातियां सामान्य को नहीं जान सकते। अनुमान से भी व्यात्रि सिद्ध नहीं होती। अनुमान दो प्रकार के है – आगमन और निगमन जिन्हें विशेष और सामान्य अनुमान भी कहा जाता है। आगमन विशेष के ज्ञान से सामान्य की स्थापना करता है। इसमें एक छलांग होती है जिसे आगमर्निक धनुति कहते हैं। हमने अभी तक दो पदार्थों में साहचर्य देखा किन्तु आगे भी ऐसी ही होगा (छलांग) यह कैसे कह सकते हैं? हो सकता है अगले उदाहरण में यह साहचर्य न हो निगमन सामान्य से विशेष का अनुमान है किन्तु सामान्य वाक्य तो स्वयं व्यात्रि पर आधारित है। पुन: व्यात्रि से अनुमान और अनुमान से व्यात्रि सिद्ध करने पर अन्योन्याज्ञय दोष होगा। निगमन में निष्कर्ष वाक्य आधार वाक्य में पहले से कहा गया होता हैं क्योंकि पर्वत पर घूम होने से अग्नि है (निष्कर्ष), जहां-जहां धूआं है वहां-वहां अग्नि है इस सामान्य आधार वाक्य में ही गतार्थ है। अत: निगमन में सिद्ध साधन दोष्ज्ञ भी है।[40]

शब्द से भी व्यात्रि की स्थापना नहीं हो सकती। पहले तो शब्द स्वंय प्रमाण नहीं है दूसरे यदि व्यात्रि शब्द प्रमाण से सिद्ध हों तो अनुमान के स्वतन्त्र प्रमाण होने का खण्डन हो जायेगा।

आगमन में अपूर्णता, अनिश्चयात्मकता संदिग्धता और अननिवायति है और सामान्यानुमान में सिद्ध साधन दोष है। अत: अनुमान प्रमाण नहीं है।

चार्वाक शब्द प्रमाण का भी खण्डन करता है। किसी आत्र पुरूष के वाक्यों में श्रद्धा रखना अनुमान से ही संभव है। सभी आत्र पुरूष के वचन प्रमाण हैं, यह आत्र पुरूष का वचन है अत: प्रामाणिक है। इस प्रकार अनुमान पर आधारित शब्द प्रामाणिक नहीं हैं क्योंकि अनुमान की प्रामाणिकता खण्डित की जा चुकी है। चार्वाक वेद बचनों को प्रमाण नहीं मानता। वह वेद के कर्ताओं का भाड़-धूर्त और त्रिशाचर कहता है।[41]

चार्वाक प्रमाण मीमांसा का अन्य दर्शनों में खण्डन हुआ है जो तत्-2 प्रसंगों में लिखा जायेगा। यहां मात्र महाभारत का जिक्र करता हूं। महाभारत आदि एवं शात्रि पर्व में चार्वाक ज्ञान मीमांसा और तत्व मीमांसा का खण्डन किया गया है क्योंकि यह वेद विरूद्ध मार्ग है। गीता के सत्रहवें अध्याय में इनके तत्व मीमांसीय मत की निन्दा की गई है।

1.2.3 जैन दर्शन में प्रमाण सिद्धान्त

जैन धर्म के लोग अपने धर्म प्रचारक सिद्धों को तीर्थंकर कहते हैं। महावीर स्वामी इस धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर हैं। जैन धर्म का स्वरूप बहुत कुछ इन्हीं के देन है। ऋषमदेव प्रथम तथा पार्श्वनाथ तेइसवें तीर्थंकर हैं। महावीर स्वामी महात्मा बुद्ध के समकालीन और उम्र में उनसे बड़े थे।

चैतन्य लक्षणों जीव कहकर जैन दर्शन जीव को चैतन्य मानता है। वह स्वमावत: अनन्त ज्ञान विशिष्ट है पर कर्मावरण के कारण उसका शुद्ध रूप उसके लिए सदा ओझल रहता है परन्तु सम्यक् चरित्र के सेवन से वह अपने शुद्ध नैतन्य रूप को प्राप्त कर लेता है।

यह ज्ञान दो प्रकार का होता है प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। आत्म सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष है। इस ज्ञान के लिए आत्मा को किसी पर निर्भर नहीं रहना पड़ता है। इन्द्रिय मन: सापेक्ष ज्ञान परोक्ष है इस ज्ञान

[40] विशेष डनुगमामावत् सामान्ये सिद्ध साघनात्।
अनुमाभड़ग पड़के डायिन् निमग्ना: वादि दानीन:।।

[41] त्रयोवेदस्य कर्तार: भण्डधूर्त निशाचर:।

की प्राप्ति में मन का इन्द्रियों से तथा इन्द्रियां का विषय से सन्निकर्ष होता है तब आत्मा में इसकी उपलब्धि होती है। अन्य दर्शनों में इसे ही प्रत्यक्ष माना जाता है।

उमाख्याति के अनुसार **प्रत्यक्ष ज्ञान** तीन प्रकार का है – (1) अवधि, (2) मन: पर्याय और (3) केवल। दूर स्थित, व्यवधान युक्त पदार्थों का ज्ञान **अवधि ज्ञान** कहलाता है। यह दो प्रकार का है – भव प्रत्यय एवं गुण प्रत्यय। यह स्वयं आत्मा की योग्यता से उत्पन्न होता है। जो अवधि ज्ञान जन्म लेते ही प्रकट होता है इसे भव प्रत्यय कहते हैं। जिस ज्ञान के लिए व्रत नियमादि के अनुष्ठान की आवश्यकता होती है उसे गुण प्रत्यय की संज्ञा दी जाती है।[42] जब जीव द्रोट ईर्ष्या आदि पर कीय मन की प्रव़त्तियों के निरोधक कर्मो का क्षय कर लेता है, तब इसके मन को समझने में योग्य हो जाता है, यही **मन: पर्याय** ज्ञान है और जीव जब समस्त ज्ञानावरणीय कर्मो का क्षय कर लेता है तब उसमें सर्वज्ञता आदि धर्मों का प्रस्फुटन होता है। इसे **केवल ज्ञान** कहते हैं। यही ज्ञान का पारमार्थिक रूप है। सम्यक् चरित्र का अनुष्ठान करने वाले जीव में यह योग्यता उत्पन्न होती है।

परोक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है – भक्ति और श्रुत मि इन्द्रिय और मन की सहायता से आत्मा में उत्पन्न होते हैं। इन्द्रिय एवं मन के संपर्क से उत्पन्न **मति ज्ञान** है। भक्ति ज्ञान दो प्रकार का है इन्द्रिय जन्य एवं अनिन्द्रियजन्य। अनिन्द्रिय जन्य ज्ञान मान संज्ञान है। आन्तरिक विषयों का ज्ञान इसमें प्राप्त होता है। **श्रुतज्ञान** भक्ति पूर्वक होता है। भक्ति ज्ञान जहां वर्तमान कालिक होता है वहां श्रुतज्ञान लैकालिक होता है। भक्ति ज्ञान में शब्द का उल्लेख नहीं होता है जबकि श्रुतज्ञान में शब्दों लेख होता है। जैनागम के द्वारा द्वादश अंशों के ज्ञान को अंग प्रविष्ट और गण घरों के पश्चात् शुद्ध बुद्धि आचार्यो के विरचित शास्त्रों का ज्ञान अंग बाह्य श्रुत ज्ञान है।

हेमचत्र उमास्वाति से भिन्न मत रखते हैं। हेमचत्र के अनुसार संख्याव्हारिक एवं पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं। जहां इन्द्रिय एवं मन की सहायता नितान्त आवश्यक है, **सांत्याव्हारिक प्रत्यक्ष** कहलाता है। आवरण नाश के बाद चेतन जीव के स्वरूप का प्रकट होना **केवल ज्ञान** या **पारमार्थिक प्रत्यक्ष** है।

परोक्षज्ञान स्मृति, प्रत्यमिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम पांच प्रकार का है। वासना के उद्कुद्ध होने पर अतीत का यथार्थ स्मरण **स्मृति** है।

यह वही है, इस प्रकार का ज्ञान **प्रत्यमिज्ञान** है। निमित व्याप्त्रि का ज्ञान **तर्क** है। हेतु से साध्य का ज्ञान **अनुमान** है। आदा पुरूषों तथा जैनागमों के वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान **आगम ज्ञान** है। आगम ज्ञान को ही अन्य दर्शनों में शब्द ज्ञान कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जैन दर्शन अन्य दर्शनों की भांति प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द, ये तीन प्रमाण स्वीकार करता है। कहा भी है – प्रमाणनि प्रत्यक्षानुमान शब्दानि[43]।

चार्वाककृत अनुमान एवं शब्द के खण्डन का खण्डन

जैसाकि आप पढ़ चुके हैं चार्वाक के बल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है, शब्द एवं अनुमान का जोरदार खण्डन करता है। जैन दार्शनिक अनुमान एवं शब्द जैसे अप्रत्यक्ष प्रमाणों के लिए युक्ति

[42] त. सू. 1/21-23

[43] न्यायावतार विवत्रि प्र. 4 सतीशचन्द्र विद्याभूषय वास संपादित।

देते है।[44] उनका तर्क है केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण क्यों माना जाय? चार्वाक इस प्रश्न पर यदि मौन रहते हैं तो यह स्पष्ट है कि उनके मत के कोई युक्ति नहीं और मत की पुष्टि में युक्ति देते हैं तो स्वयं अनुमान का सहारा लेते हैं। यह कहना कि प्रत्यक्ष निर्विवाद और दोष रहित होता है तो यह बात अनुमान और शब्द पर भी लागू होता है।

चार्वाक मीर यह कहते हैं कि अनुमान और शक कभी-कभी दोषयुक्त होते हैं तो प्रत्यक्ष में भी भ्रम होता है। इसीलिए प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द को तभी प्रमाण मानना चाहिए जब उससे सर्वथा दोष रहित ज्ञान प्राप्त हो। ज्ञान का उसके व्यावहारिक परिणामों के साथ सामन्जस्य होना ही उसकी प्रामाणिकता है।

चार्वाक परलोकादि अप्रत्यक्ष विषयों के अस्तित्व को अस्वीकार स्वयं प्रत्यक्ष की सीमा का अतिक्रमण करते हैं। वस्तुओं को नहीं देखने के कारण वे उनके अभाव का अनुमान करते हैं। पुन: जब वे कहते हैं कि सभी प्रत्यक्ष प्रामाणिक हैं तो वे अनुमान की ही सहायता लेते है। क्योंकि यहां अतीत के प्रामाणिक प्रत्यक्षों के आधार पर ही भविष्य के प्रत्यक्षों के सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है।[45]

जैसे दर्शन यह मानता है कि वस्तु और जीवात्मा में अनन्त हैं और प्रत्येक के अनतत गुण धर्म हैं।[46] 'केवल' ज्ञान सम्पन्न केवली ही सवस्तुओं और उनके गुण धर्मो को जान सकता है।[47] उनका ज्ञान सापेक्ष होता है। अत: उन्हें प्रत्येक परामर्श वाक्य में 'स्यात' शब्द जोड़कर उसके सापोदित ज्ञान का निर्देश करना चाहिए।[48] जैसे 'घड़ा' लाल है न कहकर स्मात घड़ा लाख है, ऐसा करना चाहिए। यह जैन दर्शन का प्रसिद्ध स्पाद्वाद है। इसमें परामर्श सात प्रकार के बताये गये हैं जिन्हें सत्रमंमीनय कहते। विस्तार से बचने के लिए उसका विवेचन नहीं किया जा रहा है।

1.2.4 बौद्धदर्शन में प्रमाण सिद्धान्त

महात्मा बुद्ध द्वारा प्रचलित बौद्ध धर्म साहित्यिक दृष्टि से अपना समृद्ध है। इनके अनुयायियों ने दार्शनिक रूप से चार सम्प्रदाय – वैभाषिक, सौतान्त्रिक, योगाचार-विज्ञानवाद एवं शून्यवाद, बन्तकर विपुल साहित्य का सृजन किया।

आचार्य दिड़गनाग को बौद्ध-न्याय (प्रमाण मीमांसा) का जन्मदाता माना जाता है। बाद में धर्मकीर्ति ने इसका विस्तार किया। ये दोनों विज्ञानवादी आचार्य हैं। दिड़गनाग का प्रमाण समुच्चय और धर्मर्कीति का प्रभाववातिक प्रमाण मीमांसा के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

इन आचार्यों के अनुसार यथार्थज्ञान प्रमा है और उसका करण है – प्रमाण। चूंकि प्रमेय दो हैं – स्वलक्षण और सामान्य, अत: इनके अनुसार प्रमाण भी दो हैं – प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय 'स्वलक्षणद्ध है और अनुमान का विषय सामान्य। अन्य प्रमाण इन्हीं दोनों में अन्तर्निहित हैं। न्याय दर्शन मानता है कि कुछ दशाओं में एक प्रमेय को अनेक प्रमाणों से जाना जा सकता है इसे सम्पल्व कहते हैं। जैसे अग्नि को प्रत्यक्ष से भी जानते हैं और उसका अनुमान भी करते हैं। दिड़गनाग का मानना है कि प्रत्यक्ष का विषय अनुभावनाओं अनुमान का विषय

---

[44] प्रमेय कमल मार्तण्ड, द्वितीय अध्याय, स्कादा मंजरी श्लोक 20 तथा उस पर हेमचत्र टीका द्रष्टक है।

[45] सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं धीरेन्द्रमोहनदत्त भारतीय दर्शन पृ. 61-62

[46] अनन्तधर्मात्मकमेव तत्वम्। अन्य योग पृ. 23

[47] एक देश विशिष्टोडर्थो नमस्य विषयोमत:। न्यायावतार 29

[48] स्यात्कार: सत्यलाण्छन:। आप्त मीमांसा 10, 112

प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता।

प्रत्यक्ष – दिड़गनाग के अनुसार प्रत्यक्ष सविरूल्च बुद्धि की समान कल्पनाओं से रहित नाम-जाति आदि से अस्पृष्ट अभ्रान्त अपरोक्त ज्ञान है।[49] इसका विषय शुद्ध रचलक्षण है। यह समान विकल्पों से रहित ज्ञान है अत: निर्विकल्प कहलाता है। नाम, जाति आदि के विकल्प तो बुद्धि की कल्पनायें हैं। निर्विकल्प प्रत्यक्ष इन कल्पनाओं से रहित होता है। न्याय एवं मीमांसा दर्शन में नाम इत्यादि विशेषताओं से युक्त प्रत्यक्ष के सविकल्पम प्रत्यक्ष मानते हैं पर दिड़गनाग इसे प्रत्यक्ष नहीं मानते। उनके अनुसार निर्विकल्प ही प्रत्यक्ष है और वही यथार्थज्ञान है जो स्वलक्षण ज्ञान है। स्वलक्षण इदम् अन्त और अघुना (यह, यहां और इस समय वस्तु की सत्ता है जो शाब्दिक अभिव्यक्ति से परे है। किन्तु सविकल्पक तो शाब्दिक है मिथ्या है, निर्विकल्चक ही वस्तु की शुद्ध सत्ता को ग्रहण करता है।

अनुमान – अनुमान वह है, जो प्रत्यक्ष के अवशिष्ट विषय के प्रति आश्वस्त है।[50] वसुबन्धु ने 'नान्तरीय कार्य दर्शनम् तद्धिदोनुभानम्[51] कहकर अनुमान को परिभाषित किया। यहां यह तो स्पष्ट हो रहा है कि जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है वह अनुमान का विषय है परन्तु अनुमान का लक्षण समझ में नहीं आ रहा है। धर्मकीर्ति के अनुसार सम्बन्धी के धर्म से धर्मी के विषय में जो परोक्षानुभूति होती है वही अनुमान है।[52] दूसरे शब्दों में हेतु से साध्य का ज्ञान अनुमान है। आचार्य दिड़गनाग के अनुसार – अनुमेय और उसके अर्थात् सजातीय में जिसका अस्तित्व है और अनुमेय और उसके सजातीय से भिन्न में जो नहीं है, वह अनुमान है।[53] अनुमान में हेतु से साध्य का ज्ञान किया जाता है। उदाहरणार्थ पर्वत पर उठते धुयें को देखकर आग का ज्ञान करना। परिभाषा में यह कहा गया है कि – अनुमेय आतिन सजातीय महानस (रसाईया) आदि में अस्तित्व होना चाहिए किन्तु सजातीय से भिन्न जलाश्य आदि में हेतु का अभाव होना चाहिए।

बौद्धों के अनुसार त्रिरूपात्सक वैद्य हेतु से ही साध्य का अनुमान होता है। वैध हेतु का साध्य से सम्बन्धी होना चाहिए। यह सम्बन्ध तीन प्रकार का है[54] -

1) हेतु साध्य का कार्य होसृष्टता, उदाहरणार्थ पर्वत पर आनि है क्योंकि वहां धूम है। यहां धूम आनि का कार्य है।

2) हेतु साध्य का अंश हो सकता है। अर्थात् दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध हो सकता है। जैसे यह वृक्ष है क्योंकि आम है। यहां आम वृक्ष का एक अंश है। दोनों में तादात्म्य है।

3) हेतु की अनुपस्थिति से साध्य की अनुपस्थिति सिद्ध हो सकती है। उदाहरणार्थ वृक्ष की अनुपस्थिति से .... की अनुपस्थिति का अनुमान होता है।

अनुमान का विषय सामान्य है यह पहले ही जैनेन्द्र बुद्धिकृत भाष्य में आ चुका है कि अनुमान प्रत्यक्ष से अवशिष्ट विषय के प्रतिज्ञान है। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है। इससे मिथ दूसरा

---

[49] प्रत्यक्ष कल्पना पौढ नाम जात्याव्यासंयुत्म्।
अभ्रान्तपरोक्षंच प्रत्यक्षेणैव सिद्धचति।। प्रमाण समुच्चय 1/3

[50] वसुबन्धु ने वादविधि में प्रमाणों की जो व्याख्या की है वह प्रमाण समुच्चय के जेनेन्द्र बुद्धिकृत भाष्य में उद्धृत है। तदनुसार उक्त परिभाषा है।

[51] वसुबन्धु न न्याय वार्तिक में यह उद्धृत किया है।

[52] मा च सम्बन्धि नो धर्मदिभूति धार्मेति ज्ञायते। प्रमाण वार्तिक 2/62

[53] अपरे तुमन्यन्ते अनुमेये डथ तन्तुल्ये सद्धावों नात्तिताडसतीरूपा नाम नुमानम्। न्यायवार्तिक 1/1/5 दिड़गनाग के विचार को वार्तिककार से उद्धृत किया है।

[54] डॉ. वी. एन. सिंह: भारतीय दर्शन पृ. 315

प्रमेय सामान्य है, जो अनुमान का क्षेत्र है। 'सामान्य' बौद्धिक प्रत्यय है, काल्पनिक है। हम हेतु से साध्य का अनुमान करते हैं। यह अनुमान बाध्य वस्तु का नहीं 'सामान्यद्ध का है क्योंकि बाध्य वस्तु तो असत् है। विज्ञानवादी विज्ञान की सत्ता मानते हैं, बाह्य वस्तु की नहीं मदन्त ज्ञेय रूपं त द्धर्हिवद् अवभासते।

स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान अनुमान के दो भेद तत्वकार से बतालाये है।[55] जो त्रिरूप लिड़ग के द्वारा अनुमेयार्थ का दर्शन है, वह स्वार्थानुमान है।[56] यह अपने लिए होता है। इसमें अवयव वाक्यों की आवश्यकता नहीं होती। परार्थानुमान के निष्कर्ष को दूसरे के सम्मुख प्रकट किया जाता है। इसके लिए तीन वाक्यों का प्रयोग किया जाता है[57] पक्ष, हेतु और दृष्टान्त वाक्य। धर्मकीर्ति दृष्टान्त को आवश्यक नहीं मानते। उनके अनुसार अनुमान में दो ही वाक्य होते हैं – एक उदाहरण सहित व्यात्रि वाक्य और इसका प्रतिज्ञा, हेतु, उपनय एवं निगमन का समन्वय वाक्य।[58]

जहां-2 धूम है वहां-2 अग्नि है जैसे रसोई घर।

पर्वत धूमवान होने से आनिमान है।

अपोहवाद - दिड़गनाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील आदि मानते है – कि तत्व तो केवल स्वताक्षण है। यह निर्विकल्प प्रत्यक्ष का विषय है। इसमें शब्दों का व्यवहार संभव नहीं है। शक व्यवहार सविकल्प बुद्धि की देने है। शब्दों से हमारा व्यवहार चलता है। इसमें स्वलक्षण की ओर संकेत होता है। शब्द प्रतिषेध सूचक हैं कि अपोह, व्याव्रत्ति या निषेध के लिए प्रयुच्य होते हैं। 'यह गाय है' इसका अर्थ है कि – यह अ गाय नहीं है। यह बौद्धों का अपोहवाद है। बौद्ध मत ने प्रत्येक वस्तु दूसरे से भिन्न है जिनमें पूर्ण एकता संभव नहीं है। अत: प्रत्येक वस्तु अपने से भिन्न वस्तु का अपोह है।

1.2.5 वैशेषिक दर्शन में प्रमाण सिद्धान्त

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद् हैं। इन्होंने वैशेषिक सूत्त लिखा जिस पर प्रशस्त्त पाद भाष्य महत्वपूर्ण है। यह भाष्य ही नहीं पदार्थ धर्म संग्रह नाम से स्वतन्त्र ग्रन्थ भी है। वैशेषिक दर्शन न्याय दर्शन से प्राचीन है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य 'पदार्थ' है। प्रमाण मीमांसा का विशेष वर्णन नहीं प्राप्त होता है। मात्र प्रत्यक्ष और अनुमान का संक्षेप वर्णन मिलता है।

प्रत्यक्ष – विषय के साथ सम्बन्द्ध इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस प्रमाण के दूसरे उत्पन्न यथार्थ ज्ञान ही प्रत्यक्ष रूप प्रमिति है। अत: इन्द्रिय और अर्थ के सनिकर्ष से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमिति है और इस प्रमितिक कारण ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अनुमान – लिड़ग दर्शन से उत्पन्न होने वाला सम्यक् लैड़िक ज्ञान अनुमिति है।[59] लिड़ग दर्शन से लिड़ग विषयक संस्कार भी उत्पन्न होता है। उसमें लिड़ग की स्मत्ति भी उत्पन्न हो सकती है। इसमें अनुमिक्तेका लक्षण अतिव्याप्त हो जाएगा। लेकिन 'लिड़ग दर्शनात् संजायमानम्' के

---

[55] स्व परार्थ विभागेन त्वनुमानं द्विघेष्यते। तत्व संग्रह अनु. पठश्लोक 1362

[56] स्वार्थ त्रिरूप तो लिड़गदनुमेयार्थ दर्शनम्। वही
तत्त स्वार्थ त्रिरूपालिंगाच्यनुमेयेज्ञानं तदनुमानम्। न्याय बिन्दु 2/3

[57] त्रिरूप लिंग, बदनं परार्थ: पुनरूच्यते।। तत्व संग्रह अनु. प. श्लोक 1362

[58] प्रतिज्ञा, हेतु, उपनय, निगमन, व्यात्रि आदि पदों का विस्तार न्याय दर्शन के प्रसिद्ध में निपट जायेगा।

[59] लिड़गस्य दर्शनाण्ज्ञानात् सम्यग् जायमान लैडिगक मिति वाक्यार्थ:)

साथ 'ज्ञान' पद भी है और स्मृति ज्ञान रूप नहीं है अत: परिभाषा अतिव्याप्त नहीं है। लिड़ग लिड़गी के सम्बन्ध में अनुमान प्रमाण माना जाता है। जिससे विषय जाना जाता है, उसे लिड़ग कहते हैं जो विषय जाना जाता है, उसे लिड़गी कहते हैं। पर्वत आग्निमान है धूमवान् होने से। यहां धूम लिड़ग है और अग्नि लिड़गी।[60]

अनुमान के भेद – प्रशस्तपाद के अनुसार अनुमान के दो भेद हैं दृष्ट और सामान्य तो दृष्ट प्रसिद्ध साध्य एवं अनुमेय के जातित: अभिन्न होने पर, जो अनुमान किया जाता है वह दृष्ट अनुमान कहलाता है। हेतु के साथ पहले से ज्ञान रहने वाला साहस प्रसिद्ध साध्य है और जिस साध्य की सिद्धि अभिप्रेत है वह अनुमेय कहा जाता है। जैसे किसी गौ को सारना (लोर) युक्त देखकर उसे यी गौ होने का अनुमान करना दृष्ट अनुमान का उदाहरण है।

सामान्य तो दृष्ट वह है जहां प्रसिद्ध साध्य और अनुमेठ दोनों मिल जाति के हों। जैसे कि धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करना।

शब्द - वैशेषिक दर्शन श्रुक्ति को प्रमाण मानता है पर शब्द प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानता। उसके अनुसार शब्द प्रमाण का अन्र्तमान अनुमान प्रमाण में ही किया जाता है।

1.2.6 न्यायदर्शन में प्रमाण सिद्धान्त

गौतम मुनि जिनका दूसरा नाम आक्षपाद है प्राचीन न्याय के प्रवर्तक है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ न्याय सूत्त है। न्याय दर्शन साहित्य आते समृद्ध है। चतुर्थ सदी ई. पूर्व से सत्रहवीं सदी तक न्याय में ग्रन्थ निर्माण होता रहा है। न्याय सूत्र पर वात्स्यायन का न्याय भाष्य, उदयन की न्याय कुसुमाण्जजि, जयन्त् यह की नयाय मंजरी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। नव्य न्याय के गंगेश उपाध्याय की तण्उचितामणि अत्यन्त प्रमुख कृति है।

न्याय मत में बुद्धि, अनुभव, उपलब्धि, आदि ज्ञान के पर्याप्त है। ज्ञान आत्मा का आगुन्तुक धर्म है। जब ज्ञाता ज्ञेय पदार्थ के संपर्क में आता है तो आत्मा में ज्ञान का उत्य होता है।[61] बिना ज्ञेय पदार्थ के ज्ञान नहीं उत्पन्न होता।[62] ज्ञान ज्ञेय पदार्थों को प्रकाशित करता है जैसे दीपक समीपस्थ पदार्थों को प्रकाशित करता है। प्राचीन न्याय में आत्मा ज्ञानाश्रय के रूप में आनुमानिक सत्ता है। बाद में नैयायिकों ने आत्मा का मानस प्रत्यक्ष स्वीकार किया।

अनुभव –

स्मृतिमिल ज्ञान को अनुभव कहते हैं। यह दो प्रकार का है – यथार्थ और अयर्थाथ। जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप में ज्ञान यथार्थ अनुभव है, उसी रूप से ज्ञान न होना अयथार्थ अनुभव है। यथार्थ अनुभव प्रमा और अयथार्थ अनुभव अप्रमा है। प्रमा चार प्रकार ककी है – प्रतयक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्द ज्ञान। यह चार प्रकार के प्रमाणों से उत्पन्न होता है – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। अप्रमा के तीन प्रकार हैं – विशय, विवर्यय एवं तर्क। एक वस्तु में विरूद्ध नाना धर्म विशिष्ट ज्ञान संशय है, विपर्यय मिथ्या ज्ञान या भ्रम है। व्याप्यारोप रहेत्वारोप से व्यापकारोय (साध्यारोष) तर्क है जैसे आनित होता धूमयी न हो। स्मृति संस्कार जन्य ज्ञान है। प्रमाण जन्य संस्कार से उत्पन्न स्मृति प्रमा और अप्रमाण जन्म समृत्ति अप्रमा है।

---

[60] सिद्धांत चनोदय

[61] अर्थ प्रकाशो बुद्धि:।

[62] न चा विषया काचिदु पलब्धि:।

प्रत्यक्ष –

प्रत्यक्ष इन्द्रिय एवं पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान है जो अव्यय देश्य, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक होता है। इन्द्रियों में बाह्य ज्ञानेनिद्रय (आंख, कान, त्वचा, जिह्वा, नाक) के साथ मन नामक अन्तरिन्द्रिय भी सम्मिलित है। अर्थ पद में बाह्य पदार्थ एवं आत्मा मनोभाव दोनों आते हैं। बाह्य पदार्थ के ज्ञान में आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का पदार्थ से त्रिविध सन्निकर्ष होता है जबकि मनोभावों के ज्ञान में आत्मा का मन से तथा मन का मनोभावों से द्विविध सन्निकर्ष होता है।

प्रत्यक्ष के भेद – प्रत्यक्ष के दो भेद हैं – निर्विकल्पक और साविकल्पक। वास्तव में ये प्रत्यक्ष के भेद न होकर दो अवस्थायें हैं। निर्विकल्प प्रत्यक्ष में मात्र इतना ज्ञान होता है कि कोई वस्तु है। यह ज्ञान नहीं होता कि – वह क्या है। प्रत्यक्ष की परिभाषा में अव्यपदेश्य पद से व्यक्त किया गया है। सविकल्प प्रत्यक्ष में नाम जात्यादि विशेषण विशेष्य सम्बन्धों का ज्ञान होता है। इसमें वस्तु क्या है, यह बोध हो जाता है। इसे ही परिमाण में व्यवसायात्मक ज्ञान कहा है।

प्रत्यक्ष पुन: दो प्रकार का है – लौकिक एवं अलौकिक प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष। लौकिक प्रत्यक्ष बाह्य एवं मानस दो प्रकार का है। बाह्य प्रत्यक्ष पांच प्रकार का है क्योंकि ज्ञानेन्द्रियां पांच है। इनके ज्ञान में विविध सन्निकर्ष होता है। मानस प्रत्यक्ष में मन के भावों का प्रत्यक्ष होता है। इसमें द्विविध सन्निकर्ष होता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज भेद से तीन प्रकार का होता है। **सामान्य लक्षण** सामान्यों का प्रत्यक्ष है। जब आंख से किसी मनुष्य को देखते हैं तो पहले मनुष्यत्व का और बाद में नाम गुण विशिष्ट मनुष्य का ज्ञान होता है। एक इन्द्रिय के विषय को दूसरे इन्द्रिय से ग्रहण करना **ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष** है। 'जैसे मैं एक सुगन्धित गुलाब देख रहा हूँ' अनुमान में सुगन्ध आंख नहीं नाक का विषय है। यहां पर नाक द्वारा पूर्व में अनुभूत सुगन्ध कर आत्मा में छोड़े संस्कार उद्बुद्ध होकर दृश्य गुलाब पर सुगन्ध को आरोपित कर देता है। परमाणु आदि सूक्ष्म वस्तुओं, व्यवहित (दीवार आदि व्यधान युक्त) और विप्रकृष्ट (देश और काल में अति दूरस्थ) पदार्थों का प्रत्यक्ष **योगज प्रत्यक्ष** है। यह प्रत्यक्ष समाधि की अवस्था में योगियों को होता है।

अनुमान प्रमाण

एक के ज्ञान के बाद और उसके कारण उत्पन्न होने वाला दूसरा ज्ञान अनुमान है। जैसे धूम से अग्नि का ज्ञान। न्याय मत में किसी लिड़गी के लिड़ग के ज्ञान से उस लिड़ग को धारण करने वाले लिड़गी का ज्ञान अनुभव है।[63] लिड़ग को हेतु, साधन, व्याप्य तथा चिन्ह कहते हैं। लिड़गी को साध्य, व्यापक तथा चिन्ही कहते हैं। जिसे सिद्ध करना है उसे साध्य कहते हैं, जिसमें सिद्ध करता है उसे मुक्ष कहते है। अनुमान में साधन से साध्य तक पहुंचने का आधार व्याही हैं। जहां-जहां धूम है, वहां-वहां अग्नि है इस साहचर्य नियम को व्यात्ति कहते हैं।[64] इसे अविनाभाव नियम का नियत साहचर्य भी कहते हैं। व्यात्रि का एक भी अपवाद नहीं होना चाहिए।

हेतु की पक्ष में उपस्थिति पक्ष धर्मता है। व्यात्रि विशिष्ट पक्ष धर्मता का ज्ञान परामर्श है।[65]

[63] तल्लिड़ं लिड़गपूर्वकम्।
[64] यत्त-यत्त धूमस्तत्त नत्र अग्नि: इति साहचर्य नियमो व्यात्ति:।
[65] वयात्रि विशिष्ट पक्ष धर्मता ज्ञानं परामर्श: अन्नं यह: तर्क संग्रह

परामर्श जन्य ज्ञान अनुमिक्ति है।[66] अनुमिति का करण अनुमान है। उदाहरणार्थ जहां-जहां घूम है वहां-वहां अग्नि है (व्यासि) और पर्वत पर धूम है (पक्ष धर्मता), इस व्यात्रि विशिष्ट पक्षधर्मता के ज्ञान (परामर्श) से यह ज्ञान हुआ कि पर्वत पर अग्नि है।

अनुमान का वर्गीकरण – न्याय दर्शन में अनुमान का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया गया है।

क) स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान – अनुमान के इस वर्गीकरण का आधार मनोवैज्ञानिक प्रमोजन है। जब अनुमान का प्रमोजन स्वत: ज्ञान प्राप्त करना होता है, तो उसे **स्वार्थानुमान** कहते हैं। जब अनुमान का प्रमोजन दूसरे को ज्ञान कराना होता है तो उसे **परार्थानुमान** कहते हैं। परार्थानुमान पांच वाक्यों में व्यक्त किया जाता है जबकि स्वार्थानुमान में पण्चवयव की आवश्यकता नहीं होती है।

परार्थानुमान में तीन पद और पांच वाक्य होते हैं। तीन पद हैं – साध्य, हेतु और पक्ष। पांच वाक्य हैं – प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनम और निगमन। प्रतिज्ञावाक्य में पक्ष में साध्य का निर्देश होता है हेतु वाक्य में सिद्ध करने वाले कारण या साधन को बतलाया जाता है। उदाहरण वाक्य में हेतु और साध्य के व्यात्रि सम्बन्ध का उदाहरण सहित उल्लेख होता है। उत्पन्न वाक्य में व्यात्रि विशिष्ट पक्ष धर्मता का ज्ञान होता है। पांचवा वाक्य निगमन या निष्कर्ष होता है जिससे प्रतिज्ञा की सिद्धि होती है।

उदाहरणार्थ

1) पर्वत अग्निमान् है (प्रतिज्ञा)।
2) क्योंकि वह धूमवान् है (हेतु)
3) जो धूमवान् है वह नियत रूप से अग्निमान् है जैसे रसोई घर (उदाहरण)
4) पर्वत धूमवान् है जिसका अग्निमान् के साथ नियत साहचर्य है (उपनय)
5) पर्वत- अग्निमान है (निगमन)

यदि पण्चावयव अनुमान से प्रारम्भिक दो वाक्य हटा दिया जाये तो न्याय का यह अनुमान अरस्तु के नयायवाक्य तीन वाक्यों के समान हो जायेगा। इसे हटाने पर कोई दिक्कत भी नहीं है क्योंकि ये वाक्य अन्त में आ चुके हैं। यह तो अधिक स्पष्टता से समझाने के लिए पांच वाक्य रखा गया है।

ख) **पूर्ववत्-शेषवत् सामन्पतो दृष्ट -** प्राचीन न्याय में अनुमान के तीन प्रकार कहे गये हैं – पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यता दृष्ट।[67] कारण को देखकर कार्य का अनुमान पूर्वत, अनुमान है,[68] जैसे मेघाच्छ घटा से वर्षा का अनुमान। कार्य को देखकर कारण का अनुमान शेषवत अनुमान है, जैसे नदी के गन्दला पानी और तीव्र युक्त धार के प्रवाह को देखकर पूर्व में हुए वर्षा का अनुमान। पूर्ववत् एवं शेषवत् अनुमान कार्य-कारण नियम पर आधारित हैं। सामान्य तो दृष्ट अनुमान में वस्तु विशेष की सत्ता अनुकलन होकर उसके सामान्य रूप का ही हमें परिचय प्राप्त होता है। जैसे किसी पुरूष को कुरू क्षेत्र में देखने के बाद उसे काशी में देखकर उस व्यक्ति में गति का अनुमान करना।

---

[66] परामर्श जन्य ज्ञान मनुमिति:। तर्कभाषा, तर्कसंग्रह

[67] त्रिविध अनुमानम् पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टण्च।। न्याय सूत्त प्र. स.

[68] पूर्व कारणं त द्वत् पूर्ववत्। न्याय सूत्र

ग) **केवलान्वयी, केवल व्यति रेकी तथा अन्वय व्यति रेकी अनुमान** – नव्य न्याय में व्यात्रि स्थापन प्रजाती के आधार पर अनुमान के तीन प्रकार बताये गये हैं – (1) केवलान्वयी, (2) केवल व्यति रे की और (3) अन्वय व्यति रे की। अन्वय व्यात्रि में जहां एक होताहै वहां इस्का भी होताहै और व्यति रेक व्यात्रि में जहां एक नहीं होता वहां दूसरा नहीं होता।

अ) **केवलान्वयी अनुमान** – केवलान्वयी अनुमान वहां होता है, जहां हेतु और साध्य के बीच व्यात्रि का ज्ञान केवल अन्वय मुखे न ही होता है। जैसे – समस्त पदार्थ अभिघेय हैं, घट एक ज्ञेय पदार्थ है अत: घर अभिधेय है। यहां केवल अन्वय व्यात्रि ही संभव है। सभी पदार्थों के ज्ञेय एवं अभिधेय होने से व्यतिरेक व्यात्रि हो ही नहीं सकती।

ब) **केवल व्यातिरेकी अनुमान** – केवल व्यति रेकी अनुमान वहां होता है जहां हेतु और साध्य के बीच व्यात्रि केवल व्यति रेक विधि से संभव हो। जैसे जो द्रव्य पृथ्वीतर (पृथ्वी से मिल) द्रव्यों से मिल नहीं है उसमें गन्ध नहीं है जैसे जल में, पृथ्वी में गन्ध है अत: पृथ्वी इतर पदार्थों से मिल है। यहां केवल पृथ्वी में गन्ध होने (गन्धवती पृथ्वी) के कारण हेतु केवल पक्ष में ही विद्यमान है। अत: अन्वय दृष्टांत संभव नहीं है।

स) **अन्वय-व्यतिरे की अनुमान** – यह अनुमान वहां होता है, जहां व्यात्रि अन्वय एवं व्यतिरे के दोनों विधि से संभव होती है। जैसे जहां-जहां धूम है वहां-वहां अग्नि है और जहां अग्नि का अभाव है वहां धूम का अभाव हो। अनुमान का एक उदाहरण – धूमवान पदार्थ अग्निमान् होते हैं। यह पर्वत धूर्मवान है, अत: पर्वत अग्निमान् है। (अन्वय व्यात्रि से अनुमान) 2) जो वर्हनमान् नहीं वह धूमवान् नहीं जैसे जलाशय,पर्वतधूमवान् है अत: पर्वत में अग्नि है (व्यतिरेक व्यात्रि से अनुमान)

व्यात्रि की स्थापना

अनुमान की प्रक्रिया में व्यात्रि का महत्वपूर्ण स्थान है। अत: व्यात्रि की स्थापना एवं परीक्षा अति महत्वपूर्ण है। न्याय में हेतु एवं साध्यके नियत साहचर्य एवं अविनाभाव सम्बन्ध को व्यात्रि माना जाता है। दोनों सदा साथ-साथ हों, एक भी अपवाद न हो तथा साध्य के बिना व्यात्रि हेतु अन्यत्त विद्यमान न हो। धूम एवं अग्नि के बीच व्याप्ति सम्बन्ध हो सकती है क्योंकि एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है कि धूम हो और आग न हो।

व्यात्रि की परीक्षा हेतु न्याय छह साधन प्रयोग करता है – अन्वय, व्यतिरेन, व्यमिचाराग्रह, उपाधिनिराश तर्क एवं सामान्य सक्षम प्रयत्न। एक वस्तु के रहने पर दूसरे का होना आवश्यक है, यह अन्वय है। जैसे धूम के रहने पर आग का होना। एक वस्तु ने न रहने पर दूसरी वस्तु का न रहना व्यति रेक है। जैसे अग्नि के अभाव में धूम का अभाव। दो वस्तुएं सदा एक साथ रहते हैं और उसका एक भी अपवाद हो, यह व्यमिचाराग्रह है। अग्नि से धूम उत्पन्न होने में आर्द्र इन्धन उपाधि है। इसीलिए अग्नि एवं धूम के बीच व्यात्रि स्थापित नहीं होती उपाधि निराश के बाद व्यात्रि होती है। अत: आग को देखकर धूम का अनुमान नहीं किया जाता। सत्र लौहर खण्ड में धूम नहीं होता। व्यात्रि को संशय रहित बनाने में तर्क का भी सहारा लिया जाता है। यदि व्यात्रि असत्य है तो उसका विरोधी वाक्य सत्य होगा। यदि सभी धूमवान् पदार्थ अग्निमान् हैं, असत्य है तो इसका विरोधी कुछ धूमवान् पदार्थ अग्निमान् नहीं हैं, सत्य होगा। पर हम जानते हैं कि कोई धूममान् पदार्थ अग्निहीन नहीं है। अत: व्यात्रितर्क सिद्ध है। न्याय यह भी मानता है कि

सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष में पहले जाति का प्रत्यक्ष होता है बाद में विशेष का। हम सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष से धूमत्व एवं अग्नित्व का ज्ञानकर इनमें व्यात्रि स्थापित कर सकते हैं।

उपमान प्रमाण

प्रसिद्ध साधर्म्य से युक्त साध्य के साधन को उपमान कहते है।[69] पूर्व ज्ञान का नाम प्रसिद्ध तथा समान धर्म का नाम साधर्म्य है। पूर्व ज्ञात पदार्थ के समान धर्म द्वमार साध्य उपमेय की सिद्धि उपस्थिति और उपमिति का कारण उपमान है। उदाहरणार्थ किसी को बताया गया कि गवय (नील गाय) गाय को सदृश होता है। इस सादृश्य के अनुरूप वह पशु देखता है और उने नील गाय का ज्ञान हो जाता है।

शब्द प्रमाण

'आत्रोपदेश: शब्द' अर्थात् आत्र पुरूष का उपदेश शब्द है। आत्र वह है जो वस्तु को यथार्थ रूप से जानता है। लौकिक एवं वैदिक रूप से शब्द प्रमाण के दो भेद हैं। लौकिक पुरूषों के वाक्य लौकिक शब्द हैं और श्रुति के वाक्य वैदिक शब्द हैं। वाक्य पद के समूह हैं और पद शक्ति से सम्पन्न रहता है जिससे वह अर्थ बोध कराता है। प्राचीन न्याय पद में अर्थ शक्ति का कारण ईश्वरेच्छा को मानता है। शब्द इस अर्थ का बोध करे, यह ईश्वरेच्छा है। नव्य न्यैमायिक शब्द शक्ति का कारण पुरूष की इच्छा को मानते है।

1.2.7 सांख्य दर्शन में प्रमाण सिद्धान्त

सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल है। कपिल का तत्व समास एवं सांख्य सूत्त इस दर्शन का मूल ग्रन्थ है। इनके शिष्य परम्परा में आयुक्ति एवं पंच शिखरचार्य विशेष उल्लेखनीय है। इनके ग्रन्थ काल कवलित हो गये। ईश्वर कृपय की सांख्य कारिका प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है।

सांख्य के अनुसार किसी विषय के निश्चित ज्ञान को प्रमा कहते हैं। जब आत्म चैतन्य बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है तो ज्ञान का उदय होता है। बुद्धि जड़त्व है और आत्मा शुद्ध चैतन्य। जड़ में ज्ञान नहीं हो सकता और आत्मा स्वत: विषयों का साक्षात्कार नहीं कर सकता सर्वव्यापी होने से। आत्मा को बुद्धि, मन और इन्द्रिय के सहारे विषय का ज्ञान होता है। शुद्ध चैतन्य पुरूष प्रमाता है। बुद्धि की वृत्ति जिसके द्वारा आत्मा को ज्ञान होता है, प्रमाण है। जिस विषय का ज्ञान होता है, वह प्रमेय है।

सांख्य दर्शन प्रमेय प्रधान दर्शन है किन्तु प्रमेय को सिद्ध करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है। अत: प्रमाण मीमांसा भी सांख्य दर्शन में प्राप्त होती है। सांख्य दर्शन तीन प्रमाण मानता है – दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान और शब्द।[70] उपमान अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि का अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है।

दृष्ट (प्रत्यक्ष) प्रमाण – 'प्रति विषयाध्यवसायरे दृष्टम्' अर्थात् विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय ना प्राप्त निश्चयात्मक ज्ञान दृष्ट प्रमाण कहा जाता है। दृष्ट का अर्थ है चक्षु, अर्थात् जिसका प्रत्यक्ष हमें चक्षु आदि इन्द्रियों से होता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। अर्थ के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर सर्वप्रथम इन्द्रियों से निर्षिकल्प ज्ञान होता है फिर मन की क्रियाशीलता उत्पन्न होती है।

---

[69] प्रसिद्ध साधर्म्यति साध्य साधनमुपमानम्। न्याय सूत्त 1/1/6

[70] दृष्ट मनुमान मात्र वचनं च सर्वप्रमाण सिद्धत्वात्। त्तिविधं प्रमाणमिष्टम् प्रमेय सिद्धि: प्रमाणाद्धि। सां. का. 4

विज्ञान मिक्षु इससे मिल मत रखते हैं उनका मानना है कि – बुद्धि इन्द्रियों द्वारा सीधे बाह्य वस्तु के संपर्क में आती है। लेकिन वाचस्पति मिश्र मानते हैं कि मन का क्रियाशील होना यह दर्शाता है कि वह इन्द्रिय सामग्री को व्यवस्थित करके उसे साबिकल्प रूप प्रदान करता है। जब मन उसे बुद्धि को समर्पित करता है तो बुद्धि उसका आकार ग्रहण कर लेती है इसे वृत्ति कहते हैं। जब आत्मा का प्रकाश बुद्धि पर पड़ता है तो प्रत्यक्ष ज्ञान का उदय होता है। यह बाचस्वति मिव्त का मत है। विज्ञानमिक्षु का मानना है कि आत्मा का प्रतिविम्ब बुद्धि पर और बुद्धि का प्रतिबिम्ब आत्मा पर पड़ता है। आत्मा में बुद्धि के प्रति बिम्बित होने से ही सुख दु:खादि का व्याख्या संभव है।

निर्ष्किय एवं सविकल्प के भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। यह भेद न्याय दर्शन जैसा ही है। अन्तर भाव यह है कि न्याय निर्विकल्प को प्रत्यक्ष को प्रथम अवस्था माना है जबकि सांख्य इसे प्रत्यक्ष स्वीकार करता है।

अनुमान

न्याय की तरह सांख्य भी यह मानता है कि लिगड़ से लिगड़ी का ज्ञान अनुमान है।[71] सांख्य में अनुमान का स्वरूप और लक्षण न्याय जैसे ही। 'वहां से इसे समझा जा सकता है।

अनुमान के भेद – सांख्य दर्शन में अनुमान के दो भेद है – (1) वीत और (2) अवीत जो अनुमान व्यापक विधि वाक्य पर अवलम्बित रहता है वह वीत तथा जो व्यापक निषेध वाक्य अवलम्बित रहता है वह अवीत अनुमान है।[72]

वीत अनुमान दो प्रकार का है – पूर्ववत् एवं सामान्य तो दृष्ट।[73] पूर्ववत् अनुमान दो वस्तुओं के बीच दृष्ट व्यात्रि सम्बनध पर अवलम्बित होता है जिसे हम धूम देखकर अग्नि का अनुमान करते हैं। सामान्यतो दृष्ट अनुमान वहां होता है, जहां लिगड़ एवं लिगड़ी के बीच व्यात्रि सम्बन्ध नहीं देखा गया किन्तु लिगड़ या सादृश्य इन वस्तुओं से है जिनका साध्य से नियत सम्बन्ध है। जैसे इन्द्रियों के ज्ञान के लिए एक अनुमान इस प्रकार है – सभी कार्य किसी न किसी साधन द्वारा फलित होते है, जैसे पेड़ काटने के लिए कुल्हाड़ी की जरूरत है उसी प्रकार किसी रूप या गन्ध के अनुभव कार्य के लिए कोई साधन चाहिए और वह साधन है इन्द्रिय।इसका

इसका अनुमान अवति है जिसे नैयायिक शेषषत् अनुमान मानते हैं। सभी विकल्पों को छांटते-छांटते अन्त में एक ही शेष वचता है तब वही सत्य प्रमाणित होता है। जैसे शब्द द्रव्य, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव नहीं हो सकता। अत: शेष पदार्थ गुण बचत और शव का गुण होना सिद्ध होता है।

शब्द प्रमाण – इसे आगम प्रमाण भी कहा गया है। सांख्य दर्शन में कपिल आदि महर्षियों के वचन को आप्र वाक्य कहा गया है। उनका वचन शब्द प्रमाण है। सांख्य श्रुति एवं श्रुति मूलक स्मृति आदि को आत्र वचन मानता है। इनके वाक्य शब्द प्रमाण हैं।

1.2.8 मीमांसा दर्शन में प्रमाण सिद्धान्त

मीमांसा के अनुसार प्रामाणिक ज्ञान (प्रमा) वह है जिससे किसी विषय में नयी बात मालूम होती

[71] अनुमान भाख्यातं तात्लिगड़ लिगड़पर्वूतम्। सां. भा. 5

[72] तत प्रथम स्तावत् द्विविधं वीतमवीत च अन्वय मुखेन प्रवर्त मानं विधायकं वीतम्। व्यति मुखेन प्रवर्तमानं निषेध् कमवीतम्।

[73] वीतं द्विद्या पूर्ववत् सामान्यतो दृष्टं च।

हो, दूसरे प्रमाण से वाछित न होता है और उसमें कोई दोष न हो।[74] प्रमा का करण प्रमाण होता है।

जैमिति प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण मानते हैं। प्रमाकर उपमान एवं अर्थापति को तथा कुमारिल अनुपलब्धि को भी प्रमाण मानते हैं।[75] मीमांसा दो प्रकार का ज्ञान मानती है – उपरोक्ष तथा परोक्ष। अपरोक्ष को प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) – प्रभाकर के अनुसार प्रत्यक्ष साक्षात् प्रतीति है और कुमारिन के अनुसार कारण दोष रहित और अवाछित, इन्द्रिय एवं पदार्थ के सन्निकर्ष से उतपन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। मीमांसा का प्रत्यक्ष सम्बन्धी विचार न्याय के समान है। पाठक उस प्रसंग को देखे। न्याय एवं मीमांसा में अन्तर मात्र इतना है कि न्याय निर्विकल्प को सविकल्चक प्रत्यक्ष की पूर्व अवस्था मानता है, जबकि मीमांसा प्रत्यक्ष का भेद मानती है क्योंकि वह भी व्यक्ति का बोध करता है[76] और उसमें प्रव़त्ति सामर्थ्य भी है। पार्थ सारथी का मानना है सविकल्प प्रत्यक्ष की स्थिति निर्विकल्प पर आधारित है।[77]

अनुमान – मीमांसा का अनुमान विवेचन भी न्याय के समान है अन्तर यह है कि मीमांसा पंच वाक्यों के स्थान पर तीन वाक्य ही मानती है, प्रथम तीन या अन्तिम तीन। अनुमान के सम्बन्ध में भी पाठक न्याय प्रसंग का अवलोकन करें।

उपमान - मीमांसा के अनुसार उपमान जन्य ज्ञान तब होता है, जब हम पहले देखी हुयी वस्तु के सदृश किसी वस्तु को देखकर समझते हैं कि स्मृत वस्तु प्रत्यक्ष वस्तु के सदृश है। किसी ने गाय देखी है परन्तु नील गाय नहीं देखी है। वह पहली बार नील गाय को देखता है और यह जान लेता है कि यह गाय के सदृश है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि गाय का पूर्व में ज्ञान का किन्तु वर्तमान के नील गाय के सादृश्य का ज्ञान नहीं था। यह अनुमान भी नहीं क्योंकि यहां किसी प्रकार की व्यात्रि नहीं।[78] यह ज्ञान शब्द प्रमाण से भी उपलब्ध नहीं। अत: यह एक स्वतन्त्र प्रमाण है। मीमांसा सादृश्य को एक स्वतन्त्र प्रमा मानती है। अत: इसके लिए उपमान नामक एक स्वतन्त्र प्रमाण की आवश्यकता है।

न्याय यह मानता है कि पहले आत्रवाक्य से यह ज्ञात होता है कि नील गाय गाय के सदृश होती है और व्यक्ति जब गाय के सदृश पशु देखता है तो उसे नील गाय का ज्ञान उपमान से होता है। मीमांसक इसका खण्डन करते हैं यह जन्तु विशेष गाय के सदृश है ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है और गाय के सदृश गाय होता है ऐसा ज्ञान शब्द प्रमाण की स्मृति के द्वारा होता है। अत: यह जन्तु गाय है अनुमान के द्वारा प्राप्त हो जाता है। अत: न्याय सम्मत उपमान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है।[79] मीमांसा में सादृश्य को एक ज्ञान माना गया है अत: इसके लिए एक स्वतन्त्र प्रमाण की आवश्यकता है।

शब्द - मीमांसा के अनुसार ज्ञान शब्द से पदार्थ का स्मरणात्मक बोध होने पर जो वाक्यार्थ ज्ञान होता है उसे शब्द प्रमाण कहा जाता है। मीमांसा 'शब्द प्रमाण या विशेषवण देती है। शब्द

---

[74] कारण दोष बाधक ज्ञान रहितम् अगृहीत ग्रहितज्ञानम् प्रमाणम्।

[75] प्रमाणा: तावत् मीमांसकानां प्रत्यक्षं अनुमानं शब्द उपमानं अर्थापात्रि: अनुपलब्धि इति श्लोक वार्तिक अनु. 167

[76] श्लोक वार्तिक प्रत्यक्ष सू. 5/113

[77] शास्त्र दीपिका 109-110 प्र.

[78] शास्त्र दीपिका 1/1/5

[79] प्रकरण पंजिश

प्रमाण पौरूषिय और अर्थो रूपेम भेद से दो प्रकार है। पौरूषेय विश्वमत्रीय व्यत्रि के वचन हैं और वेद अपौरूशेय है। वेद का कोई रचायेता नहीं है न जीव न ईश्वर। ऋषि भी मन्त्रों दृष्टा हैं, कर्ता नहीं है। वेद नित्य एवं स्वत: प्रमाण हैं। वेद की नित्यता का सबसे बड़ा प्रमाण है शब्द का नित्य होना। ध्वनि और शब्द में अन्तर है। कानों से सुनाई पड़ने वाली ध्वनि अनित्य है। यदि उच्चारित ध्वनि शब्द होती तो एक ही शब्द के दो बार उच्चारण करने से दस शब्दों का अनुभव होता, पर अनुभव होता है एक शब्द का उच्चारण के उपर अवत्मम्बित न होने से शब्द नित्य है।[80]

वेद वाक्य दो प्रकार के हैं – सिद्धार्थ वाक्य एवं विद्यायक वाक्यों विधायक वाक्य किसी सत्ता या स्थिति के द्योतक हैं। विद्यायक वाक्य कर्म परम हैं, कर्म करने का आदेश देते हैं। मीमांसा मानती है कि वेद का तात्पर्य विद्यायक वाक्यों में है। वेद विहिता कर्म ही धर्म है। सिद्धार्थ वाक्य की उपयोगिता है कि वह कर्म करने को प्रेरित करे। वेदानुकूल स्मृति, धर्मशास्त्र, इतिहास पुराणादि पौरूषिय ग्रन्थ भी शब्द प्रमाणक अन्तर्गत आते हैं।

अर्थापत्रि

अर्थापत्ति वह आवश्यक कल्पना है जिसके द्वारा कोई अन्यथा अनुपन्न विषय उतपन्न होता है। देवदत दिन में भोजन नहीं करता फिर भी मोटा है। उपवास और शरीर के पुष्ट होने में विरोध है। इन विरूद्ध बातों की उपपत्ति संभव करने के लिए यह कल्पना की जाती है कि वह रात्रि में खाता होगा। अर्थापत्ति प्रत्यक्ष नहीं, रात्रि में देवदत्त को खाते नहीं देखा। अनुमान भी नहीं है क्योंकि रात्रि भोजन करने एवं मोटे होने में व्यात्रि नहीं है। कोई आत्र कथन भी नहीं। अस्तु यर्थापत्ति स्वतत्त प्रमाण है। अर्थापत्ति दो प्रकार की होती है – दृष्टार्थ एवं श्रुतार्थ। जहां दृष्ट अर्थ की उपपत्ति के लिए किसी अर्थान्तर की कल्पना की जाती है वह दृष्टार्थापत्रि है। जैसे उपर्युक्त देवदत के रात्रि भोजन की कल्पना। जहां किसी अर्थ की उपपात्रि के लिए अन्य शब्द की कल्पना होती है वहां श्रुतार्थपत्रि होता है। जैसे जीवित देवदत घर में नहीं है इस वाक्य से घर के बाहर देवदत के होने ठीक चला।[81]

अनुपलब्धि

किसी विषय के अभाव का साक्षात् ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। कक्ष में घड़ा नहीं है। इसका अभाव प्रत्यक्ष से संभव नहीं है क्योंकि इन्द्रिय भाव पदार्थ को ग्रहण करती है, अभाव को नहीं। अनुमान से भी अभाव का ज्ञान संभव नहीं क्योंकि ऐसा अनुमान तभी संभव है, जब हमें अदर्शन और अभाव की व्यात्रि सम्बन्ध ज्ञान हो पर ऐसा मानने पर आत्याज्रय दोष होगा क्योंकि जो सिद्ध करना है उसे पहले ही मान लेते हैं। शब्द और उपमान के अन्तर्गत भी अभाव नहीं आता क्योंकि यहां आहा वाक्य और सादृश्य ज्ञान नहीं है अत: अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण मानना पड़ेगा।[82]

1.2.9 वेदान्त दर्शन में प्रमाण सिद्धान्त

भारतीय दर्शनों का चरमोत्कर्ष वेदान्त में हुआ। वेदान्त के विभिन्न भाष्यकमों में शंकराचार्य और रामानुजाचार्य का नाम विशेष उल्लेखनीय है। शंकराचार्य अद्वैत और रामानुज ने विशिष्ट

---

[80] मीमांसा परिभाषा पृ. 3

[81] अर्थापात्रि राण◌े दृष्म: श्रुतोबाडर्थोअन्यथा नोपय यते इत्यर्थ कल्पना। शाकर मा. 1/1/5

[82] श्लोक वार्तिक शास्त्र दीपिका, वेदान्त परिभाषा अनुपलब्धि प्रकरण

द्वैत वेदान्त की परम्परा विकसित की। इन दोनों परम्पराओं में लिखित ग्रन्थों का साहित्य अत्यन्त समृद्ध है।

वेदान्त में भी यथार्थ अनुभव को प्रमा तथा उसके करण के प्रमाण माना गया है।[83] तार्किक रक्षा ने 'प्रत्यक्षमेकचार्वाका' से प्रारम्भ कर अभाव ष्टाठानि एताति भाहा वेदान्तिस्तया कहकर वेदान्त में छह प्रमाण बतलाया है। वेदान्त परिभाषा में भी छह प्रमाण का उललेख है।[84] शंकराचार्य ने मुण्डक उपनिषद् भाष्य में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम आदि प्रमाणों से परीक्षा का यथार्थता का ज्ञान करने का उल्लेख किया है। किन्तु वृहदारण्यक (3/3/1) के भाष्य में अर्थापात्रे प्रमाण का भी नाम लिया है।

प्रत्यक्ष – प्रत्यक्ष प्रमा के कारण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है।[85] अद्वैत वेदाना में प्रत्यक्ष का तात्पर्य इन्द्रियों के साथ विषयों का संपर्क होने से तत्काल और साक्षात् ज्ञान से है और प्रमा का अर्थ यथार्थ अनुभव है। जब हम चक्षु इन्द्रिय से घर को देखते हैं तो अन्त:करण उसकी ओर अग्रसर होता है, उसे अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है, उसकी आकृति धारण करता है और उसका बोध करता है। इस आन्तरिक व्यापार के कारण ही हमें अपनी प्रत्येक इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों का साक्षात् ज्ञान होता है।

प्रश्न यह होता है कि जब अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त में चैत-यही प्रतयक्ष प्रमा है जो अनादि, अकार्य और नित्य है तो फिर उसके उत्पत्ति और करण का क्या औचित्य है? ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष प्रमा रूप चैतन्य में चक्षु, ज्ञोत्रादि इन्द्रियां करण कैसे हो सकती है? समाधान किया गया कि – साक्षात् ब्रहमभू चैतन्य अनादि एवं नित्य है, इसमें किण्चित मात्र भी सन्देह नहीं है क्योंकि अन्त:करण वृत्ति उस नित्य चैतन्य को प्रकट करती है। अन्त:करण में नित्य चैत-मका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी को चिदाभास कहते हैं। अन्त:करण की वृत्ति इन्द्रिय सन्किर्षादिक के कारण प्रतिक्षण उसका होती रहती है, अर्थात् वह स्वाभाविक ही जन्य है। चक्षुरादि इन्द्रियों में उस चैतन्य के प्रति करणत्व प्रतीत होता है जिससे उसे प्रमाण कहा जा सकता है।

अनुभव

अनुमिति प्रमा के करण को अनुमान प्रमाण कहते है[86] जो व्यात्रि जन्य ज्ञान है। हेतु तथा साध्य के मध्य निरन्तर साहचर्य रूप से रहने वाला संपर्क व्यात्रि है। धूम एवं अग्नि में व्यात्रि है। पर्वत पर उठते हुए धूम को देखकर इसी व्यात्रि के आधार पर अग्नि होने का अनुमान करते हैं।

उपमान

सादृश्य प्रमा के करण को उपमान कहते हैं।[87] जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं तो इस देखे गये पदार्थ के साथ स्मृत पदार्थ के सादृश्य का जो ज्ञान हमे होता है वह उपमान प्रमाण से होता है। मीमांसा जैसे ही यहां भी उपमान का वर्णन है।

---

[83] तत्त प्रमाकरणं प्रमाणम्। वेदान्त परिभाषा प्रथम परिच्छेद

[84] तानि प्रमाणनि षद् प्रत्यक्षानुमानोपमाना गमार्थापत्यनुपलब्धि भेदात्।

[85] प्रलक्षं प्रमाया: करणं प्रत्यक्ष प्रमाणम्। वे. प.

[86] अनुमिति करणमनुमानम्। वेदान्त परिभाषा द्वितीय परिच्छेद।

[87] तत्त सादृश्य प्रमाकरणभुपमानम्। वही पृ. 179

आगम (शब्द) –

अद्वैत वेदान्त में शब्द एक महत्वपूर्ण प्रमाण है क्योंकि अद्वैत वेदान्त का सम्पूर्ण सिद्धान्त श्रुति पर आधारित है। इस मत में श्रुति विरूद्ध किसी भी सिद्धान्त की क्षमता में विश्वास नहीं किया जा सकता। जिस वाक्य के तात्पर्य का विषयीभूत संसार अन्य प्रमाणों से वाछित नहीं होता वह वाक्य प्रमाण है।[88] इसे ही आगम या शब्द प्रमाण कहते हैं। परिभाषा में अन्य प्रमाणों से बाछित न होना और तात्पर्य विषय भूत दो विशेषम महत्वपूर्ण हैं। यदि प्रथम विशेषज्ञ न होता तो 'अग्नि से चिंतन करो' वाक्य में अति व्यात्रि होगी यहां अग्नि से सिंचन रूप बच्चा के तात्पर्य का विषय है जो प्रत्यक्ष प्रमाण से वाछित है। इसी प्रकार यदि तात्पर्य विषयी भूत विशेषण न होता तो 'प्रजापतिरात्मनोडखिदत' प्रजापति ने अपनी वपा को उखाड़ निकाला इत्यादि श्रुति वाक्य पर अव्यात्रि दोष आता क्योंकि अपनी वया का स्वयं उच्छेदत करना रूप कार्य प्रमाजानर से वाछित है क्योंकि क्या उच्छेद होने या कोई जीवित नहीं रहता।

आगम प्रमाण के दो भेद हैं – लौकिक और वैदिक। श्रुतिस्वत: प्रमाणित है लौकिक प्रमाण पौरूषेय होने से परत- प्रमाणित हैं क्योंकि पुरूष का ज्ञान भ्रमादि से या यथार्थ भी हो सकता है।

अर्थापत्रि

उपन्यास ज्ञान से उपपादक की कल्पना ही अर्थापत्ति है। इन उपापाद्य ज्ञान प्रमाण है और उपपादक ज्ञान प्रमा है। जिसके बिना जो अनुपपन् होता वह उपपाद्य और जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्रि होती है वह वहां उपपादक होता है। जैसे रात्रि भोजन के बिना दिन में भोजन न करने वाले पुरूष का जीवत्य अनुपपन है, इस कारण वैसा पीनत्व उपपाद्य है और रात्रि भोजन के अभाव में वैसे जीनत्व की अनुपपत्रि है, इस कारण रात्रि भोजन उस जीनत्व का उपपादक है।[89]

अनुपलब्धि –

ज्ञान रूपकरण से उत्पन्न न होने वाला जो अभाव अनुभव का असाधारण कारण है, वही अनुपलब्धि है।[90] जब हम कहते हैं इस स्थान पर घड़ा नहीं है तो हम धड़े के अभाव का बोध ग्रहण करते हैं। अनुपलब्धि ऐसे पदार्थ के सम्बन्ध में जिसका निषेध बताया गया है, ज्ञान का एक साधन है।

अन्य वेदान्तियो की दृष्टि में प्रमाण

आचार्य रामानुज[91], वेंकटनाथ[92], श्रीनिवासाचार्य[93] आदि विशिष्टाद्वैती तीन प्रमाण मानते हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान और शव। वेदान्त कारिमाव[94] की में उपमान सहित चार प्रमाण स्वीकृत हैं। बल्लमाचार्य वेदों को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानते है। उनके मत में जो वेद मूलक नहीं है वह सब अप्रमाणिक है। फिर भी वे प्रत्यक्ष और अनुमान को भी प्रमाण मानते हैं।

---

[88] यत्त वाक्यस्य तात्पर्य विषयीभूत संसर्गों मानान्तरेण न बाध्यते तद्वाक्यम् प्रमाणम्। वे. परि. पृ. 189

[89] तत्रोपपाद्यज्ञानेनोत्पादक कल्पन अर्थापत्रि:। वे. परि. पृ. 267, भारतीय दर्शन में प्रमाण: जयदेव विद्याकंशार पृ. 223

[90]

[91] प्रत्यक्षानुमानागमारव्य प्रमाण जातम्। श्रीभाष्य

[92] त्रिविध प्रमाण प्रत्यक्षानुमान शब्द मेदात्। न्याय परिशुद्धि पृ. 68

[93] तानि प्रमाणति प्रत्यक्षानुमान शब्दा ....। यतीन्द्रमक्ति दीपिका पृ. 14

[94] उपमान् प्रत्यक्षानुमान शब्द मेदात्। वेदान्त कारिकाव की 1/2

निष्कर्ष – प्रमाण मीमांसा वेद से प्रारम्भ होकर आस्तित्व और नात्कि सभी दर्शनों का एक मुख्य विषय रहा है। इसका उद्भव वेद से है और चरम विकास मीमांसा और वेदान्त में है। न्याय का यह प्रधान विषय रहा है। उन्नीसवीं सदी तक न्याय और वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों के मानक ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं और सबमें प्रमाण एक विषय है किन्तु एक छोटे से अध्याय में सबका समावेश का पाना असंभव है।

1.4 सारांश

किसी विषय के यथार्थ ज्ञान को प्रमा तथा उसके असाधारण करण को प्रमाण माना जाता है। प्रमाण सिद्धान्त का उद्भव कब हुआ इस विषय में निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि वेदान्त की ज्ञान परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में देखें तो प्रमाण सिद्धान्त अनादि है। वेदान्त यह मानता है कि चैतन्य ही ज्ञान है और चैतन्य अनादि है तो ज्ञान का कारण प्रमाण भी अनादि होना चाहिए। साहित्यिक दृष्टि से निर्विवाद रूप से वेद प्राचीन ग्रन्थ हैं। वेदों में यद्यपि प्रमाण मीमांसा विधिवत् नहीं प्राप्त होती है लेकिन प्रमा एवं प्रमाण विषय पर चर्चा में यत्त-यत्त है। अत: वेद को प्रमाण सिद्धान्त का उत्स माना जा सकता है। वेद वेदान्त के बाद एक वर्ग वैदिक क्रिया कलाप और प्रमाण का खण्डन करने लगा जिसके प्रति निधि दार्शनिक चार्वाक हैं। चार्वाक ने एक मात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण माना और कुशल तार्किक की तरह अनुमान और शब्द प्रमाण (वेद) का खण्डन किया। महाभारत और गीता में चार्वाकों पर प्रतिक्रिया मिलती है। जैन दर्शन चार्वाक के अनुमान खण्डन का जोड़ दार खण्डन किया।

भारतीय प्रमाण मीमांसा अपने विकास यात्रा में विभिन्न पड़ावों से गुजरी। जहां चार्वाक ने एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार किया वहीं वैशेषिक एवं बौद्ध दर्शन के अनुमान को भी प्रमाण माना। जैनियों ने शब्द प्रमाण को भी स्वीकार कर तीर्थंकारों के वचनों की प्रमाणिकता स्थापित की। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण को अनेक दर्शन प्रजालियों में स्वीकार किया गया। वैयायिरों ने उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण माना तो प्रमाकर मीमांसक अर्थापत्ति को तथा कुमारिल भट्ट एवं वेदान्ती अनुपलब्धि को प्रमाण मानते हैं।

सभी दर्शनों में विभिन्न प्रमाणों के परिभाषाओं में थोड़ा बहुत अन्तर है। जहां अन्य दर्शन इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं वहीं जैन दर्शन आत्म सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष मानता है और इन्द्रियार्थ जन्य ज्ञान को परोक्ष कहता है। अनुमान मानने वाले सभी दर्शन सम्प्रदायों में एक समसत्ता है कि सभी लिगड़ से लिगड़ी के ज्ञान को अनुमान मानते हैं। उपमान प्रमाण में न्याय की दृष्टि से मीमांसा और वेदान्त का दृष्टिकोण मिल है। अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि को नयाय अनुमान में समाहित करता है किन्तु मीमांसा और वेदान्त कुशल तर्क से उसे स्वतन्त्र प्रमाण सिद्ध करते हैं। इस विषय में मीमांसा एवं वेदान्त मत में समानता है। प्रमाण सिद्धान्त की विकास यात्रा इसके आगे पौराणिकों के संभव एवं ऐम्ध्यि तक जाती है। तान्त्रिक इस माला को चेष्टा प्रमाण तक पहुँचाते हैं। उन्नीसवीं सदी तक विभिन्न दर्शन सम्प्रदाय प्रमाण विवेचन पूर्वक इसके विकास में अपना योगदान देते रहे हैं।

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

प्रमा - यथार्थ एवं नवीन अनुभव

प्रमा - प्रमाण का असाधारण कारण

व्यात्रि - दो पदार्थों का अविनाभव नियत साहचर्य

प्रत्यक्ष - इन्द्रिय एवं पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान

शब्द - आत्र वचन

अनुमान - हेतु से साध्य का ज्ञान जिसका आधार व्यात्रि है।

अर्थापत्रि - वह कल्पना जिसके बिना दृष्ट या श्रुत असंगति को दूर न किया जा सके।

अनुपलब्धि - अभाव के ज्ञान का साधन।

1.6 सन्दर्भग्रन्थ

1. तर्कभाषा, केषव मिश्र, मोतीलाल बनारसी दास पब्लि प्रा. लि. 2017
2. द न्यायसूत्र ऑफ गौतम विथ द भाष्य ऑफ वात्सायन एण्ड द वार्तिक ऑफ उद्योतकर वैल्यूम : 1–4, महामहोपाध्याय गंगानाथ झा, मोतीलाल बनारसी दास पब्लि प्रा. लि. 2020,
3. अन्नंभट्ट द्वारा रचित तर्क संग्रह, डॉ नरेन्द्र कुमार षर्मा, हंस प्रकाषन, जयपुर, 2017

1.7 बोध प्रश्न

1. भारतीय ज्ञामीमांसा में प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वमान्य प्रमाण है, इस कथन पर प्रकाश डालिए।
2. प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप एवं परिभाषा लिखिए।
3. प्रत्यक्ष प्रमाण के विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश डालिए।

इकाई 2 आदर्श ज्ञान के तत्त्व : प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमा का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- प्रमाता के स्वरूप को जानने में सक्षम होंगे।
- प्रमेय के विश्लेषण को जानेंगे।
- प्रमिति के अर्थ को समझेंगे।
- प्रमाण से प्रमाणित होंगे।
- प्रमाके प्रतीति को जानने में सक्षम होंगे।

2.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम आदर्श ज्ञान के स्वरूप तथा तत्त्व के रूप में प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमा के स्वरूप व विशेषताओं की विस्तृत चर्चा करेंगे। साथ ही प्रमाण के फल के रूप में प्रमिति का भी वर्णन करेंगे। ज्ञान (knowledge) का अर्थ जानना, अनुभव और बोध होना होता है। सहज शब्दों में कह सकते है कि किसी चीज का रूप जैसे वह है, वैसा ही अनुभव होना ज्ञान है। ज्ञान एक तरह की मनोदशा है। जो जानने वाले के ह्रदय में होने वाला एक प्रकार का क्रिया प्रतिक्रिया है। ज्ञान का तात्पर्य किसी चीज के बारे में सही और अच्छी जानकारी होना है। किसी भी विषय को पूर्ण रूप से समझना उसका अनुभव करना तथा समय आने पर उसका सही इस्तेमाल करना ही ज्ञान है। यह एक विश्वास है। जिसे सत्य के रूप में स्वीकारा गया है। हम अपने किसी भी काम को आसान तरीके से किस तरह करें या किस तरह से उसको सम्भव बनाएं, ये हम ज्ञान की ही बुनियाद पर कर सकते हैं। इन सोच विचारों की क्षमता या शक्ति को हम ज्ञान कह सकते हैं जिसके नींव पर हम सारे कामों को करते हैं और

आगे बढ़ते हैं। ज्ञान अन्धविश्वासों दूर करता है।किसी व्यक्ति का उचित ज्ञान ही उसे सफलताके मार्ग तक ले जाता है।

2.2 अवधारणा

2.2.1 आदर्श ज्ञान के तत्त्व

ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान एक अत्यन्त ही व्यापक शब्द है। ज्ञान क्या है? अथवा ज्ञान का क्या स्वरूप है? इस सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि से ज्ञान की विभिन्न अवधारणाएँ प्राप्त होती हैं। पाश्चात्य दृष्टि से ज्ञान को नालेज (Knowledge) कहा जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ 'किसी तथ्य या सत्य का या अस्तित्ववान वस्तु का निश्चित प्रत्यक्षीकरण, असंदिग्ध ज्ञान, पहचान, सीखना, पाण्डित्य, किसी चीज में कुशल होना, वास्तविक अनुभव करके किसी वस्तु से परिचित होना आदि है।' ज्ञान को इन विभिन्न अर्थों में वस्तु या तथ्य के सत्य ज्ञान या निश्चित ज्ञान के सन्दर्भ में ग्रहण किया गया है।

भारतीय दृष्टि से ज्ञान का अर्थ जानना, बोध, जानकारी, सम्यक् बोध, पदार्थ का ग्रहण करने वाली वृत्ति, आत्म साक्षात्कार आदि है। भारतीय दर्शन में ज्ञान को प्रमा माना गया है। मीमांसा दर्शन के अनुसार प्रमा अज्ञात तथा सत्य पदार्थ का ज्ञान है। प्रत्येक ज्ञान में एक ज्ञाता तथा एक ज्ञेय पदार्थ होता है। इसी ज्ञाता तथा ज्ञेय के सम्बन्ध का परिणाम ज्ञान है।

जब ज्ञाता का ज्ञेय पदार्थ के साथ इन्द्रियों के माध्यम से सम्पर्क होता है, तब ज्ञाता को ज्ञेय पदार्थ के सम्बन्ध में एक चेतना होती है कि उसका अस्तित्व है तथा उसमें अमुक–अमुक गुण है। सामान्यतः इसी प्रकार की चेतना को ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। ज्ञान का सदैव एक विषय होताहै और किसी चेतना युक्त ज्ञाता को उस विषय का ज्ञान होता है। साधारण ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत बहुत महत्त्वपूर्ण है। परन्तु कुछ ऐसे भी असाधारण ज्ञान होते हैं जहाँ यह द्वैत समाप्त हो जाता है। ज्ञान की प्रक्रिया में द्वैत भले ही रहता है परन्तु ज्ञान प्राप्ति के बाद यह द्वैत बिल्कुल समाप्त हो जाता है। इसलिए भारतीय दर्शन में ज्ञान की उपमा एक प्रकाश युक्त दीपक से दी गई है। जिस प्रकार अन्धकार में दीपक जलने पर सामने की वस्तुएँ दिखाई देने लगती है उसी प्रकार ज्ञान भी अज्ञान के अन्धकार को दूर कर सत्य की खोज में सहायता प्रदान करता है।

न्याय दर्शन ज्ञान को ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध मानता है। बिना ज्ञाता और ज्ञेय के ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। जब भी ज्ञाता ज्ञेय के सम्पर्क में आता है तो उसमें ज्ञान का गुण उत्पन्न होता है। आत्मा या ज्ञाता ज्ञान का आश्रय है। ज्ञान आत्मा या ज्ञाता का आगन्तुक धर्म है जिसका कार्य ज्ञेय पदार्थ को प्रकाशित करना है जिस प्रकार दीपक सभीपस्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान अपने सम्मुख उपस्थित वस्तुओं या पदार्थों को प्रकाशित करता है। ज्ञान स्व–प्रकाशक नहीं है बल्कि वह केवल अर्थ प्रकाशक है। ज्ञान का कार्य ज्ञेय या विषय को प्रकाशित करना है। जब ज्ञान को उत्पन्न करने वाली सामग्री दोष रहित है तो ज्ञान सम्यक् होगा तथा यदि विषय दोष युक्त होगा तो ज्ञान भी असम्यक् होगा। ज्ञान आत्मा को ज्ञाता के रूप में प्रकाशित नहीं करता है तथा न तो आत्मा स्व–प्रकाश है। इसलिए प्राचीन नैयायिकों का मत है कि आत्मा का अनुमान किया जाता है। परन्तु नव्य नैयायिकों के अनुसार आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है जो अनुव्यव साथ में होता है। व्यवसाय का अर्थ है–

'ज्ञान' तथा अनुव्य साम का अर्थ है– 'ज्ञान के बाद का ज्ञान' अर्थात् 'ज्ञान का ज्ञान है।' जैसे– 'यह घट है' यह वट का ज्ञान है। 'मैं यह जानता हूँ यह घट है' यह अनुव्यवसाय है क्योंकि यह घट के ज्ञान का ज्ञान है। अनुव्यवसायात्मक ज्ञान पूर्व घट के ज्ञान को अपना विषय बनाकर प्रकाशित करता है।

पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अनुसार ज्ञान साक्षात ज्ञान तथा असाक्षात ज्ञान के रूप में दो प्रकार का होता है। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान को साक्षात ज्ञान कहते हैं। जैसे– आँखों से देखकर भैंस के काली होने का ज्ञान साक्षात ज्ञान है। ज्ञानेन्द्रियों से परे अनुमान से प्राप्त ज्ञान असाक्षात कहलाता है। जैसे– आकाश में बादल देखकर वर्षा होने का ज्ञान प्राप्त करना असाक्षात ज्ञान है। परन्तु भारतीय न्याय शास्त्र के अनुसार ज्ञान के दो भेद प्रमा तथा अप्रमा के रूप में है। यथार्थ या वास्तविक ज्ञान प्रमा कहलाता है। जबकि अयथार्थ या अवास्तविक ज्ञान अप्रमा कहलाता है।

अब हम आदर्ष ज्ञान के तत्त्व यथा प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमा के स्वरूप को क्रमषः जानेंगे।

2.2.2 प्रमाता

प्रमाता को आत्मा के अर्थ में समझा जा सकता हैं। भारतीय दर्शन जगत् का प्राण तत्त्व है–आत्मा। आत्मा के अस्तित्व, उसके स्वरूप आदि के बारे में भारतीय चिंतकों ने प्रभूत विमर्श किया है। आत्मा को केन्द्र में रखकर दो प्रकार की विचारधाराएँ विकसित हुई। एक वह जो आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार करती है और दूसरी वह जो आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती। चार्वाक के अतिरिक्त समस्त भारतीय चिन्तकों ने आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार किया है। न्याययुग में आत्मा को ही प्रमाता के रूप में जाना गया है अर्थात् आत्मा के लिए प्रमाता शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रमाता को परिभाषित करते हुए कहा गया–'स्वपरावभासी परिणामी आत्मा प्रमाता। स्वपरावभासी प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा प्रमाता।' इन परिभाषाओं में प्रमाता के तीन लक्षण बताये गये हैं–

1. प्रमाता का स्व–परप्रकाशी होना।
2. प्रमाता का परिणामीनित्य होना।
3. प्रमाता का प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञान होना।

प्रमाता का स्व–परप्रकाशी होना–भारतीय दर्शन में आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में दार्शनिकों में परस्पर मतभेद पाया जाता है। कुछ दर्शन जैसे– अद्वैत–वेदान्त, सांख्य–योग, बौद्ध आदि आत्मा को स्वप्रकाशी मानते हैं। इनके अनुसार आत्मा स्वप्रकाशी है, पर–प्रकाशी नहीं।

मीमांसा, न्याय–वैशेषिक आदि कुछ दर्शन आत्मा को परप्रकाशी मानते हैं, स्वप्रकाशी नहीं। स्वप्रकाशी से तात्पर्य अपने आपको जानने वाला तथा परप्रकाशी से तात्पर्य दूसरों को जानने वाला है। जैन दर्शन से इन दोनों के बीच समन्वय स्थापित किया और आत्मा को न केवल स्वप्रकाशी और न केवल परप्रकाशी अपितु स्वपरप्रकाशी माना। इस विषय में उनका अभिमत है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान स्व–परप्रकाशक है इसलिए आत्मा भी स्व–परप्रकाशक है।

जिस प्रकार सूर्य या दीपक अपने आपको प्रकाशित करता है और दूसरे पदार्थों–घट–पट आदि को भी प्रकाशित करता है अतः वह स्व–परप्रकाशी होता है।

उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं तथा पर पदार्थों को प्रकाशित करने के कारण स्व–परप्रकाशी है। जो स्वप्रकाशी नहीं होता वह परप्रकाशी भी नहीं हो सकता। जैसे–घट, घट जड़ होने के कारण अपने आपको भी प्रकाशित नहीं कर सकता और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित नहीं कर सकता।

आत्मा ज्ञानस्वरूप होने के कारण स्व–परप्रकाशक है। अतः सूत्र में स्वपरावभावी या स्वपरप्रकाशी विशेषण उन लोगों के मत का खण्डन करने के लिए है, जो आत्मा को केवल स्वप्रकाशी या केवल परप्रकाशी मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाता स्व–परप्रकाशी है।

2.2.3 प्रमेय

प्रमाणेन आनेन प्रमीयते ज्ञायते यत् वस्तु तत्त्वं तत् सर्वं प्रमेयं ज्ञेयमित्यर्थः। प्रमाण–ज्ञान के द्वारा जो वस्तु तत्त्व जाना जाता है वह सभी तत्त्व प्रमेय–ज्ञेय कहलाता है। अर्थात् ज्ञान से जाने गये सभी पदार्थ ज्ञेय कहलाते हैं और ज्ञान को ही प्रमाण माना है अतः प्रमाण से जाने गये सभी पदार्थ 'प्रमेय' कोटि में आ जाते हैं।न्याय के चार अंगों में दूसरा अंग है–प्रमेय।

संसार में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो ज्ञान का विषय न हो, चाहे वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हो या परोक्ष ज्ञान का विषय हो किन्तु सभी चेतन–अचेतन पदार्थ ज्ञान के विषय अवश्य हैं जो ज्ञान के विषय नहीं है वे पदार्थ ही नहीं है वे तो आकाशकमलवत् असत् ही हैं। अतः प्रमेय शब्द से सम्पूर्ण चेतन–अचेतन पदार्थ आ जाते हैं। यहाँ तक कि प्रमाण भी कथंचित् प्रमेय है जैन दर्शन में ज्ञान को स्वसंवेदी सिद्ध किया है अतः ज्ञान जानने वाला होने से ज्ञान है एवं स्वयं के द्वारा स्वयं जाना जाता है अतः ज्ञेय भी है।

आचार्य कहते हैं कि 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं' सूत्र में ज्ञान शब्द से प्रमाता–आत्मा और प्रमिति–ज्ञान की व्यावृत्ति हो जाती है, इस पर शंकाकार कहते हैं कि जैसे ज्ञानपद से प्रमाता और प्रमिति का निराकरण किया है वैसे ही प्रमेय का निराकरण क्यों नहीं किया, क्योंकि प्रमेय भी ज्ञानरूप नहीं है। इस पर जैनाचार्य कह रहे हैं कि च शब्द से प्रमेय का भी निराकरण हुआ समझना चाहिए।

यद्यपि 'स्व' को जानने की अपेक्षा से ज्ञान 'प्रमेय' ही है फिर भी घट पट आदि बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से प्रमेय नहीं भी है अतः च शब्द से प्रमेय का भी निराकरण हो जाता है। यहाँ इस बात को समझ लेना चाहिए कि ये प्रमाता, प्रमिति और प्रमेय तीनों ही यद्यपि ज्ञान नहीं है फिर भी इनमें सम्यक्पना सिद्ध है। इसलिए सच्चे ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थ सच्चे ज्ञेय–प्रमेय कहलाते हैं। ये ही ज्ञेयभूत जीवादिपदार्थ द्रव्य, तत्त्व आदि सम्यक्त्व के विषयभूत हैं।

प्रमाण के विषय को प्रमेय कहते हैं। संख्या की दृष्टि से प्रमेय अनन्त हैं, क्योंकि जगत् में जितने भी द्रव्य या पदार्थ हैं, वे सब प्रमेय हैं। प्रमेय का विभाजन पदार्थों की संख्या के आधार पर नहीं अपितु उनकी स्वरूपगत विशेषताओं के आधार पर किया जाता है। दर्शन जगत् में स्वरूप की दृष्टि से प्रमेय के चार रूप बनते हैं–

1. प्रमेय नित्य हैं।
2. प्रमेय अनित्य हैं।
3. कुछ प्रमेय नित्य एवं कुछ अनित्य हैं।

4. प्रमेय नित्यानित्य हैं।

वेदान्त, सांख्य आदि दर्शन में प्रमेय को कूटस्थ नित्य माना गया है। बौद्ध दर्शन में प्रमेय को अनित्य माना गया है। न्याय दर्शन में कुछ प्रमेयों, जैसे–आत्मा, आकाश आदि को नित्य माना गया है तथा दीपशिखा आदि कुछ प्रमेयों को अनित्य माना गया है। जैन दर्शन में प्रमेय को नित्यानित्य माना गया है।

जैन दर्शन जगत् की वस्तुओं को संख्या की दृष्टि से अनन्त स्वीकार करके भी स्वरूप की दृष्टि से उसे नित्यानित्य या सामान्यविशेषात्मक ही मानते हैं। सत्–असत्, नित्य–अनित्य, सामान्य–विशेष, वाच्य–अवाच्य आदि अनन्त धर्मात्मक वस्तु प्रमाण का विषय (प्रमेय) होती है।

इस सूत्र में प्रमेय के निम्न स्वरूप बतलाये गये हैं–

1. सत्–असत्, 2. नित्य–अनित्य, 3. सामान्य–विशेष, 4. वाच्य–अवाच्य।

सत्–असत्, नित्य–अनित्य आदि परस्पर अविनाभावी हैं अर्थात् एक–दूसरे के बिना नहीं रहते। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

1. सत्–असत्–जैन दर्शन के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है। उनमें एक धर्म है सत्–असत् का अविनाभाव। सत् के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए लिखा गया–'उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मकं सत्'–उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक पदार्थ को सत् कहा जाता है। उत्पाद और व्यय परिवर्तन के सूचक हैं तथा ध्रौव्य नित्यता का सूचक है।

उत्पाद–उत्तरोत्तराकाराणामुत्पत्तिः उत्पादः–उत्तरोत्तर आकार की उत्पत्ति का नाम उत्पाद है। यथा–दूध में जामन देने पर दही रूप पर्याय का उत्पाद हो गया। पर हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि स्वजाति (मूल द्रव्य) का परित्याग किये बिना भवान्तर (दूसरी अवस्था) का ग्रहण करना उत्पाद है। मिट्टी का पिण्ड घट पर्याय में परिणत होता हुआ भी मिट्टी ही रहता है। अतः मिट्टीरूप जाति का परित्याग किये बिना घटरूप भवान्तर का जो ग्रहण है, वही उत्पाद है।

व्यय–'पूर्वपूर्वाकाराणां विनाशः व्ययः'–पूर्व–पूर्व आकार के विनाश का नाम व्यय है। उत्पाद की भांति व्यय का स्वरूप बताते हुए कहा गया कि स्वजाति का परित्याग किये बिना पूर्वभाव (पर्याय) का जो विगम (नाश) है, वह व्यय है। घट की उत्पत्ति में पिण्ड की आकृति का विगम, व्यय का उदाहरण है। पिण्ड जब घट बनता है, तो उसकी पूर्वाकृति पिण्ड का व्यय हो जाता है। इस व्यय में मिट्टी का नाश नहीं होता है, केवल आकृति का नाश होता है।

ध्रौव्य–'एतद्वयपर्यायान्वयि एव ध्रौव्यं सद् उच्यते'–उत्पाद एवं व्यय इन दोनों पर्यायों में जो अन्वित होता है, हमेशा बना रहता है, उसे ध्रौव्य कहते हैं। उसी को सत् भी कहते हैं। उदाहरण के लिए पिण्डादि अनेक अवस्थाओं में मिट्टी का जो अन्वय है, वह ध्रौव्य है। इस प्रकार जैनदर्शन में सत् को उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक माना गया है और वही प्रमाण का विषय (प्रमेय) बनता है।

एकान्तवादी कुछ आचार्यों का वस्तु के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक स्वरूप पर यह आक्षेप है कि उत्पाद–व्यय और ध्रौव्य परस्पर विरोधी हैं। परस्पर विरोधी गुणधर्म वस्तु में एक साथ कैसे रह सकते हैं? इसका समाधान देते हुए जैन आचार्यों ने लिखा–

'घटमौली सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्।।'

इस श्लोक में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों एक साथ कैसे हो सकते हैं, इस बात को उदाहरण से समझाया गया है–एक बार तीन व्यक्ति एक स्वर्णकार की दुकान पर पहुँचे। उस समय स्वर्णकार स्वर्णकलश को तोड़कर स्वर्णमुकुट बना रहा था। उन तीनों में से पहला व्यक्ति स्वर्णमुकुट चाहता था, दूसरा स्वर्णकलश चाहता था और तीसरा केवल स्वर्ण चाहता था। स्वर्णकार की प्रवृत्ति को देखकर पहले व्यक्ति को प्रसन्नता हुई क्योंकि वह स्वर्णमुकुट का उत्पाद देख रहा था। दूसरे व्यक्ति को दुःख हुआ क्योंकि वह स्वर्णकलश का व्यय (नाश) देख रहा था और तीसरा व्यक्ति मध्यस्थ (तटस्थ) रहा क्योंकि उसे स्वर्ण चाहिए था और उसे वहाँ स्वर्ण ही दिखाई दे रहा था। इस प्रकार एक ही समय में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों बातें एक साथ दिखाई देती हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से त्रिगुणात्मक है। त्रिगुणात्मक वस्तु को ही सत् कहते हैं।

2.2.4 प्रमिति (प्रमाण का फल)

दर्शन जगत् में प्रमाण और प्रमेय की भांति प्रमिति (प्रमाण–फल) की चर्चा भी अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रमिति की विस्तृत चर्चा जैनदर्शन में मिलती है। जैनदर्शन के माध्यम सेहम प्रमिति को ठीक प्रकार से जानेंगे। जैनदर्शन आत्मवादी होने के कारण आत्मा को प्रमाता मानता है। ज्ञान आत्मा का गुण है और वह प्रमा (जानने) का साधकतम उपकरण है, इसलिए ज्ञान को प्रमाण मानता है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है इसलिए ज्ञान को ही प्रमिति (प्रमाण–फल) मानता है। अतः जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान ही प्रमाण है और ज्ञान ही प्रमिति है। जैनदर्शन में प्रमाण के दो फल माने गये हैं–1. अन्नतर फल, 2. परम्परा फल।अन्नतर फल–अन्नतर अर्थात् साक्षात् फल (मुख्य फल) प्रमाण का साक्षात् फल है–पदार्थ का बोध होना, ज्ञान होना।न्याय के चार अंगों में तीसरा अंग है–प्रमिति।

जैन दर्शन में ज्ञान का आविर्भाव (प्रकटीकरण) ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से माना गया है। उसमें पदार्थ– प्रकाश आदि को कारण नहीं माना गया। जैन दार्शनिकों का मंतव्य है कि पदार्थ की उपस्थिति में भी उसका ज्ञान नहीं होता है, यदि तत्सम्बद्ध ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम न हो। इसलिए जैन दार्शनिकों ने विषय के ज्ञान को सीधा प्रमाणफल न कहकर तत्संबंद्ध अज्ञाननिवृत्ति को प्रमाण का फल कहा है। उदाहरणार्थ हमें घट (घड़ा) का ज्ञान हुआ है। इसका अर्थ है–हमारी घट–संबधी अज्ञान की निवृत्ति हुई है। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान आदि समस्त प्रमाणों का साक्षात् फल जैन दर्शन में अज्ञाननिवृत्ति को माना गया है।

परम्परा फल–परम्परा अर्थात् गौण फल, अन्नतर के बाद होने वाला फल। प्रमाण का परस्पर फल हान (हेय) उपादान (उपादेय) और उपेक्षा (मध्यस्थ) बुद्धि है। वस्तु का ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञाता को वह यदि अहितकारी प्रतीत होती है तो वह उसे छोड़ देता है, अर्थात् उस वस्तु के प्रति उसकी ज्ञान बुद्धि पैदा होती है। वस्तु यदि हितकारी प्रतीत होती है तो वह उसे ग्रहण कर लेता है अर्थात् उस वस्तु के प्रति उसकी उपादान बुद्धि पैदा होती है तथा उस वस्तु से यदि उसका कोई प्रयोजन नहीं होता तो, वह उसकी उपेक्षा कर देता है, अर्थात् उसके प्रति तटस्थ (मध्यस्थ) बुद्धि रखता है।

मति, श्रुत आदि ज्ञानों में हान, उपादान और उपेक्षा तीनों बुद्धियाँ फल होती हैं तथा केवलज्ञान का फल मात्र उपेक्षा बुद्धि ही है, क्योंकि केवलज्ञान वीतरागी होते हैं अतः उनके राग–द्वेष से होने वाली ज्ञान–उपादान बुद्धि नहीं होती।

जैसा कि न्यायावतार में लिखा है–प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति है। केवलज्ञान का साक्षात् फल उपेक्षा बुद्धि है तथा शेष मति, श्रुत आदि ज्ञानों का फल ज्ञान और उपादान बुद्धि है।

इस प्रकार प्रमाण का फल दो प्रकार का है–एक साक्षात् फल अर्थात् प्रमाण से अभिन्न फल और दूसरा गौण फल अर्थात् प्रमाण से भिन्न फल। प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है और परम्परा फल ज्ञान, उपादान, उपेक्षा बुद्धि है।

जैनदर्शन में प्रमाण और प्रमीति (फल) दोनों को ज्ञानरूप स्वीकार किया गया है। दोनों का ज्ञानात्मक स्वीकार करने पर यह समस्या उठती है कि प्रमाण एवं प्रमिति दोनों ही जब ज्ञानात्मक हैं तो उनमें फिर भेद क्या हुआ? दोनों के ज्ञानात्मक होने से फिर तो उनमें अभेद ही होना चाहिए।

प्रमाण और प्रमिति का भेदाभेद

जैनदर्शन अनेकांतवादी है अतः वह अनेकान्त के आधार पर प्रमाण और प्रमिति दोनों में न सव–था भेद और न सव–था अभेद अपितु भेदाभेद सिद्ध करता है। जैन दाश–निक कहते हैं कि यद्यपि प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति स्वपरव्यावसायी ज्ञान से अभिन्न प्रतीत होता है किन्तु प्रमाण जानने का साधन एवं अज्ञाननिवृत्ति स्वपरव्यवसितिरूप ज्ञान साध्य है। 'साध्यसाधनभावेन तयोभेदः'–साध्य और साधन भाव की अपेक्षा से प्रमाण और प्रमिति (फल) भिन्न हैं। प्रमाण साधन है और प्रमिति साध्य है अतः दोनों में कथंचित् भेद है।

प्रमाण और प्रमिति दोनों ज्ञानात्मक हैं और ज्ञानात्मक होने के कारण यदि उनमें एकान्त अभेद माना जाये तो या तो साधन (प्रमाण) होगा या साध्य (प्रमिति) होगा। दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व सम्भव नहीं होगा। अतः प्रमाण और प्रमिति में एकान्त अभेद न होकर कथंचित् अभेद है। यद्यपि हान, उपादान और उपेक्षा–बुद्धिरूप फल की प्रतीति होती है, इसलिए उनमें कथंचित् अभेद भी है। एक ही प्रमाता में आत्मगत होने के कारण प्रमाण और प्रमिति अभिन्न हैं। तात्पय– यही है कि प्रमाणरूप में परिणित आत्मा ही फलरूप में परिणित होती है अतः एक प्रमाता की अपेक्षा से दोनों में अभेद घटित होता है।

जैन आचार्यों का यह मंतव्य है कि यदि प्रमाण और फल को कथंचित् भिन्न एवं कथंचित् अभिन्न न माना जाये तो प्रमाण और फल की व्यवस्था ही नहीं बन सकती। जैन दर्शन में प्रमेय दो प्रकार के माने गये हैं–स्व एवं पर। जब ज्ञान ही प्रमेय हो तो वह 'स्व' तथा जब बाह्य पदार्थ प्रमेय हो तो उसे 'पर'कहा जाता है। ज्ञान को परप्रकाशक मानने के साथ–साथ स्वप्रकाशक भी माना गया है। इसलिए कभी ज्ञान भी प्रमेयरूप हो सकता है। ज्ञान को प्रमेय मान लेने पर प्रमेय, प्रमाण, प्रमिति एवं प्रमाता सभी ज्ञानात्मक हो जाते हैं तथपि जैन दार्शनिक व्यवस्था की दृष्टि से इन चारों में साध्य, साधन, कार्य एवं कर्ता के रूप में कथंचित् भेद स्वीकार करते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण से प्रमाण का फल न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न है अपितु भिन्नाभिन्न है।

जैनदर्शन में ज्ञान को प्रमाण माना गया है और ज्ञान को ही फल माना गया है। इस दृष्टि से जैन चिंतकों ने अवग्रह आदि ज्ञान के भेदों में भी प्रमाण और फल की व्यवस्था करते हुए लिखा है–'अवग्रहादीनां क्रमिकत्वात् पूर्व पूर्व प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम्' अर्थात् अवग्रह आदि क्रमिक होते हैं इसलिए उनमें पूर्व–पूर्ववर्ती ज्ञान प्रमाण और उत्तरकृउत्तरवर्ती ज्ञान फल होते हैं। जैसे–अवग्रह प्रमाण है और ईहा उसका फल है। इसी प्रकार ईहा प्रमाण और अवाय उसका फल, अवाय प्रमाण और धारणा उसका फल, धारणा प्रमाण और स्मृति उसका फल, स्मृति प्रमाण और प्रत्यभिज्ञान उसका फल, प्रत्यभिज्ञान प्रमाण और तर्क उसका फल तथा तर्क प्रमाण और अनुमान उसका फल है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान प्रमाण भी है और फल भी है।

जैनदर्शन में प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति एवं गौण फल हान–उपादान–उपेक्षा बुद्धि माना गया है तथा प्रमाण एवं प्रमाण–फल में न एकान्त भेद और न एकान्त अभेद अपितु कथंचित् भेदाभेद माना गया है।

2.2.5 प्रमाण

प्रमाण (sources of Knowledge)– प्रमाता या ज्ञाता को प्रमेय या विषय के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए कुछ साधनों की आवश्यता होती है। इन्हीं साधनों को भारतीय तर्कशास्त्र में 'प्रमाण' कहा जाता है। जैसे– यदि हमारे पास आँखें न होती तो हमें सामने रखी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। ज्ञानेन्द्रियाँ हमारे ज्ञान प्राप्त करने के साधन जो ज्ञाता और विषय के बीच सम्बन्ध स्थापित कराती है। विषय और ज्ञाता के बीच सम्बन्ध स्थापित कराने वाला प्रमाण कहलाता है। विद्वानों ने प्रमाण को परिभाषित करते हुए कहा है–''जो प्रमा का कारण हो वही प्रमाण कहलाता है।'' इस परिभाषा में दो शब्द है प्रमा तथा कारण। जहाँ प्रमा यथार्थ ज्ञान है वही किसी कार्य के 'नियत पूर्ववर्ती' को ही कारण कहा जाता है।

कारण (**Cause**)– किसी भी कार्य से पूर्व अनेक घटनाएँ घटित होती हैं परन्तु हम उन सभी को कारण नही कह सकते। कार्य के पूर्ववर्ती घटनाएँ दो प्रकार की होती हैं– नियत तथा अनियत। जैसे 'वर्षा' एक घटना है तथा इससे पूर्व अनेक पूर्ववर्ती घटनाएँ घट सकती हैं। जैसे–कॉलेज के मैदान में क्रिकेट मैच, मन्दिर में आरती, पार्क में मेढ़क का टर्राना आदि। ये सभी घटनाएँ अनियत पूर्ववर्त्ती घटनाएँ हैं। इनमें से कोई भी वर्षा से पहले हमेशा होने का दावा नहीं कर सकती। वर्षा से पहले नियमित रूप से होने का दावा सिर्फ एक घटना कर सकती है,वह है 'आकाश में बादल आना।' यह एक नियत पूर्ववर्ती घटना है जो वास्तव में कारण होने का दावा कर सकती है।

परन्तु कोई भी 'नियत पूर्ववर्ती' घटना किसी कार्य का कारण तभी हो सकती है जबकि वह अनौपाधिक भी हो। अर्थात् घटना कारण तभी बन सकती है जबकि वह किसी उपाधि या शर्त से जुड़ी न हो। पाश्चात्य तर्कशास्त्री मिल के अनुसार–'कारण एक नियत, अनौपचारिक और तात्कालिक पूर्ववर्ती घटना है।' न्याय शास्त्र भी कारण को अनौपचारिक नियत पूर्ववर्ती घटना कहते हैं।

कारण के भेद– न्याय शास्त्र में कारण के तीन भेद बताए गए हैं– समवायिक कारण असमवायिक कारण तथा निमित्त कारण।

i) समवायिक कारण (Inherent Cause) – जिस पदार्थ या द्रव्य से कार्य की उत्पत्ति होती है उसे समवायिक कारण कहा जाता है। जैसे– घड़े का कारण मिट्टी। मिट्टी से ही घड़े रूपी कार्य उत्पन्न होता है। घड़े और मिट्टी के बीच समवाय सम्बन्ध

होता है। अवयवी और अवयव के बीच के सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध कहा जाता है। इसलिए उसे समवायी कारण कहा जाता है। उसे उपादान कारण भी कहा जा सकता है क्योंकि जैसे मिट्टी घड़े का उपादान कारण है।

ii) असमवायिक कारण (Non herent Cause) – समवायिक कारण को उत्पन्न करने वाले को असमवायिक कारण कहा जाता है। जैसे– धागा कपड़े का समवायिक कारण है परन्तु धागे का रंग कपड़े का असमवायिक कारण है जिस रंग का धागा होगा कपड़ा भी उसी रंग का तैयार होता है।

iii) निमित्त कारण (Instrumental Cause) – जो कार्य को उत्पन्न करने में सहायक होता है उसे निमित्त कारण कहते हैं। जैसे –घड़े को उत्पन्न करने के लिए चाक और कुम्हार की आवश्यकता है। इसलिए चाक और कुम्हार घड़े के निमित्त कारण हैं। इसे असाधारण या अतिशय कारण भी कहा जाता हैक्योंकि अन्य दो कारण साधारण कारण कहलाते हैं। निमित्त कारण की अतिशयता के कारण इसे 'करण' कहते हैं। प्रधान रूप से किसी कार्य का फलोत्पादक कारण को 'करण' कहा जाता है।

करण (Important Part of the Cause)– करण को साधकतम भी कहा जाता है जो साधन क्रिया के सबसे निकट पाया जाता है उसे साधकतम् कहा जाता है जैसे कोई शिकारी गोली चलाकर किसी शिकार को मारता है। यहाँ शिकार को मारना एक कार्य है, जिसमें बन्दूक, ट्रिगर, हाथ की उंगली, आँख का निशाना आदि अनेक क्रियाशील क्रियाएँ होती हैं जिनके संयुक्त प्रयत्न से ही शिकार का शिकार होता है परन्तु गोली ही प्रधान क्रिया है जिससे शिकार होता है। इसलिए गोली को ही 'करण' या 'साधकतम्' कहा जाता है।

पाश्चात्य तर्कशास्त्र की दृष्टि से कारण के चार भेद हैं– (1) द्रव्य कारण, (ii) आकारिक कारण, (iii) योग्य कारण, (iv) अन्तिम कारण इनमें द्रव्य कारण और आकारिक कारण को 'आंतरिक कारण' कहा जाता है तथा योग्य कारण और अंतिम कारण को 'बाह्य कारण' कहा जाता है। द्रव्य कारण समवायिक कारण का तथा आकारिक कारण असमवायिक कारण के प्रतिरूप कह सकते हैं जबकि योग्य कारण तथा अंतिम कारण निमित्त कारण के दो भेद के रूप में हैं।

प्रमाण की परिभाषा प्रमा, कारण एवं करण के सन्दर्भ में उपरोक्त व्याख्याओं के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि 'प्रमा का कारण ही प्रमाण कहलाता है। उदनाचार्य प्रमाण को परिभाषित करते हुए कहते हैं' प्रमाण वह है जो जाता और विषय ज्ञान के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। 'इसी प्रकार महर्षि वात्स्यायन प्रमाण को परिभाषित करते हुए कहते हैं–'जिस साधन द्वारा प्रमाता को प्रमेय का ज्ञान हो उसे 'प्रमाण' कहते हैं।' इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने प्रमाण को विभिन्न तरीकों से परिभाषित किया है परन्तु उन सभी का सार एक है।

प्रमाण का महत्त्व – मनुष्य दुनिया में ज्ञान प्राप्त करना चाहता हैजिसके लिए उसे कुछ साधन चाहिए जिसे प्रमाण कहा जाता है। प्रमाण की कसौटी पर कसने के बाद ही किसी ज्ञान की कीमत ज्ञात होती है। कि वह किस कोटि का है। न्याय शास्त्र में प्रमाण का महत्त्व इतना है। कि उसे प्रमाण शास्त्र भी कहा जाता है। कहीं–कहीं न्याय दर्शन में 'प्रमाण' को ईश्वर भी कहा गया है। उदयनाचार्य ने प्रमाण की तुलना 'शिव' से की है। वहीं कहीं–कहीं प्रमाण शब्द का व्यवहार 'विष्णु' के अर्थ में भी किया गया है।

प्रमाण के भेद – भारतीय तर्कशास्त्र में प्रमाणों की संख्या को लेकर विभिन्न मत सामने आते हैं। जहाँ जबकि दर्शन में प्रमाण की संख्या एक हैं जिसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। जबकि वैशेषिक दर्शन में प्रमाणों की संख्या 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' के रूप में दो है। सांख्य दर्शन 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' शब्द के रुप में प्रमाणों की संख्या तीन बताई गई है। जबकि न्याय दर्शन प्रमाणों की संख्या चार मानता है जो 'प्रत्यक्ष'. 'अनुमान', 'उपमान' और 'शब्द' है। वहीं प्रभाकर मीमांसा इसमें 'अर्थापत्ति' को जोड़कर प्रमाणों की संख्या पाँच मानी है। जबकि भट्ट मीमांसक तथा वेदन्तियों ने 'अनुपलब्धि' को छठें प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। पुराण शास्त्र 'सम्भव' तथा 'ऐतिह्य' को प्रमाणों के रूप में स्वीकार करते हुए प्रमाणों की संख्या दस माना है जो निम्नलिखित हैं–

1. प्रत्यक्ष (Perception)
2. अनुमान (Inference)
3. शब्द (Verbal Authority)
4. उपमान (Comparison)
5. अर्थापत्ति (Implication)
6. अभाव या अनुपलब्धि (Non-Apprehension)
7. सम्भव (Probable)
8. ऐतिहय (Rumour)

2.2.6 प्रमा का स्वरूप

प्रमा (**Real Knowledge**)

किसी विषय का यथार्थ ज्ञान ही प्रमा है जिसका लक्षण यह है कि इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं होता है। प्रमा किसी वस्तु के यथार्थ अनुभव पर आधारित होता है। यह ज्ञान समतल दर्पण के समान होता है। समतल दर्पण में जो वस्तु जैसी रहती है उसका प्रतिबिंब ठीक उसी रूप में आता है। यदि सामने पेड़ है तो उसे उसी पेड़ के रूप में जानना यथार्थ ज्ञान या प्रमा कहलाएगा। प्रमा हमेशा हमारे वास्तविक अनुभव पर निर्भर करता है। प्रमा हमेशा संशय से दूर रहता है। यदि किसी विषय के ज्ञान में संशय का आभास तो वह कभी यथार्थ ज्ञान या प्रमा नहीं हो सकता। प्रमा वास्तविक ज्ञान है, इसलिए तर्क शास्त्र का सम्बन्ध अधिकतर इसी के साथ रहता है। प्रमा के विश्लेषण में हमें तीन बातें आवश्यक दिखाई देती है।(i) प्रमाता (Knower), (ii) प्रमेय (Object of Knowledge), (iii) प्रमाण (Sources of Knowledge)। जिनकी व्याख्या पहले की जर चुकी है।

2.3 सारांश

ज्ञान को नालेज (Knowledge) कहा जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ 'किसी तथ्य या सत्य का या अस्तित्ववान वस्तु का निश्चित प्रत्यक्षीकरण, असंदिग्ध ज्ञान, पहचान, सीखना, पाण्डित्य, किसी चीज में कुशल होना, वास्तविक अनुभव करके किसी वस्तु से परिचित होना आदि है।' ज्ञान को इन विभिन्न अर्थों में वस्तु या तथ्य के सत्य ज्ञान या निश्चित ज्ञान के सन्दर्भ में ग्रहण किया गया है। आदर्ष ज्ञान के चार प्रमुख तत्त्व यथा प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमा के स्वरूप को क्रमषः जाना गया है।

आत्मा को ही प्रमाता के रूप में जाना गया है अर्थात् आत्मा के लिए प्रमाता शब्द का

प्रयोग किया गया है।जिस प्रकार सूर्य या दीपक अपने आपको प्रकाशित करता है और दूसरे पदार्थों–घट–पट आदि को भी प्रकाशित करता है अतः वह स्व–परप्रकाशी होता है। उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं तथा पर पदार्थों को प्रकाशित करने के कारण स्व–परप्रकाशी है।

प्रमाण से जाने गये सभी पदार्थ 'प्रमेय' कोटि में आ जाते हैं। प्रमेय शब्द से सम्पूर्ण चेतन–अचेतन पदार्थ आ जाते हैं। दर्शन जगत् में स्वरूप की दृष्टि से प्रमेय के चार रूप बनते हैं– 1. प्रमेय नित्य हैं। 2. प्रमेय अनित्य हैं। 3. कुछ प्रमेय नित्य एवं कुछ अनित्य हैं। 4. प्रमेय नित्यानित्य हैं।

प्रमिति का अर्थ है प्रमाण–फल। ज्ञान को ही प्रमिति (प्रमाण–फल) मानता है। प्रमाण का फल दो प्रकार का है– एक साक्षात् फल अर्थात् प्रमाण से अभिन्न फल और दूसरा गौण फल अर्थात् प्रमाण से भिन्न फल। प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है और परम्परा फल ज्ञान, उपादान, उपेक्षा बुद्धि है। प्रत्येक ज्ञान प्रमाण भी है और फल भी है।

''जो प्रमा का कारण हो वही प्रमाण कहलाता है।'' प्रमाण वह है जो जाता और विषय ज्ञान के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। –'जिस साधन द्वारा प्रमाता को प्रमेय का ज्ञान हो उसे 'प्रमाण' कहते हैं। इन परिभाषा में दो शब्द है प्रमा तथा कारण। जहाँ प्रमा यथार्थ ज्ञान है वही किसी कार्य के 'नियत पूर्ववर्ती' को ही कारण कहा जाता है।

किसी विषय का यथार्थ ज्ञान ही प्रमा है जिसका लक्षण यह है कि इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं होता है।यदि किसी विषय के ज्ञान में संशय का आभास तो वह कभी यथार्थ ज्ञान या प्रमा नहीं हो सकता। प्रमा वास्तविक ज्ञान है।

2.4 पारिभाषिक शब्दावली

अन्धविश्वास – बिना विचार किए किसी बात का निष्चय

स्वप्रकाशी – अपने आपको जानने वाला

परप्रकाशी – दूसरों को जानने वाला

ज्ञेय – ज्ञान से जाने गये सभी पदार्थ

ध्रौव्य – नित्यता

उत्पाद – उत्तरोत्तर आकार की उत्पत्ति का नाम

व्यय – पूर्व आकार के विनाश का नाम

तटस्थ – मध्यस्थ

त्रिगुणात्मक – तीन गुणों वाला

आविर्भाव – प्रकटीकरण

प्रमिति – फल

प्रमा – यथार्थ ज्ञान

कारण – नियत पूर्ववर्ती

2.5 सन्दर्भग्रन्थ

1. तर्कभाषा, केषव मिश्र, मोतीलाल बनारसी दास पब्लि प्रा. लि. 2017
2. द न्यायसूत्र ऑफ गौतम विथ द भाष्य ऑफ वात्सायन एण्ड द वार्तिक ऑफ उद्योतकर वैल्यूम : 1–4, महामहोपाध्याय गंगानाथ झा, मोतीलाल बनारसी दास पब्लि प्रा. लि. 2020,
3. अन्नंभट्ट द्वारा रचित तर्क संग्रह, डॉ नरेन्द्र कुमार शर्मा, हंस प्रकाशन, जयपुर, 2017

2.6 बोध प्रश्न

1. ज्ञान के अर्थ एवं स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
2. आदर्ष ज्ञान के तत्त्वों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत कीजिए।
3. प्रमाता के अर्थ एवं लक्षण को बताइए।
4. प्रमेय के अर्थ एवं स्वरूप की व्याख्या कीजिए।
5. प्रमिति क्या है? प्रमाण और प्रमिति का भेदाभेद स्पष्ट कीजिए।
6. प्रमाण की व्याख्या कीजिए।
7. प्रमा के स्वरूप पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

इकाई 3 प्रमाणों की प्रामाणिकता : स्वतः प्रामाण्यवाद एवं परतः प्रामाण्यवाद

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

- हम प्रमाणों की प्रामाणिकता को जानेंगे।
- स्वतः प्रमाणवाद की अवधारणा और विभिन्न सम्प्रदायों को मत को जानेंगे।
- परतः प्रमाणवाद की अवधारणा और विभिन्न सम्प्रदायों को मत को जानेंगे।

3.1 प्रस्तावना

किसी भी प्रमाण के द्वारा जो ज्ञान यथार्थ या सत्य माना जाता है उसका प्रमाण या आधार प्रामाण्य कहलाता है। जिस ज्ञान को यथार्थ या सत्य माना जाता है उसकी यथार्थता या सत्यता का प्रमाण प्रामाण्यवाद का विषय है। भारतीय दर्शन में प्रामाण्य दो प्रकार का होता है – स्वतः प्रामाण्यवाद एवं परतः प्रामाण्यवाद। **स्वतः प्रामाण्यवाद** ज्ञान का वह सिद्धांत है जिसके अनुसार ज्ञान उत्पादक साधन व ज्ञान ग्राहक साधन एक ही माने जाते हैं अर्थात ज्ञान जिन कारणों से उत्पन्न होता है उसका प्रमाण भी उन्हीं कारणों से जाना जाता है। इसके अनुसार प्रामाण्य के लिए किसी अन्य कारण की उपेक्षा नहीं पड़ती। **परतः प्रामाण्यवाद** के अनुसार ज्ञान उत्पादक साधन तथा ज्ञान ग्राहक साधन भिन्न होते हैं। ज्ञान का प्रामाणिक विषय वस्तु के कारण सामग्री के अतिरिक्त अन्य बातों पर निर्भर करती है। अर्थात ज्ञान के प्रमाण के लिए अन्य कारणों की अपेक्षा रहती है। ज्ञान के स्वरूप–विश्लेषण के साथ ही जिस एक बहुत बड़े प्रश्न पर भारतीय दार्शनिकों ने गहन चिन्तन मनन किया, वह अपने मूलरूप में इस प्रकार है कि ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है और उसकी सत्यता का पता कैसे चलता है। दूसरे शब्दों में, जब हमें किसी पदार्थ का ज्ञान होता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह कौन–सी कसौटी है, जिसके आधार पर यह पता किया जा सके कि हम जिस वस्तु को जानना चाहते थे हमें उसी का बोध हुआ। ज्ञान के सत्यत्व को कसौटी प्रामाण्यवाद है।

3.2 अवधारणा

दर्शनशास्त्र में प्रामाण्य और अप्रामाण्य को 'स्वतः" या "परतः' मानने की चर्चा बहुत प्राचीन समय से चली आ रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि इस चर्चा का मूल आधार वेदों की प्रामाणिकता!' को स्वीकार करने वाले और उसके प्रामाण्य को न मानने वाले दो वर्गों में पाया जाता है। वैदिक यज्ञों में होने वाली पशुहिंसा आदि को देखकर जैन, बौद्ध आदि विद्वान वेदों के प्रामाण्य का विरोध करने लगे, उसी समय न्याय–वैशेषिक और मीमांसक दार्शनिकों ने हर तरह से वेदों केप्रामाण्य का समर्थन किया, उसके समर्थन में शास्त्रार्थ होने लगे और बडे–बडे ग्रन्थों की रचनायें हुई। सर्वप्रथम इस विवाद का मुख्य विषय "शब्द" प्रमाण ही रहा, पर तर्क के क्षेत्र में आते ही इस विवाद ने व्यापक रूप धारण कर लिया और सभी ज्ञानों के विषय में उसके प्रामाण्य या अप्रामाण्य के स्वतस्त्व ओर परतस्त्व पर विचार किया जाने लगा। क्रमशः स्वतस्त्व ओर परतस्त्व की चर्चा का इतना अधिक विकास हुआ कि सभी दर्शनों में उत्पत्ति, ज्ञप्ति और स्वकार्य को लेकर स्वतः और परतः का विवेचन अनिवार्य समझा जाने लगा।

सर्वप्रथम इस प्रामाण्य की चर्चा किस आचार्य ने आरम्भ की यह निश्चित रूप से कह सकना कठिन है, किन्तु भारतीय दर्शन के ग्रन्थों के अनुशीलन से यह अवश्य प्रतीत होता है कि वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध करते हुए सम्भवतः सर्वप्रथम जैमिनि मुनि ने "मीमांसासूत्र' में प्रामाण्यवाद के विचार का बीज–वपन" किया था। शाबरभाष्य में यही बीज अआअंक्रित हुआ और कुमारिल भट्ट के "एइलोकवार्तिक' में इसने पल्ललवित होकर एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लिया।? यद्यपि वात्स्यायन भाष्य के "प्रामाण्यतोअर्थअप्रतिपत्ता प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम् इस कथन में भी प्रामाण्यवाद के विचार का संकेत उपलब्ध होता है, तथापि इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि सर्वप्रथम मीमांसा दर्शन में ही प्रामाण्यवाद सम्बन्धी विचार का आरम्भ किया गया था। चाहे शाबरभाष्य, वात्सायनभाष्य से अर्वाचीन भी हो, फिर भी मीमांसासूत्र अवश्य ही वात्स्यायन से प्राचीन है और उसमें ही प्रामाण्यवाद का बीज निहित है। न्यायमण्जरीकार जयन्त भट्ट ने स्पष्ट शब्दों में यह बतलाया है कि जैमिनी–सम्प्रदाय में शब्द के प्रमाण का विचार करते हुए ज्ञान मात्र के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का विवेचन आरम्भ किया गया–

> प्रमाणत्वं तु शब्दस्य कथमित्यत्र वस्तुनिम्।
> जैमिनीयैरयं तावत्पीठबन्धो विधीयते।।
> प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा सर्वविज्ञानगोचरः।
> स्वतो वा परतो वेति प्रथमं प्रविविच्यताम्।।

उल्लेखनीय है कि वैशेषिक, सांख्य–योग तथा वेदान्त आदि वैदिक सम्प्रदायों में मीमांसा–सम्प्रदाय के पश्चात ही प्रामाण्यवाद का निरूपण आरम्भ हुआ और इसी प्रकार वौद्ध तथा जैन आदि अवैदिक दर्शनों में भी। आठवीं सदी के अन्नतर लिखें जाने वाले टीका ग्रन्थों तथा मौलिक प्रकरण– ग्रन्थों में तो प्रामाण्यवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया। फलतः उत्तरकालीन सभी दार्शनिक ग्रन्थों में संक्षेप या विस्तार से प्रामाण्यवाद का निरूपण उपलब्ध होता है। आचार्य गंगेश उपाध्याय के नव्य–न्याय (तर्कशास्त्र) में तो प्रामाण्यवाद के विवेचन ने अत्यन्त जटिल रूप धारण कर लिया हो। तत्त्वचिन्तामणिः और गदाधर के प्रामाण्यवाद इत्यादि ग्रन्थों में प्रामाण्यवाद का सूक्ष्मता के साथ तर्कशास्त्र की शैली में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

3.2.1 प्रमाणों की प्रामाणिकता

ज्ञान के स्वरूप–विश्लेषण के साथ ही जिस एक बहुत बड़े प्रश्न पर भारतीय दार्शनिकों ने गहन चिन्तन मनन किया, वह अपने मूलरूप में इस प्रकार है कि ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है और उसकी सत्यता का पता कैसे चलता है। दूसरे शब्दों में, जब हमें किसी पदार्थ का ज्ञान होता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह कौन–सी कसौटी है, जिसके आधार पर यह पता किया जा सके कि हम जिस वस्तु को जानना चाहते थे हमें उसी का बोध हुआ। इस जिज्ञासा से कम–से–कम तीन पहलू हैं– ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान। इसके साथ ही ज्ञान के जनक कारण और ज्ञापक कारण कौन से है, इस पहलू की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ज्ञान के ज्ञान की इस समस्या पर भारतीय दार्शनिकों ने प्रमाण और प्रमेय के सन्दर्भ में विचार किया है। प्रमाण की परिभाषा और प्रमाण भेद के सम्बन्ध में मतभेद होने पर भी सभी भारतीय दार्शनिकों ने यह प्रतिपादित किया है कि प्रमेयों (पदार्थों) का ज्ञान प्रमाण द्वारा होता है। अतः इस समस्या का स्वरूप स्वभावतः इस प्रकार विकसित हुआ कि जिस प्रमाण से प्रमेय का ज्ञान होता है। उस प्रमाण की परिभाषा और प्रमाण के सत्यत्व की कसोटी क्या है। अर्थात् प्रमाण का प्रामाण्य किस तत्त्व पर निर्भर है? उत्तर भिन्न होने पर भी प्रश्न तो एक हो रहा जिस पर प्रायः सभी दर्शनों में प्रामाण्यवाद के अन्तर्गत विचार किया गया है। प्रमाण के प्रमाणत्व पर विचार के साथ ही उसके अप्रमाणत्व का प्रश्न भी सिक्के के दूसरे पाट के समान अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है, अतः प्रामाण्यवाद में केवल यही बात समाविष्ट नहीं कि प्रमाण के प्रमाण्य का ज्ञान कैसे होता है बल्कि यह भी है कि अप्रमाण के अप्रामाण्य का पता कैसे चलता है।

इस सम्बन्ध में दो सिद्धांतों पर विचार किया गया है स्वतः प्रामण्यवाद और परतःअप्रामण्यवाद। स्वतः प्रमण्यवाद के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है। ज्ञान की प्रमाणिकता ज्ञान जनक सामग्री से उत्पन्न होती है किसी बाहरी कारण से नहीं। परतः प्रामाण्यवाद के अनुसार ज्ञान स्वतः प्रमाण नहीं होता है और ज्ञान की प्रमाणिकता बाहरी कर्म पर निर्भर है। इस प्रकार ज्ञान की प्रमाणिकता एवंअप्रामाणिकता के सम्बन्ध में कुल चार प्रश्न सामने आते हैं।

स्वतः प्रामाण्यवाद

स्वतः अप्रामाण्यवाद

परतः प्रामाण्यवाद

परतः अप्रामाण्यवाद

3.2.2 भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में स्वतः प्रामाण्यवाद एवं परतः प्रामाण्यवाद

भारतीय दर्शनों में इस समस्या का अपने अपने सम्प्रदायों के अनुसार किया गया जो दार्शनिक यह समझते है कि प्रमाण में ही प्रामाण्य रहता है, वे स्वतः प्रामाण्यवादी कहलाते है, और जिनके मत में प्रमाण के प्रामाण्य के लिये अन्य किसी बाहरी तत्त्व की अपेक्षा होती है, वे परतः प्रामाण्य–वादी कहलाते है। ऐसा ही वर्गीकरण अप्रामाण्य के सम्बन्ध में भी है।

सांख्य प्रामाण्य और अप्रमाण्य दोनों को स्वतः मानता है, जबकि न्याय इन दोनों को परतः मानता है। इस प्रकार एक वर्ग का प्रतिनिधित्व सांख्य करता है और दूसरे का न्याय। अन्य दर्शन विभज्यवादी है। उनमें से बौद्ध प्रामाण्य को परतः और अप्रामाण्य

को स्वतः मानते हैं, जबकि भीमांसकों का कथन है कि प्रामाण्य स्वतः होता है. अप्रामाण्य परतः। इस दृष्टि से देखा जाए तो बौद्धों का मत मीमांसकों से एकदम उल्टा है। यह सब होते हुए भी इस समस्या का सर्वाधिक विस्तृत विश्लेषण न्याय और मीमांसा में ही किया गया है। क्योंकि न्याय प्रामाण्य को परतः मानता है, अतः न्याय के ग्रन्थों में दी गई अधिकतर युक्तियों का उद्देश्य यही सिद्ध करने का रहा है कि ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य का सिद्धान्त अनुपयुक्त है।

यथार्थ अनुभव को प्रमा या प्रमाण कहते हैं। यथार्थ अनुभव में रहने वाला जो विशेष धर्म है वही प्रमाणत्व या प्रामाण्य तथा अयतार्थ अनुभव में रहने वाला विशेष धर्म अप्रमाणत्व या अप्रामाण्य कहलाता है। प्रामाण्य के कारण के बारे में जो बाद प्रचलित हुआ वह प्रामाण्यवाद के नाम से पुकारा जाता है। न्याय वैशेषिक की यह मान्यता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से अतिरिक्त जितने भी ज्ञान हैं उनकी दो श्रेणियाँ है यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ ज्ञान के लिए प्रमा और प्रमाण तथा अयथार्थ के लिए अप्रमा और अप्रमाण शब्दों का व्यवहार किया जाता है। जब यथार्थज्ञान के लिए प्रमाण शब्द का प्रयोग किया जाता है तब उसके असाधारण धर्म को प्रामाण्य कहते हैं।

सभी मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी है, किन्तु स्वतः प्रामाण्य की संकल्पना के अवान्तर विश्लेषण में प्रभाकर, कुमारिल भट्ट तथा मुरारि मिश्र की मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर है। प्रभाकर के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश है वह ज्ञायमान हो उत्पन्न होता है। ज्ञान की उत्पादक सामग्री ही ज्ञान की ग्राहक सामग्री भी है। दोनों में कोई भेद नहीं है। घट ज्ञान की सामग्री का सन्निधान होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसका आकार 'अयं घटः' नहीं अपितु 'घटमहंजानामि' ऐसा होता है। ज्ञान ग्राहक सामग्री ही ज्ञान के प्रामाण्य की भी ग्राहक होती है।

अतः प्रामाण्य के सन्दर्भ में ज्ञान अपने आश्रायभूत घट को अपने आपको ज्ञाता और प्रामाण्य को भी समाविष्ट करता है। फलतः उसका आकार होगा 'घटमहं प्रमिणोमि' अतः वह स्वतः प्रमाण भी है। कुमारिल का विचार है कि ज्ञान स्वप्रकाश होते हुए भी अतीन्द्रिय है, अतः घटज्ञान में, यानी घड़े का ज्ञान हाने पर घड़े में 'ज्ञातता' नामक एक नवीन धर्म उत्पन्न होता है। घड़े के ज्ञान से जो ज्ञातता उत्पन्न होती हैं, उसी से घड़े के ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध होता है। क्योंकि घटज्ञान और घटज्ञातता अभिन्न है, अतः ज्ञान स्वतः प्रमाण है। मुरारि मिश्र यह मानते है कि इन्द्रिय और अर्थ का संयोग होने पर 'यह घड़ा है' ऐसा भान होता। इसके अन्नतर 'मैं घड़े को जानता हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय होता है। अनुव्यवसाय से घड़े के ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित होता है। मुरारि के मत का नैयायिकों के मत से यह अन्तर है कि नैयायिकों के अनुसार प्रथम ज्ञान में संदेह रहता है जबकि मुरारि के मतानुसार प्रथम ज्ञान में भी सन्देह नहीं रहता। नैयायिकों के अनुसार अनुव्यवसाय से ज्ञान का ग्रहण होता है, उसके प्रामाण्य का नहीं, जबकि मुरारि मिश्र के मत में अनुयव्यवसाय से ज्ञान के प्रामाण्य का भी निश्चय होता है। मीमांसकों के इन तीनों मतों का सामान्यतया यह आशय है क ज्ञान के उत्पन्न होते ही उसके प्रामाण्य का भी ज्ञान हो जाता है। यह नहीं कि प्रमाणान्तर से परीक्षा करने के लिये हम ठहरे रहें, और जब यह ज्ञान जांच की कसौटी पर ठीक उतर जाये तब हम उसे ठीक समझें। विश्वास उत्पन्न करना भी ज्ञान का स्वभाव है। यदि ज्ञान के प्रतिकूल ऐसा प्रमाण मिलता है, जिससे वह बाधित या खन्डित हो जाये तभी हम उसकी असत्यता मानते हैं। इसी कारण अप्रामाण्य परतः होता है। क्योंकि उसकी उत्पत्ति ज्ञान सामान्य के कारणों से अतिरिक्त दोष नामक कारण से होती है।

जैसे प्रमाण का कार्य अपने विषय में प्रवृत्ति कराना है, वैसे ही अप्रमाण का कार्य अपने

विषय से निवृत्ति कराना है। जब तक ज्ञाता को यह ज्ञान नहीं होता कि यह ज्ञान अप्रमाण है तब तक निवृत्ति नहीं होती। अतः अप्रामाण्य को ज्ञप्ति भी परतः होती है।

मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित स्वतः प्रामाण्य के विरुद्ध नैयायिकों ने जो शंकायें उठाई है वे इस प्रकार हैं:–

1) ज्ञानगत जो प्रामाण्यरूप धर्म है। क्या वह अपने आपसे उत्पन्न हो जाता है?
2) क्या वह अपने आधारभूत ज्ञान से उत्पन्न होता है।
3) क्या वह अपने आधारभूत ज्ञान की साधारण कारण–सामग्री से उत्पन्न होता है?
4) क्या वह ज्ञान के जितने साधारण कारण हैं, उनसे उत्पन्न होने वाले विशेष ज्ञान में रहता है?
5) क्या वह ज्ञान के साधारण कारणों (सामग्री मात्र) से ही उत्पन्न होने वाले विशेष ज्ञान में रहता है?

नैयायिकों के अनुसार :–

1) पहला विकल्प दोषपूर्ण है क्योंकि कार्य और कारण में भेद रहना आवश्यक है। अतः प्रामाण्य अपनी उत्पत्ति स्वयं नहीं कर सकता।
2) यदि ज्ञान से प्रामाण्य की उत्पत्ति मानी जाये तो ज्ञान को प्रामाण्य का समवायिकारण मानना पड़ेगा, जबकि ज्ञान गुण है, द्रव्य नहीं और समवायिकारण रूप ही होता है।
3) ज्ञान की बाधा का अत्यन्ताभाव ही प्रामाण्य है। प्रामाण्य का अर्थ है अनेक प्रामाणिक ज्ञानों में रहने वाला एक धर्म। ऐसे धर्म को सामान्य भी कहते है। सामान्य के दो भेद है – जाति और उपाधि। जाति के रूप में लें या उपाधि के, प्रामाण्य का जन्म नहीं होता, क्योंकि जाति और अखण्ड उपाधि नित्य होती है उसका जन्म नहीं होता और सखण्ड का द्रव्यादि में अन्तर्भाव हो जाता है
4) ज्ञान को यदि ज्ञान सामान्य सामग्री से उत्पन्न माना जाये तो अप्रमा में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि अग्रमा भी ज्ञान की सामान्य सामग्री (इन्द्रिय, प्रकाश आदि) से ही उत्पन्न होती है।
5) यदि केवल ज्ञान के कारणों से उत्पन्न होने का अर्थ 'दोषाभाव के साथ ज्ञान के कारणों से उत्पन्न होना' है तो यह तो परतः प्रामाण्य ही हुआ। यदि इसका अर्थ है, 'दोषाभाव से रहित कारणों से उत्पन्न होना' तो स्पष्ट ही है कि सदोष ज्ञान सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। अतः इन आपत्तियों के कारण नैयायिकों का यह कथन है कि स्वतः प्रामाण्य उपयुक्त नहीं है।

मीमांसकों के तीनों सम्प्रदायों के अनुसार ज्ञान दो दशाओं में उत्पन्न होने के कारण दो प्रकार का होता है– अभ्यासदशापन्न और अनभ्यासदशापन्न और ज्ञान के प्रामाण्य का स्वतस्त्व अभ्यासदशापन्नता मे ही है। यहाँ यह प्रश्न उन्पन्न होता है कि क्रिया का पौनः पुण्य तथा बार–बार सफल प्रवृति ही तो अभ्यास कहलाती है और इसका नैयायिकों के प्रवृत्ति संवाद से कोई विशेष अन्तर नहीं है। कुमारिल जिसको ज्ञातता कहते हैं और के मुरारी मिश्र के अनुसार जो अनुव्यवसाय है वह भी तो एक उत्तरवर्ती ज्ञान है, जिसके द्वारा पूर्वज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। नैयायिकों की दृष्टि में ज्ञातता के सम्बन्ध में एक आपत्ति और भी है और वह यह है कि यदि यथार्थ ज्ञान होने पर ज्ञान से ज्ञातता उत्पन्न होती है तो अयथार्थ ज्ञान होने पर भी ज्ञातता सामान्य के कारण ज्ञातता

की उत्पति होगी और इस प्रकार तो अप्रामाण्य भी स्वतः ही हो जाएगा। ज्ञातता को स्वीकार कर लेने पर अनवस्था होगी क्योंकि ज्ञातता का ज्ञान प्रामाणिक है या नहीं इसके लिए भी तो ज्ञाताविषयक एक अन्य ज्ञातता अपेक्षित होगी।

बौद्धों में दो प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं। कतिपय बौद्ध विद्वानों के अनुसार प्रामाण्य परतः होता है। उनके अनुसार ज्ञान को प्रमाण तभी समझा जाता है जब वह अर्थ का प्रापक हो। वे प्रामाण्य को स्वतः मानते हैं अतः इस अतः इस अंच में नैयायिकों का उनसे मतभेद है। च्चान्तरक्षित ने तत्वसंग्रह में यह यह प्रति–पादित किया है कि अभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतः और अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में दोनों ही परतः होते हैं।

बौद्धों का यह कथन है कि ज्ञान के प्रामाण्य का प्रश्न तभी उत्पन्न होता है जब उसकी सत्यता में बाधा पड़ती है। इस प्रकार अप्रामाण्य तो ज्ञान के साथ उसके आरम्भ से ही रहता है और जब अप्रामाण्य का निषेध होता है तभी प्रामाण्य का निश्चय होता है। प्रवृत्ति सामर्थ्य से पहले ज्ञान में सत्यता नहीं रहती, इसी कारण बौद्ध प्रमाण की नकारात्मक परिभाषा करते हुए उसे **अविसंवादक ज्ञान** कहते हैं। इस प्रकार अप्रामाण्य में स्वतस्त्व और प्रामाण्य में परतस्त्व है। इस सम्बन्ध में नैयायिकों का यह कथन है कि यदि ज्ञान में स्वतः अप्रामाण्य पहले से ही मान लिया जाए तो लोग जानबूझ कर भ्रान्तिवश क्यों काम करते?

जैन मत में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को उत्पत्ति में परतः तथा ज्ञप्ति में स्वतः माना गया है। जैनों के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों में ज्ञानसामान्य के कारणों से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा होती है। अतः उत्पत्ति में दोनों परापेक्ष है। किन्तु ज्ञप्ति में ज्ञानसामान्य के ग्राहक कारणों से अतिरिक्त कारण की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः ज्ञप्ति में प्रामाण्य और अप्रमाण्य दोनों में ही स्वतस्त्व है।

सांख्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों में स्वतस्त्व मानता है। यह मत सत्कार्यवाद पर आधारित है। सत्कार्यवाद के अनुसार कोई कारण उसी कार्य को उत्पन्न कर सकता है जो कारण में पहले से ही विद्यमान हो। प्रामाण्य और अप्रामाण्य कार्य हैं, वे ज्ञान में पहले से ही रहते हैं अतः स्वतः है। इस सिद्धान्त का खण्डन इस तरह किया गया कि सत्कार्यवाद को मानने पर कार्यकारण सिद्धांत ही ध्वस्त हो जाता है। यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य आन्तरिक हों तो ज्ञान और अज्ञान का विभेदक क्या होगा? जयन्त भट्ट ने सांख्यमत के विरुद्ध यह प्रस्तुत किया है कि षुक्ति में रजत का ज्ञान यदि प्रमाण है तो उससे प्रवृत्ति सफलता होनी चाहिए और यदि वह अप्रमाण है तो प्रवृत्ति ही कैसे हो सकती है?जबकि व्यावहारिक जीवन में यह देखा जाता है कि लोगों को भ्रम भी होता है तो वे प्रवृत्त होते है और प्रवृत्ति सफल भी नहीं होती।

नैयायिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परतः मानते हैं। वे प्रामाण्य और अप्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान को व्यवसाय कहते हैं। प्रत्येक व्यवसाय प्रतिकूल परिस्थिति न होने पर अनुव्यवसाय नामक मानस प्रत्यक्ष से गृहीत होता है। किन्तु व्यवसाय का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य अनुव्यवसाय से नहीं, अपितु सफलप्रवृत्ति हेतुक अनुमान से गृहीत होता है। अतः नैयायिकों के अनुसार जिन कारणों से प्रामाण्य या अप्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान का ज्ञान होता है, उन्हीं कारणों से प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञान नहीं होता। उसके लिए अन्य कारण अर्थात् अनुमान की आवश्यकता पड़ती है। सफल प्रवृत्ति के सन्दर्भ में नैयायिकों ने ज्ञान की दो कोटियों का भी उल्लेख किया है– अभ्यास–दशापन्न और अनभ्यासदशापन्न। इन दोनों शब्दों के अर्थों के सम्बन्ध में विद्वानों

में मतभेद है। अभ्यासदापन्न ज्ञान वह कहलाता है जिस ज्ञान के पूर्व उस प्रकार के अन्य किसी ज्ञान से सफल प्रवृत्ति का होना अवगत नहीं रहता, उस ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उससे प्रवृत्ति का उदय होकर उसकी सफलता का ज्ञान नहीं हो जाता। उसके विपरीत अनभ्यास–दशापन्न ज्ञान वह है जो अभ्यासदशा को पार कर चुका है और जिस ज्ञान से पूर्व उस प्रकार के अन्य ज्ञान से सफलप्रवृत्ति का होना विदित रहता है। उस ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय हमें पूर्वज्ञान को सजातीयता के कारण तत्काल हो जाता है। अभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य के अवधारण से पूर्व ही मनुष्य विषय के प्रति प्रवृत्त हो जाता है किन्तु अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाप्य का निश्चय होने के बाद ज्ञाता की विषय के प्रति प्रवृत्ति होती है। कुछ विद्वानों के मत में जहाँ जलज्ञान के बाद ही उसकी प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति हो जाती है वह अभ्यासदापन्न होता है तथा उससे भिन्न अभ्यासदापन्न होता है। यद्यपिप्रवृत्तिसंवाद न्यायमत का एक महत्त्वपूर्ण अंग है किन्तु यह ज्ञातव्य है कि प्रवृत्ति तो ज्ञानमा़त्र से भी हो जाती है। प्रवृत होने के लिए उससे पहले ज्ञान के प्रामाण्य का अवधारण अनिवार्य रूप से अपेक्षित नहीं होता, क्योंकि व्यावहारिक जीवन में यथार्थज्ञान के अतिरिक्त संशय से भी प्रवृत्ति होती है सम्भावना से भी अनेक कदम उठाए जाते हैं। प्रवृत्ति यदि सफल हो जाती है तो उससे सम्भावना रूप ज्ञान का भी प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।

नैयायिकों के प्रवृत्तिविषयक सिद्धान्त के विरुद्ध कुमारिल का यह कथन है कि वस्तु का ज्ञान होने पर उसके सम्बन्ध में मनुष्य की तुरन्त प्रवृत्ति नहीं होती। पहले उस वस्तु में ज्ञातता की प्रतीति होती है। फिर ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति से ज्ञान का अर्थापत्तिरूप ज्ञान होता है। अर्थात् ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली ज्ञातता का जन्म ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है– इस अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञातता से उसके उत्पादक ज्ञान की सिद्धि होती है। ज्ञातता कार्य है और ज्ञान कारण ज्ञातता का प्रत्यक्ष अनुभव होता है ज्ञान का नहीं। क्योंकि कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं हो सकता; अतः ज्ञान का ग्रहण अर्थापत्ति की प्रक्रिया से होता है। अतः किसी वस्तु का ज्ञान होने पर उस वस्तु के विषय में प्रवृत्ति होने के पूर्व ही उस वस्तु के ज्ञान में प्रामाण्य का अवधारण हो जाता है। इस पर नैयायिकों का यह प्रत्युत्तर है कि ज्ञानविषयता (ज्ञान का विषय होना) से भिन्न ज्ञायता नाम का कोई धर्म ही नहीं है, तब उसके कारण रूप ज्ञान की कल्पना ही कैसे की जा सकती है? इसके अतिरिक्त यदि ज्ञानजन्य ज्ञातता के आधार को ही ज्ञान का विषय माना जाएगा तो अतीत और अनागत पदार्थ ज्ञान के विषय न होने के कारण अतीत और अनागत पदार्थ में ज्ञान द्वारा ज्ञातता का जन्म न हो सकेगा।

मीमांसकों का यह भी कथन है कि ज्ञानविषयता और ज्ञातता भिन्न–भिन्न धर्म है। इस सन्दर्भ में ज्ञातता कारण है और ज्ञानविषयता कार्य। तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति के बौद्ध सिद्धांतों के आधार पर भी ज्ञानविषयता और ज्ञातता को एक नहीं माना जा सकता। ज्ञान का विषय घट बाह्य पदार्थ हैं। घटज्ञान (विषय) आन्तरिक है। आन्तरिक और बाह्य का तादात्म्य सम्भव नहीं है। यदि तदुत्पत्ति से विषयता की व्यवस्था मानी जाएगी तो आत्मा, मन, नेत्र, प्रकाश आदि भी घट ज्ञान के विषय माने जाने लगेंगे। कुमारिल द्वारा इस रीति से ज्ञातता नामक अतिरिक्त धर्म के प्रतिपादन के विरुद्ध नैयायिकों का यह कथन है कि अर्थ और ज्ञान का विषय–विषयीभाव स्वाभाविक है। अतः अतीत औरअनागत पदार्थों के ज्ञान में भी ज्ञानविषयता के उपपादनार्थ किसी अन्य तत्व को ही ज्ञानविषयता का नियामक मानना होगा और वह अर्थ और ज्ञान के स्वभाव से भिन्न कुछ नहीं हो सकता। इस प्रकार जब अर्थ और ज्ञान के सहज स्वभाव को

ज्ञानविषयता का नियामक माना जा सकता है तब ज्ञातता के बिना भीती उपपत्ति हो जाने से अर्थपत्ति से ज्ञातता की सिद्धि मानना असंगत है।

यदि कुमारिल के कथनानुसार ज्ञातता को स्वीकार भी कर लिया जाए तो भी नैयायिकों के अनुसार प्रामाण्य का स्वतस्त्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि ज्ञातता से तो केवल ज्ञान का ग्रहण होगा ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय तो ज्ञान के साथ नियम से रहनेवाली विशेष प्रकार की (प्रामाण्य–विशिष्ट) ज्ञातता से ही होगा। यदि यह कहा जाए कि ज्ञान और उसके प्रामाण्य दोनों का निश्चय अव्यभिचारिणी ज्ञातता से एक साथ हो जाता है तब तो यह सिद्धांत अप्रामाण्य पर भी लागू हो सकता है। क्योंकि अप्रामाण्य को मीमांसक भी परतः ही मानते हैं, अतः प्रामाण्य में भी स्वतस्त्व कैसे हो सकता है?

यदि प्रामाण्य में स्वतोग्राह्यता होती तो ज्ञान के बाद उसके सम्बन्ध में किसी को भी सन्देह नहीं हुआ करता सन्देह का होना अनुभवसिद्ध है अतः लोकव्यवहार के अनुसार भी प्रामाण्य स्वतोग्राह्य नहीं माना जा सकता।

केशवमिश्र के अनुसार प्रामाण्य के परतस्त्व की प्रक्रिया निम्नलिखित रूप से चरितार्थ होती है–मानसप्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है।सफलप्रवृत्ति द्वारा प्रामाण्य का तथा असफल प्रवृति द्वारा अप्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। उदाहरण :–

विवादाध्यासित जलज्ञान प्रमाण है।

क्योंकि वह समर्थप्रवृत्ति का जनक है।

जो प्रमाण नहीं होता वह सफल प्रवृत्ति

का जनक नहीं होता, जैसे मरीचिका में जलज्ञान।

इसप्रकार न्यायशास्त्र के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का अवधारण परतः होता है।

प्रामाण्यवाद–सम्बन्धी विभिन्न मत –भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में प्रामाण्यवाद के विषय का विस्तार से विवेचन उपर किया जा गया है।प्रामाण्यवाद के विषयमें जो मतभेद है उनका दार्शनिकों ने ज्ञान के स्वरूप तथा ज्ञान प्राप्ति केसाधन प्रमाणों के निरूपण के साथ–साथ ज्ञान की यथार्थता (प्रामाण्य) और अयथार्थता (अप्रामाण्य) के विषय में गंभीरतापूर्वक विचार किया है। उपर के अध्ययन में हमने देखा कि ज्ञानों के प्रामाण्य के विषय में मुख्य रूप से प्रश्न यह है कि ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः होता है या परतः। स्वतस्त्व और परतस्त्व मुख्यरूप से दो प्रकार का माना गया है– उत्पत्तिकृवत और ज्ञप्तिकृत। उत्त्पति में स्वतस्त्व का अर्थ यह है कि ज्ञान को उत्पन्न करने वाली जो सामान्य सामग्री है उसी से ज्ञान का प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है, उसके लिए किसी अतिरिक्त सामग्री की आवश्यकता नहीं होती।" ज्ञप्ति में स्वतस्त्व का यह अभिप्राय यह है कि जिस साधन से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी के द्वारा के प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है।

इसके विपरीत नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति केवल इन्द्रियार्थ–सन्निकर्ष से हो जाती है, किन्तु उसमें प्रामाण्य गुणों के कारण उत्पन्न हुआ करता है, क्योंकि जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी से प्रामाण्य की उत्पत्ति हो जाया करती तो कभी भ्रम ही नहीं हुआ करता। अतः प्रामाण्य उत्पत्ति में पराश्रित होता है। ज्ञप्ति में भी वह पराश्रित होता है, क्योंकि ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय से होता है और

उसके प्रामाण्य का ग्रहण प्रवृत्ति की सफलता से होता है। प्रमाण का कार्य वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान कराना है, उसमें भी वह तभी समर्थ हो सकता है जब उसके प्रामाण्य का निश्चय हो जाय। इस प्रकार प्रामाण्य, उत्पत्ति, ज्ञप्ति तथा अपने कार्य में पराश्रित है अर्थात् उसका प्रामाण्य परतः होता है।

न्याय के अनुसार कहीं तो व्यक्ति जल आदि का ज्ञान होने पर उसके प्रामाण्य का निश्चय करके, जल आदि के ग्रहण (उपादान) में प्रवृत्त होता है और कहीं (प्रामाण्य के निश्चय के बिना ही) सन्देह से प्रवृत्त होकर, जल आदि की प्राप्ति होने पर प्रामाण्य का निश्चय करता है। मीमांसकों के अनुसार प्रवृत्ति से पहले ज्ञान–ग्रहण के साथ–साथ प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है और तब प्रवृत्ति होती है।

न्याय–वैशेषिक अनुभव को यथार्थ और अयथार्थ दो प्रकार का मानते हैं। जब हमें अनुभव होता है तो अनुभव होने की अवस्था में ही नहीं कहा जा सकता है कि वह अनुभव यथार्थ है या अयथार्थ। उसकी यथार्थता और अयथार्थता का पता बाद में चलता है। यदि उस ज्ञान के बाद हमारी प्रवृत्ति समर्थ (सफल) होती है अर्थात जाने हुए अर्थ की उपलब्धि हो जाती है जैसे कि पानी के ज्ञान के पश्चात यदि पिपासा शान्त करने वाला जल प्राप्त हो जाता है तो उस ज्ञान की यथार्थता का निश्चय हो जाता है और यदि प्रवुत्ति सफल नहीं होती अर्थात पानी की उपलब्धि नहीं होती, तो ज्ञान की अयथार्थता का निश्चय हो जाता है। कभी–कभी अभ्यास होने की दशा में प्रवृत्ति से पूर्व भी सफल ज्ञान की समानता के आधार पर ज्ञान के प्रामाण्य का अनुमान कर लिया जाता है, परन्तु दोनों दशाओं में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का ग्रहण परतः (अनुमान द्वारा) ही होता है।

मीमांसक कहते हैं कि किसी वस्तु का ज्ञान होने के साथ–साथ ही, उस ज्ञान के प्रामाण्य का भी निश्चय हो जाता है और तभी प्रवृत्ति होती है। उनका अभिप्राय यह है कि अर्थ का बोध कराना ही ज्ञान की प्रामाणिकता है अतः सभी ज्ञान स्वभावतः प्रामाणिक होते हैं और उनका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है। किन्तु यदि किसी ज्ञान को बाधित करने वाला दूसरा ज्ञान हो जाता है अथवा उसके कारण में दोष की प्रतीति होती है तो वह ज्ञान प्रामाणिक नहीं रहता, उसे अयथार्थ मान लिया जाता है। इस प्रकार बाध–ज्ञान और कारण–दोष ज्ञान के द्वारा किसी ज्ञान के अप्रामाण्य का निश्चय होता है। अतः कुमारिल मीमांसक के मत में अप्रामाण्य परतः माना जाता है।

वेदान्त भी मीमांसक के समान ही यह स्वीकार करता है कि प्रामाण्य स्वतः होता है, अप्रामाण्य परतः।

बौद्धों का मन्तव्य मीमांसकों से नितान्त भिन्न है। उनका कथन है कि ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय प्रवृत्ति का कारण नहीं होता अपितु मनुष्य संशयमात्र से भी किसी उपाय में प्रवृत्त हो जाता है, केवल उसे यह निश्चय होना चाहिए कि इस उपाय से अमुक फल की सिद्धि हुआ करती है, जैसे कृषक जानता है कि बीज बोने आदि से फलवती (सफला) कृषि होगी, उसे इस ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय नहीं होता, फिर भी उसकी प्रवृत्ति हुआ करती है। बौद्ध के अनुसार सभी ज्ञान स्वभाव से अप्रामाणिक और भ्रमपूर्ण हुआ करते हैं, उनकी यथार्थता अर्थक्रिया–प्राप्ति से होती है। यदि उन ज्ञानों से अर्थक्रेयाकारी वस्तु की प्राप्त हो जाती है तो वे ज्ञान प्रमाण होते हैं अन्यथा अप्रमाण कहलाते हैं।' इस प्रकार साधरणतया यह समझा जाता है कि बोद्धों केअनुसार ज्ञानों का अप्रामाण्य स्वतः होता है और प्रामाण्य परतः किन्तु कमलशील ने "तत्त्वसंग्रहपञ्जिका' में बौद्धों के मन्तव्य का जैसा निर्देश किया है, उसके अनुसार

बौद्धों को अनियम–पक्ष अभीष्ट है अर्थात् प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही कहीं–कहीं स्वतः होते हैं और कहीं–कहीं परतः। अर्थक्रियाकारी ज्ञान और अभ्यासदशा में होने वाले ज्ञान में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का स्वतः ही निश्चय हो जाता है, अन्य ज्ञानों में परतः निश्चय हुआ करता है।'

जैनदर्शन के अनुसार प्रज्ञावान जनों के निश्चित प्रमाण द्वारा ही प्रवृत्ति हुआ करती है, किन्तु अन्य जनों की कहीं–कहीं संशय आदि से भी प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः ज्ञानों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही कहीं स्वतः होते हैं, कहीं परतः। अभ्यासदशा में जो ज्ञान होता है, उसमें स्वतः ही प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय हो जाता है किन्तु अन्यत्र ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निश्चय परतः होता है। डॉ0 धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का कथन है कि जैन दार्शनिक अपने अनेकान्तवाद के अनुसार यह मानते हैं कि ज्ञान स्वरूपतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही हो सकता हैं अर्थात्एक ही ज्ञान एक दृष्टि से "प्रमाण" ओर दूसरी दृष्टि से "अप्रमाण्य" हो सकता है। सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार सांख्य के मत में ज्ञानों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य सर्वत्र ही स्वतः हुआ करता है। संक्षेप में प्रामाण्य के विषय के दार्शनिकों में निम्नलिखित मत हैं:–

1. न्याय–वैशेषिक –प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों परतः।
2. सांख्य योग –प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः।
3. पूर्व मीमांसा – प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य परतः।
4. वेदान्त दर्शन – प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य परतः।
5. बौद्ध दर्शन –प्रामाण्य परतः अप्रामाण्य स्वतः।

   प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों कहीं स्वतः: और कहीं परतः।

   (कमलशील, शान्तिरक्षित आदि)
6. जैन दर्शन – प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों उत्पत्ति की दृष्टि से परतः प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनो ज्ञप्ति की दृष्टि से स्वतः।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर प्रामाण्य विषयक मतों को निम्नलिखित रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है–

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः होते है।

प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः होता है।

अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः होता है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः होता है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः

भारतीय दर्शन के कतिपय ग्रन्थों में इसे सांख्य का मत बतलाया गया है, किन्तु इस विषय में सांख्य के प्रामाणिक ग्रन्थों से कुछ विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। इसका तात्पर्य यही कहा जा सकता है कि सांख्य सत्कार्यवादी है। अतः उसके सिद्धान्त के अनुसार यदि प्रमाणों में प्रामाण्यशक्ति्त स्वतः नहीं होगी, तो किसी अन्य साधन से उत्पन्न नहीं की जा सकती। इस प्रकार ज्ञानों में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो स्वतः होने चाहिए, किन्तु इस आधार पर प्रामाण्य और अप्रामाण्य का उत्पत्ति में स्वतस्त्व ही सिद्ध हो सकता है जइञप्ति और कार्य में नहीं। फिर सांख्य के अनुसार प्रामाण्य सर्वाश

(उत्पत्ति, ज्ञप्ति और कार्य) में ही स्वतः होता है, यह बात कहाँ से आ गई? इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता।

प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः

यह मत पूर्वमीमांसा का है। वेदान्त सम्प्रदाय भी इसी मत को स्वीकार करता है। कुमारिल भट्ट के अनुसार ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः होता है और अप्रामाण्य परतः। यह स्पष्ट है कि यह मन्तव्य विकसित होकर इस रूप में आ गया कि प्रामाण्य उत्पत्ति, ज्ञप्ति और कार्य में स्वतः होता है। यह कहा जा सकता है कि मीमसिक कुमारिल भट्ट के अनुसार ज्ञान अर्थ का बोधक होने के कारण ही प्रमाण होता है, किन्तु यदि बाधक ज्ञान और कारण दोष—ज्ञान से किसी ज्ञान की जाता प्रामाणिकता का बोध हो जाता है, तो वह अप्रामाण्य मान लिया जात है। प्रत्येक प्रमाण में स्वतः ही प्रामाण्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है, यही उसका उत्पत्ति में स्वतस्त्व है, जिसका अर्थ है कि जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है, प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए गुण आदि की अपेक्षा नहीं होती। प्रत्येक प्रमाण के अर्थ का निश्चय कराने में जो कि उसका अपना कार्य है स्वयं ही समर्थ है, यही प्रामाण्य का कार्य मे स्वतस्त्व है। जब ज्ञातता के द्वारा अनुमान या अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होता है, तभी उसके प्रामाण्य का भी निश्चय कर लिया जाता है, यही कुमारिल सम्प्रदाय के अनुसार प्रामाण्य का ज्ञप्ति में स्वतस्त्व है, अर्थात्'ज्ञातता' द्वारा अनुमान से ज्ञान का ग्रहण होता है और उसी से ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। किन्तु जैसा कि 0पर कहा गया है ज्ञानों का अप्रामाण्य दोषों के कारण उत्पन्न हुआ करता है और बाधक ज्ञान तथा कारण दोष ज्ञान से अप्रामाण्य का निश्चय होता है, इसलिये अप्रामाण्य परतः ही होता है स्वतः नहीं।

प्रभाकर के प्रामाण्यवाद के मन्तव्य में कुमारिल से कुछ अन्तर है। उसके अनुसार सभी अनुभव ज्ञान यथार्थ है। लोक में जिसे भ्रान्ति कहा जाता है, जैसे शाक्ति में यह रजत है (इदम् रजतम्) इस प्रकार का अनुभव, उसे प्रभाकर के मतानुसार एक ज्ञान ही नहीं माना जाता, अपितु यहाँ अनुभव और स्मृति दो ज्ञानों का विवेकाग्रह माना जाता है। यह कहा जा सकता है कि किसी अनुभव में भ्रान्ति की आशंका ही नहीं हो सकती, अतः; प्रभाकर के मतानुसार सभी अनुभव यथार्थ रूप में ही उत्पन्न होते है और अपना अर्थबोध रूप कार्य करने में समर्थ होते हैं। साथ ही प्रभाकर के अनुसार अनुभव स्वयं प्रकाश होता है इसलिये वह अपने प्रामाण्य का ग्रहण भी स्वतः ही कर लेता है तथा यहाँ कुमारिल के मत के समान 'ज्ञातता' आदि की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनका न्याय—वैशेषिक तथा बौद्धदर्शन के ग्रन्थों में विस्तार से निरूपण किया गया है। उनमें अधिकांश युक्तियाँ केवल वादी के मत का खण्डन करने के लिये प्रस्तुत की गई प्रतीत होती हैं जैसा कि मध्यकालीन दार्शनिक टीकाकारों की पद्धति रही है कि वे दार्शनिक सिद्धान्तों को अनेक विकल्प जालों में उलझा देते हैं और मनमानी युक्तियों का प्रयोग किया करते हैं फिर भी उन युक्तियों का प्रयोग किया करते हैं, फिर भी उन युक्तियों में कुछ अवश्य ही बुद्धिग्राह्य प्रतीत होती हैं। संक्षेप में उनका सार यह है कि यदि प्रमाणों का स्वतः प्रामाण्य माना जाये तो किसी ज्ञान में भी संशय अथवा भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः यह एक व्यावहारिक कठिनाई है। इसके अतिरिक्त जो आपत्तियाँ स्वतः प्रामाण्यवाद में की गई है, वे शास्त्रीय या वाद—सम्बन्धी ही कही जा सकती है।

अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः

यह मत सामान्यतः बौद्ध का माना जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक ज्ञान स्वभावतः अप्रामाण्य हुआ करता है, किन्तु बाद में अर्थक्रिया ज्ञान या कारण गुण ज्ञान से उसके प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। जैसाकि शान्तरक्षित तथा कमलशील ने स्वीकार किया है। बोद्धों के अनुसार भी प्रमाण की उत्पत्ति के साथ ही उसमें प्रामाण्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है। किन्तु केवल ज्ञान की उत्पादक सामग्री से ही प्रामाण्य शक्ति उत्पन्न नहीं होती, अपितु उसकी उत्पत्ति के लिये गुणों की अपेक्षा होती है, अर्थात शुद्ध कारणों से प्रामाणिक ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। इस प्रकार प्रामाण्य उत्पत्ति में परतः होता है। कमलशील ने कार्य में स्वतस्त्व का विरोध तो अवश्य किया है, किन्तु कार्य में भी प्रामाण्य परतः है, इसको स्पष्ट नहीं किया। हाँ, उस प्रामाण्य का निश्चय परतः ही हुआ करता है। बौद्ध के अनुसार प्रामाण्य का निश्चय संवाद तथा कारण शुद्धि–ज्ञान से हुआ करता हैं यही प्रामाण्य का ज्ञप्ति में परस्वत कहा जा सकता है। किन्तु बौद्ध के मत में सभी ज्ञानों का प्रामाण्य परतः नहीं होता बौद्धों को अनियम पक्ष ही मान्य है। कमलशील ने बौद्ध दर्शन के प्रामाण्यवाद–विषयक मत का स्पष्टतः विवेचन किया है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः

यह मत न्याय–वैशेषिक का है। जिसका सार यह है कि ज्ञान के पश्चात मनुष्य की प्रवृत्ति हो जाती है और प्रवृत्ति की सफलता या असफलता से ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता का निश्चय कर लिया जाता है। प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय अपेक्षित नहीं होता। प्रामाण्य का निश्चय ते बाद में सफल प्रवृत्ति के द्वारा अनुमान से किया जाता है। इस मत के अनुसार ज्ञान में कारण गुणों के द्वारा प्रामाण्य की उत्पत्ति हुआ करती है, इसीलिए प्रामाण्य का उत्पत्ति में परतस्त्व हैं और प्रवृत्ति–सामर्थ्य (प्रवृत्ति की सफलता या अर्थक्रिया प्राप्ति) द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हुआ करता है। ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय परतः मानने में मीमांसक की सबसे बडी आपत्ति यह रही है कि इस प्रकार अनवस्था, चक्रक, इतरेतराश्रय आदि दोष हो जाएगें। न्याय की ओर से अनवस्था दोष का निराकरण इसी रूप में हो जाता है, कि अनुमान को तो न्याय–वैशेषिक सम्प्रदाय ने भी स्वतः प्रमाण माना ही है। अतः उसके द्वारा अन्य ज्ञानों की प्रामाणिकता का निश्चय मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी। वाचस्पति मिश्र के अनुसार अर्थक्रिया–ज्ञान और अभ्यासदशापन्न ज्ञान का प्रामाण्य भी अनुमान द्वारा सिद्ध होता है, साथ ही वेदों का प्रामाण्य भी आप्तकृत होने के कारण अनुमान से ही निश्चित होता है। अतः केवल अनुमान के आधार पर ही अनवस्था आदि दोषों का निराकरण किया जा सकता है।

किन्तु बौद्ध न्याय के अन्तिम काल में तथा जैनदर्शन में इन अनवस्था आदि दोषों का परिहार करने के लिए कुछ नवीन उद्भावनाएँ की गयी हैं, जिनके आधार पर प्रामाण्यवाद सम्बन्धी एक नवीन मत का उदय भारतीय दर्शन में हुआ है जो निम्नलिखित है :– प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो कहीं स्वतः होते है और कहीं परतः कमलशील के अनुसार बौद्ध दर्शन का प्रामाण्य विषयक मत यही है। इस मत को कमलशील के शब्दों में अनियम–पक्ष कहा जा सकता है इसके अनुसार सामान्यतः ज्ञानो का प्रामाण्य परतः ही होताहै किन्तु कुछ ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः भी होता है, जैसे स्वसंवेदन– प्रत्यक्ष, योगि–ज्ञान, अर्थक्रिया–ज्ञान और अभ्यासदशापन्न ज्ञान। इन ज्ञानों के प्रामाण्य का स्वतः ही निश्चय हो जाता है। इस प्रकार प्रामाण्य को परतः मानने पर भी अनवस्था आदि दोषों की शंका नहीं की जा सकती। कमलशील के इस विवेचन से यह भी विदित होता है कि कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्त्तिक के आधार पर

टीकाकारों की यह कल्पना भी निस्सार है कि बौद्ध दर्शन के अनुसार ज्ञानों का अप्रामाण्य स्वतः ही हुआ करता है। कमलशील ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है "उभयमप्येतत् किञ्चित्स्वतः किञ्चित परतः इति" अर्थात प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो ही किन्हीं स्थलों पर स्वतः निश्चित कर लिये जाते हैं और किन्हीं स्थलों पर अन्य प्रमाण से (परतः) ही निश्चित किये जाते है।

जैन दर्शन के अनुसार भी प्रायः यही मत स्वीकार किया गया है कि प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही कहीं स्वतः और कहीं परतः होते है। ''प्रामाण्यवाद'' के अध्याय में बताया गया है कि आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार अर्थक्रिया ज्ञान, अभ्यासदशापन्न ज्ञान तथा अनुमान के प्रामाण्य का निश्चय स्वतः ही होता है, किन्तु अनभ्यासदशापन्न ज्ञान और शब्द से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय परतः ही हुआ करता है।

वस्तुतः प्रामाण्य के विषय में यही मत अधिक व्यावहारिक प्रतीत होता है, क्योंकि लोगों की किसी वस्तु को ग्रहण करने या त्यागने के लिये ही प्रवृत्ति देखी जाती है और वह प्रवृत्ति ज्ञान से ही होती है। जब किसी वस्तु का ज्ञान हो जाता है, तो व्यक्ति उस वस्तु की सम्भावना मात्र से ही उसमें प्रवृत्त हो जाता है, उस समय वह उस ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का विचार ही नहीं करता। फिर यदि उसकी प्रवृत्ति ज्ञान से ही होती है। जब किसी वस्तु का ज्ञान हो जाता है तो व्यक्ति उस वस्तु की सम्भावना मात्र से ही उसमें प्रवृत्ति हो जाता है, उस समय वह उस ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का विचार ही नहीं करता। फिर यदि उसकी प्रवृत्ति सफल होती है तो ज्ञान प्रामाण्य का निश्चय कर लिया जाता है। ऐसी दशा में ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय परतः ही हुआ करता है। जब अर्थक्रिया की उपलब्धि होती है या प्रतिदिन की अभ्यस्त किसी वस्तु का बोध होता है, तब तो उसी समय ज्ञान की प्रामाणिकता भी निश्चित हो जाती है। उसी प्रामाणिकता के लिए अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती।

अतः स्पष्ट है कि ज्ञानों के प्रामाण्य का निश्चय कहीं स्वतः होता है और कहीं परतः भी। मीमांसक ने जो स्वतः प्रामाण्य का ही आग्रह किया है, सम्भवतः वह वेदों की प्रामाणिकता को अक्षुण्य रखने के लिए ही एक अनूठा प्रयास है। इसी प्रकार नैयायिक जो कहता है कि केवल अनुमान का ही प्रामाण्य स्वतः निश्चित किया जाता है अन्य प्रमाणों का नहीं, यह भी कुछ आग्रह सा ही प्रतीत होता है। यह अनुभव के अनुकूल नहीं जेंचता, जैसा कि जयन्त भट्ट ने भी स्वीकार किया है— "फलज्ञाने तु सिद्धप्रयोजनत्वात् प्रामाण्यपरीक्षापेक्षैव नास्तीति' अर्थात् अर्थक्रिया ज्ञान के प्रामाण्य की परीक्षा नहीं करनी होती, क्योंकि उस समय मनुष्य का प्रयोजन सिद्ध हो चुका होता है, जब अर्थक्रिया ज्ञान के प्रामाण्य की परीक्षा नहीं करनी होती तो उसका प्रामाण्य अनुमान से निश्चित किया जाता है, यह कहना कैसे युक्त संगत हो सकता है, जैसाकि वाचस्पति मिश्र ने उलेख किया है। इसी प्रकार नैयायिकों ने यह माना है कि अभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय अनुमान द्वारा ही किया जाता है, यह भी अनुभव के विपरीत प्रतीत होता है, इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से तो यही मानना उचित है कि ज्ञानों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो ही कहीं स्वतः होते है और कहीं परतः भी।

दर्शनशास्त्र में व्यावहारिक दृष्टिकोण के साथ–साथ पारमार्थिक दृष्टि से भी विचार किया जाता है। सम्भवतः पारमार्थिक दृष्टि से विचार करते हुए ही भारतीय दर्शन के कुछ मनीषी शून्यवाद, उच्छेदवाद और अनेकान्तवाद जैसे विचारों पर पहुँच सके थे। प्रामाण्यवाद पर यद्यपि सभी दार्शनिकों ने पारमार्थिक दृष्टि से विवेचन नहीं किया है, तथापि जैन दर्शन के कुछ विचारकों ने इस दृष्टि से भी विचार किया हैं।

अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक ज्ञान प्रमाण तथा अप्रमाण दोनों हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मन्तव्य पारमार्थिक दृष्टि से विचार करने पर ही अधिक संगत हो सकता है। यद्यपि विद्यानन्द आदि आचार्यो ने इसे व्यावहारिक दृ ष्टि से भी सम्पुष्टि करने का प्रयास किया है।

भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद का विवेचन ज्ञान सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत वेद के प्रामाण्य विषयक विविध मतों का विवेचन किया गया है जो भारतीय धर्म और दर्शन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व रखता है। साथ ही प्रत्येक दर्शन के प्रामाण्यवाद– सम्बन्धी मन्तव्य का उसके मौलिक सिद्धान्तों से गहन सम्बन्ध है।

3.4 सारांश

ज्ञान मीमांसा का सम्बन्ध किसी वस्तु के ज्ञान से है जब हम किसी वस्तु का इन्द्रिय संवेदन पूर्वक बोध होता है तब हमें उस वस्तु का ज्ञान होता है वस्तु सम्बन्धी हमारा ज्ञान सही है कि नहीं इसका निश्चय करने के लिए हमें निम्न उपचार बिंदुओं को ध्यान में रखना होता है यह त्रुटि पूर्ण एवं अशुद्ध कारणों से ना उत्पन्न हुआ हो यह ज्ञान बाद रहित होना चाहिए अर्थात यह आत्म संगत होना चाहिए जिसका आगे आने वाले किसी ज्ञान से बात ना हो यह वस्तु की इस प्रकार की प्रतीति हो जो प्रतीक पहले ना हुई हो संक्षेप में यह ज्ञान पूर्व में अज्ञात वस्तु का अर्थात नया ज्ञान होना चाहिए यह ज्ञान निश्चित रूप से व तू या विषय का प्रतिनिधित्व करता हो उपरोक्त शर्तो के पूरा होने पर ही वस्तु सम्बन्धी हमारा ज्ञान अवैध यथार्थ कहा जा सकता है यहां यह उल्लेखनीय है कि स्मृति यथार्थ ज्ञान की कोर्ट में नहीं आती क्योंकि यह पूर्व ज्ञान के संस्कार से उत्पन्न होती है इस स्थिति में तीसरी शर्त का उल्लंघन होता है ज्ञान की प्रामाणिकता कुमारी ज्ञान को अनुभूत मानते हैं अनुभूत स्वता प्रकाश होती है अतः ज्ञान की अनुभूति जो अपना प्रमाण स्वयं होती है के ज्ञान से ज्यादा उत्पन्न होती है जो ज्ञान की प्रामाणिकता का आधार होती है प्रभाकर के अनुसार स्वता प्रकाश अनुभूति ही ज्ञान का कारण होती है जो संस्कार जन्नत से भिन्न होती है प्रभाकर के अनुसार और प्रमाण में अवैध होता है ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है यज्ञ वस्तु की ज्ञाता से अनुमान से जाना गया नहीं होता है इस प्रकार समस्त ज्ञान प्रामाणिक होते हैं ज्ञान की अप्रामाणिकता यह वस्तु के वास्तविक स्वभाव से और संवादिता होने के कारण होती है अतः और सत्यता ज्ञान से संबंधित नहीं होती है वरन् यह गैर विषय से संबंधित होती है इस सम्बन्ध में दो सिद्धांतों पर विचार किया गया है स्वतः प्रामाण्यवाद और परतः अप्रामाण्यवाद। स्वतः प्रामाण्यवाद के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान स्वत प्रमाण होता है। ज्ञान की प्रमाणिकता ज्ञान जनक सामग्री से उत्पन्न होती है किसी बाहरी कारण से नहीं। परतः प्रामाण्यवाद के अनुसार ज्ञान स्वतः प्रमाण नहीं होता है और ज्ञान की प्रमाणिकता बाहरी कर्म पर निर्भर है इस प्रकार ज्ञान की प्रमाणिकता एवं अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में कुल चार प्रश्न सामने आते हैं। संक्षेप में प्रामाण्य के विषय के दार्शनिकों में निम्नलिखित मत हैं :– 1. न्याय–वैशेषिक –प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों परतः। 2. सांख्य योग –प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः। 3. पूर्व मीमांसा – प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य परतः। 4. वेदान्त दर्शन – प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य परतः। 5. बौद्ध दर्शन –प्रामाण्य परतः अप्रामाण्य स्वतः।प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों कहीं स्वतःः और कहीं परतः। (कमलशील, शान्तिरक्षित आदि) 6. जैन दर्शन – प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों उत्पत्ति की दृष्टि से परतः प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनो ज्ञप्ति की दृष्टि से स्वतः।

3.4 पारिभाषिक शब्दावली

प्रामाण्य – प्रामाणिक होने की अवस्था अथवा भाव।

यथार्थ – जैसा होना चाहिए ठीक वैसा।

प्रमाण – सिद्ध हुआ।

कसौटी – परख, जाँच।

मत – विचार।

पराश्रित – दूसरो के आश्रय में रहने वाला।

अनुव्यवसाय – एक अनुभूति की (सम्पर्क के बाद) अनुभूति।

प्रमेयों – पदार्थ

शंका – अविश्वास

विसंवाद – असफल प्रवृत्ति

निरूपण – विवेचना करना।

अभीष्ट – चाहा हुआ।

3.5 सन्दर्भग्रन्थ

- प्रामाण्यवाद, पं. ज्वाला प्रसाद गौड़, चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थालय, 2017
- प्रामाण्यवाद, श्री हरीराम तर्कवागीष, चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थालय, 1964
- भारतीय दर्षन में प्रमाण, जयदेव वेदालंकार, भारतीय विद्या प्रकाषन, 1998,आई. एस.बी.एन. : 8121701260
- तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, बौद्ध भारती, वाराणसी 968
- विद्यानन्द प्रमाणपरीक्षा, जेन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
- शालिकनाथमिश्र के प्रकरणपञ्जिका, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय 1967
- तत्त्वप्रदीपिका, उदासीन संस्कृत विद्यालय काशी, 1956
- प्रमाणसमुच्चय, मैसूर विश्वविद्यालय प्रकाशन, मैसूर 1930
- भारतीय न्यायशास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखन0 व983
- न्यायबिन्दु, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 955
- प्रमाणवार्तिक, किताब महल, इलाहाबाद 943

3.6 बोध प्रश्न

1. प्रामाण्य के अर्थ एवं स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
2. प्रामाण्यवादके तत्त्वों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत कीजिए।
3. स्वतः प्रामाण्य के अर्थ एवं लक्षण को बताइए।
4. परतः प्रामाण्यके अर्थ एवं स्वरूप की व्याख्या कीजिए।
5. भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय में स्वतः प्रामाण्य एवं परतः प्रामाण्य का भेदाभेद स्पष्ट कीजिए।

इकाई 4 ग्रन्थ विश्लेषण में प्रमाणों के अनुप्रयोग

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय प्रमाण सिद्धान्त के आधार पर ग्रन्थों के अध्ययन कैसे की जाती है, यह जान सकेंगे।
- किसी दिये गये ग्रन्थों का विश्लेषण करने की दृष्टि प्राप्त कर सकेंगे।
- समकालीन ग्रन्थों का अध्ययन इस विधि से कैसे की जायेगी, यह सीख सकेंगे।
- ग्रन्थ की परिभाषा, उसके स्वरूप तथा उसके विभिन्न अवयवों को समझ सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

भारत वाचिक परम्परा का देश है। फिर भी यहाँ ग्रन्थ का निर्माण प्राचीनकाल से ही होता आ रहा है। ग्रन्थों में विषय विवेचन के मानक के रूप में प्रमाणों का प्रयोग किया जाता है। ग्रन्थों में जो बात कही गयी हैं, वह या तो लेखक का प्रत्यक्षानुभव होता है या अनुमान। लेखक अपनी बात कहने के लिये उपमान, अनुपलब्धि, अर्थापत्ति इत्यादि प्रमाणों का उपयोग भी करता है। जब पाठक के समक्ष ग्रन्थ प्रस्तुत होती है, तो वह पाठ्यग्रन्थों का आशय प्रमाणों के आधार पर ही ग्रहण करता है। यदि ऐसा न हो, तो या तो पाठक ग्रन्थ का गलत अर्थ ग्रहण करे लेगा या फिर ग्रन्थ में लिखित ज्ञानसामग्री लोकउपयोगी रह जायेगी। आप जानते है कि प्रमाण सिद्धान्त यथार्थ ज्ञान और यथार्थ अनुभव पर आधारित है। इसलिये जो कुछ भी ग्रन्थ में लिखा जाय या

किसी ग्रन्थ में जो कुछ भी लिखा गया है, उसका अर्थ प्रमाणों की सहायता से ग्रहण किया जाये।

इन्हीं अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए इस ईकाई में भारतीय प्रमाण सिद्धान्त के आधार पर ग्रन्थ विश्लेषण के विषयवस्तु का विवेचन किया जा रहा है। इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप ग्रन्थ विश्लेषण की समस्या भारतीय ग्रन्थ परम्परा में ग्रन्थ विश्लेषण की दृष्टि तथा ग्रन्थ विश्लेषण में प्रमाण सिद्धान्त का किस प्रकार से उपयोग होता है, इसका विश्लेषण किया गया है। बिना ग्रन्थ विश्लेषण की विधियों को जाने और उन विधियों में प्रयुक्त आवश्यक विषयवस्तु को समझे आप सन्तुलित ज्ञान का उत्पादन नही कर सकते। भारतीय परम्परा में इन सभी पक्षों पर विस्तार से विचार किया गया है। उनमें से कुछ पक्षों पर संक्षेप में आप इस ईकाई में पढ़ने जा रहे है।

4.2 ग्रन्थ विश्लेषण की समस्या

आप यह भलिभाँति जानते है कि विभिन्न प्रकार के ग्रन्थ पाठक के समक्ष उपस्थित होते हैं और लेखक के समक्ष भी ग्रन्थलेखन के अनेक विषय उपलब्ध है। इस कारण से दुनिया में ग्रन्थों की अनेक प्रकार तथा बहुविध स्वरूप उपस्थित होता है। कुछ ग्रन्थ इतने प्राचीन है कि उनमें लिखे शब्दों का अर्थ वर्तमान में उपलब्ध ही नहीं होता। कुछ प्राचीन भाषा को मृत भी मान लिया गया है। जैसे– प्राचीन ग्रीक और लैटिन। यद्यपि कि भाषाविज्ञान इन भाषाओं का अध्ययन करता है, फिर भी भाषाविज्ञान से इन भाषाओं में गहरे बैठे प्रतीकवाद की व्याख्या उससे वंचित रह जाती है।

4.3 प्रमाण और ग्रन्थ विश्लेषण

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने प्रमाण का लक्षण करते हुए लिखा है–

अविसंवादि ज्ञान को ही प्रमाण कहा जाता है। अर्थ (दाह–पाकादि रूप प्रयोजन) की क्रिया निष्पत्ति का नाम अविसंवाद है। शब्द ज्ञान में भी वक्ता का अभिप्रेत अर्थ का निवेदन होने के कारण प्रमाणता मानी गयी है।

प्रमाणविसंवादि ज्ञानमर्थ क्रियास्थितिः।
अविसंवादनं शाब्देऽप्याभिप्रायनिवेदनात्।।

जैन विद्वान् अकलंक ने प्रमाण को परिभाषित करते हुए लिखा है– प्रमाण को अविसंवाही तथा अनधिगतार्थक होना चाहिए। माणिक्य नंदी ने लिखा है कि वह ज्ञान जो 'स्व' अर्थात् अपने आप का तथा 'अपूर्वार्थ' का यानि जिसे किसी अन्य प्रमाण से नहीं जाना गया है, का निश्चय करता है, उसे प्रमाण कहते हैं। निश्चयात्मक होना प्रमाण के लिये आवश्यक है। माणिक्य नंदी ने प्रमाण की एक और परिभाषा दी है–

''हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थ हि प्रमाणततो ज्ञानमेवतत्।''

अर्थात् ज्ञान जो हित प्राप्ति में सहायक होता है और अहित का परिहार करता है, प्रमाण कहलाता है।

प्रश्न : विभिन्न सम्प्रदाय के विद्वान् अन्य ग्रन्थों का अध्ययन कैसे करते थे?

उत्तर : सबसे पहले तो ग्रन्थों के विश्लेषण करने की व्याख्यापद्धति विकसित की गयी। परासर पुराण में सूत्रग्रन्थों का पढ़ने के लिये क्रम से छः नियमों और उनके क्रम का निरूपण इस प्रकार से किया हैं–

पदच्छेद पदार्थोक्ति विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षडविध मतम्।।

अर्थात् पदच्छेद, प्रतिपाद्य का अभिकथन, व्युत्पत्ति का प्रदर्शन, वाक्य की योजना, आक्षेप और समाधान रूपी छः विधियों का अनुप्रयोग करते हुए किसी शास्त्र के उस ग्रन्थ का व्याख्यान किया जाय जो सूत्रों की संहति में प्रस्तुत हुआ हो तो उस ग्रन्थ का निहितार्थ सम्यक् रूप से उद्घाटित हो जाता है। व्याख्याकार सर्वप्रथम व्याख्येय प्रसंग के वाक्यों को पदों में बांटता है। इसी को पदच्छेद अथवा अन्वय कहते हैं।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में अन्यथा भी छह प्रकार से सूत्रों की व्याख्या करने की बात दुहराई गई है।

आरम्भोऽथापि सम्बन्धः सूत्रार्थस्तद विशेषणम्।
चोदकं परिहारस्य व्याख्या सूत्रस्य षडविधा।।

अर्थात् पूर्वापर सम्बन्धात्मक संगति (अवतरण). विषय के साथ प्रकरण का सम्बन्ध प्रतिपाद्य का अभिकथन, उसके विशेषण के अभिप्राय का परिष्कार, पूर्वपक्ष का उत्थापन और उसका परिहार करना सूत्र की व्याख्या में अपेक्षित होता है। इसी बात को अन्यत्र भी थोड़े शब्दान्तर से कहा गया है। वह यह कि व्याख्या के लिए सूत्रार्थ, पदार्थ, हेतु क्रम और निरुक्ति तथा सम्यक् प्रस्तुति आवश्यक है।

सूत्रार्थश्च पदार्थश्च हेतुश्च क्रमशस्तथा।
निरुक्तमय विन्यासो व्याख्या योगस्य षडविधा।।

एक अन्य बहुश्रुत श्लोक में भी व्याख्या के षडविध तंत्रों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि व्याख्या के लिए भूमिका अर्थात् अवतरण के साथ व्युत्पत्ति का प्रदर्शन पूर्वक प्रतिपादय का कथन, संदेह का उत्थापन एवं उसका निराकरण करते हुए सिद्धांत पक्ष की उपस्थापना विवक्षित है। यहाँ केवल वाक्य योजना की बात नहीं कही गई है लेकिन इसे तंत्रगत स्वयं ही गतार्थ माना जा सकता है।

उपोद्घातः प्रथमतः पदार्थः पदविग्रहः।
अविमर्शः प्रत्यवस्था व्याख्या तंत्रस्य षडविधा।।

उपर्युक्त षडतंत्री व्याख्या पद्धति से मिलती–जुलती एक पंचसूत्री व्याख्या पद्धति भी है जो पूर्वमीमांसा व्याख्या पद्धति के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार किसी भी विषय पर विचार करते समय पक्ष–विपक्ष के बलाबल की चिन्ता करते हुए निर्णय तक पहुँचने की प्रक्रिया मीमांसाशास्त्र में अपनाई गई है। केवल विषय का उल्लेख मात्र निर्णय के लिए पर्याप्त नहीं है अपितु उस विषय में उहापोह के पश्चात् इदमित्थं का अवधारण किया जाता है। यहाँ पाँच प्रकार से उहापोह करने की प्रक्रिया निर्दिष्ट की गई है। पहले विवाद का विषय प्रस्तुत किया जाता है और फिर उस विषय में सम्भावित शंका उठाई जाती है। पूर्वपक्ष की युक्तियाँ प्रदर्शित की जाती हैं, पुनश्च उसके निराकरण हेतु बाधक प्रमाण दिखाकर उत्तरपक्ष अर्थात् सिद्धांत पक्ष के साधक प्रमाण दिखाये जाते हैं। इस तरह स्वाभिमत में बाधक प्रमाणों का अभाव दिखाकर साधक प्रमाणों की संगति पूर्वक सिद्धांत स्थिर होता है।

विषयोंविशयश्चौव पूर्व पक्षस्तथोत्तरः।
संगतिश्चेति पंचांगं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्।।

द्रष्टव्य है कि इस पंचसूत्री विचार पद्धति को मीमांसा शास्त्र में 'अधिकरण' पद से अभिहित किया गया है। अधिकरणाधिष्ठित व्याख्या पद्धति का अनुप्रयोग मुख्य रूप से वेदांत और मीमांसा शास्त्र में ही देखने को मिलता है।

4.2 विद्या का अर्थ

विद्या, शास्त्र तथा तन्त्र पद का व्यवहार यद्यपि पर्याय रूप में होता रहा है तथापि मेरी दृष्टि से तीनों ही पदों में कुछ मौलिक अन्तर अवश्य है। चार धातुओं से विद्या पद की निष्पत्ति होती है– विद् सत्तायां, विद्लृ लाभे, विद् ज्ञाने तथा विद् विचारणे धातु प्रसिद्ध हैं। किन्तु सृष्टिके आरंभ काल से ही ज्ञान तथा विचार अर्थ में विद्या पद का प्रचुर प्रयोग होता आ रहा है।

ऋषियों को विद्या प्रतिभात हुई थी। न्यायभाष्य के उपसंहार में वात्स्यायन ने कहा है कि ऋषि अक्षपाद को न्यायविद्या प्रतिभात हुई थी।

योऽक्षपादमृषि प्रत्यभाद् वदतां वरम् ।

इसी तरह अन्य विद्याएँ भी अन्य ऋषियों को प्रतिगात हुई होंगी। ऋषि न्यायविद्या के विकीर्ण–विखरे हुए– सिद्धान्त प्रतिभात हुए होंगे, उसको उन्होने श्रृंखलाबद्ध करके व्यवस्थित किया। उनके द्वारा क्रमबद्ध सूत्र के रूप में उपनिबद्ध न्यायदर्शन के सिद्धान्त ही शास्त्ररूप में परिणत हुआ। शास्त्र का स्वभाव है कि वह मानव मात्र के लिए केवल हित का ही शासन करता है– श्शास्त्रत्वं हित शासनात्श। शास्त्र का लक्षण इस प्रकार वर्णित है–

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ।।

नित्य अर्थात् अपौरुषेय ज्ञानराशि वेद तथा कृतक अर्थात् पौरुषेय ज्ञानराशि–ऋषियों के द्वारा किया गया उपदेश–हित कथन, ऐसा करना चाहिए, ऐसा नहीं करना चाहिए– इस प्रकार की प्रवृत्ति और निवृत्ति का उपदेश जो करता है, उसे शास्त्र कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मानव मात्र के ऐहिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस के लाभ हेतु उपाय का उपदेशक है शास्त्र। यह शास्त्र सूत्ररूप में उपनिबद्ध है।

जयन्तभट्ट ने अपनी प्रौढ़ कृति न्यायमंजरी के आरंभ में कहा है कि वेद की तरह सभी विद्याएँ सृष्टिके आरंभ से ही चली आ रही हैं। उन विद्याओं को संक्षिप्त रहने पर विस्तृत एवं विस्तृत रहने पर संक्षिप्त करने के कारण विगिन ऋषि विभिन्न विद्याओं के कर्ता या प्रणेता माने गये हैं–

''आदिसर्गात्प्रभृति वेदवदिभाः विद्याः प्रवृत्ताः।
संक्षेपविस्तरविवक्षया तु तांस्तान् कर्तृनाचक्षतेश।

राजशेखर की काव्यमीमांसा में शास्त्रकार के कर्तव्य निर्धारण के अवसर पर इसका परिष्कृत संवाद मिलता है। इनकी दृष्टि में शास्त्रकार गूढ़ अभिप्राय का प्रकाशन और सन्दिग्ध तथा असंगत अर्थ (विषय) को निर्णय एवं संगति के साथ विशद करता है साथ ही संक्षिप्त को विस्तृत और विस्तृत को संक्षिप्त भी करता है।

4.3 शास्त्रीय प्रक्रिया

विद्वान् आलोचक को 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' कहने की प्राचीन प्रथा है। यहाँ पद से व्याकरणशास्त्र, वाक्य से मीमांसाशास्त्र और प्रमाण से न्यायशास्त्र परिगृहीत होता है। इसका तात्पर्य यह है कि व्याकरणशास्त्र, मीमांसाशास्त्र और न्यायशास्त्र के जानकार व्यक्ति किसी भी शास्त्रीय जटिल सिद्धान्तों का तथा लौकिक कठिन समस्याओं का समाधान व्याख्यान की इन शास्त्रीय प्रक्रियात्मक उपायों से कर सकता है, जो अनुभव परिपूत तथा तर्कपुष्ट होने से तदिविद्यों की गोष्ठी में अवश्य मान्य होगा। ये तीनों ही शास्त्र व्यावहारिक दृष्टि से अपनी अपनी उन प्रक्रियाओं को दिखाते हैं, जि के आधार पर शास्त्रों की व्याख्या हो सकती हैं। अतएव इन तीनों शास्त्रों को प्रक्रियाशास्त्र कहना अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि इनका स्वभाव ही है व्याख्या की प्रक्रिया का विधान करना। कुशल व्याख्याकार तथा निष्पक्ष आलोचक वही हो सकता है, जो 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' होगा। व्याकरण की प्रक्रिया का साधारण परिचय एवं अर्थवाद संक्षेप में प्रस्तुत हुआ। मीमांसा तथा न्याय की सरणि का परिचय यहाँ आगे यथावसर प्रस्तुत होगा।

शक्ति के ग्राहक द्वितीय उपाय उपमान से सादृश्य के द्वारा विषय को समझाना विवक्षित है। किसी वस्तु से भिन्न किन्तु उस वस्तु के अधिक गुण या धर्म से सम्पन्न वस्त्वन्तर (अन्य वस्तु) सदृश कहलाता है– 'तभिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् सादृश्यं' सादृश्य का लक्षण है। 'चन्द्र इव मुखम्' इस पदमें चन्द्रगत आह्लादकत्व, सौम्य स्वरूप तथा भरीपुरी आकृति रहने से वर्तुलाकारत्व वक्ता का विवक्षित होता है। मुख चन्द्र से भिन्न है तथा चन्द्रगत ऊर्ध्व कथित असाधारण गुणों से युक्त भी है।

शक्ति के ग्राहक तृतीय उपाय कोश का ज्ञान अपेक्षित है। इसके बल पर विडोजा या मघवा पद से इन्द्ररूप प्रसिद्ध अर्थ तथा अमत्र पद से भोजन पात्र (पाली) रूप अर्थ परिज्ञात होता है। विद्वानों के लिए शब्दकोश का बल उतना ही अपेक्षित है जितना एक राजा के लिए धन का कोश अपेक्षित होता है। यह एक प्रकार का विशेष साधन है, चाहे वह काव्यनिर्माण का क्षेत्र हो या दर्शन के चिन्तन या आलोचन रूप व्याख्या का। धर्मशास्त्रीय निबन्धकार इसीके आधार पर निबन्ध में प्रयुक्त अप्रसिद्ध पदों का तत्काल प्रसिद्ध अर्थ दे देते हैं। यथा प्रसंगवश आगत को त की पद का कोश से घोषक अर्थात् अपामार्ग अर्थ निर्दिष्ट है किन्तु इतने से लेखक स्वयं (प्रसिद्ध मैथिल धर्मशास्त्रकार हरिनाथ उपाध्याय) सन्तुष्ट नहीं होकर स्मृतिसार के आरंभ में कहते हैं सोनधेमल इति प्रसिद्धः।

शक्ति के ग्राहक चतुर्थ उपाय है आप्त का वाक्य। यथार्थ वक्ता जो रागादि से अभिभूत होने पर भी अन्यथा (मिथ्या) नही कहे, आप्त कहलाता है। उनका वचन शक्ति का ग्राहक होता है। जैसे आप्त व्यक्ति के द्वारा 'कोकिलः पिकपदवाच्यः' कहने पर पिक शब्द का कोकिल अर्थ में शक्ति का ज्ञान होता है।

शक्ति के ग्राहक पंचम उपाय व्यवहार से वृद्ध का व्यवहार लेना है। उत्तग वृद्धीने मध्यम वृद्धासे कहा कि घड़ा ले आओ, गायको बाँध दो 'घटमानय गां बधान' यह सुनकर मध्यम वृद्ध वैसा करता है – यह देखकर बालक समझ जाता है कि आनय क्रिया का अर्थ लाना है, घट का अर्थ घड़ा है, गो का अर्थ गाय है और वधान का अर्थ बाँधना होता है। पदों का आवाप और उद्वाप क्रमशः ग्रहण और त्याग देखकर बालक पदार्थ का (पद के अर्थ का) घट, आनय, गां तथा बधान का क्रमशः घड़ा, लाना, गाय तथा बाँधना रूप अर्थों का ग्रहण करता है।

शक्ति के ग्राहक छठवाँ उपाय है वाक्यशेष। प्रकृत वाक्य से, जिसका अर्थ अवधारणीय है, भिन्न वाक्य में प्रकृत वाक्यार्थ के उपयोगी प्रशंसापरक पद समूह वाक्यशेष से अभिप्रेत है। प्रकृति वाक्य है 'अक्ताः शर्कराः उपदधाति' इससे भिन्न वाक्य है 'तेजो वै घृतम। यहाँ अंजन तो तेल, वसा तथा घृत आदि किसी स्निग्ध द्रव्य से हो सकता है किन्तु वाक्यशेषस्थ घृत पद के रहने से घृत से ही अंजन का विधान होता है। इसी तरह 'यवमयश्चरुर्भवति' इस वाक्य में यवासे दीर्घशूक वाला अन्न लिया जाता है, कङ्गु अर्थात् 'काउन' नहीं। क्योंकि आगे कहा गया है कि वसन्त मे अन्य औषध म्लान हो जाते हैं केवल यव प्रसन्न रहता है। अतः दीर्घशूक घाला अन्न (यव) ही यव पद से लिया जाता है।

शक्ति के ग्राहक सातवाँ उपाय है विवृति या विवरण। समानार्थक (पर्याय) पदसे पदार्थ का परिचय है विवृति। जैसे घटरू कलशः।

और शक्ति के ग्राहक आठवाँ उपाय है प्रसिद्ध पद का सान्निध्य। जैसे 'इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौति' (आम के वृक्षपर कोईली अच्छी बोल रही है)– यहाँ सहकारतरु के सान्निध्य से पिक पद का कोकिल अर्थ उपपन्न होता है।

परमलघुमंजूषा तथा न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में उक्त शक्तिग्राहक प्रमाण या उपाय क्रमशः नागेश भट्ट तथा विश्वनाथ न्यायपंचानन द्वारा विशदरूपमें विवेचित हुआ है, उभयत्र उक्त पद्य उपलब्ध है।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में नानार्थक शब्दों में सन्देह होने पर निश्चित अर्थ के अवधारण हेतु प्रसंग के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए विशेष कारणो का परिगणन किया है– संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, शब्दान्तर की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति तथा स्वर आदि।

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।।

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।। –(वाक्यपदीयम्)

शंखचक्रधारी हरि पद से विष्णु का बोध होना, अशंखचक्र हरि से विष्णु का बोध नहीं होना, रामलक्ष्मण कहने पर दाशरथि राम का बोध होना, ... परशुराम या बलराम का बोध नहीं होना, रामार्जुन कहने पर राम से परशुराम का बोध, अंजलि से होम के उपस्थानकारक हाथ की मुद्रा, सैन्धवपद से भोजन काल में नीमक और यात्रा के समय में घोड़ा, अक्त पद से लिप्त, जामदग्न्य राम में राम से परशुराम, अभिरूप को लड़की देना इस वाक्य में अभिरूप से सुयोग्य वर, केवल सुन्दर नहीं, यश्चौनं मधुसर्पिषा में सेचन का अध्याहार कर अर्थ करना, 'यात्यत्र परमेश्वरः' में परमेश्वर से देश विशेष के राजा, रात में चित्रभानु से आग और दिन में सूर्य, मित्र पद से लिंग के आधारपर सूर्य या सुहृत् अर्थ आदि का बोध, यहाँ इन सब के उदाहरण हैं। ''व्यक्ति'' पद यहाँ लिंग क वाचक है तथा स्वर से काकु वचन या वैदिक उदात्तादि स्वर विवक्षित है।

(ख–1) पाठ की शुद्धता के साथ अभिप्राय समझाने के लिए महाभारत के व्याख्याकार नीलकण्ठ ने भी अपनी जागरूकता दिखायी है। इनका कहना है कि विविध देशों के कोशग्रन्थों को (मातृकाओं) अथवा कोष अर्थ में प्रसिद्ध अभिधान ग्रन्थों को पास में रखकर, शुद्धपाठों के निर्णय के साथ प्राचीन गुरुओं की वाणी का अनुसरण करके

महाभारत के भावों का दीप अर्थात् प्रकाशक मैं लिख रहा हूँ।

बहून् समाहृत्य विभिन्नदेश्यान
कोशान् विनिश्चित्य तु पाठमर्ग्र्यम्।
प्राचां गुरुणामनुसृत्य वाच–
मारभ्यते भारतभावदीपः ।।
–महाभारत की नीलकण्ठी व्याख्या का आरम्भ

(ख –2) नाट्यशास्त्र की व्यख्या हेतु प्रस्तुत आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के आरम्भ में ही व्याख्या करने की अपनी प्रक्रिया का निर्देश किया है। इनका कहना है कि जहाँ अनेक प्रकार के पाठ उपलब्ध हों, इस स्थिति में अर्थक्रमानुसारी एवं प्रसंगसंगत पाठ को मूल में निश्चितरूप से रखकर, अन्य उपलब्ध पाठों को पाठभेद के रूप में निर्दिष्ट करना चाहिए। ग्रन्थकार के आशय का परिज्ञान जिससे हो जाए, उतनी व्याख्या करनी चाहिए। व्याख्या के समय यदि सन्दर्भो में पारस्परिक विरोध होता हो तो उसका समाधान करना व्याख्याकार का कर्तव्य है। इसरो अभिप्राय में पूर्णता आती है। उद्देश्य के अनुकूल अभिप्राय का प्रतिपादन होना चाहिए। श्लिष्ट वक्तव्य अर्थात् द्वयर्थक पद की विवेचना अर्थात् अभिप्रेत अर्थ का कथन अपेक्षित है। प्रसंग की संगति दिखानी चाहिए। यदि पुनरुक्ति हो तो सामान्यविशेषभाव के आधार पर उसका समाधान करना चाहिए। इससे व्याख्या निर्दोष होती है। उपसंहार में मुख्य अभिप्राय का संग्रह भी अपेक्षित है। ध्वन्यालोक में इस तरह से विषय संग्रह के लिए परिकर श्लोकों का व्यवहार आचार्य आनन्दवर्धन ने किया है। इन व्याख्या प्रकारों को कहकर अभिनवगुप्त ने इसी पद्धति पर चलते हुए नाट्यशास्त्र की व्याख्या की है।

उपादेयस्य सम्पाठस्तदन्यस्य प्रतीकनम्।
स्फुटव्याख्या विरोधानां परिहारः सुपूर्णता।। 5 ।।
लक्ष्यानुसरणं श्लिष्टवक्तव्यांशविवेचनम्।
संगतिः पौनरुक्त्यानां समाधानमनाकुलम्।।6।।
संग्रहश्चेत्ययं व्याख्याप्रकारोऽत्र समाश्रितः ।।7।।
–अभिनवभारती का आरम्भिक अंश

(ख –3) रघुवंश महाकाव्य की व्याख्या करते समय आचार्य मल्लिनाथ ने कहा है कि कर्ता, क्रिया, कर्म तथा इनके विशेषण आदि के सन्निधान से अर्थात् अन्वय द्वारा वाक्य का तात्पर्य सुलभतया समझ में आ जाता है। अतएव इसी रीति से विविध काव्यों की व्याख्या करके इन्होंने व्याख्या का आदर्श प्रस्तुत किया है। इनकी व्याख्या में निर्मूल तथा अनपेक्षित विषयों का समावेश नहीं होता– यह एक बड़ी विशेषता है।

इहान्वयमुखेनैव सर्व व्याख्यायते मया।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ।।

अन्वय दो प्रकार के होते हैं 1. दण्डान्वय तथा 2. खण्डान्वय। पद्यगत अन्वय पद से दोनों प्रकारों के अन्वय अभीष्ट हैं किंतु इ.होंने स्वयं दण्डान्वय का प्रचुर रूप में व्यवहार किया है।

नत्वा सरस्वती देवीं शुद्धा गुण्यां करोम्यहम्।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम् ।।

इस श्लोक का दण्डान्वय इस प्रकार होगा –

अहं शुद्धा गुण्यां सरस्वती देवी नत्वा पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्त–कौमुदीं करोमि। और खण्डान्वय इस तरह से होता है–

> अहं सरस्वती देवी लघुसिद्धान्तकौमुदीं करोमि।
> कथंभूतां सरस्वती शुद्धाम् पुनः कथंभूतां गुण्याम् ।
> विमर्थ करोमि – पामती प्रशाय।

आशय यह है कि आदर्श व्याख्याकार काव्य या शास्त्र के आशय को समझाते समय सावधानी से तर्क और प्रमाणरूप युक्ति के आधार पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत करता है, जितना कहने से पाठक को व्याख्येय पदार्थ का ज्ञान सुलभ अल्प आयास से हो जाए। अतः अनावश्यक विस्तार या कल्पना से अनपेक्षित एवं निर्मूल वक्तव्य से वह (व्याख्याकार) बचने का प्रयास करता है। न्यायकुसुमांजलि के प्रथम स्तवक के आरंभ में आचार्य उद्यन ने अन्य प्रसंग में कहा है कि जितना कहने से विषय विशदरूप से उपपन्न हो जाए नत्वा तथा अर्थात् समझ में आ जाए, उतना ही कहना चाहिये . यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः।

न्यायभाष्य में भी यह बात कही गयी है साधनीय विषय की सिद्धि के लिए जितना शब्द समूह अपेक्षित हो, उतना कहना चाहिए। उस समूह की अपेक्षा करके पाँच अवयव कहे गये हैं 'साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तस्य पंचावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्यावयवा उच्चन्ते। 1। 11 11

व्याख्याकार की योग्यता

सर्वप्रथम व्याख्याकार से यह आशा की जाती है कि वह सम्बद्धशास्त्र का ज्ञाता हो तथा साथ ही साथ पद और वाक्य संरचना को भी भलिभाँति जानता हो। इसके लिये उसे व्याकरणशास्त्र, मीमांसाशास्त्र तथा न्यायशास्त्र का ज्ञाता होना आवश्यक है। व्याकरणशास्त्र से उसे उचित शब्दों का ज्ञान होता है तथा मीमांसाशास्त्र एवं न्यायशास्त्र से वह शब्द, वाक्य और शब्द वाक्य के मध्य सम्बन्धों को समुचित रूप में जान पाता है। व्याकरण, मीमांसा और न्याय शास्त्र– ये तीनों अलग–अलग होते हुए भी अन्य शास्त्रों के अध्ययन में सहयोगी होते है। व्याकरण से हम किसी ग्रन्थ के शरीर का ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा मीमांसा और न्याय से ग्रन्थरूपी शरीर की आत्मा का। इतना ही नहीं ग्रन्थकार की योग्यताओं में तन्त्रयुक्यिों के ज्ञान को भी सम्मिलित किया गया है। कुल मिलाकर एक कुशल व्याख्याकार के अन्तर्गत इन सभी योग्यताओं का होना उसे ग्रन्थ विश्लेषण में कुशलता प्रदान करता है।

4.4 वैदिक ग्रन्थ का अध्ययन

प्रिय विद्यार्थियों आप यह भली प्रकार जानते है कि वेद के अध्ययन के लिये वेदाङ्ग हमारे सम्मुख आते हैं। वेदाङ्ग क बाद सूत्र, भाष्य, वार्तिक, व्याख्या, उपव्याख्या की शास्त्र परम्परा आयी। इस प्रकार से भारतीय ज्ञानपरम्परा में ग्रन्थों की एक विशाल परम्परा उपलब्ध होती है। वेद के अध्ययन के सूत्र हमें कठोपनिषद् के जिस मंत्र से प्राप्त होता हैं वह इस प्रकार है–

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तो सम्परीत्य विविनक्तिधीर
श्रेयोहि धीरोऽभिप्रेयसोवृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते।

–(कठ. 1/2/2)

सद्गुरू सत्यशास्त्र के उपदेशों के अनुसार धार्मिक मर्यादा नियम में रहने वाले मनुष्य को मोक्ष और उसके साधनरूप पुण्य, ज्ञान, सन्तोषदि रूप सब श्रेय तथा प्रेय (प्रियतर) स्वर्ग सुखादि और उनके साधन स्त्रीपुत्र विषयादि प्राप्त होते हैं। मनुष्यता से रहित को तो श्रेय या प्रेय कुछ भी नहीं प्राप्त होते है।

वेद की प्रवृत्ति सोपानारोह न्याय से अध्ययन की जाती है। यहां सकाम शुभकर्मों के बोधक वेद प्रथम सोपानरूप है। निष्कामतानुक्त कर्मदिको के बोधक द्वितीय सोपान रूप है। इससे कामादि को नहीं त्याग सकने पर परोपकारमय इष्टपूत्तादि कर्मों को करना अभ्युदय के लिये शुभ आरोह का प्रथम सोपान और निष्काम कर्मों का अनुष्ठान द्वितीय सोपान (सीढ़ी) है। इसके बाद न्यायवैशेषिक के अनुसार न्याय की रीति को और पदार्थों को समझना तृतीय सोपान है तथा दर्शन की दृष्टि से प्रथम सोपान ही हैं। भाव यह है कि–

प्रत्यक्षं चानुभावं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता।।

–(मनु. 12/15)

शास्त्र के अनुसार धर्म की शुद्धि (विवेकादि पूर्वक तत्वज्ञानादि) की इच्छा रखने वालों को प्रत्यक्ष, प्रमाण, अनुमान प्रमाण और अनेक प्रकार के वेदादि आगम रूप शास्त्रों को ज्ञात करना चाहिए अर्थात् लक्षण एवं प्रमाण से वस्तु की सिद्धि (ज्ञान) होती हैं, वहां सजातीय विजातीय से वस्तु के स्वरूप को भेदक धर्म को लक्षण और ज्ञात करने वाले वस्तु के यथार्थ ज्ञान के हेतु (कारण) को प्रमाण कहते हैं। उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिह्यादि शब्दप्रमाण से सत्यज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। वेदों का भाष्य करते समय निम्न परीक्षाओं को ध्यान में रखना चाहिए–

1. **युक्तियुक्ता** – कणाद कहते हैं– बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे अर्थात् वेद में बुद्धिपूर्वक बातें कहीं गयी है।

2. **निरूक्त** – केवल व्याकरण से वेदार्थ नहीं होता है। निरूक्त का आश्रय लेना चाहिए, निरूक्त के बिना मंत्रार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

   यास्क– अथापी दमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थ प्रत्ययो न विद्यते।' तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च।' व्याकरण की पूर्णता निरूक्ति में ही है।

3. **व्याकरण** – रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्।

4. **तर्क**– तर्क साक्षात् ऋषि है। किन्तु सभी तर्क का प्रयोग।

5. **प्रकरण** – प्रकरण के आधार पर अर्थ करना चाहिए। यास्कराचार्य ने कहा– न तु पृथकत्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणशः एव तु निर्वक्तव्याः। यहाँ प्रयुक्त एवपद मन्त्रार्थ करने में प्रकरण की अपरिहार्यता का प्रतिपादन कर रहा है।

6. **गौणीवृत्ति** – वेदों में अनेक मंत्रों में आलंकारिक वर्धन पाये जाते हैं। ऐसे स्थलों पर शब्दों के मुख्यार्थ को न ग्रहण करके गौणी वृत्ति का आश्रय लेकर अन्य अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

   वेदों में यम–यमी संवाद, सम्मापणि संवा, पुरुरवा, उर्वसी संवाद, विश्वामित्र नदी संवाद आदि ऐसे स्थलों की व्याख्या बिना गौणी वृत्ति की नहीं हो सकती।

7. **भूयोविद्य** – वेदभाष्यकर्त्ता को बहुश्रुत होना चाहिए। याज्ञिक, आधिभौतिक,

आधिदैविक, वैज्ञानिक आख्यानों के लिए भाष्यकर्ता का यज्ञ, विज्ञान, आयुर्वेद आदि क्षेत्रों का प्रवेश भी अनिवार्य होना चाहिए। जिसका जितना विस्तृत ज्ञान होगा उसका वेदभाष्य उतना ही प्रशंसनीय होगा।

8. ऋषित्व–मेधा–तपस्या श्री अरविन्द इस मत के समर्थक है।

इसके अतिरिक्त वेद भाष्यों के लिए निम्न चार निकषों का उल्लेख किया गया है।

1. मन्त्रों का अर्थ यज्ञ में कहीं–न–कहीं काम देता है– यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् (ऋग्वेद) अर्थात् समस्त वेदवाणी यज्ञ के द्वारा ही स्थान पाती है।
2. मंत्रार्थ बुद्धि के अनुकूल हो न कि प्रतिकूल।
3. मंत्रार्थ तर्क से सिद्ध किया हो।
4. मंत्रार्थ धातुज्ञ हो। प्रत्येक शब्द के धातु से निष्पन्न अर्थ स्वीकार्य हैं– 'नाम च धातुजमाह निरुक्त, अर्थात् निरुक्त में धातुज अर्थ ग्रहण किये गये है।

4.5 ग्रन्थों का पृथक्करण

वस्तु प्रतिपादक ग्रन्थ दो प्रकार के होते हैं– एक हेतुवाद पर आधारित दूसरा अहेतुवाद प्रतिपादक इनमेंसे अहेतुवाद प्रतिपादक ग्रन्थ को श्रद्धा से ही मान्य रखकर उसमें कही हुई बातें श्रद्धा से ही मान लेनी चाहिए और यदि दूसरी तरह से अन्तिम दिव्य ज्ञान न हो तो वहां तक वैसी बातों पर वृद्धि या तर्क का प्रयोग नहीं करना चाहिए किन्तु जहां हेतुवाद शास्त्र हो वहां उसमें कही गयी बातों के विषय में प्रत्यक्ष एवं अनुमान से जांच कर विषय का निश्चय करना चाहिए हेतुवाद के विषयों पर श्रद्धा करना उचित नहीं है।

प्रश्न : इतिहासकार किसी ग्रन्थ का विश्लेषण करते समय किन पहलुओं पर ध्यान देता है?

उत्तर : कोई भी इतिहासकार किसी ग्रन्थ का अध्ययन करते समय सर्वप्रथम ग्रन्थ की भाषा को जानना चाहता है कि यह ग्रन्थ किस भाषा में लिखी गयी है, सामान्य भाषा में या विशिष्ट लोगों की भाषा में। इसके बाद यह देखा जाता है कि वह ग्रन्थ किसके लिये लिखी गयी है, धार्मिक है या दार्शनिक है कि धर्मेत्तर है। साथ साथ यह भी देखी जाती है कि पुस्तक किसी व्यक्ति, वर्गविशेष के लिये लिखी गयी है या सामान्य जन के लिये। इसके बाद इतिहासकार यह देखतना चाहता है कि ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थों के विषयवस्तु या अभिलेख लिया गया है कि नहीं, यदि लिया गया है तो किस ग्रन्थ से। उसका काल क्या है। जिससे उसे यह ज्ञात हो सके कि यह ग्रन्थ लोकोपकार की भावना से लिखा गया है या ज्ञान की परम्परा को जारी रखने के लिये लिखा गया है या फिर इसे व्यक्ति वर्ग को प्रसन्न या आलोचना के उद्देश्य से लिखी गयी है।

4.6 श्रद्धा और बुद्धि प्रधान ग्रन्थ

मुख्य रूप से दो प्रकार के ग्रन्थ हमें प्राप्त होते हैं। प्रथम कोटि के ग्रन्थ को हम श्रद्धा प्रधान ग्रन्थ कह सकते हैं। अर्थात् वे ग्रन्थ जिनके अवगाहन के लिये ग्रन्थ में लिखित तथ्यों, विवेचनों के प्रति श्रद्धा की आवश्यकता पड़ती है, उन्हें श्रद्धामूलक ग्रन्थ कहते हैं। जैसे वैदिक साहित्य, नैतिक साहित्य, उपदेशात्मक साहित्य इत्यादि। दूसरे कोटि के ग्रन्थ जिनके अध्ययन में बुद्धि विशेष की आवश्यकता होती है, बुद्धि प्रधान ग्रन्थ

कहे जाते हैं। इस कोटि में वैज्ञानिक साहित्य तथा आलोचनात्मक साहित्य आते है।

4.7 समकालीन ग्रन्थों की व्याख्या में प्रमाण सिद्धान्त

प्रश्न उठता है कि किसी शास्त्र या ग्रन्थों की प्रामाणिकता का आधार क्या है? क्या किसी ग्रन्थ को मात्र शास्त्र कह देने से उस ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है? या वैसे ग्रन्थ जिन्हें शास्त्र की कोटि में नही रखा गया है किन्तु उनमें प्राप्त विषयवस्तु पूर्णतः प्रामाणिक है और सर्वमान्य भी तो ऐसे ग्रन्थों को क्या शास्त्र की कोटि में रखा जा सकता है।

प्रो. मोहनलाल मेहता ने अपनी पुस्तक 'जैन धर्म–दर्शन' में किसी भी ग्रन्थ को शास्त्र मानने के लिये निम्नलिखित विशेषताओं की जरूरत को माना है–

1. प्राचीनता, 2. प्रसिद्धि, 3. ग्रन्थकार का व्यक्तित्व, 4. अनुयायियों की श्रद्धा, 5. परम्परा का प्रभाव।

अर्थात् ज्ञान के साधना के आधार पर पूर्वाग्रह रहित होकर जो बातें की जाती हैं वे प्रामाणिक होती है, सर्वमान्य होती हैं। इसके विपरीत कथन संदिग्ध है, स्पष्ट नहीं है। उसके सम्बन्ध में कोई विवाद हो सकता है। परम्परा, स्वानुभव तथा विचार या कल्पना ये बातें प्राचीन तथा नवीन सभी ग्रन्थों में पायी जाती हैं। मुख्य आधार निर्दोष अनुभव है।

नयी खोजों के आधार पर लिखे गये ग्रन्थों में ज्ञान में नवीनता तो होती है। किन्तु स्थायित्व नहीं, हो सकता है। उसी दिशा में नयी खोजों से उसकी प्रामाणिकता खण्डित हो जाय। यदि ग्रन्थकार का अनुभव निर्दोष एवं निर्विकार है तो उसका खण्डन नहीं हो सकता है। कोई भी कथन राग, द्वेष, अज्ञान, प्रमाद, अहंकार, भय आदि से प्रभावित नहीं है तो उसके कोई दोष नहीं हो सकता है।

किसी शास्त्र अथवा ग्रन्थ की प्रामाणिकता अप्रामाणिकता की कसौटी तद्गत सामग्री ही है। वह सामग्री जितनें अंशों में प्रमाण पुरष्कर होगी उतने ही अंशों में वह शास्त्र या ग्रन्थ प्रामाणिका होगा। सामग्री की परीक्षा किये बिना शास्त्र अथवा ग्रन्थ की प्रामाणिकता का निर्णय नहीं किया जा सकता है।

ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति के प्राकृतिक साधन हैं। इन्हीं द्वारा कोई इन्द्रियवान प्राणी अपने चारों तरफ के वातावरण की प्राथमिक संसूचना प्राप्त करता है और अपने वातावरण से सन्तुलन बनाने में समर्थ होता है।

शास्त्र की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में प्रश्न उठता है कि वह अपने आप में यथार्थ होता है अथवा अयथार्थ। इस समस्या पर भारतीय वाङ्मय में विचार के अनेक पहलू हैं। यहां हम प्रमुख विचाराधाराओं का संक्षिप्त विवेचन करेंगे–

जनमत में शास्त्र श्रुतज्ञान के अन्तर्गत आता है। श्रुतज्ञान दो प्रकार का होता है। 1. अक्षरात्मक श्रुतज्ञान 2. अक्षरात्मक श्रुतज्ञान। श्रोतेन्द्रिय के अतिरिक्त जो चार इन्द्रियाँ हैं– आँख, नाक, जीभ, त्वचा से मतिपूर्वक तथा मन के सहयोग से जो ज्ञान होता है उसे अनक्षरात्मक श्रुत ज्ञान कहते हैं। श्रोतेन्द्रिय से मतिपूर्वक एवं मन के सहयोग से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। उदाहरण– किसी ने कहा 'कलम है'। मात्र उसे सुनना और सुनने के बाद विभिन्न कारणों से इसे जानना ये दो भिन्न बातें हैं। सुनकर विभिन्न कारणों से उसे जानना अक्षरात्मक ज्ञान है।

शास्त्रवचन की सत्यता के दो पहलू होते हैं। प्रयोगकालीन और अर्थकालीन। प्रयोगकालीन पहलू वक्ता पर आधारित होता है। वक्ता शब्द का यदि यथार्थ प्रयोग करता है तो वह सत्य होता है। अर्थकालीन पहलू श्रोता पर आधारित होता है। श्रोता यदि यथार्थ अर्थ को ग्रहण करता है तो वह भी सत्य होता है।

सत्यवचन की अपेक्षाएँ : सत्यवचन की दस अपेक्षाएँ होती है–

क. जनपद, देश अथवा राष्ट्र की अपेक्षा सत्य

ख. सम्मत या रूढ़ि सत्य

ग. स्थापना की अपेक्षा सत्य

घ. नाम की अपेक्षा सत्य

ङ. रूप की अपेक्षा सत्य

च. प्रतीत्य सत्य – दूसरी वस्तु की अपेक्षा सत्य

छ. व्यवहार सत्य – औपचारिक सत्य

ज. भाव सत्य – व्यक्त पर्याय की अपेक्षा सत्य

झ. योग सत्य – सम्बन्ध सत्य

ञ. औषम्य सत्य

4.8 सारांश

ग्रन्थ मानवीय ज्ञान के सार्वजनिक संग्रहालय हैं। इसमें प्रचीन से लेकर अर्वाचिन ज्ञान का स्वरूप एवं तथ्य संग्रहीत रहते हैं। ग्रन्थ में ज्ञानात्मक तथ्य इकाई रूप मे श्रृंखलाबद्ध रूप से बुने रहते हैं। लिखित ग्रन्थ का विश्लेषण हम अनुवाद, व्याख्या, समालोचना तथा पुनर्पाठ द्वारा करते हैं। ये ग्रन्थ जिस संस्कृति के अन्तर्गत लिखे जाते है, उस संस्कृति के मूल शब्द का अर्थ उसी संस्कृति के अन्तर्गत लिखे जाते है। फलतः अनुवादों द्वारा हम ग्रन्थ का पूर्ण अध्ययन नहीं कर सकते। जिस प्रकार ज्ञान की संरचना एक जीवीत प्रकृथा है, उसी प्रकार ज्ञान का विश्लेषण एक जीवंत प्रकृया है। यह प्रकृया प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमा के द्वारा सम्पन्न होती है। यदि हम ग्रन्थ विश्लेषण में इन प्रमाणमीमांसा तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए ग्रन्थ विश्लेषण करते हैं तो हम ग्रन्थ के प्रतिपाद्य को निकट पहुंच सकते हैं।

भारत में ग्रन्थ निर्माण का इतिहास अति प्राचीन है। भारतीय ग्रन्थों के विश्लेषण के लिये, भारतीय ग्रन्थों के स्वरूप को जानना आवश्यक है। केवल भारतीय ग्रन्थों के स्वरूप को ही जानना आवश्यक नही भारतीय व्यख्या पद्धति को भी जानना आवश्यक है। ग्रन्थों में लिखित पदच्छेद, व्युत्पत्ति, वाक्येयोजना, आक्षेप और समाधान के द्वारा ग्रन्थों का विश्लेषण किया जा सकता है। इतना ही नहीं न्यायशास्त्र तथा मीमांसाशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है तथा उपमान, कोशज्ञान रूपी शब्द प्रमाण आवश्यक शर्तें हैं। चूंकि वैदिक ग्रन्थ अपौरूषेय है अतः इनका विश्लेषण ठीक उसी विधि से नहीं हो सकता जिसके विधि से हम पौरूषेय ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं।

4.9 पारिभाषिक शब्दावली

आद्यशाश्ता : प्रथम उपदेशक को आद्यशाश्ता कहते हैं। बौद्ध संस्कृति में महात्मा बुद्ध को बौद्धधर्म दर्शन आद्यशाश्ता कहा जाता है।

ऋषिप्रोक्त : वह ज्ञान जो ऋषियों द्वारा कहा गया है, उसे ऋषिप्रोक्त कहा जाता है। ऋषिप्रोक्त कहने का अर्थ यह है कि यह ज्ञान साक्षात्कार पर आधारित है। अतः शब्दप्रमाण में प्रथम कोटि के अन्तर्गत माना जाता है।

अविसंवादि ज्ञान :

माणिक्य नंदी : जैन दार्शनिक

अधिकरणाधिष्ठित व्याख्या : किसी विशेष मुद्दे को लेकर संरचनाबद्ध व्याख्या को अधिकरणाधिष्ठित व्याख्या कहा जाता है। यह विधि प्राचीन भारत से ही प्रयुक्त की जा रही है।

4.10 सन्दर्भग्रन्थ

1. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली।
2. शुक्रनीतिसार
3- Problems of Interpretation and Translation of Philosophical and Religious Texts, N.S.S. Raman, Indian Institute of Advanced Study Rashtrapati Nivas, Shimla
4. कौटिल्य अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

4.11 बोध प्रश्न

1. बिना भारतीय व्याख्यापद्धति को अपनाये भारतीय ग्रन्थों की व्याख्या अपूर्ण एवं एकांगी होती है। इस कथन की पुष्टि करिये।
2. ग्रन्थ विश्लेषण में प्रमाण सिद्धान्तों के प्रयोग पर एक निबन्ध लिखिए।
3. प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमा पर बिना विचार किये ग्रन्थ के प्रतिपाद्य का सम्यक् निर्धारण नहीं हो सकता। इस कथन की पुष्टि कीजिए।
4. समकालीन ग्रन्थों के विश्लेषण में भारतीय प्रमाण सिद्धान्त का उपयोग हितकारी है। इस कथन पर प्रकाश डालिए।

खण्ड 2
प्रमाण सिद्धान्त

द्वितीय खण्ड का परिचय

एम. ए. हिन्दू अध्ययन के तृतीय पाठ्यक्रम के प्रमाण-सिद्धान्त नामक द्वितीय खण्ड में आपका स्वागत है। प्रमाण-सिद्धान्त का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् विभिन्न प्रमाणों के विषय में विशेष जानकारी का अध्ययन किया जाना है। द्वितीय खण्ड में कुल तीन इकाइयों में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों का विशेष वर्णन प्रस्तुत है। सर्वप्रथम सबसे प्राथमिक प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप का निदर्शन प्रथम इकाई में किया गया है। प्रत्यक्ष प्रमाण सबसे प्रथमिक अवश्य है परन्तु उसकी कई सीमाएँ भी हैं। द्वितीय इकाई में प्रत्यक्ष प्रमाण के साधनों का उल्लेख करते हुए, उसकी सीमाओं का भी वर्णन प्रस्तुत है। प्रत्यक्ष के पश्चात् अनुमान के द्वारा भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो सकता है। तृतीय इकाई में अनुमान प्रमाण का ही निरूपण किया गया है। इस इकाई में प्रथमतः अनुमान को परिभाषित करते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् अनुमान प्रमाण के साधनों को बताते हुए अनुमान की सीमाओं को वर्णित किया गया है। इस प्रकार इस खण्ड का अध्ययन करने के बाद आप प्रत्यक्ष एवम् अनुमान प्रमाणों के स्वरूप, साधन तथा सीमाओं का उल्लेख करने में सक्षम हो सकेंगें।

इकाई 1 प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- हिन्दू दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण का अर्थ जान सकेंगे।
- प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषाएं (विविध दर्शनों के सन्दर्भ में) जान सकेंगे।
- प्रत्यक्ष के भेद जान सकेंगे।
- न्याय दर्शन ,अन्य वैदिक दर्शन तथा नास्तिक दर्शनों में प्रत्यक्ष की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- प्रत्यक्ष की विशेषता जान सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

भारतीय तर्कशास्त्र के क्षेत्र में 'प्रत्यक्ष' ही एकमात्र प्रमाण है जिसे सभी दर्शनों में स्वीकारोक्ति मिली है न्यायशास्त्र के अनुसार प्रत्यक्ष' को प्रमाण (sources of knowledge) का पहला भेद बताया गया है। इससे प्रत्यक्ष का महत्व भारतीय तर्कशास्त्र में बहुत ऊँचा बनाया गया है। इसके विपरीत पाश्चात्य तर्कशास्त्र में 'प्रत्यक्ष' का ऐसा महत्व नहीं बताया गया है। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान तो हमेशा यथार्थ (Real) होता ही है। साधारणतः कोई भी मनुष्य इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को झूठा नहीं समझ सकता, इसलिए प्रत्यक्ष की सत्यता या असत्यता की छानबीन करना एक निरर्थक काम है। परन्तु भारतीय तर्कशास्त्र में ऐसी बात नहीं है। भारतीय विद्वान इस सिलसिले में अधिक अन्वेषी अथवा खोज पसंद करने वाले पाये जाते

हैं। ये लोग प्रत्यक्ष को भी वही स्थान देते हैं जो स्थान पाश्चात्य विद्वान 'अनुमान को दते हैं। अतः भारतीय तर्कशास्त्र में प्रत्यक्ष की व्याख्या भी बडी सावधानी से की गयी है।आत्मा, मन और इंद्रिय का संयोग रूप जो ज्ञान का करण वा प्रमाण है वही प्रत्यक्ष है। वस्तु के साथ इंद्रिय-संयोग होने से जो उसका ज्ञान होता है उसी को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। यह प्रमाण सबसे श्रेष्ठ माना जाता है।

1.3 प्रत्यक्ष प्रमाण

ऋषि गौतम ने कहा है कि इंद्रिय के द्वारा किसी पदार्थ का जो ज्ञान होता है, वही प्रत्यक्ष है। जैसे, यदि हमें सामने आग जलती हुई दिखाई दे अथवा हम उसके ताप का अनुभव करें तो यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि 'आग जल रही है'। इस ज्ञान में पदार्थ और इंद्रिय का प्रत्यक्ष संबंध होना चाहिए। यदि कोई यह कहे कि 'वह किताब पुरानी है' तो यह प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है; क्योंकि इसमें जो ज्ञान होता है, वह केवल शब्दों के द्वारा होता है, पदार्थ के द्वारा नहीं, इसिलिये यह शब्दप्रमाण के अंतर्गत चला जायगा। पर यदि वही किताब हमारे सामने आ जाय और मैली कुचैली या फटी हुई दिखाई दे तो हमें इस बात का अवश्य प्रत्यक्ष ज्ञान हो जायगा कि 'यह किताब पुरानी है'।भारतीय दर्शन में छ: आस्तिक और तीन नास्तिक दर्शन प्रमुख रूप से माने जाते है यह आस्तिक और नास्तिक का भेद वेदों को प्रमाण मानने या ना मानने पर है। वेद को प्रामाणिक मानने वाले दर्शन को ’आस्तिक’ तथा वेद को अप्रमाणिक मानने वाले दर्शन को ’नास्तिक’ कहा जाता है। आस्तिक दर्शन छ: हैं जिन्हें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त कहा जाता है। इनके विपरीत चावार्क, बौद्ध और जैन दर्शनों को ’नास्तिक दर्शन’ के वर्ग में रखा जाता है। वैदिक दर्शनों में षड्दर्शन (छः दर्शन) अधिक प्रसिद्ध और प्राचीन हैं। ये सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त के नाम से विदित है। इनके प्रणेता कपिल, पतंजलि, गौतम, कणाद, जैमिनि और बादरायण थे।

'प्रत्यक्ष' शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष शब्द की उत्पत्ति हुई है- प्रति + अक्षण से जिसका अर्थ होता है- आँख के सामने होना। यहाँ पर प्रत्यक्ष का मतलब 'आँख के सामने होने से पाया जाता है। पर यह संकीर्ण अर्थ है क्योंकि प्रत्यक्ष का मतलब 'आँख के साथ-साथ और इन्द्रियों से रहता है। कान से सुनना, जीभ से चखना, नाक से सूँघना, चमड़े से छूना उसी तरह प्रत्यक्ष' (perception) कहलाता है जिस तरह आँख से देखना। इसलिए प्रत्यक्ष का अर्थ होता है किसी भी ज्ञानेन्द्रिय के सामने होना। आँख से देखकर हम जानते हैं कि दूध उजला होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा ही प्राप्त होता है उसी तरह कान से सुनकर हम जानते हैं कि कोयल की आवाज मीठी होती है। जीभ से चखकर जानते है कि रसगुल्ला मीठा होता है। नाक से सूंघकर जानते हैं कि गुलाब के फूल में सुगन्ध है। अतः इस तरह के सभी ज्ञान हमें ज्ञानन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होते हैं जिन्हें ही हम प्रत्यक्ष कहते हैं। इस तरह हम पाते हैं कि प्रत्यक्ष तभी संभव है जबकि इन्द्रिय (organ) और पदार्थ (object) के बीच एक सन्निकर्ष (contact) हो।

1.3.1 प्रत्यक्ष प्रमाण का अर्थ एवं परिभाषायें

शाब्दिक एवं संकीर्ण अर्थ में प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष तात्पर्य है 'आंखों के सामने' एवं व्यापक अर्थ में प्रत्यक्ष से आशय ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान है। न्याय दर्शन के प्रतिपादक गौतम ने प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हुए कहा है कि - 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् प्रत्यक्षम्।' अर्थात् इन्द्रिय, अर्थ सन्निकर्ष से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

गौतम के अनुसार प्रत्यक्ष त्रिविध है, आत्म का बुद्धि से, बुद्धि का ज्ञानेन्द्रियों से एवं ज्ञानेन्द्रियों का जब वस्तु (अर्थ) से अर्थसन्निकर्ष (सम्पर्क) होता है तो जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। भारतीय दर्शन में कुल छः इन्द्रियों मानी गई है— आँख, नाक, कान, जिव्हा तथा त्वचा ये पाँच बाह्य इन्द्रियाँ है। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय मन को आन्तरिक इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया गया है। आन्तरिक इन्द्रिय मन के द्वारा जहाँ आन्तरिक प्रत्यक्ष किया जाता है वहीं बाह्य इन्द्रियों द्वारा बाह्य प्रत्यक्ष होता है।

बाह्य प्रत्यक्ष तीन चरणों में सम्पन्न होता है— निर्विकल्प, सविकल्प तथा प्रत्यभिज्ञा। यद्यपि यह विभाजन व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव नहीं है क्योंकि इनमें अवस्था भेद का हो अन्तर है। जहाँ निर्विकल्प प्रत्यक्ष अवस्था की दृष्टि से पहले आता है वहीं सविकल्पक तथा प्रत्यभिज्ञा क्रमशः बाद की अवस्थाएं हैं।

इन्द्रिय, अर्थ, सन्निकर्ष होते ही हमें यह अनुभव होना कि 'कुछ है। यही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। इसके पश्चात् यह अनुभव होना कि 'क्या है' यही सविकल्पक प्रत्यक्ष है। 'क्या है' जब इस बात का बार-बार स्मरण होता है. यहाँ प्रत्यभिज्ञा है। न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष के दो प्रकार बताए गए हैं- लौकिक प्रत्यक्ष तथा अलौकिक प्रत्यक्ष

नैयायिकों के अनुसार जब इन्द्रिय, अर्थ सन्निकर्ष साधारण ढंग से होता है तो इसे लौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं। जैसे-गुलाब के पुष्प को नासिका द्वारा संूघने पर उसकी सुगन्ध का ज्ञान होना लौकिक प्रत्यक्ष कहा जाएगा। किन्तु जब इन्द्रिय, अर्थ, सन्निकर्ष असाधारण ढंग से होता है तो ऐसे प्रत्यक्ष को अलौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं। अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार से होता है-ज्ञान लक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष, सामान्य लक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष तथा योगज अलौकिक प्रत्यक्ष नैयायिकों के अनुसार जब इन्द्रियों का सम्पर्क किसी वस्तु के गुण से नहीं होने के बाद भी हमें उस गुण का प्रत्यक्ष हो जाता है तो ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान लक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है। जब किसी वस्तु विशेष के सामान्य का प्रत्यक्ष होने पर उस वर्ग विशेष की समस्त वस्तुओं (जो अन्य कहीं विद्यमान हैं) का प्रत्यक्ष प्राप्त हो जाता है तो ऐसा प्रत्यक्ष, सामान्य लक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है। जब योगों अपनी योग शक्ति के द्वारा दूर से दूर स्थित वस्तुओं को और घटनाओं का प्रत्यक्ष कर लेते हैं तो ऐसा प्रत्यक्ष योगज अलौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है।प्रत्यक्ष इन्द्रिय, इन्द्रिय और अर्थ (विषय) का सन्निकर्ष तथा प्रत्यक्षज्ञान इन तीनों - में दृष्टिभेद से प्रत्यक्ष प्रमाणत्व मान्य हैं। जिसके व्यापार के पश्चात् क्रिया की निष्पत्ति होती है उसकी करण के रूप में विवक्षा होती है –

क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते तदा तत्र करणं तत् प्रकीर्तितम् ॥

- वा.प. (साधान समुद्देश) 20

वाक्यपदीय की इस कारिका के आधार पर इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। क्योंकि इन्द्रिय के व्यापार से ही प्रत्यक्ष प्रमिति की उत्पत्ति होती है यह नव्य नैयायिक की - दृष्टि है। किसी की दृष्टि में इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमिति का प्रयोजक होता है उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण का औपचारिक व्यवहार होता है। इन्द्रिय और अर्थ (विषय) का सन्निकर्ष अर्थात् इन्द्रिय का व्यापार प्रत्यक्ष प्रमिति का जनक होने से प्रत्यक्ष प्रमाण होता है, जिसके आधार पर विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और प्रत्यक्ष प्रमिति भी प्रत्यक्ष प्रमाण होता है जिसके आधार पर हान उपादान या उपेक्षा बुद्धि होती है।

न्यायवार्तिककार ने इन्द्रियार्थ सत्रिकर्ष एवं तज्जन्य ज्ञान दोनों को प्रत्यक्ष प्रमाण माना है। इन्होंने कहा है -उभयं तु युक्त परिच्छेदकत्वात्। उभयं परिच्छेदकं सन्निकर्षो ज्ञानञ्च ॥ न्या.वा. न्या. सू. 1.1.3)

जयन्तभट्ट की दृष्टि में किसी कार्य का कोई एक कारण विशेष करण नहीं होता किन्तु सामग्री (कारण) में करणता मान्य है। अतः प्रमाज्ञान की सामग्री ही करण होती है। उसी में करणता रहने से वह प्रमाण होता

1.2.2 प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद

प्रत्यक्ष के भेदों का वर्णन भारतीय तर्कशास्त्र में कई तरह से बतलाया गया। है। इस सम्बन्ध में विद्वानों का कोई एक मत नहीं पाया जाता है, इसलिए भिन्नभिन्न तरह के भेद भी बतलाये गये हैं। इन्हें हम नीचे देखेंगे। हमने देखा है कि इन्द्रिय (organ) का वस्तु या पदार्थ (object) के साथ सम्पर्क (contact) होने पर प्रत्यक्षज्ञान होता है। इस आधार पर प्रत्यक्ष (per-ception) के मुख्यतः दो भाग (forms or kinds) होते है-

(क) लौकिक प्रत्यक्ष (Ordinary Perception) और (ख) अलौकिक प्रत्यक्ष (Extra Ordinary Perception) |

क) लौकिक प्रत्यक्ष (Ordinary Perception) लौकिक प्रत्यक्ष हमें तब होता है जब इन्द्रियों के साथ वस्तु या पदार्थ का साधारण सम्पर्क पाया जाता है। जैसे आँख से जब गुलाब के फूल का सम्पर्क होता है हमें प्रत्यक्ष ज्ञान होता है कि वह फूल लाल है या उजला या पीला

न्यायदर्शन के अनुसार (वैशेषिक, जैन तथा मीमांसा दर्शन के अनुसार भी) हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ (sense organs) की संख्या छ बतायी गयी है। ये है आँख कान, नाक, जीभ, चमड़े और मन (mind) इनमें पहले पाँच को अर्थात आँख कान, नाक, जीम और को बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ (external sense organs) कहते हैं और छठे ज्ञानेन्द्रिय मन' (mind) को आन्तरिक ज्ञानेन्द्रिय (inner sense organ) कहा जाता है। इस विभेद को लेकर एक दृष्टिकोण से लौकिक प्रत्यक्ष दो भेद बतलाये जाते हैं (1) बाह्य प्रत्यक्ष और (2) मानस प्रत्यक्ष।

बाह्य प्रत्यक्ष (external perception)

- "बाह्य प्रत्यक्ष" का अर्थ होता है "बाहरी प्रमाण" या "बाहरी अनुभव"। यह एक दृष्टिकोण होता है जिसमें व्यक्ति अपने पांच इंद्रियों (सुनन, देखन, स्पर्शन, गन्ध, स्वाद) के माध्यम से बाहरी विश्व को जानता है और उसकी जानकारी प्राप्त करता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान की एक प्रमुख रूप होती है जिसमें हम अपने आस-पास के वातावरण को देखकर, सुनकर, स्पर्श करके, गन्ध करके और स्वाद अनुभव करके जानकारी प्राप्त करते हैं।

इस तरह का प्रत्यक्ष हमें अपनी बाहरी ज्ञानेन्द्रियों (Sense organs) से प्राप्त होता है जिनकी संख्या पाँच है। आँख से देखकर हमें ज्ञान होता है कि यह गुलाब का फूल लाल है, इसे चाक्षुस् प्रत्यक्ष' (visual perception) कहते हैं, कान से सुनकर हमें यह ज्ञान होता हैकि गधे की आवाज कर्कश होती है या कोयल की आवाज मीठी है, इसे हम श्रावण प्रत्यक्ष (auditory perception) कहते हैं; नाक से संूघकर हमें ज्ञान प्राप्त होता है

कि गुलाब के फूल में खुशबू है, इसे हम घाणज प्रत्यक्ष' (olfactory perception) कहते हैं; जीम से चखकर हमें यह ज्ञान होता है कि नींबू का रस खट्टा होता है, इसे हम रासन प्रत्यक्ष (taste perception) कहते हैं, और चमड़े से छूने के बाद हमें ज्ञान प्राप्त होता है कि मक्खन मुलायम होता है, लोहा कड़ा होता है, इस तरह के प्रत्यक्ष को हम त्वाचिक प्रत्यक्ष' (tactual perception) कहते हैं। इस तरह हम देखते है कि बाह्य प्रत्यक्ष (external perception) पाँच तरह के होते हैं जो हमारी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के अनुरूप होती है।

मानस प्रत्यक्ष (internal perception): हमने ऊपर ही देखा है कि न्यायदर्शन में 'मन' (mind) एक ज्ञानेन्द्रिय के रूप में ही माना गया है। 'मन' कोई बाहरी चीज नहीं है जिसे हम आँख कान आदि ज्ञानेन्द्रियों की तरह देख सकें। मन का अस्तित्व तो शरीर के भीतर माना गया है जो अदृश्य है फिर भी हमें यह मानना ही पड़ता है कि 'मन' (mind) एक ज्ञानेन्द्रिय है जो हमें ज्ञान को प्राप्त कराता है प्रत्यक्ष के रूप में हमें अपने जीवन में सुखदुख, प्रेमघृणा आदि मनोभावों का अनुभव होता रहता है सुख या दुख का ज्ञान हमें आँख, कान, नाक आदि से प्राप्त नहीं हो सकता है, इस ज्ञान की प्राप्ति मन के द्वारा ही की जा सकती है। अतः मन' से प्राप्त प्रत्यक्ष को मानस प्रत्यक्ष' कहते हैं।

ख) अलौकिक प्रत्यक्ष (extra ordinary perception) :

हमने पहले ही देखा कि वस्तु (object) के साथ इन्द्रियों (organs) का सम्पर्क या सन्निकर्ष (contact) होता है. तभी प्रत्यक्ष पैदा होता है। जब किसी पदार्थ या वस्तु के साथ का असाधारण या अलौकिक सम्पर्क हो तो वह 'अलौकिक प्रत्यक्ष' कहलाता है जैसे पशुता गुण के प्रत्यक्ष को हम लें हमारी ज्ञानेन्द्रियों केवल 1 एक दो या कुछ संख्या में ही जानवरों को देख सकती हैं, सभी जानवरों को यो ही साधारण रूप में जानना असंभव है। फिर भी हमें सभी जानवरों के पशुत्व गुण का प्रत्यक्ष हो सकता है। अतः इस तरह का प्रत्यक्ष असाधारण या अलौकिक प्रत्यक्ष कहलाया।

अलौकिक प्रत्यक्ष तीन तरह के होते है अथवा उसके तीन भेद या प्रकार

1. सामान्य लक्षण (class perception)
2. ज्ञानलक्षण (complicative perception)
3. योगज (intuitive perception)

सामान्य लक्षण (class perception): यह एक प्रकार का असाधारण या अलौकिक (extraordinary) प्रत्यक्ष है जिसके द्वारा वस्तु विशेष को देखकर उसकी जाति का भी हमें प्रत्यक्षीकरण हो जाता है जब हम किसी गधे या कुत्ते या घोड़े या हाथी को देखते हैं तो कहते हैं कि वे सभी पशु हैं। कुत्ते का रंगरूप अलग होता है गधे से, गधे का अलग होता है हाथी से और इसी तरह हम देखते है कि सबों में कोई समता नहीं रहने पर भी सबों को पशु के अन्दर रखते हैं। ऐसा अनुभव हमें इसलिए होता है कि हमें पशु में पशुत्व' का भी प्रत्यक्ष होता है। जो किसी खास पदार्थ को देखने के भाव से भी प्राप्त हो सकता है।

इसलिए जब हम एक 'कुत्ते' या 'गधे' को भी देखते है तो उसे 'पशु' कह देते हैं और उसके साथ ही हमें पशुत्व का प्रत्यक्ष हो जाता है जो साधारण ज्ञानेन्द्रियों के कारण नहीं होता। किसी एक

पशु को देखकर ही सारे पशुत्व' का प्रत्यक्ष होना एक असाधारण या अलौकिक (Extraordinary) प्रत्यक्ष है जिसे हम सामान्य लक्षण (class perception) कहते हैं। इसी तरह के प्रत्यक्ष केआधार पर ही सामान्य वाक्यों की स्थापना भी होती है। हम कुछ को देखते हैं. और उससे सब का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया करते हैं जैसे कुछ आदमी को मारते हुए देखकर यह सामान्य वाक्य स्थापित करते हैं कि सभी मनुष्य मरणशील है। सभी मनुष्य को मरते हुए देखना एक असंभव काम है। मरने की किया तो हम दराबी मनुष्यों में ही देख पाते हैं. फिर भी हम यह कह सकते है दुनिया के सभी मनुष्य मरणशील है। अतः सभी मनुष्य में मरणशीलता का प्रत्यक्ष हमारी साधारण अनेन्द्रियों से नहीं होता है. यह प्रत्यक्ष तो असाधारण या अलौकिक तरीके से होता है और इसी को हम सामान्य लक्षण (class perception) के नाम से पुकारते हैं। हम आगे चलकर यह भी देखेंगे व्याप्ति सम्बन्ध (universal relation) का ज्ञान भी हमें सामान्य लक्षण के द्वारा ही प्राप्त होता है।

इसीलिए न्यायशास्त्र के विद्वान कहते हैं कि जब हम कहीं एक जगह अपने घर में या और कहीं आग को छूते हैं तो वह 'गर्म मालूम पड़ती है। एक बार के अनुभव के बाद ही हम आग और गर्मी के बीच एक व्याप्ति सम्बन्ध कर बैठते हैं कि सभी आग गर्म होती है। इसलिए अपने घर में चूल्हे या लालटेन की आग को छूकर देखने के बाद सभी आग के बारे में कुछ कहना हो तो यह सामान्य लक्षण के द्वारा ही संभव है, क्योंकि दुनिया की किसी आग को छूकर देखना एक कठिन कार्य है. अतः एक ही उदाहरण को देखकर सामान्य वाक्य की स्थापना तो सामान्य लक्षण के द्वारा पूर्ण होती है।

"सामान्य लक्षण की आलोचना (criticism) पुराने लोग कहते हैं कि सामान्य लक्षण एक ऐसा प्रत्यक्ष है जिसका ज्ञान अलौकिक चाक्षुस प्रत्यक्ष (extra ordinary visual perception) से हुआ करता है। इसका मतलब यह नहीं लगाना चाहिये कि केवल सामने की चीजें ही इस तरह के प्रत्यक्ष को पैदा करती है। स्मृति (meomory) के द्वारा भी तो सामान्य लक्षण हुआ करता है। दूसरी बात यह है कि प्राचीन न्यायशास्त्र के विद्वानों का कहना है कि सामान्य या जाति का प्रत्यक्ष तभी होता है जबकि इन्द्रिय के साथ संयुक्त समदाय सन्निकर्ष (inherent contact) होता है। परन्तु नये न्यायशास्त्र के विद्वानों का कहना कुछ दूसरा मालूम पड़ता है। वे कहते हैं कि सामान्य या जाति के ज्ञान के लिए केवल साधारण इन्द्रिय सन्निकर्ष ही सब कुछ नहीं है। इसके लिए अलौकिक सन्निकर्ष का सहारा लेना पड़ता है जिसकी प्राप्ति हमारी बुद्धि से होती है।

तीसरी बात यह है कि आलोचकों ने इस सामान्य लक्षण के प्रत्यक्ष पर एक हास्यास्पद आपत्ति प्रकट की है। सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष का वह रूप है जिसके द्वारा एक के देखने के बाद समूची जाति या सब का ज्ञान हमें हो जाता है। अतः जब सब का ज्ञान हो ही जाता है तो फिर और ज्ञान की क्या जरूरत? तब तो अपने को सर्वज्ञ या ईश्वर ही मानाना चाहिये। इसलिए और तरह के प्रत्यक्ष को तो पढ़ना भी बेकार हो जाना चाहिये। परन्तु इस तरह की आलोचना तर्क से दूर मालूम पड़ती है।इसीलिए उन आलोचकों का मुँह बन्द करने के लिए जयन्त भट्ट कहते है- 'सामान्य लक्षण से सब कुछ जान लेने अथवा सर्वज्ञ बनने की बात नहीं आती। सर्वज्ञ बनने के लिए तो प्रत्येक विषय और शास्त्र का विशेष ज्ञान चाहिये। पर सामान्य लक्षण (class perception) तो केवल एक सामान्य मात्रा का ही ज्ञान दिलाता है। अतः सामान्य लक्षण का प्रत्यक्ष किसी को सर्वज्ञ बनाने का दावा कभी नहीं करा सकता है।"

ज्ञान-लक्षण (Complicated Perception)

हम जानते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य को जानने या ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं। सभी इन्द्रियों की अपनी अलगअलग विशेषताएँ हैं। जैसे-आँख से देखना, कान से सुनना, जीभ से चखना, नाक से सूँघना और चमड़े से छूना- ये सभी अलगअलग क्रियाएँ मानी जाती है। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि किसी एक इन्द्रिय का काम दूसरी इन्द्रिय नहीं संभाल सकती है। जैसे 'देखना' काम आँख से ही संभव होता है-कान, नाक, जीभ या चमड़े से नहीं। उसी तरह और क्रियाओं के बारे में भी इसी तरह की बात कही जा सकती है। उस हालत में जब हमें एक इन्द्रिय से किसी दूसरी इन्द्रिय के विषय का अगर प्रत्यक्ष होगा तो यह असाधारण या अलौकिक प्रत्यक्ष होगा जिसे हम ज्ञानलक्षण (complicated के नाम से पुकारते हैं। उदाहरणरवरूप जब हम रबर या प्लास्टिक की बनी चीज या मक्खन या संगमरमर को देखते हैं तो उसे देखने के साथ ही उसमें चिकनाहट या मुलायमपन का भी प्रत्यक्ष हमें हो जाया करता है। अतः देखने के साथ चिकनाहट का भी प्रत्यक्ष होना एक असाधारण या अलौकिक बात है क्योंकि चिकनाहट या मुलायमपन का प्रत्यक्ष तो हमें चमड़े के स्पर्श से होना चाहिये, आँख से देखकर नहीं। फिर भी जब हम आँख से देखकर 'चिकनाहट का ज्ञान प्राप्त करें तो उस प्रत्यक्ष को हम ज्ञानलक्षण के नाम से ही पुकारेंगे। इस तरह के प्रत्यक्ष का आधार हमारा पहले का अनुभव रहता है। पहले जब हमने चिकनी चीज आँख से देखी होगी तो बाद में उस चमडे से छूकर चिकनाहट का भी अनुभव हमने प्राप्त किया होगा। इसलिए बाद में जब हम केवल देखते हैं, तो उसमें चिकनाहट का भी प्रत्यक्ष होने लगता है, और इसे तब हम ज्ञानलक्षण के नाम से पुकारते हैं। इस तरह के प्रत्यक्ष का नाम ज्ञानलक्षण इसलिए रखा मालूम पड़ता है कि इसके लिए पहले का ज्ञान भी जरूरी भाग है। अगर हमें किसी चिकनी चीज का ज्ञान कभी प्राप्त हुआ ही नहीं तो दूसरी चिकनी चीज को देखने से चिकनाहट का प्रत्यक्ष कर ही कैसे सकते है ?

इस तरह के ज्ञानलक्षण (complicated perception) के उदाहरण हमारे दैनिक या व्यावहारिक जीवन में भी बहुत मिल सकते हैं। अगर हमारी आँख के सामने कोई आदमी अचार का एक टुकड़ा या नींबू की निमकी लाकर रख देता है तो उसे देखते ही जीभ में से एक प्रकार का रस (saliva) निकलने लगता है और हम खट्टेपन का स्वाद भी जीभ में महसूस करने लगते हैं। स्वाद महसूस करना तो जीभ का काम है जो तभी संभव है जब कोई खाने की चीजमुँह में रखी गयी हो। अतः जीम में बिना रखे हुए ही कंवल आँख से देखने के बाद ही स्वाद का अनुभव करना ज्ञानलक्षण कहलायेगा।

उसी तरह गर्मी के दिनों में जब दूर ही से आग की लपटों को देखते हैं तो रोंगटे खड़े हो जाते है और देखने के बाद ही एक तरह की गर्मी का भी अनुभव करने लगते है। जाड़े के दिनों में बर्फ की एक छोटी चट्टान अगर हमारी आँख के सामने रख दी जाय तो हम सिहर जाते हैं और एक तरह से जाड़े का अनुभव करने लगते हैं। अतः ये सभी ज्ञानलक्षण के ही उदाहरण कहे जा सकते हैं जिनका रूप असाधारण या अलौकिक (extra ordinary) है।

योगज- प्रत्यक्ष (Intuitive Perception)- "योगज प्रत्यक्ष" का अर्थ होता है "योगज द्वारा प्राप्त प्रत्यक्षता"। यह एक संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ होता है कि योगज विद्या या योग माध्यम से प्राप्त हुई जानकारी या अनुभवित प्रत्यक्षता। "योगज" शब्द योग का विशेष रूप हो सकता है, और "प्रत्यक्ष" शब्द प्रमाण के रूप में उपयोग होता है, जिससे यह शब्दार्थ बनता है कि योग के माध्यम से प्राप्त हुई जानकारी या अनुभवित प्रत्यक्षता।

यह तीसरे प्रकार का प्रत्यक्ष है, इसकी व्यापक चर्चा हम अगली इकाई में करेंगे।

1.3.1 न्याय (वैदिक) दर्शनमें प्रत्यक्ष की अवधारणा

न्यायशास्त्र के विद्वान लोग तो पदार्थ की सत्ता को स्वयंसिद्ध (axioms) के रूप में मानते हैं। ये लोग बाहरी पदार्थ या वस्तु को बिल्कुल ही सत्य मानते हैं। अतः इस तरह की धारणा के कारण न्यायदर्शन में 'वस्तुवाद' का वर्णन पाया जाता है। इनके अनुसार ये सारी चीजें वास्तविक (real) है जिन्हें हम 'प्रत्यक्ष' से जान सकते हैं। न्यायशास्त्र के इस मत का विरोध वेदान्तदर्शन में मिलता है। वेदान्तदर्शन के महान विद्वान और अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक जगद्गुरु शंकराचार्य का कहना है कि दुनिया में जिन वस्तुओं या पदार्थों को हम देखते है वे सभी भ्रम (illusion) मात्र है 'माया' या अज्ञानता का चश्मा हमारी आँखों पर चढ़ा हुआ है, इसलिए दुनिया की बाहरी चीजें हमें वास्तविक मालूम पड़ती है। दरअसल दुनिया के सभी दिखाई पड़नेवाला पदार्थ अवास्तविक है। वास्तविक या सत्य तो केवल ब्रह्म है, जगत् बिल्कुल मिथ्या या झूठा है। इसी तरह की मिलती जुलती बात बौद्ध दर्शन में भी पायी जाती है। बौद्ध दर्शन भी 'विज्ञानवाद' का सहारा लेते हुए कहता है कि प्रत्यक्ष' केवल प्राप्त मानसिक संवेदना मात्र है, मन (mind) के बाहर किसी पदार्थ या वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। इसे शून्यवाद (nihilism) भी कहा जाता है जिनमें संसार एक बड़ा 'शून्य' (zero) है। संसार की सभी बाहरी वस्तुएँ एक तरह की कल्पना है अतः इन सभी मतों के विरोध के लिए हमें न्यायशास्त्र के मत का सहारा लेना पड़ता है जिसके द्वारा संसार के बाहरी पदार्थ का एक अलग अस्तित्व बतलाया गया है। संसार एक भ्रम, माया या स्वप्न नहीं है, बल्कि यह वास्तविक है-ऐसी बात जानने का सुअवसर न्यायशास्त्र के अध्ययन के बाद ही मिल पाता है।

1.3.2 अन्य वैदिक दर्शनों में प्रत्यक्ष

न्यायशास्त्र के विद्वानों का कहना है कि 'मन' (mind) कोई पदार्थ या द्रव्य का बना हुआ नहीं होता है अतः इसकी ज्ञानशक्ति भी विशेष प्रकार की होती है। यह सभी प्रकार के ज्ञान के बीच एक तरह का मेल करता रहता है। इसलिए इसे केन्द्रीय इन्द्रिय कहना चाहिये न्यायदर्शन की इस बात को **वैशेषिक, सांख्य और मीमांसादर्शन** भी मानते हैं केवल कुछ वेदान्तदर्शन के माननेवाले इस बात को नहीं मानते और कहते हैं 'मन' एक आन्तरिक ज्ञानेन्द्रिय हो सकता।

1.3.3 जैन और बौद्ध न्याय

जैन मत-

उमास्वाति (1-85 ए.डी.) अपनी पुस्तक तत्वार्थ-अधिगम सूत्र में प्रमाण को भिन्न ढंग से प्रस्तुत करते हैं। वह प्रमाण शब्द को दो भिन्न अर्थो वैध ज्ञान का अर्थ और वैध ज्ञान के साधन में ग्रहण करते हैं। प्रथम अर्थ में यह दो प्रकार परोक्ष (जैसे कि अनुस्मृत, संज्ञान, ग्रंथ, (युक्ति और अनुमान) और अपरोक्ष का होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान बिना किसी बाहय इन्द्रिय के हस्तक्षेप के सीधे आत्मा से प्राप्त होता है। योगिक ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान का उदाहरण है। सिद्धसेन दिवाकर न्यायवत्रा में प्रत्यक्ष को व्यवहारिक प्रत्यक्ष (व्यवहारिक आत्मा के द्वारा पंच इन्द्रियों और मन के माध्यम से प्राप्त ज्ञान) और पारमार्थिक प्रत्यक्ष (प्रबोधित आत्म द्वारा प्राप्त अनन्त ज्ञान) में वर्गीकृत करते हैं। जैन दार्शनिकों के अनुसार, व्यवहारिक प्रत्यक्ष की एक प्रक्रिया है और उसे विभिन्न अवस्थाओं के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। ये अवस्थाएं हैं; (1) अवाग्रह, विषयों,

मानव अथवा घोड़ा के मध्य बिना लक्षणों पर विचार किये भेद करना; (2) इहा, अनवेषण जैसे कि मानव कहा से आया है और घोड़ा किस देश से आया है: (3) अन्या, उपरोक्त की सही पहचान करना; और (4) धारणा, विषय का अनुग्रहण करना और उसे मन में विशेषीकरण करके रखना।

बौद्ध मत-

बौद्ध मानते हैं कि प्रत्यक्षात्मक संज्ञान को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। यदि कोई गाय देखता है और किसी दूसरे व्यक्ति को बताना चाहता है तो वह गाय के सटीक संज्ञान को उसे प्रदान नहीं कर सकता। यह ज्ञान निर्णय में निहित नहीं होता। इसके स्थान पर केवल गाय के विचार, नाम रंग आदि को ही बताया जा सकता है। फिर, समान गाय का पुनः प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता क्योंकि समानता स्मृति का विषय है और पुनः प्रत्यक्षित गाय दूसरे क्षण में प्रत्यक्षित दूसरी गाय होगी। यद्यपि, अनुमान के प्रकरण में गाय के संज्ञान को अच्छे ढंग से अभिव्यक्त और भाषा में सम्प्रेषित किया जा सकता है। न्यायिकों के प्रत्यक्ष विचार का परीक्षण करते हुए दिगनाग उनकी इस मान्यता का भी खण्डन करते हैं कि मन एक इन्द्रि है और इसलिये दर्द, सुख आदि भौतिक विषयों के समान ज्ञान के विषय नहीं हो सकते हैं।

बौद्ध दर्शन केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष से परे प्रत्यक्ष के व्यापक अर्थ को सूचित करता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा अंतर्ज्ञान है। प्रत्यक्ष जिसका एक प्रकार है। दूसरे प्रकार का अन्तर्ज्ञान बोद्धगम्य अंतर्ज्ञान भी होता है। साधारण मानव की पहुँच इस प्रकार की दृष्टि तक नहीं होती है। इसकी प्राप्ति केवल अर्हत. प्रबुद्ध को ही होती है। इस अन्तर्ज्ञान की झलक प्रत्येक प्रत्यक्ष के मूल में होती है। अनुचिन्तनात्मक विभाग ही सम्पूर्ण इन्द्रिय संवेदनों अथवा इन्द्रिय विभागों को प्रकाशित करता है।

1.4 सारांश

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द चार प्रमाण सामान्यतः प्रचलित हैं। गौतम ने प्रत्यक्ष को इन्द्रिय और अर्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न, अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक कहा है। प्रत्यक्ष एक प्रकार का ज्ञान है और आत्मा का एक गुण है। प्रत्यक्ष की उत्पत्ति आत्मा का मन से, मनस का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का वस्तु से निकटता से होती है। मनस् आन्तरिक ज्ञानेन्द्रिय है। चक्षु इत्यादि पाँच बाह्य इन्द्रियाँ हैं। गौतम ने जो परिभाषा दी है उसमें प्रत्यक्ष के केवल असाधारण कारण का ही उल्लेख है। और मनस् का संयोग सभी प्रकार के ज्ञानों का साधारण कारण है। 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष' से मनस्-इन्द्रिय-अर्थसन्निकर्ष अभिप्रेत है अगर मनस् का बाह्य इन्द्रियों से संयोग न प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। गौतम की परिभाषा में प्रत्यक्ष के दो प्रकारों का उल्लेख हुआ है- निर्विकल्प प्रत्यक्ष और सविकल्प प्रत्यक्ष उसमें यह भी उल्लेख है कि प्रत्यक्ष को यथार्थ चाहिए; इसे वस्तु के स्वरूप के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए।

मूलत: प्रत्यक्ष दो प्रकार: निविकल्प और सविकल्प, का होता है। पहले प्रकार का प्रत्यक्ष बाद वाले प्रत्यक्ष की पूर्व अवस्था होती है। सविकल्प प्रत्यक्ष नाम, गुण वाला होता है और इसे भाषा के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। कुछ भारतीय विचारकों के अनुसार, प्रत्यक्ष पूर्णतः इन्द्रिय संवेदन है और यह बौद्धिक निर्माण तत्वों से रहित है। प्रत्यक्ष को साधारण एवं असाधारण के रूप में भी वर्गीकृत किया जाता है। असाधारण विषयों अथवा सामान्यों के पूर्व ज्ञान के आधार पर गुणों का सम्वेदन है। योगज प्रत्यक्ष केवल सिद्ध पुरुषों को ही होता है। सत्

की विभिन्न कोटियों से संबंधित हमारा ज्ञान बहुत सीमा तक प्रत्यक्ष की प्रकृति अथवा अन्य ज्ञान के अनुरूप होता है। यद्यपि, कुछ निश्चित पदार्थों की प्रत्यक्षनीयता को लेकर वाद-विवाद अभी भी बना हुआ है।

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

प्रमा- सत्य/यथार्थ ज्ञान

प्रमाण- सत्य ज्ञान के साधन

सन्निकर्ष- इन्द्रियों और उनके विषय के मध्य सम्पर्क। यह छः प्रकार का होता है; 1) संयोग-बर्तन एवं आँखों के मध्य सम्पर्क; 2) संयुक्त समवाय-बर्तन के रंग के प्रत्यक्ष में आँख एवं वर्तन के मध्य सम्पर्क होता है और रंग बर्तन में समवाय सम्बंध से रहता है; 3) संयुक्त समवेत समवाय-रंगपन (रंगीनता) का प्रत्यक्ष; 4) समवाय- वर्तन में रंग समवाय सम्बंध से रहा है; 5) समवेत समवाय-बर्तन में रंग और रंग में रंगीनता के संम्बंध का प्रत्यक्ष; 6) विशेषण विशेष्यभाव-किसी विषय के अभाव के ज्ञान में हम विषय के अभाव का ज्ञान विशेषण विशेष भाव के आधार पर ग्रहण करते हैं। किन्तु वे भारतीय दर्शन जो अभाव के ज्ञान के लिए अनुपलब्धि को ज्ञान का स्वतन्त्र साधन मानते हैं, वे ऐसे किसी सम्पर्क अथवा सन्निकर्ष को स्वीकार नहीं करते हैं।

करण- उपकरण

निर्विकल्प प्रत्यक्ष- तात्कालिक ज्ञान

सविकल्प प्रत्यक्ष- निश्चित प्रत्यक्ष

प्रत्यभिज्ञा- पहचान

योगज प्रत्यक्ष –योगियों को होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान

षड्दर्शन-छः आस्तिक दर्शन

1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. राधाकृष्णन एस. भारतीय दर्शन,राजपाल एंड संस नई दिल्ली
2. अनम् भट्ट,तर्कसंग्रह, स्वनिर्मित दीपिका सहित, एवं नीलकण्ठी तथा भास्करोदया व्याख्या समेत निर्णयसागर प्रेस बम्बई
3. तर्कसंग्रहदीपिका, अंग्रेज़ी भूमिका एवं अनुवाद सहित, अठल्ये एवं बोडास द्वारा सम्पादित, द्वि. सं. बम्बई, 1930
4. तत्त्वचिन्तामणि (इस पर रघुनाथ शिरोमणि की दीधिति तथा उस पर जगदीशी और गदाधारी व्याख्याये गङ्गेश उपाध्याय
5. वैशेषिक-सूत्र कणाद
6. प्रशस्तपाद पदार्थधर्मसंग्रह (वैशेषिकसूत्रभाष्य), सम्पा, ढुण्डिराज शास्त्री, काशी सं.सी., बनारस न्यायकन्दली (प्रशस्तपादभाष्य-टीका), सम्पा, विन्ध्येश्वरी प्रसाद श्रीधरद्विवेदी, बनारस अग्रेजी अनुवाद, गङ्गानाथ झा, बनारस

7. उदयन किरणावली (प्रशस्तपादभाष्य टीका) सम्पा. शिवचन्द्र सार्वभौम विति इण्डिका, कलकत्ता 1911

8. Satish Chandra... A History of Indian Logic, Calcutta, 1921

9. VidyabhusanaSadanand Studies in Nyāya-Vaisesika Metaphysics, B.OR. Bhaduri Jawala Prasad I., Poona, 1947

10. S. S. Barlingay A Modern Introduction to Indian Logic, National Publ. House, Delhi, 1965

11. S. C. Chatterjee . The Nyāya Theory of Knowledge, 2nd ed., Univ. of Calcutta, 1950

12. J. Sinha D. H. H. Ingalls Materials for the Study of Navya-Nyaya Logic, Indian Realism, Kegan Paul, London, 1938

13. HarvUrd Oriental Series, 1951 Navya Nyāya System of Logic, Bharatiya Vidya Dinesh Chandra ...... Guha Prakashan, VUranasi, 1968

1.7 बोध प्रश्न

1. प्रत्यक्ष के अर्थ को बतलायें। यह सही ज्ञान को प्राप्त कराने में कहाँ तक योग्य है ?
2. प्रमाण शब्द की व्याख्या करें। उसमें प्रत्यक्ष के स्थान और महत्त्व को बतायें।
3. क्या प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करने का एक साधन है। गौतम उसका वर्णन कैसे करते हैं?
4. ज्ञानेद्रियों से क्या समझते हैं? प्रत्यक्ष में उनका क्या काम रहता है?
5. पदार्थ और सन्निकर्ष से क्या समझते हैं? क्या वे प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक है ?
6. प्रत्यभिज्ञा पर एक आलोचनात्मक नोट लिखें।
7. अलौकिक प्रत्यक्ष से क्या समझते हैं? लौकिक प्रत्यक्ष से उसका क्या भेद है?
8. अलौकिक प्रत्यक्ष से क्या समझते हैं? इसके विभिन्न भेद क्या है? उदाहरण दें।
9. निम्नलिखित की व्याख्या करें
    a) सामान्य लक्षणं
    b) ज्ञान लक्षण
    c) योगज
10. प्रत्येक प्रत्यक्ष में इन्द्रिय के साथ वस्तु का सन्निकर्ष आवश्यक है। क्या यह मत भारतीय तर्कशास्त्र में सही माना जाता है?

इकाई 2 प्रत्यक्ष प्रमाण के साधन एव सीमाएं

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन का लेने पर आप-

- भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप और सीमाओ से परिचित होंगे।
- प्रत्यक्ष प्रमाण के साधनों के के विषय में जानेंगे।
- इन्द्रिय संनिकर्ष से प्रत्यक्ष कैसे होता है ,इसे समझेंगे
- योगज प्रत्यक्ष के स्वरुप को जानेंगे
- भारतीय दर्शन का प्रत्यक्ष कैसे पश्चिमी प्रत्यक्ष की अवधारणा से अलग है

2.1 प्रस्तावना

आत्मा, मन और इंद्रिय का संयोग रूप जो ज्ञान का करण वा प्रमाण है वही प्रत्यक्ष है। वस्तु के साथ इंद्रिय- संयोग होने से जो उसका ज्ञान होता है उसी को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। यह प्रमाण सबसे श्रेष्ठ माना जाता है।

गौतम ने न्यायसूत्र में कहा है कि इंद्रिय के द्वारा किसी पदार्थ का जो ज्ञान होता है, वही प्रत्यक्ष है। जैसे, यदि हमें सामने आग जलती हुई दिखाई दे अथवा हम उसके ताप का अनुभव करें तो यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि 'आग जल रही है'। इस ज्ञान में पदार्थ और इंद्रिय का प्रत्यक्ष संबंध होना चाहिए. प्राचीन नैय्यायिकों के अनुसार-

1. निर्विकल्प प्रत्यक्ष (Indeterminate Perception): "निर्विकल्प प्रत्यक्ष" एक दार्शनिक और ज्ञानशास्त्रिय अवधारणा है जिसका मुख्य अर्थ होता है एक प्रकार की अविवक्त या अपरिभाषित प्रत्यक्षता। यह अवधारणा विशेषत: आध्यात्मिक और मानसिक अनुभव

को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होती है।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष में व्यक्ति बिना किसी विचार, लक्षण या अपेक्षा के अपने अनुभव को प्राप्त करता है। यह अनुभव विशेषत: मानसिक शांति, उदासीनता, अथवा आध्यात्मिक समृद्धि की अवस्था को सूचित करता है जिसमें मन की विचार-मात्र अवशिष्ट रहती है।

इस प्रत्यक्षता में, व्यक्ति केवल अपने अंतरात्मा के साथ एकत्रित होता है और यह अनुभव शब्दों या भाषाओं में व्यक्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि वह अविवक्त और अपरिभाषित होता है।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष का अर्थ यह भी हो सकता है कि व्यक्ति बिना किसी पूर्विक ज्ञान या संवेदना के कुछ नया और असामान्य अनुभव करता है, जिसका वर्णन करने के लिए उपलब्ध शब्द नहीं होते हैं।

समग्रता में, निर्विकल्प प्रत्यक्ष एक अद्वितीय और अपरिभाषित अनुभव को सूचित करती है जो व्यक्ति के अंतरात्मा और आध्यात्मिकता के साथ जुड़े होते हैं।

जो ज्ञान विकल्प के बिना होता है उसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं। (विकल्प: द्रव्य, जाति, गुण, क्रिया) यह ज्ञान प्राप्त करणे कि प्राथमिक अवस्था है। "निर्विकल्प प्रत्यक्ष" का अर्थ होता है "अविवक्त प्रमाण" या "निर्विकल्पित अनुभव"। यह एक तथ्य है कि जब हम किसी विशेष नाम, रूप, गुण या सिद्धांत को अपने अनुभव में नहीं लाते हैं और अनुभव केवल प्रत्येक और अविवक्त होता है, तो उसे "निर्विकल्प प्रत्यक्ष" कहा जाता है। इसमें कोई भी विशेष विचार, नामकरण या वर्णन नहीं होता है, बल्कि यह अनुभव सीधे और प्राथमिक रूप में होता है। यह अवस्था ध्यान और मेधा जैसे मानसिक प्रक्रियाओं के द्वारा पहुँची जा सकती है, जब मन के संवेदनशील लेवल पर विचार नहीं होते हैं और केवल साक्षात्कार का अनुभव होता है।

2. सविकल्प प्रत्यक्ष (Determinate Perception): यह ज्ञान विकल्प के सहित होता है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष के अनिश्चित ज्ञान से सविकल्प प्रत्यक्ष का निश्चित ज्ञान होता है। "सविकल्प प्रत्यक्ष" का अर्थ होता है "सविकल्पित प्रमाण" या "सविकल्पित अनुभव"। यह दृष्टिकोण उस समय होता है जब हम अपने प्रत्यक्ष अनुभव में विचार, नाम, रूप, गुण, अर्थ और सिद्धांतों को शामिल करते हैं। इसका मतलब होता है कि हम अपने दृष्टिकोण में विचारों और संवेदनाओं को संलग्न करके प्राप्त जानकारी को एक संवेदनशील संरचना में बाँधते हैं।

   इस अवस्था में, हम अपने प्रत्यक्ष अनुभव को बाहरी प्रमाणों, नामकरण, वर्णन और संवेदनाओं के माध्यम से वर्गीकृत करते हैं, जिससे हम उसे स्पष्ट और व्यवस्थित तरीके से समझ सकते हैं। यह एक प्रकार का विचारमय प्रमाण होता है जिसमें मानसिक प्रक्रियाएं और भाषा का प्रयोग होता है।

नव नैय्यायिकों के अनुसार-

1. लौकिक प्रत्यक्ष (Ordinary Perception): "नव्य न्याय" के अनुसार "लौकिक प्रत्यक्ष" द्वारा सामान्य अनुभव की उपयुक्तता और तत्वप्रत्यक्ष के संबंध में विचार किए गए हैं। नव्य न्याय एक प्रमुख भारतीय तर्कशास्त्र है जिसमें शब्द और अर्थ के संबंध को गहराई से

विचार किया जाता है।

नव्य न्याय के अनुसार, "लौकिक प्रत्यक्ष" द्वारा प्राप्त अनुभव में हम वास्तविकता को सीमित रूप से जान सकते हैं, क्योंकि इसमें निरन्तरता और स्थिरता की कमी हो सकती है। लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा हम विशेष अवस्थाओं में उत्पन्न होने वाले अनुभवों को सीमित समय तक ही जान सकते हैं और उन्हें सबसे स्थायी और निर्णायक नहीं माना जा सकता है।

विरोधाभास (द्वन्द्विता) का भी मामूल्यांकन किया गया है, जिसका अर्थ है कि एकीकृत अनुभव और इन्द्रियगत अनुभव के बीच का संबंध विचार आवश्यक है। नव्य न्याय के अनुसार, सभी प्रत्यक्ष अनुभव निरंतर और निर्भिन्न होते हैं, लेकिन उनका विशेष तत्वविशेषण भिन्न हो सकता है।
इस प्रकार, नव्य न्याय के दृष्टिकोण से "लौकिक प्रत्यक्ष" का महत्वपूर्ण योगदान उन्हें विचारशीलता और स्थायिता के साथ देखने में होता है, और उसके सीमाओं और संरक्षितता को समझने में मदद करता है।

इस प्रत्यक्ष मे इंद्रिय और अर्थ इन के संन्निकर्ष से ज्ञान उत्पन्न होता है। इन मे संन्निकर्ष के छः प्रकार माने गये है। संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय, विशेषणविशेष्यभाव।

2. अलौकिक प्रत्यक्ष (extraordinary Perception): "नव्य न्याय" के संदर्भ में "अलौकिक प्रत्यक्ष" का विचार करते समय, यह महत्वपूर्ण होता है कि अत्यधिक और अद्भुत अनुभवों की व्यापकता और वैशिष्ट्य को कैसे समझा जाता है।

नव्य न्याय दर्शनिक दृष्टिकोण है जिसमें विचारशीलता, तर्कशक्ति, और अन्य तर्क-प्रत्यापन के माध्यम से विचार किया जाता है। "अलौकिक प्रत्यक्ष" के अनुसार, यदि किसी व्यक्ति द्वारा एक विशिष्ट अनुभव का वर्णन किया जाता है जो आम प्रत्यक्षता से अलग है, तो उसकी उपयुक्तता और महत्व का विचार किया जाता है।

नव्य न्याय के अनुसार, "अलौकिक प्रत्यक्ष" के विचार को द्विधा किया जाता है: "स्वत: प्रत्यक्ष" और "परोक्ष प्रत्यक्ष"। "स्वत: प्रत्यक्ष" में, व्यक्ति व्यक्तिगत अनुभवों का आश्रय लेता है जो अन्योन्यरहित और अद्भुत हो सकते हैं, जैसे कि ध्यान, अवसाद, आदि। "परोक्ष प्रत्यक्ष" में, अन्य व्यक्तियों द्वारा वर्णित अनुभवों का आश्रय लिया जाता है, जो सामान्य प्रत्यक्षता से अलग हो सकते हैं, जैसे कि देवी के दर्शन या अन्य अद्भुत घटनाएँ।

नव्य न्याय के दृष्टिकोण से, "अलौकिक प्रत्यक्ष" की प्रामाणिकता और विचारशीलता की जाँच की जाती है, और उसका संवेदनशीलता और प्रामाणिकता के साथ तात्पर्य निकाला जाता है।

इस प्रत्यक्ष मे तीन प्रकार माने गये है - सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण, योगज।

प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन के रूप में ज्ञान के करण की विस्तार से चर्चा हम आगे करेंगे

2.1 प्रत्यक्ष प्रमाण के साधन

पिछले इकाई में हमने देखा कि प्रत्यक्ष' से ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन्द्रिय और पदार्थ का सन्निकर्ष आवश्यक रहता है, परन्तु हमें ऐसा भी देखने को मिलेगा कि कभीकभी इन्द्रिय और

पदार्थ का सन्निकर्ष भी प्रत्यक्ष ज्ञान को पैदा नहीं कर सकता। मान लिया कि हम एक जासूसी उपन्यास को पढ़ने में डूब गये हैं. उस समय हमारे सामने हमारा छोटा भाई खेलते हुए आता है और चला भी जाता है। हमारी आँखे अगर उन्हें देख भी लेती है तो उसका ज्ञान नहीं हो पाता है क्योंकि हमारा मन उधर नहीं रहता है वह तो किताब में डूबा रहता है, इसलिए मन का सहयोग नहीं हो तो केवल इन्द्रिय और पदार्थ सन्निकर्ष के

ज्ञान को पैदा नहीं कर सकता है। मन को हम इन्द्रिय और 'आत्मा' के बीच एक दूत का काम करते पाते है। इन्द्रिय वस्तु का ज्ञान लेकर आती है तो 'मन' उसे अपनाकर आत्मा पहुँचा देता है। इसीलिए 'वात्स्यायन' मुनि का कहना है कि प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान के लिए तीन सीढ़ियाँ हैं।

1. विषय वस्तु के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होना।
2. इन्द्रिय (organ) के साथ मन (mind) का सम्बन्ध होना।
3. मन (mind) के साथ आत्मा (soul) का सम्बन्ध होना।

इन तीनों क्रियाओं के बाद ही प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है।

संक्षेप में, इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि 'वस्तु' या पदार्थ के साथ सम्पर्क होने से जो अनुभव प्राप्त होता है उसे प्रत्यक्ष' कहते हैं। प्रत्यक्ष के इस लक्षण को अधिकतर भारतीय विद्वान स्वीकार करते हैं। यहाँ तक कि पश्चिम के विद्वान् भी उसे मानने में आनाकानी नहीं करते हैं। पर न्यायशास्त्र के कुछ विद्वान् और वेदान्त के कुछ विद्वान इस बात को नहीं मानते और इसका खंडन करते हैं। इन लोगों का कहना है कि वस्तु से इन्द्रिय के बिना सम्बन्ध के भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। उदाहरणस्वरूप ईश्वर को प्रत्यक्ष का ज्ञान होता है, पर उन्हें कोई भी इन्द्रिय नहीं है। अन्धेरी रात में जब हम रस्सी' को सौंप समझ लेते हैं तो वहाँ पर इन्द्रिय संयोग का अभाव ही रहता है क्योंकि वहाँ तो वस्तु के रूप में साँप तो रहता ही नहीं है जिसके साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध हो। इसके अलावा सुख, दुःख आदि अनुभव तो बिना इन्द्रियसंयोग से होते हैं। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय और वस्तु का सम्पर्क हमेशा ही प्रत्यक्ष ज्ञान को पैदा करने का दावा नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष ज्ञान किसी के कहे हुए शब्दों द्वारा नहीं होता, इसी से उसे 'अव्यपदेश्य' कहते हैं। प्रत्यक्ष को अव्यभिचारी इसलिये कहते हैं कि उसके द्वारा जो वस्तु जैसी होती है उसका वैसा ही ज्ञान होता है। कुछ नैयायिक इस ज्ञान के करण को ही प्रमाण मानते हैं। उनके मत से 'प्रत्यक्ष प्रमाण' इंद्रिय है, इंद्रिय से उत्पन्न ज्ञान 'प्रत्यक्ष ज्ञान' है। पर अव्यपदेश्य पद से सूत्रकार का अभिप्राय स्पष्ट है कि वस्तु का जो निर्विकल्पक ज्ञान है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के करण (अर्थात प्रत्यक्ष प्रमाण) तीन हैं

1) इंद्रिय,
2) इंद्रिय का संबंध और
3) इंद्रियसंबंध से उत्पन्न ज्ञान

पहली अवस्था में जब केवल इंद्रिय ही करण हो तो उसका फल वह प्रत्यक्ष ज्ञान होगा जो किसी पदार्थ के पहले पहल सामने आने से होता है। जैसे, वह सामने कोई चीज दिखाई देती है। इस ज्ञान को 'निर्विकल्पक ज्ञान' कहते हैं। दूसरी अवस्था में यह जान पड़ता है कि जो चीज सामने है, वह पुस्तक है। यह 'सविकल्पक ज्ञान' हुआ। इस ज्ञान का कारण इंद्रिय का संबंध है। जब इंद्रिय के संबंध से उत्पन्न ज्ञान करण होता है, तब यह ज्ञान कि यह किताब अच्छी है

अथवा बुरी है, प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। यह प्रत्यक्ष ज्ञान 6 प्रकार का होता है -

1) चाक्षुष प्रत्यक्ष, जो किसी पदार्थ के सामने आने पर होता है। जैसे, यह पुस्तक नई है।
2) श्रावण प्रत्यक्ष, जैसे, आँखें बंद रहने पर भी घंटे का शब्द सुनाई पड़ने पर यह ज्ञान होता है कि घंटा बजा
3) स्पर्श प्रत्यक्ष, जैसे बरफ हाथ में लेने से ज्ञान होता है कि वह बहुत ठंढी है।
4) रसायन प्रत्यक्ष, जैसे, फल खाने पर जान पड़ता है कि वह मीठा है अथवा खट्टा है।
5) घ्राणज प्रत्यक्ष, जैसे, फूल सूँघने पर पता लगता है कि वह सुगंधित है। और
6) मानस प्रत्यक्ष जैसे, सुख, दुःख, दया आदि का अनुभव।

प्रत्यक्ष से किसी ज्ञान को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे सामने कोई पदार्थ, वस्तु या द्रव्य हो जब हमारे सामने 'आम' रहेगा तभी हमें किसी तरह उसका प्रत्यक्ष भी हो सकता है। अगर सामने कोई पदार्थ या वस्तु ही नहीं रहे तो केवल ज्ञानेन्द्रियों हवा में से प्रत्यक्ष का निर्माण नहीं कर सकती हैं। अतः प्रत्यक्ष के लिए बाहरी पदार्थ या वस्तु का रहना अत्यन्त ही आवश्यक है। वैशेषिक- न्याय दर्शन में सात पदार्थ बताये गये हैं: द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। अतः इन सबों में विशेष स्थान द्रव्य को ही दिया जाता है क्योंकि उसके बाद गुण, कर्म, सामान्य आदि जितने हैं, सभी द्रव्य पर आश्रित रहते हैं। अतः द्रव्य से अलग उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है।

न्यायशास्त्र के विद्वान लोग तो पदार्थ की सत्ता को स्वयंसिद्ध (axioms) के रूप में मानते हैं। ये लोग बाहरी पदार्थ या वस्तु को बिल्कुल ही सत्य मानते हैं। अतः इस तरह की धारणा के कारण न्यायदर्शन में 'वस्तुवाद' का वर्णन पाया जाता है। इनके अनुसार ये सारी चीजें वास्तविक (real) है जिन्हें हम 'प्रत्यक्ष' से जान सकते हैं। न्यायशास्त्र के इस मत का विरोध वेदान्तदर्शन में मिलता है। वेदान्तदर्शन के महान विद्वान और अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक जगद्गुरु शंकराचार्य का कहना है कि दुनिया में जिन वस्तुओं या पदार्थों को हम देखते है वे सभी भ्रम (illusion) मात्र है 'माया' या अज्ञानता का चश्मा हमारी आँखों पर चढ़ा हुआ है, इसलिए दुनिया की बाहरी चीजें हमें वास्तविक मालूम पड़ती है। दरअसल दुनिया के सभी दिखाई पड़नेवाला पदार्थ अवास्तविक है। वास्तविक या सत्य तो केवल ब्रह्म है, जगत् बिल्कुल मिथ्या या झूठा है। इसी तरह की मिलती जुलती बात बौद्ध दर्शन में भी पायी जाती है। बौद्ध दर्शन भी 'विज्ञानवाद' का सहारा लेते हुए कहता है कि प्रत्यक्ष' केवल प्राप्त मानसिक संवेदना मात्र है, मन (mind) के बाहर किसी पदार्थ या वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। इसे शून्यवाद (nihilism) भी कहा जाता है जिनमें संसार एक बड़ा 'शून्य' (zero) है। संसार की सभी बाहरी वस्तुएँ एक तरह की कल्पना है अतः इन सभी मतों के विरोध के लिए हमें न्यायशास्त्र के मत का सहारा लेना पड़ता है जिसके द्वारा संसार के बाहरी पदार्थ का एक अलग अस्तित्व बतलाया गया है। संसार एक भ्रम, माया या स्वप्न नहीं है, बल्कि यह वास्तविक है-ऐसी बात जानने का सुअवसर न्यायशास्त्र के अध्ययन के बाद ही मिल पाता है।

सन्निकर्ष (contact) सन्निकर्ष" का शाब्दिक अर्थ होता है "स्पर्श" या "संबंध"। यह एक संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ अलग-अलग विषयों में था, परंतु सामान्यत: यह स्पर्श के माध्यम से वस्तुओं के बीच का संबंध या जुड़ाव का वर्णन करता है।

जब हम किसी वस्तु को स्पर्श करते हैं, तो हमारे इंद्रियों के माध्यम से हमारे ब्रह्मण्ड के बाहरी वातावरण से संबंध बनता है। इसी तरह, सन्निकर्ष से हम विश्व के आदिकाल से ही आपसी संबंधों का अनुभव करते हैं, और यह हमारे अनुभव की बाजारी बनाता है।

सन्निकर्ष का अर्थ ब्रह्मण्ड के विविध प्रतिष्ठानों में भी हो सकता है, जैसे कि विभिन्न ग्रहों के संबंध में आकाशीय संबंध या युगों के परिपाटी संबंध।

यह शब्द दार्शनिक और वेदांतिक विचारधाराओं में भी उपयोग होता है जिसमें यह स्पर्श के माध्यम से आत्मा और ब्रह्म के संबंध का संकेत कर सकता है।

कुल मिलाकर, "सन्निकर्ष" का शाब्दिक अर्थ होता है स्पर्श या संबंध, और यह विभिन्न संदर्भों में अपना उपयोग करता है। पदार्थों या वस्तुओं के साथ इन्द्रियों का जो सम्बन्ध होता है उसे सन्निकर्ष (Contact) कहते हैं। जैसे आँख का प्रकाश जब किसी पदार्थ से टकराता है तो वह प्रकाश उसका प्रभाव और संस्कार लेकर लौटता है। शब्द तभी उत्पन्न समझा जाता है जबकि वायु की तरंगें कान से आकर टकराती हैं। उसी तरह किसी पदार्थ की गंध अच्छी या खराब अणु के रूप में उड़कर नाक की नलियों में प्रवेश करती है तभी 'प्राणज प्रत्यक्ष भी होता हैं। स्पर्श का प्रत्यक्ष हमारे चमड़े के साथ सम्पर्क से होता है स्वाद का भी तभी हो पाता है जब किसी खाने की वस्तु का सम्पर्क हमारी जीम से होता है।

पदार्थ का इन्द्रिय (organs) के साथ जो सन्निकर्ष (contact) होता है। उसे छः प्रकार का माना गया है जो निम्नलिखित है-

1. संयोग दो पदार्थों का वह सन्निकर्ष या सम्बन्ध जो टूट सकता है। अथवा अलग हो सकता है, संयोग कहलाता है। जैसे, जब हम आँख से आम को देखते हैं तो वह संयोग कहलायेगा क्योंकि 'आँख और 'आम के बीच का सम्बन्ध स्थायी नहीं कहा जा सकता। आम हटा लेने से वह सन्निकर्ष भी टूट जाता है।

2. संयुक्त समवाय: दो पदार्थों का वह सम्बन्ध या सन्निकर्ष अलग नहीं हो सकता. संयुक्त समवाय कहलाता है। जैसे, जब हम दूध देखते है तो उसका उजला रंग भी देखते है यहाँ हमारी इन्द्रिय कासम्बन्ध होता है दूध से और दूध का सम्बन्ध है उजलापन से इस तरह इन्द्रिय से मिला हुआ दूध पदार्थ का प्रत्यक्ष उसके उजले रंग के साथ होता है जिसे हम अलग नहीं कर सकते। यहाँ आँख के साथ उजलापन का जो सन्निकर्ष है उसे संयुक्त समवाय कहते हैं।

3. संयुक्त समवेत समवाय आँख से जब हमारा सम्बन्ध दूध के 'उजलापन' से होता है तो हम यह भी देखते हैं कि उजले रंग में सामान्य जाति भी समवेत रूप में वर्तमान है इसलिए दूध के उजलेपन के साथ जो उजलेपन की जाति का सम्बन्ध रहता है उसे संयुक्त समवेत समवाय कहेंगे।

4. समवाय : आकाश का गुण शब्द है। आकाश के साथ शब्द का जो सम्बन्ध रहता है उसे समवाय कहेंगे। आकाश एक ही है। कान भी एक तरह का आकाश ही है, अतः उसमें भी शब्द समवेत रूप से पाया जायगा। इसलिए शब्द का कान के साथ जो सम्बन्ध है उसे हम संयोग का सम्बन्ध नहीं कह सकते हैं क्योंकि दोनों के साथ समवाय का सम्बन्ध है। अतः सुनने के समय जो प्रत्यक्ष होता है, उस समय इन्द्रिय का शब्द के साथ जो सम्बन्ध या सन्निकर्ष होगा उसे समवाय कहेंगे।

5. समवेत समवाय शब्द में उसकी जाति (शब्दत्व) समवेत रहता है। जब हम कोई शब्द सुनते हैं तब यह जाति शब्दत्व भी प्रत्यक्ष होता है। समवेत पदार्थ (शब्द) में जिसका समवाय है उसके साथ भी इन्द्रिय का सन्निकर्ष (contact) होता है। इस सम्बन्ध को समवेत समवाय' कहते हैं।

6. विशेष्य- विशेषण भाव जब हम किसी वस्तु का अभाव देखते है तो स्वतः अभाव दिखाई नहीं पड़ता। अभाव के साथ मिला हुआ कोई आधार दिखाई है; जैसे घड़ा नहीं है कहने के लिए यह जानना होता है कि जमीन पर घड़ा नहीं है। यहाँ जमीन घड़े के अभाव से युक्त है यहाँ जमीन, विशेष्य है और घड़ा का अभाव विशेषण। इस तरह विशेष्य के साथसाथ उसका विशेषण भी हम देखते हैं।

2.1.1 इन्द्रिय प्रत्यक्ष

इन्द्रिय (organ)-

विद्वानों ने बताया है कि इन्द्रियों दो प्रकार की होती है: (क) कर्मेन्द्रिय (action organs) और (ख) ज्ञानेन्द्रिय (Sense organs) |

शरीर के वे भाग, जिनसे किसी काम या क्रिया के होने में सहायता मिलती है. कर्मेन्द्रिय कहलाते हैं, जैसे हाथ, पैर आदि।

दूसरी ओर शरीर के वे हिस्से हैं जिनसे ज्ञान की प्राप्ति होती है, उन्हें हम ज्ञानेन्द्रियाँ (Sense organs) कहते है; जैसे-आँख, कान, नाक, जीभ और चमड़े।

आँख से देखने के बाद जो प्रत्यक्ष होता है उसे 'चाक्षुस् प्रत्यक्ष' (visual perception) कहते हैं कान से सुनकर जो प्रत्यक्ष होता है उसे 'श्रावणप्रत्यक्ष(auditory perception) कहते है, नाक से सूँधकर जो प्रत्यक्ष होता है उसे घ्राणज प्रत्यक्ष' (olfactory perception) कहते हैं. जीभ से चखने के बाद जो प्रत्यक्ष होता है उसे रासनप्रत्यक्ष' (taste perception) कहते हैं और छूकर जो 'प्रत्यक्ष' होता है उसे त्वाचिक प्रत्यक्ष' (tactual perception) कहते हैं। इसके अलावा न्यायशास्त्र में मन (mind) को छठी ज्ञानेन्द्रिय बतलाया गया है। मन बाहरी ज्ञानेन्द्रिय नहीं है इसलिए बाहर से इसे हम देख नहीं पाते। 'मन' को एक भीतरी ज्ञानेन्द्रिय माना गया है। सुख, दुख, इच्छा, प्रेम आदि का ज्ञान तो 'मन' के द्वारा ही प्राप्त होता है।

प्रत्यक्ष के इस विश्लेषण को देखने के बाद हम यह नहीं कह सकते कि एक समय में एक ही तरह का प्रत्यक्ष होता है, बल्कि एक समय में दो, तीन या पाँचों तरह का प्रत्यक्ष हो सकता है। जैसे, मान लें कि हमारे सामने एक आम (mango) है। आँख के द्वारा जब उसका रंग और आकार देखते हैं, तो चाक्षुस् प्रत्यक्ष (visual perception) होता है, हाथ में उसे जब लेकर छूते हैं तो वह मुलायम यो कड़ा मालूम पड़ता है यह त्वाचिक प्रत्यक्ष' (tactual perception) होगा। जब उसे नाक के पास ले जाकर सूंघते हैं तो यह घ्राणज प्रत्यक्ष' (olfactory perception) होता है, उसके एक टुकड़े को काटकर जब हम जीभ पर रखते हैं तो यह रासन प्रत्यक्ष' (taste perception) होता है. खाने के समय जब जीभ और तालू में संघर्ष होता है तो उससे एक शब्द पैदा होता है जिसे हम सुनते हैं - यह श्रावण (auditory perception) होगा। अतः एक ही समय सभी तरह के प्रत्यक्ष संभव हो सकते हैं।

2.1.2 योगज प्रत्यक्ष

यह तीसरे प्रकार का (extra ordinary) प्रत्यक्ष है। हम जानते है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति सीमित है आँख से कुछ ही दूर की चीजों को हम देख सकते हैं. बहुत दूर की चीजों को भी आँख से देख पाना असम्भव है। हम पटना में बैठकर आँख को खूब खोलकर भी अगर देखेंगे तो भी दिल्ली में स्थित चीजों को नहीं देख सकते। मतलब यह है कि आँख के लिए एक निर्धारित क्षेत्र है, जहाँ तक की चीजों को हम देख सकते हैं और उसके बाद की चीजों को आँखें नहीं देख पाती। यही हालत कान के लिए भी है। कान से भी कुछ सीमित क्षेत्र की बातों को सुना जा सकता है बहुत दूर की चीजें सुनाई नहीं पड़ती। यही हालत जीभ, नाक और चमड़े के लिए भी है। उनके द्वारा सीमित क्षेत्र का ही प्रत्यक्ष हो सकता है। इसलिए एक ऐसा प्रत्यक्ष, जो भूत, वर्तमान, भविष्य के गूढ़ (complex) तथा सूक्ष्म (minute), निकट या दूरस्थ- सभी प्रकार की वस्तुओं की साक्षात् अनुभूति करा सके, उसे हम योगज प्रत्यक्ष (intuitive perception) कहेंगे। योग या अन्तर्ज्ञान (intuition) एक शक्ति है जिसे हम बढ़ाघटा सकते हैं। यह शक्ति जब बढ़ जाती है तो हम दूर की चीजें तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म चीजों को भी प्रत्यक्ष कर पाते हैं और इस तरह के प्रत्यक्षकों योगज प्रत्यक्ष' कहते हैं।

योग की अनुभूति केवल उन्हीं व्यक्तियों को हो सकती है जिन्होंने अपने अभ्यास के बल पर योग की अलौकिक शक्ति प्राप्त कर ली हो। अतः योगज एक ऐसा प्रत्यक्ष है जिनका ज्ञान सबों को नही हो सकता। जो मनुष्य योग में पूरे सिद्ध हो जाते हैं उन्हें योगज प्रत्यक्ष की शक्ति भी आपने आप चली आती है। उस शक्ति का नाश भी साधारणतः नहीं होता है। ऐसे व्यक्ति जो योगज प्रत्यक्ष की शक्ति को प्राप्त कर लेते हैं. युक्त कहलाते हैं। बहुतों को योग प्राप्ति की क्रिया में पूरी सफलता नहीं मिल सकती है; इसके बदले में कुछ ही अंश में वे सफलीभूत पाये जाते हैं। ऐसे व्यक्ति को युजान' कहते है। युंजान की अवस्था में जो मनुष्य होते हैं उन्हें योगज़ की शक्ति आप से ही आप प्राप्त भी होती। उसके लिए उन्हें कुछ ध्यान धारण (meditation) की आवयश्यकता होती है

2.3 प्रत्यक्ष प्रमाण की सीमाएं

भारतीय दर्शन में, प्रत्यक्ष (धारणा) को ज्ञान प्राप्त करने के प्राथमिक साधनों में से एक माना जाता है। हालांकि, किसी भी अन्य ज्ञान मीमांसा प्रणाली की तरह, प्रत्यक्ष प्रमाण (अवधारणात्मक ज्ञान) की भी अपनी सीमाएँ हैं। भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण की कुछ सीमाएं इस प्रकार हैं:

1. विषयपरकता: धारणा स्वाभाविक रूप से व्यक्तिपरक है क्योंकि यह संवेदी अंगों और बाहरी उत्तेजनाओं की व्याख्या करने की उनकी क्षमता पर निर्भर करती है। अलग-अलग व्यक्ति अपनी संवेदी क्षमताओं, संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं और पिछले अनुभवों के आधार पर एक ही वस्तु को अलग-अलग तरीके से देख सकते हैं।

2. भ्रम और त्रुटि: धारणा भ्रामक हो सकती है, जिससे भ्रम और त्रुटियां हो सकती हैं। ऑप्टिकल भ्रम, मृगतृष्णा और अन्य संवेदी घटनाएं वास्तविकता की अवधारणा को विकृत कर सकती हैं, जिससे गलत ज्ञान हो सकता है।

3. सीमित दायरा: मानव संवेदी अंगों की सीमाएं होती हैं। हम केवल विद्युत चुम्बकीय

स्पेक्ट्रम (दृश्यमान प्रकाश) में आवृत्तियों की एक सीमित सीमा, ध्वनियों की एक सीमित सीमा, इत्यादि को ही देख सकते हैं। ब्रह्मांड के कई पहलू हैं जो हमारी इंद्रियों के दायरे से परे हैं।

4. अस्थायी पहलू: अवधारणात्मक ज्ञान वर्तमान क्षण तक ही सीमित है। हम अतीत या भविष्य को सीधे तौर पर नहीं देख सकते हैं, जो कारणता और वास्तविकता के अस्थायी पहलुओं की हमारी समझ को सीमित करता है।

5. बाहरी वस्तुओं पर निर्भरता: धारणा बाहरी वस्तुओं की उपस्थिति पर निर्भर करती है। यदि कोई वस्तु हमारी ज्ञानेन्द्रियों की सीमा में नहीं है तो हम उसे सीधे नहीं देख सकते। यह सीमा दूर या छिपी हुई घटनाओं के बारे में हमारे ज्ञान को सीमित करती है।

6. अनिश्चितता: वास्तविकता के कुछ पहलुओं का स्पष्ट और विशिष्ट रूप नहीं हो सकता है या अस्पष्ट हो सकता है। अवधारणात्मक ज्ञान ऐसी घटनाओं की सटीक समझ प्रदान करने में सक्षम नहीं हो सकता है।

7. संज्ञानात्मक पूर्वाग्रह: मानव धारणा संज्ञानात्मक पूर्वाग्रहों, सांस्कृतिक कंडीशनिंग और अन्य मनोवैज्ञानिक कारकों से प्रभावित हो सकती है, जिससे वास्तविकता की विकृत व्याख्या हो सकती है।

8. सार को समझने में असमर्थता: जबकि धारणा किसी वस्तु के बाहरी गुणों के बारे में जानकारी प्रदान करती है, यह वस्तु की आवश्यक प्रकृति या अंतर्निहित वास्तविकता (ब्राह्मण) को प्रकट नहीं कर सकती है।

9. मानसिक घटनाओं के प्रत्यक्ष ज्ञान का अभाव: धारणा बाहरी वस्तुओं की ओर निर्देशित होती है और विचारों, भावनाओं और चेतना जैसी मानसिक घटनाओं को सीधे प्रकट नहीं करती है।

इन सीमाओं के बावजूद, प्रत्यक्ष प्रमाण भारतीय दर्शन में ज्ञान का एक आवश्यक और वैध स्रोत बना हुआ है। न्याय, वैशेषिक और मीमांसा जैसे विभिन्न विचारधाराओं के दार्शनिकों ने अवधारणात्मक ज्ञान की प्रकृति, वैधता और सीमाओं पर व्यापक रूप से चर्चा की है, जो भारतीय दर्शन में समृद्ध ज्ञानमीमांसीय परंपराओं में योगदान देता है।

यो तो प्रमाण (sources of knowledge) के और भी भेद है, जैसे- अनुमान, शब्द और उपमान, परन्तु प्रत्यक्ष एक ऐसा प्रमाण है जो सबसे अलग अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व रखता है और तरह के प्रमाण से हमें किसी वस्तु या पदार्थ का ज्ञान भले ही हो जाय, परन्तु उसका साक्षात्कार कभी नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष से जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है उसके लिए दूसरे प्रमाण जरूरत सही नहीं कहावत भी है. प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या आवश्यकता?" (प्रत्यक्षे किं प्रमाणम् ?) अथवा लोग भी कहते पाये जाते हैं-हाथ कंगन को आरसी क्या ? मतलब यह है कि प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान बिल्कुल दूध का धोया रहता है। उसमें संदेश या संशय (doubt) के लिए जगह ही नहीं रहती। यह आदमी का मानवीय स्वभाव है कि लोगों के कहने पर या अपने अनुमान के पीछे भी संदेह के लिए कुछ स्थान छोड़ देता है, परन्तु जो बात एक बार आँख से देख ली जाती है वह हमारे दिमाग में घर कर जाती है और उससे प्राप्त ज्ञान को लोग तुरंत ही मान लेते हैं। परीक्षार्थी को तो ऐसा अनुमान बराबर होता होगा। जब कोई कहता है कि तुम पास

कर गये हो तो हम उसको यों ही सुनकर चुपचाप नहीं बैठ जाते सुनने के बाद भी अखबार को सामने रखकर अपनी आँख से अपने छपे नाम को देखकर हम दम मारते हैं। जबतक नाम अपनी आँख से नहीं देखते तबतक का ज्ञान उतना मजबूत नही रहता; पर एक बार ज्योंही अपनी इन्द्रिय (organ) आँख से उसे देख लेते हैं त्योंहि हमारा ज्ञान बिल्कुल पक्का हो जाता है और हममें एक तरह की निश्चिन्तता और शान्ति आ जाती है दिमाग का तनाव भी दूर हो जाता है जब हमें सूर्य की रोशनी ही मिल जाय तो दूसरी रोशनी की कोई जरूरत हम नहीं महसूस करते हैं। उसी तरह अगर हमें ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त हो जाय तो उसके बाद दूसरे प्रमाण की कोई भी जरूरत नहीं रह जाती। इसीलिए प्रत्यक्ष को हम निर्विवाद और निरपेक्ष (unconditional) पाते हैं यह किसी दूसरे प्रमाण की सहायता नहीं खोजता, भले ही दूसरी तरह के प्रमाण प्रत्यक्ष' का मुँह क्यों नहीं जोड़ें। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि सभी ज्ञान का मूल या आधार प्रत्यक्ष' ही है।

2.4 सारांश

प्रत्यक्ष ज्ञान भारतीय दर्शन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रमाण मानते हुए भारतीय दर्शनिक विचारधाराएँ इसके साधनों और सीमाओं की व्याख्या करती हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन इंद्रिय होते हैं, जिनके माध्यम से हम आस-पास के विश्व को जानते हैं। ये पांच ज्ञान (सुनना, देखना, स्पर्शन, गन्ध, स्वाद) हमारे अनुभव के आधार होते हैं और हमें ज्ञान प्राप्त करने में मदद करते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमाएँ भी होती हैं। भारतीय दर्शनों में, इन्द्रियों की असमर्थता, विकल्पों की परिमिति, माया के प्रभाव, और मनोबुद्धि की स्वच्छंदता के कारण प्रत्यक्षता की सत्यता पर सवाल उठाए गए हैं। यहां तक कि आद्वैत वेदान्त ने प्रत्यक्ष की सत्यता को विवादित किया और अनुभवशून्य ब्रह्म को अद्वितीय सत्य माना।

इस प्रकार, प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन और सीमाएँ भारतीय दर्शन में विचार और अध्ययन के योग्य विषय रहे हैं, जो हमें ज्ञान के स्रोत की महत्वपूर्णता और उसकी परिमितियों को समझने में मदद करते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन और सत्य ज्ञान का एक प्रकार दोनों है। प्रत्यक्ष का मुख्य लक्षण इन्द्रियों का विषय से सम्पर्क होना है। मानवीय ज्ञान के आन्तरिक तत्वों जैसे कि दर्द, सुख आदि का ज्ञान मन द्वारा होता है और मानसिक प्रत्यक्ष कहलाता है। इन्द्रिय और विषय के मध्य सम्पर्क स्थापित करने में असमर्थ होने की अवस्था में कुछ भारतीय दार्शनिक अभाव के ज्ञान के रूप में एक नये ज्ञान को स्वीकार करते हैं।

मूलतः प्रत्यक्ष दो प्रकार; निविकल्प और संविकल्प, का होता है। पहले प्रकार का प्रत्यक्ष बाद वाले प्रत्यक्ष की पूर्व अवस्था होती है। सविकल्प प्रत्यक्ष नाम, गुण वाला होता है और इसे भाषा के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। कुछ भारतीय विचारकों के अनुसार, प्रत्यक्ष पूर्णतः इन्द्रिय सम्वेदन है और यह बौद्धिक निर्माण तत्वों से रहित है। प्रत्यक्ष को साधारण एवं असाधारण के रूप में भी वर्गीकृत किया जाता है। असाधारण प्रत्यक्ष विषयों अथवा सामान्यों के पूर्व ज्ञान के आधार पर गुणों का सम्वेदन है। योगज प्रत्यक्ष केवल सिद्ध पुरुषों को ही होता है। सत् की विभिन्न कोटियों संबंधित हमारा ज्ञान बहुत सीमा तक प्रत्यक्ष की प्रकृति अथवा

अन्य ज्ञान के अनुरूप होता है। यद्यपि, कुछ निश्चित पदार्थों की प्रत्यक्षनीयता को लेकर वाद-विवाद अभी भी बना हुआ है।

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

समवाय- एक प्रकार का सम्बन्ध

समवेत पदार्थ- सम्बन्धी

व्यवहारिक प्रत्यक्ष- व्यवहारिक आत्मा के द्वारा पंच इन्द्रियों और मन के माध्यम से प्राप्त ज्ञान

अनुपलब्धि- मीमांसको को मान्य प्रमाण का एक प्रकार प्रत्यक्ष: इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होने वाला ज्ञान। दृश्य, श्रवण, स्पर्शन, गन्ध, और स्वाद आदि के माध्यम से होने वाला अनुभव।

प्रमाणवाक्य: सत्य और अयथार्थ की प्रमाणित करने वाले वाक्य। जैसे, दिखाई देने वाले वस्तु के बारे में बताने वाले वाक्य को प्रमाणवाक्य कहा जा सकता है।

इंद्रिय: मन, बुद्धि और पांच ज्ञानें (सुनन, देखन, स्पर्शन, गन्ध, स्वाद)। ये ज्ञानों के माध्यम से विश्व को जानने में मदद करते हैं।

सत्यता: जो अनुभव हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान के माध्यम से होता है, वह असली और सत्य होता है।

साक्षात्कार: अपने इंद्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया।

अनुभव: प्रत्यक्ष ज्ञान के माध्यम से होने वाली अवयविक ज्ञानप्राप्ति।

प्रमाणीकरण: प्रमाणों के द्वारा किए जाने वाले प्रमाणित करने की प्रक्रिया।

विश्वास: प्रमाणों पर आधारित ज्ञान में विश्वास करना।

व्याप्ति: जब हम एक विशेष उदाहरण से किसी सामान्य सिद्धांत को प्रमाणित करते हैं।

अभिप्रेतता: जब दो वस्तुएँ एक ही समय और स्थान पर होने से एक-दूसरे से जुड़ती हैं।

2.6 सन्दर्भग्रन्थ

1. भट्टाचार्य. एस. "डेवलेपमेन्ट ऑफ न्याय फिलोसोफी एण्ड इटस सोशियल कान्टेक्स्ट"

2. इन, हिस्ट्री ऑफ साइन्स, फिलोसोफी एण्ड कल्चर इन इण्डियन सिविलाइजेसन, बोल्यू - III. पार्ट 3. न्यू दिल्ली, सेन्टर फॉर स्टेडीज इन सिविलाइजेसनस, 2004: चटर्जी, एस., द न्याय थ्योरी ऑफ लॉजिक ए क्रिटिकल स्टेडी ऑफ सम प्रोब्लम्स ऑफ लॉजिक एण्ड मेटाफिजिक्स, कलकत्ता, यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, 1965, मित्तल, बी.के. परसेपशन : एनएस ऑन कलासिकल इण्डियन प्योरिज ऑफ नोइंग,

3. आक्सफोर्ड, आक्सफोर्ड यूनिवर्सटी प्रेस. 1986. राव. श्रीनिवास, परसेप्च्यूयल इररस : द इण्डियन थ्योरिज, होनोलुलु, यूनिवर्सिटी ऑफ हवाई प्रेस, 1998.

4. चेरबास्की, एफ.टी.एच., बुद्धिस्ट लॉजिक, दिल्ली, लो प्राइस पब्लिकेशन. 1999. विद्याभूषण, एस.सी., ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक, दिल्ली, शिव बुक इण्टर नेशनल, 2005.

2.7 बोधप्रश्न

1. प्रत्यक्ष की परिभाषा को बतलायें?
2. यह सही ज्ञान को प्राप्त कराने में कहाँ तक योग्य है
3. क्या प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करने का एक साधन हैं?
4. ज्ञानेद्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे होता है?
5. इन्द्रिय सन्निकर्ष से क्या समझते हैं? क्या वे प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक है ?
6. प्रत्यभिज्ञा क्या है
7. लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष से क्या समझते है?
8. अलौकिक प्रत्यक्ष के विभिन्न भेदों को उदाहरण देकर स्पष्ट करें।
9. सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण तथा योगज प्रत्यक्ष को संक्षेप में बताएं?
10. प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमओं को स्पष्ट करें ?

इकाई 3 अनुमान प्रमाण

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- अनुमान प्रमाण की परिभाषा एवं लक्षण के बारे में परिचय प्राप्त करेंगे।
- अनुमान प्रमाण के स्वरूप एवं उसके भेदों को जान सकेंगे।
- परामर्श एवं उसके अंतर्गत हेतु या लिंग एवं व्याप्ति के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगें।
- हेत्वाभास के स्वरूप व भेद से परिचित होंगे।
- अनुमान प्रमाण की पारिभाषिक शब्दावली तथा विशिष्ट प्रयोग विधि का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

3.1 प्रस्तावना

ज्ञानप्राप्ति के साधनों का नाम प्रमाण है। भारतीय ज्ञान मीमांसा में अनुमान भी एक प्रमाण है। चार्वाक दर्शन को छोड़कर प्रायः सभी दर्शन अनुमान को ज्ञानप्राप्ति का एक साधन मानते हैं। अनुमान के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता हैं उसका नाम अनुमिति है। अनुमान प्रमाण से उन सभी पदार्थों का ज्ञान किया जाता है जो इंद्रिय द्वारा ज्ञात होने की योग्यता रखते हुए भी दूरस्थ या अविद्यमान होने के कारण इंद्रिय से ज्ञात नहीं होते अथवा जिसमें इंद्रिय से ज्ञात होने की योग्यता ही नहीं होती। अनुमान की इस प्रक्रिया का सरलतम उदाहरण इस प्रकार है-किसी पर्वत पर धुआँ उठता हुआ देखकर वहाँ पर आग के अस्तित्व का ज्ञान अनुमिति है और यह ज्ञान जिस प्रक्रिया से उत्पन्न होता है उसका नाम अनुमान है। यहाँ आग प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, केवल धुएँ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। पर पूर्वकाल में अनेक बार कई स्थानों पर आग और धुएँ के साथ-साथ प्रत्यक्ष ज्ञान होने से मन में यह धारणा बन गई है कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहीं-वहीं आग भी होती है। अब जब हम केवल धुएँ का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और हमको यह स्मरण

होता है कि जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ आग होती है, तो हम सोचते हैं कि अब हमको जहाँ धुआँ दिखाई दे रहा हैं वहाँ आग अवश्य होगी: अतएव पर्वत पर जहाँ हमें इस समय धुएँ का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है, अवश्य ही वहां आग वर्तमान होगी। इसके दो भेद होते हैं - स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। जिस अनुमान से अपने संशय का निराकरण या अपने आप को साध्य का निश्चय होता है, उसे "स्वार्थानुमान" तथा जिस अनुमान से अन्य व्यक्ति - जिज्ञासु, प्रतिवादी या मध्यस्थ - के संशय का निराकरण या उसको साध्य का निश्चय कराया जाता है, उसे "परार्थानुमान" कहा जाता है। भारतीय दर्शन के द्वितीय प्रमाण के रूप में अनुमान प्रमाण पर तथा उसके अवयव, लिंग परामर्श, व्याप्ति आदि पर भारतीय दार्शनिकों द्वारा विशद विवेचना प्रस्तुत की गयी है।

3.2 अनुमान प्रमाण क्या है (परिभाषा व लक्षण)

प्रत्यक्ष (इंद्रिय सन्निकर्ष) द्वारा जिस वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान नहीं हो रहा हो , उसका ज्ञान किसी ऐसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर, जो उस अप्रत्यक्ष वस्तु के अस्तित्व का संकेत दे, अनुमान कहलाता है। यह ध्यान देना आवश्यक है कि पाश्चात्य तर्कशास्त्र में अनुमान (इनफरेन्स) का अर्थ भारतीय तर्कशास्त्र में प्रयुक्त अर्थ से कुछ भिन्न और विस्तृत हैं। वहाँ पर किसी एक वाक्य अथवा एक से अधिक वाक्यों की सत्यता को मानकर उसके आधार पर क्या-क्या वाक्य सत्य हो सकते हैं, इसको निश्चित करने की प्रक्रिया का नाम अनुमान है और विशेष परिस्थितियों के अनुभव के आधार पर सामान्य व्याप्तियों का निर्माण भी अनुमान ही है। संस्कृत शब्द अनुमान दो शब्दों, अनु अर्थात उत्तरवर्ती और मान अर्थात मापन से मिलकर बना है। इस प्रकार सम्पूर्ण शब्द से तात्पर्य है किसी घटना का उत्तरवर्ती आकलन। स्पष्ट है कि इस प्रकार का ज्ञान अपरोक्ष/प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता: "क्योंकि यह भूतकाल में ज्ञान के अन्य साधनों जैसे कि प्रत्यक्ष, शब्द आदि से प्राप्त ज्ञान का उपयोग करता है" और व्यक्ति को "अग्रिम ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम बनाता है"। सभी भारतीय दार्शनिक अनुमान को ज्ञान का वैध साधन नहीं मानते हैं। उदाहरणार्थ, भौतिकवादी चार्वाक केवल भौतिक पदार्थ को ही अन्तिम सत्य मानते हैं। फलतः वह अनुमान को ज्ञान के वैध साधन के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं।

भारतीय दर्शन में अनुमान स्वयं के लिये (स्वार्थानुमान) तथा दूसरों के लिये (परार्थानुमान) हो सकता है। स्वार्थानुमान में चूंकि हम अपने स्वयं के लिये अव्यभिचारी ज्ञान प्राप्त करने के लिए अग्रसर होते है इसलिए कथन भलीभांति संरचित नहीं होते है। जबकि चूंकि परार्थानुमान में दूसरे को सत्य से अवगत कराना होता है इसलिए इस प्रकार के अनुमान को भलीभांति संरचित होना आवश्यक होता है। इस इकाई में हम न्याय दर्शन के अनुमान पर ध्यान केन्द्रित करेंगे। वास्तव में, सभी भारतीय दर्शनों में न्याय दर्शन ही अपने अनुमान प्रमाण के विवेचन के लिये सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

अनुमिति का करण अनुमान प्रमाण है। परामर्श से उत्पन्न ज्ञान अनुमिति है। व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष में ज्ञान परामर्श है। जैसे 'यह पर्वत वह्निव्याप्य (वह्निव्याप्ति विशिष्ट) धूम वाला है'-यह ज्ञान परामर्श है, इससे उत्पन्न होने वाला 'पर्वत वह्निमान है'-यह ज्ञान अनुमिति है। 'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है' यह साहचर्य नियम व्याप्ति है। व्याप्य का पववर्तातादि में रहना पक्षधर्मता है।

अनुमान साधन है, अनुमिति उसका फल है और परामर्श अनुमान से अनुमिति तक पहुँचने की प्रक्रिया है। अतः अनुमिति परामर्श पर आधारित है। परामर्श का इसलिए अधिक महत्त्व है कि

यदि परामर्श ठीक होगा तो उसका फल अनुमिति भी शुद्ध होगी। अतः न्यायदर्शन में परामर्श और परामर्श के दो घटक तत्त्व, व्याप्ति और लिंग, पर बहुत बल है। लिंग या हेतु वह है जिससे किसी पदार्थ का व्याप्ति द्वारा ज्ञान होता है। लिंग और साध्य (जिस पदार्थ का अनुमान करना है) का पारस्परिक सम्बन्ध व्याप्ति है। इस सम्बन्ध के अनुसार लिंग और साध्य सदा साथ-साथ रहते हैं। हेतु और साध्य और उनका पारस्परिक सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति-यदि इन तीन को समझ लिया जाये तो अनुमान का ज्ञान हो सकता है। साध्य तो वह पदार्थ है जिसका अनुमान करना है। साध्य का अनुमान हेतु और साध्य के सम्बन्ध, अर्थात्

व्याप्ति, से होता है। यह सम्बन्ध व्याप्य-व्यापक-भाव रूप है। व्याप्यव्यापक भाव का निश्चय साहचर्य दर्शन से होता है। इस नियमित साहचर्य को ही व्याप्ति कहते हैं। इसप्रकार व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष में ज्ञान परामर्श है। इस परामर्श में व्याप्ति हेतु में विशेषण बनती है और हेतु पक्ष में विशेषण बनता है।

अन्नंभट्ट ने परामर्श का लक्षण व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान बतलाया है। किन्तु वह हेतु व्याप्ति-विशिष्ट के साथ-साथ पक्षधर्मताविशिष्ट भी होना चाहिये। वस्तुतः हेतु-व्याप्तिविशिष्ट तो होता है, क्योंकि जब हम 'यत्रा यत्रा धूमस्तत्रा तत्रा बह्निः' कहते हैं, तब हेतु धूम का बह्नि के साथ व्याप्तिसम्बन्ध तो स्पष्ट हो ही जाता है, किन्तु यही पर्याप्त नहीं है। हेतु व्याप्तिविशिष्ट होने के साथ-साथ पक्ष में रहने वाला धर्म भी होना चाहिये। इस प्रकार ये दोनों मिलकर परामर्श को जन्म देते हैं। प्रसिद्ध न्यायवाक्य में परामर्श का यह स्वरूप होगा-बह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः। इस स्थान पर हेतु पक्ष धर्म भी है और व्याप्तिविशिष्ट भी है।

पक्षधर्मता का अर्थ है--(हेतोः) ''पक्षवृत्तित्वम्' या 'पक्षसंबन्धः' अर्थात् हेतु का पक्ष में रहना। किन्तु पर्वत पर धूम के अतिरिक्त वृक्ष इत्यादि भी रहते हैं। किन्तु वह्नि का अनुमान प्रकाश या जली हुई राख आदि से भी हो सकता है किन्तु धूम से वह्नि के अनुमान की प्रक्रिया में इसका कोई उपयोग नहीं है। अतः सब पक्षधर्म नहीं हैं। इसी प्रकार पर्वत पर रहने वाला धूम ही पक्ष धर्म है, अन्य धूम नहीं क्योंकि पर्वत पर रहने वाले धूम से वह्नि का अनुमान होता है। हमें धूम और वह्नि के व्याप्ति-ज्ञान से तब तक कोई लाभ न होगा जब तक पर्वत पर रहने वाला धूम का ज्ञान न हो। केवल पर्वत पर धूम देख लेना ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु वह धूम ऐसे पर्वत पर होना चाहिये जो पक्ष भी हो। अतः पक्षधर्मता का लक्षण है-पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविषयता। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है-कि पक्षता का जो अवच्छेदक है पर्वतत्व उससे जो अविच्छन्न धूम है, वह पक्ष-धर्मता है। यह पक्षधर्मता अनुमान का कारण बनती है। किन्तु इसके साथ व्याप्ति का ज्ञान भी चाहिए। इसीलिये अनुमिति का कारण व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम् है। अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान। पर्वत पर धुआं का दिखाई देना पक्षधर्मता का ज्ञान है। यह जब व्याप्ति स्मरण के साथ मिल जाता है तो परामर्श बन जाता है। अर्थात् व्याप्ति पक्षधर्मता का विशेषण नहीं है बल्कि पक्षधर्मता ज्ञान का एक प्रकार है। यह धुआँ का धर्म नहीं है किन्तु पर्वत पर धुआँ के ज्ञान का धर्म है। यह स्पष्ट है कि व्याप्ति व्यक्ति के ज्ञान में रहती है धुआं में नहीं रहती। अतः धूम व्याप्तिविशिष्ट नहीं है। धूमज्ञानव्याप्त्यविछन्न-प्रकारता-निरूपित है।

नीलकण्ठ ने परामर्श की परिभाषा यह दी है-
व्याप्त्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यताशाली निश्चयः।

परामर्श का उदाहरण है-वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः, जो कि 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति से पहले अवश्य रहता है।

3.3 अनुमान प्रमाण का स्वरुप (स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान)

अनुमान दो प्रकार का है-स्वार्थ और परार्थ। इनमें स्वार्थ वह है जिसमें स्वयं को अनुमिति हो। जैसे कोई स्वयं ही बार-बार देखकर 'जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है, ऐसी रसोईघर में व्याप्ति ग्रहण करके पर्वत के समीप जाकर उसमें अग्नि का संदेह होने पर पर्वत में धूम को देखकर 'जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि है, ऐसी व्याप्ति स्मरण करता है। इसके अनन्तर पर्वत वह्निव्याप्य धूम वाला है यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यही लिङ्गपरामर्श कहलाता है। इससे पर्वत वह्नि वाला यह अनुमिति ज्ञान उत्पन्न होता है। यह स्वार्थानुमान है। जो स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरे को समझाने के लिए पंचावयव वाक्य का प्रयोग किया जाता है वह परार्थानुमान है। जैसे 'पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि यह धूमवान् है जो-जो धूमवान् होता है वह वह वह्निमान् होता है, जैसे रसोईघर,.वैसा ही यह भी है, अतः इसमें भी वैसी ही अग्नि है'। इस प्रकार कहे गये लिङ्ग से दूसरा भी अग्नि का ज्ञान कर लेता है। स्वार्थ और परार्थ का शब्दार्थ स्पष्ट है। जो अपने लिये हो वह स्वार्थ है और जो दूसरे के लिये हो वह परार्थ। स्वार्थ अनौपचारिक और परार्थ औपचारिक अनुमान होता है। स्वार्थानुमान से व्यक्ति स्वयं अनुमान लगाता है परार्थानुमान से वह अनुमान दूसरे तक पहुंचाया जाता है। इसलिए परार्थानुमान में स्वार्थानुमान छिपा हुआ है। स्वार्थानुमान में हम अपने अनुभव से तुरन्त अनुमान लगा लेते हैं किन्तु परार्थानुमान में उस अनुमान को हम भाषा में दूसरे तक प्रेषित करते हैं। इस प्रकार स्वार्थानुमान की अपेक्षा परार्थानुमान में भाषा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

न्यायशास्त्र में इसके पाँच अवयव माने गए हैं **- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन**। जिस वाक्य से पक्ष के साथ साध्य के संबंध का ज्ञान हो उसे "प्रतिज्ञा", जिस वाक्य से हेतु में साध्य की ज्ञापकता अवगत हो उसे "हेतु", जिस वाक्य से हेतु में साध्य की व्याप्ति बताई जाए उसे "उदाहरण", जिस वाक्य से पक्ष में साध्यवाक्य हेतु का संबंध बोधित हो उसे "उपनय" और जिस वाक्य के हेतु का अबाधितत्व एवं असत्प्रतिपक्षिततत्व बताते हुए हेतु के सामर्थ्य से पक्ष में साध्य के संबंध का उपसंहार किया जाए उसे "निगमन" कहा जाता है। उनके उदाहरण क्रम में इस प्रकार हैं :

1. "पर्वतो वह्मिान्" , पर्वत में आग है **- प्रतिज्ञा**
2. "धूमात्" , क्यूंकि पर्वत में धुआँ है **- हेतु**
3. "यो यो धूमवान् स स वह्मिानं" , जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहीं वहीं आग होती है। जैसे कि रसोईघर। **- उदाहरण**
4. ''तथा चायम्'' , पर्वत में धुआँ है। **- उपनय'**
5. ''तस्माद् वह्मिान्'' , अर्थात् पर्वत में आग है। **- निगमन**

वस्तुतः तो अनुमान का कारण रूप होने के कारण ंस्वार्थानुमान ही अनुमान है। किन्तु परार्थानुमान भी सरलता के लिए कारण में कार्य का उपचार करके अनुमान ही मान लिया जाता है। अभिप्राय यह है कि स्वार्थानुमान कारण है, परार्थानुमान कार्य। किन्तु हम उसे भी कारण ही मान लेते हैं। परार्थानुमान दूसरे शब्दों में ज्ञान प्रेषित करने के कारण वस्तुतः शब्दबोध ही है। किन्तु क्यांकि इसका आधार अनुमान है इसलिये हम इसे भी अनुमान ही मान लेते हैं। वस्तुतः परार्थानुमान में परामर्शजन्य ज्ञान ही प्रधान रहता है। नीलकण्ठ ने यह विषय स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि यद्यपि परार्थानुमान के शब्द दूसरे व्यक्ति के

लिये होते हैं तथापि वे उसे अनुमान के द्वारा ही ज्ञान कराते हैं। परार्थानुमान और स्वार्थानुमान में कोई विशेष भेद नहीं है। क्योंकि हर परार्थानुमान स्वार्थानुमान पर ही आधारित होता है और स्वार्थानुमान परार्थानुमान के रूप में बदला जा सकता है।

अनुमान के अन्य भेदों में गौतम ने **पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट** भेद बतलाये हैं। पूर्ववत् का अर्थ है कारण से कार्य का अनुमान। जैसे घने बादलों से वर्षा का अनुमान। शेषवत् का अर्थ है कार्य से कारण का अनुमान। इसके अतिरिक्त जितने अनुमान हैं ये सामान्यतोदृष्ट हैं। वात्स्यायान ने इन तीनों प्रकारों के लक्षण कुछ भिन्न रूप में दिये हैं। उन्होंने पूर्ववत् का अर्थ दिया है ऐसा अनुमान जो हम साहचर्य के आधार पर करते हैं जैसे धुएं से अग्नि का अनुमान। शेषवत् का अर्थ दिया है कि एक पदार्थ का अनुमान इस आधार पर करना कि वह वही पदार्थ है क्योंकि वह कोई अन्य पदार्थ नहीं है। उदाहरणातः शब्द गुण है क्योंकि वह द्रव्य है न कर्म। सामन्यतोदृष्ट कारण-कार्य सम्बन्ध के आधार पर परोक्ष पदार्थ का अनुमान है। उदाहरणतः आत्मा परोक्ष है किन्तु बुद्धि इत्यादि गुणों के अधिष्ठान के रूप में इसका अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार सामान्यतोदृष्ट और पूर्ववत् का एक प्रकार से विरोध ही है। वाचस्पति ने पूर्ववत् को इसलिए दृष्टस्वलक्षणसामान्य विषय और सामान्यतोदृष्ट को अदृष्टस्वलक्षण-सामान्यविषय बताया है। पूर्ववत् स्वलक्षण द्वारा सामान्य का अनुमान है जो कि हमने पहले

देखा है। सामान्यतोदृष्ट में हमने इसे देखा नहीं है। वाचस्पति ने इन दोनों प्रकारों को वीतानुमान कहा है। इन दोनों में अनुमान विधिपरक अन्वयव्याप्ति से होता है जबकि शेषवत् में अनुमान निषेधपरक व्यतिरेक व्याप्ति से होता है।

अनुमान का विभाजन **केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि, और अन्वयव्यतिरेकि** के रूप में भी किया गया है। ऐसा निर्णय जो केवलान्वयी हेतु के आधार पर हो केवलान्वयि और जो केवलव्यतिरेकी हेतु के आधार पर हो केवलव्यतिरेकि कहलाता है। जहाँ हेतु ऐसा हो जो अन्वयी भी हो और व्यतिरेकि भी वहां यह अनुमान अन्वयव्यतिरेकि कहलाता है। अन्वयव्यतिरेकि अनुमान में हम उसे अन्वय द्वारा भी प्रकट कर सकते हैं और व्यतिरेक द्वारा भी। निर्णय दोनों दशाओं में एक ही होगा। अतः अन्नम्भट्ट ने इसे लिंग का विभाजन माना है अनुमान का नहीं।

प्रशस्तपाद ने स्वार्थानुमान को भी दो भागों में बांटा है-दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट। दृष्ट में जिस पदार्थ का अनुमान होता है वह ठीक वैसा ही होता है जैसा कि हमारे पहले ज्ञान में था जैसे कि कम्बल से गौ का अनुमान। सामान्यतोदृष्ट में यह अनुमान अन्य पदार्थ में होता है। जैसे कि जड़ पदार्थ में किसी रोग का अनुमान क्योंकि ऐसा अनुमान प्राणियों के आधार पर किया जाता है। दृष्ट अनुमान सविकल्प प्रत्यक्ष या स्मरण जैसा ही लगता है जबकि सामान्यतोदृष्ट सामान्य अनुमान जैसा है।

3.4 अनुमान प्रमाण का साधन (परामर्श : हेतु या लिंग एवं व्याप्ति)

न्यायदर्शन में परामर्श और परामर्श के दो घटक तत्व, व्याप्ति और लिंग, पर बहुत बल है। लिङ्ग तीन प्रकार का है-अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि और केवलव्यतिरेकि। अन्वय और व्यतिरेक दोनों से व्याप्तिमान् हो वह अन्वयव्यतिरेकि है। जैसे वह्नि साध्य होने पर धूमवत्व। 'जहाँ धुआं है, वहाँ अग्नि है, जैसे रसोई घर में-यह अन्वयव्याप्ति है। जहाँ वह्नि नहीं है वहाँ धुआँ भी नहीं है जैसे सरोवर में-यह व्यतिरेकव्याप्ति है। जिसकी केवल अन्वयव्याप्ति हो वह

केवलान्वयि है। जैसे घट अभिधेय है क्योंकि वह प्रमेय है यथा पट। यहाँ प्रमेयत्व और अभिध्येत्व की व्यतिरेकव्याप्ति नहीं है क्यूंकि सभी कुछ प्रमेय और अभिधेय है। जिसकी केवल व्यतिरेक व्याप्ति हो वह केवलव्यतिरेकि है जैसे-पृथ्वी इतर पदार्थों से भिन्न है क्योंकि उसमें गन्धवत्त्व है। जो इतर पदार्थों से भिन्न नहीं है वह गन्धवान् नहीं है जैसे जल, यह ऐसी नहीं

है इसलिए यह इतर पदार्थों से भिन्न है। यहाँ जो गन्धवान् है वह इतर पदार्थों से भिन्न है इसका अन्वय दृष्टान्त नहीं है क्योंकि पृथ्वी मात्र ही पक्ष है।

विधि-निषेध-परक लिंगों में दोनों प्रकार की व्याप्ति संभव है। किन्तु विधिपरक में केवल विधिपरक व्याप्ति और निषेधपरक में केवल निषेधपरक व्याप्ति संभव है। उदाहरणतः 'घट अभिधेय है क्योंकि वह प्रमेय है।' इस व्याप्ति का निषेधपरक उदाहरण नहीं मिल सकता। क्योंकि वस्तु मात्रा अभिधेय और प्रमेय है। अतः इसका विपक्ष नहीं है। जहां केवल निषेधपरक ही उदाहरण हो सकता है उसका उदाहरण यह है कि 'पृथ्वी इतर पदार्थों से भिन्न है क्योंकि इसमे गंध है।' इसका सपक्ष दृष्टान्त नहीं हो सकता। क्योंकि जहां भी गंध होगा वह पृथ्वी ही हो सकती है कोई और पदार्थ नहीं। इसको इस प्रकार समझना चाहिए

कि समस्त पदार्थ दो भागों में बंटे हैं-पृथ्वी और पृथ्वीतर। पृथ्वी तो इस अनुमान में पक्ष ही है और हेतु है गंध। अतिरिक्त पृथ्वी के और कहीं नहीं है। अतः हम इसका कोई अन्वय उदाहरण नहीं दे सकते।

अन्वय और व्यतिरेक

दीपिका में हेतु और साध्य की व्याप्ति को अन्वय बताया है जबकि उनके अभाव की व्याप्ति को व्यतिरेक बताया है। व्यतिरेक व्याप्ति में अन्वय व्याप्ति के व्याप्य और व्यापक अपना क्रम बदल देते हैं।

केवलान्वयी

जिसका साध्य केवलान्वयी हो वह केवलान्वयी लिंग कहलाता है। केवलान्वयी साध्य वह होता है जिसका अत्यन्ताभाव कहीं भी न हो। उदाहरणतः अभिधेयत्व का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता। यहां यह समझने योग्य है कि दीपिका ने केवलान्वयत्व को साध्य से सम्बद्ध माना है, हेतु से नहीं। क्योंकि केवलान्यपि अनुमान के लिए हेतु के अत्यन्ताभाव का न होना आवश्यक नहीं है। उदाहरणतः 'घटोभिधेय' घटत्वात्' केवलान्वयि है। क्योंकि इसमें व्यतिरेक व्याप्ति नहीं हो सकती। किन्तु जो यहां हेतु दिया है, घटत्व, उसका अत्यन्ताभाव तो बहुत जगहों पर है। अतः केवलान्वयी वहां होता है जहां ऐसी चीज साध्य हो जो सत्ता मात्रा में रहती हो। कोई कह सकता है कि विश्व में ऐसे भी पदार्थ हैं जिनके नाम नहीं हैं या जिन्हें हम जान नहीं सकते। दीपिकाकार कहना है कि कोई पदार्थ चाहे हमारे ज्ञान में न आए परन्तु सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान में आ ही जाता है। अतः अप्रमेय कुछ भी नहीं।

केवलव्यतिरेकी

केवलव्यतिरेकि का जो उदाहरण दिया है वह थोड़ा-सा जटिल है किन्तु हम उसकी व्याख्या ऊपर कर चुके हैं। पृथ्वी इतरभेदवती गन्धवत्वात्। यहाँ अन्वय व्याप्ति नहीं हो सकती। यत्रा यत्रा गन्धवत्त्वं तत्रा पृथिवीतरभेदः नहीं कहा जा सकता। क्योंकि गन्धवान् तो सभी पदार्थ पृथिवीत्व में ही आ जायेंगे। किन्तु ऐसे पदार्थ अनेक हैं जहां पृथिवीत्व है और गन्धभाव भी है। अतः यह

केवलव्यतिरेकि का उदाहरण है।

यहाँ दीपिका में जो तर्क-वितर्क दिये हैं यहां इसलिए दिये गये हैं कि न्यायशास्त्र में किस प्रकार सूक्ष्म चर्चाएं हुई हैं, इसका थोड़ा-सा आभास मिल सके।

व्याप्ति

न्याय की अनुमान प्रक्रिया में व्याप्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। व्याप्ति का लक्षण है-साहचर्यनियम। व्याप्ति का उदाहरण है जहां धुआं है वहां वह्नि है। किन्तु इस उदाहरण से व्याप्ति का स्वरूप शास्त्राय रूप में स्पष्ट नहीं होता। व्याप्ति के दो भाग हैं-साहचर्य और सार्वभौमिकता। साहचर्य का अर्थ है समानाधिकरण अर्थात् हेतु और साध्य का एक साथ रहना। यदि यह साहचर्य सार्वभौमिक हो तो नियत कहलाता है। जहां धूम होता है वहाँ वह्नि अवश्य होती है। अतः वह्नि धूम की व्यापक है। किन्तु जहां वह्नि होती है वहां धूम सदा नहीं होता। अतः धूम वह्नि का व्यापक नहीं है। अतः यह व्याप्ति एकपक्षीय है। वह्नि की धूम के साथ व्याप्ति है, धूम की वह्नि के साथ नहीं अतः व्याप्ति का अर्थ यही नहीं होता है कि दो चीजें साथ-साथ ही रहें, प्रत्युत उनमें से एक व्यापक हो और दूसरी व्याप्य भी होनी चाहिये, यद्यपि कहीं-कहीं व्यापक और व्याप्य का क्षेत्रा समान ही होता है। नैयायिकों के नियत साहयर्च वाले लक्षण में ऐसे उदाहरण भी समाविष्ट हो जाते हैं। व्यापक और व्याप्य का अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जो क्षेत्रा या परिणाम में बड़ा हो वह व्यापक है। उदाहरणतः बीस की संख्या दस की व्यापक नहीं कही जा सकती-क्योंकि जहाँ बीस होंगे वहां दस तो होंगे किन्तु जहां दस होंगे वहां बीस नहीं होंगे। अर्थात् यहां दस की संख्या बीस की संख्या की अपेक्षा व्यापक है, यद्यपि परिणाम से यह कम है। 50 जहाँ 100 हों वहां तो हांगे ही किन्तु अन्यत्रा जहां 70-80 हों वहाँ भी होंगे। अतः यहाँ 50 ही व्यापक हैं। अतः व्यापक का परिमाण या क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जहाँ हेतु और साध्य का क्षेत्रा समान हो उन स्थानों के अतिरिक्त व्याप्ति एकपक्षीय होती है अर्थात् दो में से एक व्यापक होता है, एक व्याप्य। अतः साहचर्य नियम व्यापक का व्याप्य के साथ रहना है, व्याप्य का व्यापक के साथ रहना नहीं। दीपिका में यह व्याप्य की यह परिभाषा की है-हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसमानाधिकरण्यम्। इस परिभाषा के अनुसार व्यापक व्याप्य के साथ रहता है। उदाहरणतः धूम व्यापक है जो अग्नि व्याप्य के साथ रहता है।

व्याप्ति के भेद

व्याप्ति दो प्रकार की है-अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति। अन्वय व्याप्ति वह है जहां साध्य हेतु के साथ नियत रूप में सहचर हो। व्याप्ति का एक दूसरा भेद है व्यतिरेक व्याप्ति। हर अन्वय-व्याप्ति की व्यतिरेक-व्याप्ति भी अवश्य होती है क्योंकि यदि हेतु और साध्य में व्याप्य व्यापक भाव हो तो उनके अभाव में भी उससे विपरीत क्रम में व्याप्य व्यापक भाव होगा। उदाहरणतः यदि हम यह कह सकते है। कि जहां-जहां धूम है वहां-वहां वह्नि भी है तो यह कहना भी ठीक होगा कि जहां-जहां वह्नि का अभाव है वहां-वहां धूम का भी अभाव है। इस उदाहरण में व्यतिरेक-व्याप्ति और अन्वय-व्याप्ति का भेद स्पष्ट है। अन्वय व्याप्ति में साध्य है हेतु व्याप्य जबकि व्यतिरेक व्याप्ति में हेत्वभाव व्यापक है और साध्याभाव व्याप्य।

3.5 अनुमान प्रमाण की सीमायें (हेत्वाभास)

हेत्वाभास पांच हैं-सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित।

हेत्वाभास का एक अर्थ हो सकता है-हेतुवदाभासते अर्थात् जो हेतु जैसा लगे पर हेतु हो नहीं, अथवा हेतोराभासः=सदृशः जो हेतु जैसा दिखाई पड़े। जो हेतु दुष्ट होता है वह हेत्वाभास होता है। यदि हेत्वाभास का अर्थ हेतोः हेतौ वाभासः किया जाए तो इसका अर्थ होगा-हेतु के दोष। वस्तुतः हेत्वाभास में हेतु के दोषों के ही प्रकार बताये गये हैं, दुष्ट हेतु के प्रकार नहीं बताये गये; क्योंकि एक हेतु में इन पाँच दोषों में से एक से अधिक दोष भी हो सकते हैं। उदाहरणतः इस अनुमान में 'वायुर्गन्धवान् स्नेहात्' पांचों ही दोष हैं। 'ह्रदो वह्निमानृ धूमात्' सरोवर आगवाला है, धूम होने से , में तीन दोष हैं-बाधित, सत्प्रतिपक्ष और स्वरूपासिद्ध। 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः में दो दोष हैं-साधारणसव्यभिचार और व्याप्यत्वासिद्ध। यदि दुष्टहेतु के भेद करने लगें तो फिर इस प्रकार हेतुओं का अन्तर्भाव कहां किया जाएगा। अतः यह हेतुओं के दोषों का ही भेद किया गया है। दीधिति में भी यही बात कही गई है- न्यायोद्दोषगतसंख्यामादाय दुष्टहेतौ पंचत्वादिसंख्याव्यवहारः। (अन्नभट्ट ने हेत्वाभास का कोई लक्षण नहीं दिया। केवल दीपिका में हेतुदोष का लक्षण दिया है।) नीलकंठ का कहना है कि तर्कसंग्रह में अन्नभट्ट ने हेत्वाभास का अर्थ दुष्टहेतु किया है और दीपिका में हेतुदोष। न्यायबोधिनी में दुष्ट हेतु के पांच भाग किए हैं-व्यभिचार, विरोध, प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाध। जो इन पाँच दोषों से युक्त हो, वह क्रमशः सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित कहलाता है। दीपिका में हेतुदोष का यह लक्षण दिया है-अनुमितिप्रतिबन्धकयथार्थ-ज्ञानविषयः अर्थात् जो ठीक अनुमिति द्वारा यथार्थ ज्ञान न होने दे। इस प्रकार ''ह्रदो वह्निमानृ धूमात्'में यदि हमें यह ज्ञान न हो कि सरोवर में धुंआ नहीं है तो यह अनुमान हमें हो जाएगा और यह ज्ञान अनुमितिप्रतिबंधक है और इसलिए हेतुदोष है। किन्तु यथार्थ ज्ञान कहने का क्या अभिप्राय है ? यथार्थ का यह अभिप्राय है कि दोष पर भी यथार्थ ज्ञान हो तो वह अनुमिति नहीं है। किन्तु यह लक्षण उन हेतुदोषों पर लागू नहीं होता जो सीधे अनुमिति में प्रतिबन्धक न होकर व्याप्ति ज्ञान या परामर्श में प्रतिबन्धक होने के कारण अनुमिति में परम्परया बाधक हैं। अतः यहां अनुमिति के अर्थ में अनुमिति के करण अर्थात् परामर्श, व्याप्तिज्ञान और लिंगज्ञान भी समाहित हैं। अतः व्यभिचार आदि जो दोष अनुमिति के करण में सीधे प्रतिबन्धक नहीं हैं, वे भी अनुमिति में प्रतिबन्धक मान ही लिये जायेंगे। गौतम के अनुयायी नैयायिक और अन्नभट्ट भी पांच हेत्वाभास मानते हैं। वैशेषिक तीन हेत्वाभास मानते हैं-सव्यभिचार, विरुद्ध और असिद्ध। किन्तु यह मतभेद मौलिक नहीं हैं। क्योंकि वैशेषिक सत्प्रतिपक्ष और बाधित को आश्रयासिद्ध, सव्यभिचार या अनैकातिक के अन्तर्गत मान लेते हैं। गौतम ने पांच हेत्वाभास इस प्रकार गिनाये हैं-सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और अतीतकाल। इनमें दो तो वही हैं जो तर्कसंग्रह में हैं। प्रकरणसम वह हैं जहां निर्णय संदिग्ध हो और जहां समान बलवान तर्क उसके विरुद्ध भी हो अर्थात् प्रकरणसम तर्कसंग्रह का सत्प्रतिपक्ष है, साध्यसम असिद्ध और कालातीत बाधित है। प्रशस्तपाद ने कणाद के अनुसार विरुद्ध असिद्ध और संदिग्ध तीन हेत्वाभास माने हैं। इनमें संदिग्ध सव्यभिचार या अनैतिकांतिक के अन्तर्गत आ जाता है। बौद्धों ने तीन वही हेत्वाभास माने हैं जो कणाद ने माने हैं। सव्यभिचार और असिद्ध नवीन लेखकों की कल्पना है। यहां सत्प्रतिपक्ष और बाधित के सम्बन्ध में ही विशेष मतभेद हैं ओर इसका एक कारण है। ये दोनें हेत्वाभास तर्क की प्रक्रिया

से नहीं, बल्कि पदार्थ से सम्बद्ध हैं। अतः इनका विवेचन कुछ लेखकों ने ठीक नहीं माना।

सव्यभिचार अनैकान्तिक हेत्वाभास है। सव्यभिचार का अर्थ है कि व्यभिचारसहित, व्यभिचार का अर्थ है हेतु का साध्याभाव के साथ रहना। यथा 'पर्वतो बह्विमान् प्रमेयत्वात्' यहाँ प्रमेयत्व साध्य के अभाव अर्थात् सरोवर में भी है। अतः यहाँ सव्यभिचार दोष है। इसे अनैकांतिक भी कहते हैं। व्यभिचार जिसका लक्षण साध्यसंदेहजनकोभयकोट्युपस्थापकतावच्छेदकरूपवत्वम् दिया गया है अनैकांतिक जैसा ही है। अर्थात् अव्यभिचार वह है जिससे साध्य और साध्य का अभाव दोनों सिद्ध होते हैं। अतः कणाद ने अनैकांतिक को संदिग्ध नाम दिया है। सव्यभिचार के तीन भेद हैं-साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी। साधारण वह है जिसमें अतिव्याप्ति हो अर्थात् जो सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहे या यों कहें कि जो साध्य और साध्य के अभाव दोनों में व्याप्त हो। अन्नम्भट्ट ने साधारण को केवल साध्याभाव के साथ ही व्याप्त माना है किन्तु तर्ककौमुदी में उसे सपक्ष-विपक्ष-वृत्ति माना है। अन्नम्भट्ट का विचार है कि अन्वयी हेतु में सपक्ष-वृत्तित्व तो होती है है। अतः इसका देना आवश्यक नहीं है।

असाधारण साधारण का विरुद्ध है अर्थात् जो न सपक्ष में हो न विपक्ष में। विपक्ष में तो कोई हेतु रहता ही नहीं किन्तु असाधारण हेत्वाभास सपक्ष में भी नहीं रहता। साधारण अतिव्याप्त है तो असाधारण अव्याप्त, क्योंकि यह जहां व्याप्त होना चाहिए उस सपक्ष में भी व्याप्त नहीं होता। असाधारण का अर्थ है कि वह पक्ष के अतिरिक्त और कहीं नहीं रहता; पक्ष का ही असाधारण गुण होता है। उदाहरणतः यदि हम कहें कि 'शब्द नित्य है क्योंकि उसमें शब्दत्व है' तो शब्दत्व पक्ष, शब्द, का असाधारण धर्म है, और कहीं रह नहीं सकता। अतः यह असाधारण हेत्वाभास हुआ। अनुपसंहारी हेत्वाभास वह है जिसका न सपक्ष दृष्टान्त हो न विपक्ष दृष्टान्त। अर्थात् जो पक्ष के अतिरिक्त जहां-जहां साध्य हो वहां-वहां न रहे। यह तभी हो सकता है जब समस्त पदार्थों को पक्ष बना दिया जाये। और जब सब कुछ पक्ष हो जाए तो फिर सपक्ष या विपक्ष बनने के लिये कुछ रह नहीं जायेगा। उदाहरणतः सर्वमनित्यं, प्रमेयत्वात्'। यत्रा यत्रा प्रमेयत्वं तत्रानित्यवम्। यथा घटे पटे कुड्ये वा ? अब यहां सब ही पक्ष हैं तो फिर उदाहरण के रूप में घट, पट, कुड्य नहीं दिये जा सकते। यह कहा जा सकता है कि पक्ष में तो साध्य संदिग्ध है पर घट पट आदि में नहीं, अतः यहाँ सपक्ष दृष्टान्त दिया जा सकता है। नव्यनैयायिकों ने अनुपसंहारि का लक्षण 'केवलान्वयिधर्मसाध्यकः' दिया है अर्थात् जहाँ साध्य हेतु के साथ केवल विधि रूप में सम्बद्ध हो। किन्तु यह लक्षण तो केवलान्वयी सद्धेतु पर भी लागू हो जायेगा। अतः ऊपर जो आक्षेप किया गया है उसका उत्तर यह है कि चाहे पृथक्-पृथक् पदार्थों में अनित्यत्व निश्चित हो किन्तु उसके आधार पर कोई व्याप्ति नहीं बनाई जा सकती।

क्योंकि पक्ष में तो जो विस्तृततम क्षेत्र है वह अन्तर्भूत है। इसे अनुपसंहारि इसलिए कहते हैं क्योंकि यहां पक्ष में सभी समाविष्ट हो जाता है और उससे कुछ बचता नहीं। जो हेतु साध्याभाव से व्याप्त हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है। विरुद्ध का अर्थ है ऐसा हेतु जो साध्य के अभाव के साथ व्याप्त हो। उदाहरणतः - शब्द नित्य है क्योंकि उसमें कृतकत्व है। अब कृतकत्व नित्यत्वाभाव के साथ व्याप्त है किन्तु नित्यत्व के साथ नहीं। अर्थात् इस हेतु से तो जो हम सिद्ध करना चाहते हैं उससे विरुद्ध बात ही सिद्ध हो जाती है।

विरुद्ध कभी भी सपक्ष में नहीं रहता किन्तु साधारण सव्यभिचार सपक्ष में भी रहता है। विरुद्ध विपक्ष में रहता है, असाधरण सव्यभिचार सपक्ष में भी रहता है, असाधारण सव्यभिचार विपक्ष में नहीं रहता। अनुपसंहारी में हेतु की व्याप्ति अपूर्ण या दुष्ट होती है जबकि विरुद्ध में वह व्याप्ति विपरीत दिशा में होती है। जहां साध्याभाव साधक दूसरा हेतु हो वहाँ सत्प्रतिपक्ष माना जाता है। विरुद्ध में जो हेतु साध्य का साधक दिया जाता है वही साध्याभाव का साधक बन जाता है,

जबकि सत्प्रतिपक्ष में साध्याभाव साधक दूसरा हेतु होता है। उदाहरणतः 'शब्दौ नित्यः श्रवणत्वात्' 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्।' यहाँ साध्य नित्यत्व के अभाव अनित्यत्व का साधक दूसरा हेतु कृतकत्व दिया गया है। अतः यहाँ सत्प्रतिपक्ष है। सत्प्रतिपक्ष के अन्तर है। बाधित में अनुमान का साध्य वस्तुतः बलवत्तर प्रमाण द्वारा असिद्ध किया जाता है। उदाहरणतः यदि कोई कहे कि अग्नि शीतल है क्योंकि यह द्रव्य है, तो प्रत्यक्ष द्वारा इस अनुमान का बाध हो जाता है क्योंकि अग्नि छूने पर उष्ण है किन्तु सत्प्रतिपक्ष में ऐसा नहीं होता। वहां दो समान बल वाले अनुमान एक-दूसरे के विरोधी होते हैं और इसलिए किसी एक के लिए हमारा निर्णय नहीं हो पाता। गौतम ने इस हेत्वाभास का इसीलिये प्रकरणसम नाम रखा है। प्रकरण का अर्थ है निर्णय। सम का अर्थ है-समान। अर्थात् जहां दोनों हों अथवा समान बल वाला निर्णय हो। वात्स्यायन ने

इसकी व्याख्या-प्रकरणमनतिवर्तमानः कहकर की है अर्थात् जहाँ निर्णय किया ही न जा सके। सत्प्रतिपक्ष का भी यही अर्थ है। जहां दो परस्पर विरोधी अनुमानों में दो हेतु होते हैं वे दोनों एक दूसरे के प्रतिपक्ष होते हैं और उनके कारण निर्णय में बाधा होती है। जहाँ तुल्य बल वाले विरोधी हेतु हों वहीं सत्प्रतिपक्ष होता है अन्यथा नहीं। जब एक पक्ष बलवान् हो जाता है तो वह बाधित हो जाता है। उदाहरणतः यदि एक अनुमान को श्रुति बाधा पहुंचा रही हो तो वह बाधित होगा क्योंकि श्रुति प्रमाण, अनुमान प्रमाण का तुल्य बल नहीं है प्रत्युत अधिक बलवान् है।

असिद्ध तीन प्रकार का है-आश्रयसिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वसिद्ध :-गौतम ने असिद्ध को साध्यसम कहा है। अर्थात् जो साध्य के समान हो। अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार साध्य संदिग्ध होता है उसी प्रकार जहाँ हेतु भी संदिग्ध हो वह साध्यसम है। असिद्धि का अर्थ है सिद्धि न होना अर्थात् व्याप्य हेतु का पक्ष में न होना। इस प्रकार असिद्धि परामर्श में बाधा डालती है। परामर्श के तीन भाग हैं-व्याप्ति पक्षता और पक्षधर्मता या हेतुता। जहा ंपक्ष में कोई दोष हो वहां आश्रयासिद्ध, जहां हेतु में दोष हो स्वरूपासिद्ध, और जहां व्याप्ति में दोष हो वहां व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होता है। अन्नम्भट्ट ने असिद्ध का कोई लक्षण नहीं दिया। आश्रयासिद्ध का लक्षण है-पक्षतावच्छेदकाभाववत्पक्षकः अर्थात् जहाँ हेतु पक्ष को अविच्छन्न न करे। उदाहरणतः-गगनारविंद सुगन्धित है क्योंकि वह अरविन्द है। अब यहां गगनारिंवद ही नहीं है अर्थात् अरविन्द को जिस गगनीयत्व से विशिष्ट बतलाया जा रहा है, वह गगनीयत्व अरविन्द में रहता ही नहीं। इस प्रकार यहाँ गगनीयत्व पक्षतावच्छेदक धर्म है क्योंकि यह गगनारविंद का धर्म है और वह अरविंद में नहीं है। जब विशेष्य विशिष्ट में न रह सके तो फिर उसे विशेषण में मान लिया जाता है-सति विशेष्ये बाधे विशिष्ट बुद्धिर्विशेषणमुपसंक्रामति। वर्तमान उदाहरण मे यद्यपि आश्रय अरविन्द असिद्ध नहीं है किन्तु उसमें गगनीयत्व असिद्ध है। एक ऐसा असिद्ध भी हो सकता है जहां पक्ष की सत्ता ही न हो। दीपिका में सिद्ध साधन भी आश्रयासिद्ध है। नव्यनैयायिक इसे निग्रहस्थान मानते हैं। स्वरूपासिद्ध इस कारण स्वरूपासिद्ध कहलाता है क्योंकि इसमें हेतु स्वयं ही असिद्ध होता है। उदाहरणतः यदि कोई शब्द को चाक्षुष होने के कारण नित्य कहे तो यह हेतु स्वरूपासिद्ध होगा क्योंकि चाक्षुषत्व शब्द में रहता ही नहीं। आश्रयासिद्ध में आश्रय ही असिद्ध होता है जबकि स्वरूपासिद्ध में आश्रय तो वास्तविक होता है किन्तु उसमें हेतु नहीं होता। इस सम्बन्ध में स्वरूपासिद्ध, सहव्यभिचार, सत्प्रतिपक्ष और बाधितता का पूरक है। सव्यभिचार सपक्ष सत्त्व, विपक्ष व्यावृत्ति में बाधा पड़ने पर होते हैं जबकि सत्प्रतिपक्ष और बाधित अन्तिम दो शर्तो असत्प्रतिपक्षत्व तथा अबाधितत्व के पूरा न होने पर होते हैं। स्वरूपासिद्ध पहली शर्त अर्थात् पक्ष-धर्मत्व के न होने पर होता हैं। यहां हेतु वास्तविक है किन्तु उसमें पक्षधर्मता नहीं है। व्याप्यत्वासिद्ध वहां होता है जहां लिंग सोपाधिक

हो। जब हेतु साध्य के साथ व्याप्त नहीं होता तो वह व्याप्यत्वासिद्ध कहलाता है। स्वरूपासिद्ध हेतु पक्ष में नहीं रहता जबकि व्याप्यत्वासिद्ध हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति नहीं होती। स्वरूपासिद्ध हेतु से पक्षधर्मता दुष्ट होती है, व्याप्यत्वासिद्ध हेतु से व्याप्ति। उदाहरणतः - पर्वतो धूमवान् विह्नमत्त्वात् व्याप्यत्वासिद्ध है। व्याप्ति की यह असिद्धि या तो तब होती है जबकि उस व्याप्ति की सिद्धि न हो सके या उपाधि या किसी शर्त के लग जाने से उस व्याप्ति की साधुता अप्रमाणित हो जाए। इस प्रकार व्याप्यत्वासिद्ध दो प्रकार का है-(1) साध्येनासहचरितः (2) सोपाधिकसाध्यसंबंधः अर्थात् या तो किसी साध्य के साथ व्याप्ति न हो या साध्य के साथ व्याप्ति हो तो सोपाधिक ही हो। उदाहरणतः - शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्। यद्यत्सत्तत्क्षणिकं यथा घनः। यहां सत्त्व और क्षणिकत्व की व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती।

ऊपर जो कांचनमय धूम का उदाहरण दिया है वह भी इसी प्रकार का है। सोपाधिक अनुमान का उदाहरण है - पर्वतो धूमवान् वह्नेः यहां वह्नि धूमव्याप्य नहीं है। किन्तु वह एक शर्त पूरा करे तो धूमव्याप्य होती है। वह शर्त है-आर्द्रेन्धनसंयोगे सति अर्थात् जहां वह्नि के साथ आर्द्र ईंधन होगा तभी वहां धूम होगा। इस प्रकार आर्द्र ईंधन का संयोग एक शर्त हो गई है। इन दोनों ही स्थानों पर व्याप्यत्वासिद्ध दोष है। अन्नम्भट्ट ने व्याप्यत्वासिद्ध को सोपाधिक हेतु कहा है। असिद्ध और सव्यभिचार में आखिर भेद क्या है ? व्याप्यत्वासिद्ध और साधारण सव्यभिचार का भेद और भी सूक्ष्म है। व्यभिचार विधिपरक है, व्याप्यत्वासिद्ध निषेधपरक। व्यभिचार में व्याप्ति वस्तुतः बाधित होती है, असिद्ध में व्याप्ति का केवल अभाव होता है। व्यभिचार में व्याप्ति मिथ्या होती है, असिद्ध में इस सम्बन्ध में संदेह रहता है कि वह सत्य है या मिथ्या। अतः व्यभिचार अधिक स्पष्ट दुष्ट हेतु है। असिद्ध का दोष उतनी सरलता से नहीं पकड़ा जा सकता। बहुत स्थानों पर हमें असिद्ध का आभास तो हो जाता है किन्तु वहां हम उपाधि नहीं खोज पाते।

सोपाधिक जानने के लिये उपाधि का जानना आवश्यक है। उदयन ने उपाधि का अर्थ दिया है- उप समीपवर्तिनी आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्ममित्युपाधिः। अर्थात् जो अपने गुणों को अपने निकटवर्ती पदार्थ में संक्रमित कर दे। जैसे जपाकुसुम स्फटिक में अपनी लालिमा को प्रतिबिम्बित कर देता है यद्यपि स्फटिक वस्तुतः लाल नहीं होता। तो यह कुसुम उपाधि हुआ। इस प्रकार उपाधि परिस्थिति या शर्त है जोकि किसी पदार्थ को थोड़ी देर के लिए हमें किसी और रूप में दिखला देती है। जैसे धुआं साधारणतः तो अग्नि से ही उत्पन्न होने वाला मालूम होता है, किन्तु इसके उत्पादन का वास्तविक कारण गीला ईंधन है। अतः गीला इरं्धन उपाधि हुआ। किन्तु यह नियम नहीं है कि जहां अग्नि हो वहां गीला ईंधन हो ही। उदाहरणतः प्रतप्त लोहे के गोले में गीला इरं्धन नहीं होता। दीपिका में चार प्रकार की उपाधि हैं-(1) जो साध्य के साथ सदा रहती है (2) जो पक्षधर्मावच्छिन्न साध्य के साथ केवल रहती है (3) जो साधनावच्छिन्न साध्य के साथ रहती है (4) जो उदासीनधर्मावच्छिन्न साध्य के साथ रहती है। गीले इरं्धन का संयोग प्रथम प्रकार की उपाधि है क्योंकि जहां साध्य धुआं होगा वहां गीला इरं्धन जरूर होगा। दूसरे प्रकार की उपाधि का उदाहरण है-वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्। यहाँ उद्भूत रूपवत्त्व होने पर ही प्रत्यक्ष हो सकता है किन्तु मानस प्रत्यक्ष में यह उद्भूत रूपतत्त्व नहीं होने पर भी प्रत्यक्षत्त्व होता है। अतः उद्भव रूपवत्त्व केवल बाह्य पदार्थ सम्बन्धी प्रत्यक्ष के लिये ही आवश्यक है। इस प्रकार उद्भूत रूपवत्त्व एक उपाधि है जो कि केवल बाह्य द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिये ही आवश्यक होती है और यह बहिर्द्रव्य-प्रत्यक्षत्व पक्ष, वायु में रहता है।

तीसरा भेद थोड़ा जटिल है। इसका उदाहरण है-ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात् यहाँ भावत्व उपाधि है क्योंकि 'यद्यज्जन्यं तत्तद्विनाशि यह व्याप्ति भाव पदार्थो के बारे में ही सत्य है, और इसके साथ

'भावत्वे सति' की शर्त है। जो पदार्थ अनित्य हो उसके लिए भावत्व की शर्त जरूरी है। यह वही है जहां कि पदार्थ जन्य है। क्योंकि प्रागभाव भाव वस्तु नहीं है किन्तु अजन्य और अनित्य है। अतः भावत्व जन्य पदार्थों के अनित्यत्व की ही उपाधि है, अजन्य पदार्थों के अनित्यत्व की नहीं। किन्तु ऊपर के उदाहरण में जन्यत्व साधन है और अनित्यत्व साध्य है। इस प्रकार भावत्व साधनावच्छिन्नसाध्य व्यापक है। इसी प्रकार गर्भस्थो ंमित्रातनयः श्यामः, मित्रातनयत्वात्, मित्रातनयवत् में शाकपाकजत्व उपाधि है। क्योंकि श्याम वर्ण पुत्रा वही हैं जिनके गर्भ में होने पर मित्रा ने वनस्पति खाई है, दूध इत्यादि नहीं। मित्रा के दूसरे पुत्रा जिन्हें मित्रा ने दूध इत्यादि का भोजन करते हुए जन्म दिया, काले नहीं हैं।

'प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वात्' चौथी प्रकार की उपाध का उदाहरण है। यहां भावत्व उपाधि है क्योंकि वही प्रमेय पदार्थ जो भावरूप है, विनाशी है, किन्तु भावत्व अनितत्व की उपाधि है और वह भी वहीं जहाँ पदार्थ अन्य हों अर्थात् यह जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्व की उपाधि है। यहां जन्यत्व न साधन है, न पक्षधर्म प्रत्युत एक उदासीन धर्म है। बाधित हेत्वाभास वहां होता है जहां साध्याभाव किसी अन्य प्रमाण से निश्चित हो जाये। यहाँ वह प्रमाणान्तर, जिससे साध्याभाव निश्चित हो, साध्य के साधक प्रमाण से बलवत्तर होना चाहिये, क्योंकि यदि दोनों प्रमाण तुल्यबल होंगे तो सत्प्रतिपक्ष होगा बाधित नहीं। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार प्रमाणान्तर से जो साध्याभाव का ज्ञान हो, वह प्रमाणात्मक होना चाहिये, किन्तु नव्य नैयायिकों के अनुसार यह आवश्यक नहीं है।

3.6 सारांश

अनुमान के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता हैं उसका नाम अनुमिति है। किसी पर्वत पर धुआँ उठता हुआ देखकर वहाँ पर आग के अस्तित्व का ज्ञान अनुमिति है और यह ज्ञान जिस प्रक्रिया से उत्पन्न होता है उसका नाम अनुमान है। प्रत्यक्ष (इंद्रिय सन्निकर्ष) द्वारा जिस वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान नहीं हो रहा हो , उसका ज्ञान किसी ऐसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर, जो उस अप्रत्यक्ष वस्तु के अस्तित्व का संकेत दे, अनुमान कहलाता है। परामर्श अनुमान से अनुमिति तक पहुँचने की प्रक्रिया है। अनुमान में अनुमिति परामर्श पर आधारित है। अतः न्यायदर्शन में परामर्श और परामर्श के दो घटक तत्व, व्याप्ति और लिंग, पर बहुत बल है। लिंग या हेतु वह है जिससे किसी पदार्थ का व्याप्ति द्वारा ज्ञान होता है। साध्य वह पदार्थ है जिसका अनुमान करना है। लिंग और साध्य (जिस पदार्थ का अनुमान करना है) का पारस्परिक सम्बन्ध व्याप्ति है। इस सम्बन्ध के अनुसार लिंग और साध्य सदा साथ-साथ रहते हैं। हेतु और साध्य और उनका पारस्परिक सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति-यदि इन तीन को समझ लिया जाये तो अनुमान का ज्ञान हो सकता है। अन्नंभट्ट ने परामर्श का लक्षण व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान बतलाया है। किन्तु वह हेतु व्याप्ति-विशिष्ट के साथ-साथ पक्षधर्मताविशिष्ट भी होना चाहिये। पर्वत पर धुआं का दिखाई देना पक्षधर्मता का ज्ञान है। यह जब व्याप्ति स्मरण के साथ मिल जाता है तो परामर्श बन जाता है।

अनुमान दो प्रकार का है-स्वार्थ और परार्थ। इनमें स्वार्थ वह है जिसमें स्वयं को अनुमिति हो। जैसे कोई स्वयं ही बार-बार देखकर 'जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है, जैसे रसोईघर में' व्याप्ति ग्रहण करके पर्वत के समीप जाकर उसमें अग्नि का संदेह होने पर पर्वत में धूम को देखकर 'जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि है, ऐसी व्याप्ति का स्मरण करता है। इसके अनन्तर पर्वत वह्विव्याप्य धूम वाला है यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यही लिङ्गपरामर्श कहलाता है। इससे पर्वत

वह्नि वाला यह अनुमिति ज्ञान उत्पन्न होता है। यह स्वार्थानुमान है। जब स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरे को समझाने के लिए पंचावयव वाक्य का प्रयोग किया जाता है वह परार्थानुमान है। जैसे 'पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि यह धूमवान् है जो-जो धूमवान् होता है वह वह वह्निमान् होता है, जैसे रसोईघर,.वैसा ही यह भी है, अतः इसमें भी वैसी ही अग्नि है'। इस प्रकार कहे गये लिङ्ग से दूसरा भी अग्नि का ज्ञान कर लेता है। जो अपने लिये हो वह स्वार्थ है और जो दूसरे के लिये हो वह परार्थ।

इसके पाँच अवयव माने गए हैं - प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। अनुमान के अन्य भेदों में गौतम ने पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट भेद बतलाये हैं। पूर्ववत् का अर्थ है कारण से कार्य का अनुमान। शेषवत् का अर्थ है कार्य से कारण का अनुमान। इसके अतिरिक्त जितने अनुमान हैं ये सामान्यतोदृष्ट हैं। अनुमान का विभाजन केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि, और अन्वयव्यतिरेकि के रूप में भी किया गया है। ऐसा निर्णय जो केवलान्वयी हेतु के आधार पर हो केवलान्वयि और जो केवलव्यतिरेकी हेतु के आधार पर हो केवलव्यतिरेकि कहलाता है। जहाँ हेतु ऐसा हो जो अन्वयी भी हो और व्यतिरेकि भी वहां यह अनुमान अन्वयव्यतिरेकि कहलाता है।

हेत्वाभास पांच हैं-सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित। हेत्वाभास का एक अर्थ हो सकता है जो हेतु जैसा दिखाई पड़े। अतः जो हेतु दुष्ट होता है वह हेत्वाभास होता है ऐसा प्रतिपादित है। यदि हेत्वाभास का अर्थ हेतु के दोष माना जाय तो उचित है। वस्तुतः हेत्वाभास में हेतु के दोषों के ही प्रकार बताये गये हैं, दुष्ट हेतु के प्रकार नहीं बताये गये हैं। सव्यभिचार का अर्थ है कि व्यभिचारसहित, व्यभिचार का अर्थ है हेतु का साध्याभाव के साथ रहना। सव्यभिचार के तीन भेद हैं-साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी। साधारण वह है जिसमें अतिव्याप्ति हो अर्थात् जो सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहे या यों कहें कि जो साध्य और साध्य के अभाव दोनों में व्याप्त हो। असाधारण साधारण का विरुद्ध है अर्थात् जो न सपक्ष में हो न विपक्ष में। विपक्ष में तो कोई हेतु रहता ही नहीं किन्तु असाधारण हेत्वाभास सपक्ष में भी नहीं रहता। अनुपसंहारी हेत्वाभास वह है जिसका न सपक्ष दृष्टान्त हो न विपक्ष दृष्टान्त। अर्थात् जो पक्ष के अतिरिक्त जहां-जहां साध्य हो वहां-वहां न रहे। जो हेतु साध्याभाव से व्याप्त हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है। जहां निर्णय संदिग्ध हो और जहां समान बलवान तर्क उसके विरुद्ध भी हो सत्प्रतिपक्ष है। विरुद्ध का अर्थ है ऐसा हेतु जो साध्य के अभाव के साथ व्याप्त हो। असिद्धि का अर्थ है सिद्धि न होना अर्थात् व्याप्य हेतु का पक्ष में न होना। इस प्रकार असिद्धि परामर्श में बाधा डालती है। असिद्ध तीन प्रकार का है-आश्रयसिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वसिद्ध। परामर्श के तीन भाग हैं-व्याप्ति पक्षता और पक्षधर्मता या हेतुता। जहा ंपक्ष में कोई दोष हो वहां आश्रयासिद्ध, जहां हेतु में दोष हो स्वरूपासिद्ध, और जहां व्याप्ति में दोष हो वहां व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होता है। बाधित हेत्वाभास वहां होता है जहां साध्याभाव किसी अन्य प्रमाण से निश्चित हो जाये। यहाँ वह प्रमाणान्तर, जिससे साध्याभाव निश्चित हो, साध्य के साधक प्रमाण से बलवत्तर होना चाहिये, क्योंकि यदि दोनों प्रमाण तुल्यबल होंगे तो सत्प्रतिपक्ष होगा, बाधित नहीं।

3.7 पारिभाषिक शब्द

अनुमान,अनुमिति,परामर्श,लिंग या हेतु,पक्ष,सपक्ष, विपक्ष, व्याप्ति, साध्य, स्वार्थानुमान, परार्थानुमान, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण,उपनय, निगमन, पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट,

हेत्वाभास, सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध, बाधित।

3.8 सन्दर्भग्रन्थ

1) तर्कसंग्रह : (स्वोपज्ञव्याख्यातर्कदीपिकासहितः), (व्याख्याकार) डॉ. दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2012।

2) तर्कसंग्रह : (स्वोपज्ञव्याख्यातर्कदीपिकापदकृत्यतर्कमीमांसासहितः), (व्याख्याकार) डॉ. राजेश्वरशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2013।

3) भारतीय दर्शन, दत्ता एवं चटर्जी, पुस्तक भण्डार, पटना, 1969।

4) Tarka Sangraha of Annambhatta (with Deepika & Nyaya Bodhini), (Ed. & Tr.) Athalye & Bodas, Mumbai, 1930.

3.9 बोध प्रश्न

1) अनुमान प्रमाण के स्वरूप का विवेचन कीजिए?
2) अनुमान के द्विविध भेदो का विस्तृत वर्णन कीजिए?
3) पंचावयव अनुमान स्पष्ट कीजिये ?
4) व्याप्ति का अनुमान में महत्व बताइये ?
5) हेतु के त्रिविध प्रकारो का वर्णन कीजिए?
6) पञ्च हेत्वाभासो का निरूपण कीजिए?

खण्ड 3
शब्द, उपमान तथा अन्य प्रमाण

तृतीय खण्ड का परिचय

एम. ए. हिन्दू अध्ययन के तृतीय पाठ्यक्रम के शब्द, उपमान तथा अन्य प्रमाण नामक तृतीय खण्ड में आपका स्वागत है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान, इन दोनों प्रमुख प्रमाणों का अध्ययन करने के पश्चात् भारतीय ज्ञान-मीमांसा के अन्तर्गत पाए जाने वाले अन्य प्रमाणों का अध्ययन आप करेंगें। इस खण्ड में कुल 4 इकाईयाँ हैं। प्रथम इकाई में शब्द प्रमाण को परिभाषित करते हुए उसके स्वरूप का निरूपण किया गया है। साथ ही शब्द प्रमाण के साधनों एवं सीमाओं पर भी प्रकाश डाला गया है। शब्द अपने अर्थों को द्योतित करते हैं। इन अर्थों की प्रतिपत्ति के सन्दर्भ में भारतीय परम्परा में शब्द की शक्तियों को कल्पित किया गया है। इस विषय का विवरण द्वितीय इकाई में प्रस्तुत है। तृतीय इकाई में उपमान प्रमाण की परिभाषा एवम् उसके स्वरूप को निरूपित किया गया है। इसके पश्चात् अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि नामक प्रमाणों को परिभाषित करते हुए इनके स्वरूप का वर्णन अन्तिम इकाई में प्रस्तुत है। इस खण्ड का अध्ययन करने के बाद आप शब्द, उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि प्रमाणों को समझाने में सक्षम हो जाएँगें।

इकाई 1 शब्द प्रमाणः परिभाषा एवं स्वरूप, साधन एवं सीमाएँ

इकाई की रुपरेखा

1.0 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थी ! आप एम0 ए0 हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम के तृतीय खण्ड (शब्द, उपमान एवं अन्य प्रमाण) के इकाई सं0 01 "शब्द प्रमाण" का अध्ययन करने जा रहें हैं। जिसके अध्ययन से आप –

- जैन दर्शन में शब्द प्रमाण के अन्तर्गत आगम प्रमाण के स्वरूप।
- सांख्य एवं योग दर्शन में शब्द प्रमाण आप्तश्रुति है और आप्तश्रुति ही आप्तवचन या शब्दप्रमाण है।
- न्याय दर्शन में शब्द प्रमाण एवं वाक्यार्थ ज्ञान का स्वरूप।
- मीमांसा दर्शन में शब्द प्रमाण के अन्तर्गत अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद का ज्ञान।
- वेदान्त दर्शन में शब्द प्रमाण वाक्यार्थज्ञान के सहकारीकारण – आकांक्षा योग्यता सन्निधि एवं तात्पर्य का ज्ञान।
- शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता के सन्दर्भ में न्याय एवं मीमांसा में पूर्वपक्ष एवं सिद्धान्तपक्ष का ज्ञान।

1.1 प्रस्तावना

दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम् – इस व्युत्पत्ति से दर्शन साधन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दर्शन वह शास्त्ररूप साधन है जिससे तत्त्व जाना जाता है। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार तत्त्व का समग्र ज्ञान यदि करना है तो पहले प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति (प्रमा) को जानना आवश्यक है। "**प्रमाता-प्रमाणं प्रमेयंप्रमितिरिति चतसृषु विधासु तत्त्वं परिसमाप्यते"** (न्यायभाष्य)।[1]

प्रमा का '**अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्'**[2] यह लक्षण किया गया है। अनधिगत'— ऐसा विषय जो पूर्व में ज्ञात न हुआ हो। 'अबाधित'—ऐसा विषय जो दूसरे प्रमाण से (उत्तर ज्ञान से) मिथ्या सिद्ध न होने वाला हो अर्थात् बाधित न होने वाला हो। ऐसा विषय जिस ज्ञान है वह 'प्रमा' कहा जाता है। अर्थात् पूर्व में अज्ञात एवं अबाधित ज्ञान प्रमा कहलाता है। प्रमा (यथार्थज्ञान) का जो करण (साधन) है वह **प्रमाण** है। प्रमा (यथार्थज्ञान) के करण को प्रमाण कहते हैं। करण कहते है- व्यापारवत् साधकतम को। व्यापारवत से आशय क्रिया से युक्त हो तथा साधनों में सबसे प्रमुख साधन हो उसे करण कहते है। जैसे लकडी को काटने में कुल्हाडी क्रिया से युक्त है तथा अन्य साधनों (हाथ इत्यादि) की अपेक्षा प्रमुख साधन है। उसी प्रकार प्रमा की प्राप्ति में जो क्रिया से युक्त हो एवं अन्य साधनों (हाथ इत्यादि) की अपेक्षा प्रमुख साधन भी हो वह प्रमाण है। मीमांसक पार्थसारथि मिश्र के अनुसार प्रमाण --

कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्।[3] अर्थात जिस ज्ञान में अज्ञात वस्तु का अनुभव हो, अन्य ज्ञान से बाधित न हो एवं दोष रहित हो, वही 'प्रमाण' है। भारतीय दर्शन में प्रत्येक सम्प्रदाय में प्रमाणों की संख्या भिन्न भिन्न स्वीकार की गयी है -

चार्वाक - केवल 'प्रत्यक्ष' (एकमात्र प्रमाण) –प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितया अनुमानादेः अनङीकारेण प्रामाण्याभावात्[4]

[1] झा, महेश, न्यायसूत्र-वात्स्यायनभाष्य, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ओफिस, वाराणसी, 2013 पृ० 116

[2] मुसलगाँवकर, गजानन, वेदान्तपरिभाषा-प्रत्यक्ष परिच्छेद(धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत), चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, नई दिल्ली,2010, पृ०13

[3] झा, धर्मदत्त, शास्त्रदीपिका (पार्थसारथि मिश्र कृत) 1.1.5, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2003, पृ 178.

[4] शर्मा, उमाशंकर,सर्वदर्शनसंग्रह (माधवाचार्य कृत) -चार्वाक मत, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, नई दिल्ली,2009 पृ०5

वैशेषिक[5] और बौद्ध[6] मत 'प्रत्यक्ष और अनुमान' (दो प्रमाण)

सांख्य[7] एवं योग[8] मत - प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम (शब्द) (तीन प्रमाण)

न्यायमत[9] – प्रत्यक्ष ,अनुमान, शब्द एवं 'उपमान' (चार प्रमाण)

प्राभाकर मीमांसक[10] - प्रत्यक्ष ,अनुमान, शब्द ,उपमान और 'अर्थापत्ति' (पाँच प्रमाण)

पौराणिक मत[11] - प्रत्यक्ष ,अनुमान, शब्द ,उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव तथा 'ऐतिह्य' सात प्रमाण हैं।

उक्त सभी मतों से भिन्न पूर्वमीमांसा के भाट्टसम्प्रदाय एवं अद्वैतवेदान्त वेदान्त में छः प्रमाण स्वीकार किए हैं -1. प्रत्यक्ष 2. अनुमान 3. उपमान 4. आगम (शब्द) 5. अर्थापत्ति 6. अनुपलब्धि।[12]

भारत के लगभग सभी दर्शन शब्द ज्ञान को स्वीकार मानते हैं। वैदिक परम्परा में अपौरूषेय वेदसर्वोपरि प्रमाणभूत है और परम्परा में हितोपदेशी तथा आप्त व्यक्ति के वचनों से उत्पन्न ज्ञान को प्रमाण माना है। शब्द प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण मानने के विषय में जहाँ एक और जैन,सांख्य,योग, न्याय, मीमांसा और वेदान्त दर्शन शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करते हैं वहीं दूसरी और चार्वाक, वैशेषिक और बौद्ध शब्द प्रमाण को स्वीकार नहीं करते हैं।

1.2 जैन दर्शन में शब्द प्रमाण

जैन आगमिक परम्परा में ज्ञान के पांच भेद हैं - 1.मति 2 श्रुत 3.अवधि 4. मनःपर्याय और 5. केवलज्ञान –

"मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्"।[13] वहाँ इन पाँच ज्ञानों को पुनः दो भागों में विभाजित किया गया है 1-प्रत्यक्ष 2. परोक्ष। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का कहा गया है-(1) केवल ज्ञान और (2) नोकेवलज्ञान। नोकेवलज्ञान के पुनः दो भेद किये गये हैं--(1) अवधि और (2) मनःपर्यय। तथा परोक्षज्ञान भी दो प्रकार से वर्णित है-(1) मति और (2) श्रुतज्ञान। श्रुतज्ञान ही शब्द प्रमाण है। अर्थात् जैन दर्शन में शब्द प्रमाण परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत आता है।

---

5 शास्त्री, ढुण्ढिराज, वैशेषिक सूत्र -प्रशस्तपादभाष्य, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पृ० 156.

6 प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते - स्वामी, योगीन्द्रानन्द, प्रमाणवार्तिक (आचार्य धर्मकीर्ति कृत) 2.63, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी,2013, पृ० 346.

7 दृष्टमनुमानमापतवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि॥ - शास्त्री, राकेश, सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्ण कृत) कारिका सं० 03, परिमल प्रकाशन, दिल्ली, 2014, पृ० 58

8 प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि १.७ - श्रीवास्तव, सत्यनारायण, योगसूत्र-व्यासभाष्य, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 2009, पृ० 47.

9 यथार्थनुभवश्चतुर्विधः प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात्। तत्करणमपि चतुर्विधं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात् - भार्गव, दयानन्द, तर्कसंग्रह (अन्नम्भट्ट),मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ० 112.

10 मिश्र, मण्डन, मीमांसा दर्शन-प्रमाण परिच्छेद, रमेश बुक डिपो, जयपुर, 1955, पृ० 377

11 पूर्ववत्

12 तानि च प्रमाणानि षट् - प्रत्यक्षानुमानौपमानागम-अर्थापत्तिअनुपलब्धिभेदात् - वि० शास्त्री, केशवलाल (अनु०), वेदान्तपरिभाषा (धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत) चौखम्भा संस्कृत सीरीज ओफिस, दिल्ली, 2012, पृ० 06

13 तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १.४

1.2.1 श्रुत ज्ञान (शब्द प्रमाण) का स्वरूप

जैन दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य विद्यानन्द ने श्रुतज्ञान का स्वरूप को बताते हुए कहा है कि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विगमविशेष से श्रवण करना श्रुत कहा है। इनके मत से जो वाच्य अर्थ आप्तवाक्य द्वारा सुना जा चुका है, वह अपने और वाच्यार्थ को जानने वाला आगमज्ञानरूप श्रुतज्ञान है। जैन दर्शन में श्रुत शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी श्रुतज्ञान के अर्थ में निहित है। यथा—

श्रुतेऽनेकार्थतासिद्धे ज्ञानमित्यनुवर्तनात्।
श्रवणं हि श्रुतज्ञानं न पुनः शब्दमात्रकम्॥[14]

आशय यह है कि श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष की अपेक्षा से उत्पन्न हुआ और अविनाभावी अनेक अर्थान्तरों का निरूपण वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है।

जैन दर्शन में श्रुतज्ञान अर्थात् शब्द प्रमाण को आगम भी कहा गया जो जैन मुनियों के द्वारा कहा गया है अथवा जैन ग्रन्थों में निबद्ध है –

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः।[15]

(जो न्यूनता बिना, अधिकता बिना, विपरीता बिना यथातथ्य वस्तुस्वरूप को निःसंदेह रूप से जानता है उसे आगमवंतों का ज्ञान कहते हैं)

वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादि
सम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानभेदरत्नत्रयस्वरूपं यत्र प्रतिपाद्यते
तदागमशास्त्रं भण्यते।[16]

(वीतराग सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे गये षड्द्रव्य व सप्त तत्त्व आदि का सम्यक्श्रद्धान व ज्ञान तथा व्रतादि के अनुष्ठान रूप चारित्र, इस प्रकार भेद रत्नत्रय का स्वरूप जिसमें प्रतिपादित किया गया है उसको आगम या शास्त्र कहते हैं।)

1.2.2 श्रुतज्ञान का प्रामाण्य

जैनाचार्यों ने श्रुतज्ञान को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक, बौद्ध आदि दार्शनिकों का खण्डन किया है। उनका कहना है कि इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान जैसे अपने और अपने विषय के जानने में संवादी होने के कारण भी प्रमाण रूप माना जाता है। उसी प्रकार स्व और अर्थ के जानने में सम्वादी होने के कारण श्रुतज्ञान भी प्रमाण रूप है। तथा जैन दार्शनिकों का यह भी कहना है कि चार्वाकों और बौद्धों के अपने शास्त्र हैं और उनको पढ़कर उनको जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान से भिन्न ज्ञान नहीं है। उनका यह भी कहना है कि इस शब्दजन्य श्रुज्ञान के अभाव में गूँगे और वाग्मी में कोई विशेषता नहीं रहेगी क्योंकि मूर्ख को पण्डित बताने में या बालक को उतरोत्तर ज्ञानशाली बताने में शब्द ही प्रधान कारण है। जैनाचार्यों का कहना है कि कहीं कहीं विसम्वाद हो जाने के कारण यदि सभी श्रुतज्ञानों को अप्रमाण ठहराया जायेगा तो सीप में चांदी

---

[14] तत्त्वार्थ श्लो. 1/20/1

[15] रत्नकरंड श्रावकाचार - श्लोक 42

[16] रत्नकरंड श्रावकाचार - श्लोक 42

का ज्ञान होना, एक चन्द्रमा को दो जान लेना आदि प्रत्यक्षों के अप्रमाण हो जाने से सभी प्रत्यक्ष अप्रमाण हो जायेंगे, यह ठीक है कि प्रत्यक्षाभास के समान श्रुताभास भी मान लिया जाय, किन्तु उनका श्रुतज्ञान को एकदम अप्रमाण ठहराना कदापि उचित नहीं है। भारत के सभी धर्म और दर्शन श्रुत — आगम ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। वैदिक परम्परा में अपौरुषेय वेद सर्वोपरि प्रमाणभूत हैं और श्रमण परम्परा में सर्वज्ञ, वीतरागी एवं हितोपदेशी व्यक्ति के वचनों से उत्पन्न ज्ञान को प्रमाण माना है। व्यक्ति के निर्दोष और पूर्ण ज्ञानी होने से उसके द्वारा प्रतिपादित वचनों में किसी भी प्रकार की त्रुटि या भूल नहीं हो सकती। अतः प्रत्यक्ष समान आगम अथवा श्रुतज्ञान को भी प्रमाण माना गया है।

इस प्रकार जैन दर्शन में श्रुतज्ञान या आगम का बहुत महत्त्व है। यह श्रुतज्ञान अमृत समान हितकारी है, विषय-वेदना से सन्तप्त प्राणी के लिए परम औषधि है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसका महत्त्व बताते हुए कहा है-

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥[17]

जैन दर्शन में आगम को अनादि कहा गया है। इसके महत्त्व के विषय में जम्बूद्वीप अधिकार ग्रन्थ में कहा गया है कि पूर्व व अंग रूप भेदों में विभक्त, यह श्रुतज्ञान-प्रमाण देवेंद्रों व असुरेंद्रों से पूजित, अनंत सुख के पिंड रूप मोक्ष फल से संयुक्त, कर्मरूप पटल के मल को नष्ट करनेवाला, पुण्य पवित्र, शिव, भद्र, अनंत अर्थो से संयुक्त दिव्य नित्य, कलि रूप कलुष को दूर करने वाला, निकाचित, अनुत्तर, विमल, संदेहरूप अंधकार को नष्ट करने वाला, बहुत प्रकार के गुणों से युक्त, स्वर्ग की सीढ़ी, मोक्ष के मुख्य द्वारभूत, निर्मल, एवं उत्तम बुद्धि के समुदाय रूप, सर्व के मुखसे निकला हुआ, पूर्वापर विरोध रूप दोष से रहित विशुद्ध अक्षय और अनादि कहा गया है –

देवासुरिंदमहिय अणंतसुहपिंडमोक्खफलपउरं।
कम्ममलपडलदलणं पुण्ण पवित्तं सिवं भद्दं ॥

पुव्वंगभेदभिण्णं अणंतअत्थेहिं सजुदं दिव्वं।
णिच्चं कलिकलुसहरं णिकाचिदमणुत्तरं विमलं ॥

संदेहतिमिरदलणं बहुविहगुणजुत्तंसग्गसोवाणं।
मोक्खग्गदारभूदं णिम्मलबुद्धिसंदोहं ॥

सव्वण्हुमुहविणिग्गयपुव्वावरदोसरहिदपरिसुद्धं।
अक्खयमणादिणिहणं सुदणाणपमाणं णिद्दिट्ठं ॥[18]

1.2.3 श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान के मूल दो भेद हैं- द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। आप्त के उपदेश तथा द्वादशांगवाणी को द्रव्यश्रुत और उससे होने वाले ज्ञान को भावश्रुत कहते हैं। इसी कारण द्रव्यश्रुत को ग्रन्थरूपश्रुत

[17] दंसणपाहुड गाथा 17
[18] जंबूदीव-पण्णत्तिसंगहो अधिकार 13/80-83

और भावश्रुत को ज्ञानरूप श्रुत भी कहते हैं। ग्रन्थरूपश्रुत के मूल दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। साक्षात् तीर्थंकर जिस अर्थ को अपनी पवित्र वाणी से प्रकट करते हैं और गणधर जिसका सूत्र रूप में ग्रन्थन करते हैं उसे "अंगप्रविष्ट" कहते हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशांग, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण विपाकसूत्र और दृष्टिवाद आदि के भेद से बारह प्रकार का है तथा जो गणधर परम्परा के आचार्यों के द्वारा शिष्य के हितार्थ जो रचा जाता है, वह "अंगबाह्य" है। वह दशवकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प व्यवहार, कल्पाकल्प, कहाकल्प आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। यह अंगबाह्य अंगप्रविष्ट के समान ही प्रमाण रूप है, क्योंकि गणधर परम्परा के आचार्यों ने अंगप्रविष्ट ग्रन्थों को आधार बनाकर ही कालदोष से कम आयु, बल और बुद्धि वाले शिष्यों के हितार्थ दशवकालिक आदि ग्रन्थों की रचना की है। इसलिए इन ग्रन्थों की उतनी ही प्रामाणिकता है, जितनी गणधरों और तीर्थकरों के द्वारा रचित सूत्रों की है, क्योंकि ये अर्थ की दृष्टि से सूत्र ही हैं, जैसे क्षीरसागर से घड़े में भरा हुआ जल क्षीरसागर के जल से भिन्न नहीं होता है वैसे ही अंगबाह्य अंगप्रविष्ट से भिन्न नहीं है।

1.3 सांख्य दर्शन में शब्द प्रमाण

सांख्यदर्शन का मुख्य विवेच्य प्रकृति और पुरुष है। प्रकृति और प्रमेय हैं। इसी आधार इस दर्शन को प्रमेय विद्या का प्रतिपादक माना जाता है। प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि अर्थात् प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से ही होती है। बिना प्रमाण के प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती है। इन तत्त्वों की सिद्धि में प्रमाण हैं। सांख्य दर्शन में इन तत्त्वों को सिद्ध करने के लिए तीन प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। वे प्रमाण हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन (शब्द प्रमाण)। प्रमाणों की संख्या न तीन से अधिक है और न ही कम। इसीलिए अधोलिखित कारिका में कहा गया है-त्रिविधंप्रमाणमिष्टम्। अर्थात् तीन प्रमाण स्वीकृत हैं –

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणासिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।[19]

(कारिकार्थ : प्रमाण से ही प्रमेय की सिद्धि होती है और (अन्य) सभी प्रमाणों के असिद्ध होने के कारण (सांख्य दर्शन में) तीन प्रमाण स्वीकृत हैं प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवाक्य) यहाँ सांख्यकारिका में शब्द प्रमाण के लिए ही आप्तवचन शब्द का प्रयोग किया गया है।

महर्षि कपिल के अनुसार आप्त व्यक्ति के उपदेश वचन को शब्द प्रमाण कहा जाता है - **आप्तोपदेशः शब्दः।**[20] विज्ञान भिक्षु 'आप्ति' को योग्यता के अर्थ में स्वीकार करते हैं। विज्ञानभिक्षु योग्य शब्द से उत्पन्न ज्ञान को शब्द प्रमा और कारण भूत शब्द को प्रमाण कहते हैं। विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश **'स्वकर्मण्यभियुक्तो रागद्वेषरहितो ज्ञानवान् शीलसम्पन्नः**[21] को आप्त कहते हैं। उन आप्तों के वचनों का शब्द कहा जाता है। ईश्वरकृष्ण **'आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु**[22]' के रूप में शब्द प्रमाण को स्पष्ट करते हैं अर्थात् श्रुति से प्राप्त आप्तश्रुति है और आप्तश्रुति ही आप्तवचन या शब्दप्रमाण है। इसका तात्पर्य है कि श्रुतिवचनों

---

[19] सांख्यकारिका 4

[20] साङ्ख्यसूत्र १।६६

[21] तत्त्वयाथार्थ्यदीपन सं.रा.शं. भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी पृ 23

[22] सांख्यकारिका 4

को सांख्यदर्शन में शब्द प्रमाण माना गया है। श्रुति से प्राप्त आप्तश्रुति है और आप्तश्रुति ही आप्तवचन या शब्दप्रमाण है। इसका तात्पर्य है कि श्रुतिवचनों को सांख्यदर्शन में शब्द प्रमाण माना गया है।

श्रुति क्या है ? सामान्य रूप से श्रुति पद का प्रयोग वेद के लिए किया जाता है। वेद के पर्याय वदों में श्रुति का भी उल्लेख है। वेद में प्रतिपादिक ज्ञान का प्रवाह श्रवण परम्परा से ही दीर्घ काल तक हुआ है, इसीलिए वेद को श्रुति कहते हैं। श्रुति पद की व्युत्पत्ति है - श्रूयते इति श्रुतिः अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य वाक्य श्रुति है।यहाँ श्रुति को वाचस्पति मिश्र '**वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्**[23]' कहते हैं और इसे (श्रुति प्रमाण को) स्वत: प्रमाण कहते हैं। यह स्वत: या स्वतंत्र प्रमाण '**अपौरुषेयवेद वाक्यजनितत्वेन सकलदोषाशंका विनिर्मुक्तेत्युक्तं**[24] होता है। न केवल सकल दोषाशंका रहित होने से अपौरुषेय वेद वाक्य जनित ज्ञान स्वत: प्रमाण होता है अपितु वेदमूलक स्मृति, इतिहास पुराणादि के वाक्य भी शब्द प्रमाण होते हैं। शब्द प्रमाण की यह स्वत: प्रमाणता शब्द की अपना ज्ञान कराने की शक्ति के कारण हैं।

1.4 योग दर्शन में शब्द प्रमाण

योग दर्शन में तीन प्रमाण स्वीकृत हैं - 1. प्रत्यक्ष 2. अनुमान 3. आगम (शब्द)- **प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।**[25] शब्द के लिए आगम शब्द का प्रयोग किया है। व्यास भाष्य (1.1.7) में लिखित है कि अपने बोध का सम्प्रेषण करने के लिए तत्वज्ञानी अर्थात् यथार्थद्रष्टा आप्त पुरुषों द्वारा शब्द के माध्यम से जो उपदेश किया जाता है, वह आगम प्रमाण है। जिस आगम का वक्ता अश्रद्धेय बात कहने वाला तथा (अभिधीयमान) पदार्थ का प्रत्यक्ष या अनुमान न कर सकने वाला हो, वह आगम भ्रष्ट (अप्रामाणिक) होता है। मूलवक्ता के दृष्टानुमितार्थ होने पर आगम होता है ॥ - **आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये शब्देनोपदिश्यते। शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतु- रागमः। यस्याश्रद्धेयार्थी वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते। मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निविप्लवः स्यात् ॥**[26]

यहाँ भाष्य में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि किस प्रकार का शब्द प्रमाण कहा जाता है तथा किस प्रकार के शब्द को अप्रामाणिक कहा जाता है -यस्याश्रद्धेयार्थी वक्ता न दृष्टानुमितार्थः, स आगमः प्लवते जिस आगम का वक्ता पदार्थ के प्रत्यक्ष या अनुमित ज्ञान से शून्य और इसीलिए अश्रद्धेयार्य होता है, वह आगम नाम की वृत्ति प्लुत होती है अर्थात् सदोष होती है अतः इस प्रकार के शब्द को अप्रामाणिक कहा जाता है। उसे प्रमाण की कोटि में अन्तर्भावित नहीं किया जा सकता - **प्रमाणवृत्तिजननासमर्थ इत्यर्थः।**[27]

मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थ निविप्लवः स्यात् - आगम-वृत्ति, सुनने वाले की बुद्धि में बनती है; किन्तु बनती है कहनेवाले के कथन से श्रोता उस वृत्ति का निमित्त नहीं होता, इसलिए इस वृत्ति का मूल कारण अन्य वृत्तियों से असमान अर्थात् प्रमाता से भिन्नस्थानीय होता है। इसलिए इसमें आये हुए 'मूल' शब्द को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए इसीलिए 'वक्तरि' के पहले

---

[23] सांख्यकौमुदी,सांख्यकारिका 5
[24] सांख्यकौमुदी,सांख्यकारिका 5
[25] पतंजलिसूत्र 1.1.7
[26] पतंजलिसूत्र-व्यासभाष्य 1.1.7
[27] योगवार्तिक पृ० ३२

भाष्यकार ने 'मूल' शब्द लगा दिया है। अन्य प्रमाणों में ज्ञान की प्रामाणिकता के विषय में प्रमाता उत्तरदायी होता हैजबकि 'आगम-प्रमाण' में प्रमाता के स्थान पर 'मूलवक्ता' उत्तरदायी होता है। इसीलिए कहा गया है कि जब 'मूलवक्ता' ठीक से अर्थ को प्रत्यक्षीकृत या अनु मित किये होता है, तभी वह आगम निर्दोष एवं शुद्ध होता है। वाचस्पतिमिश्र ने यहाँ पर 'मूलवक्ता' शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है - **मूलवक्तरि हि तत्रेश्वरो दृष्टानुमितार्थः।**[28]

1.5 न्याय दर्शन में शब्द प्रमाण

1.5.1 शब्द प्रमाण का स्वरूप

आप्त = जो व्यक्ति किसी विषय का जाना-माना ज्ञाता हो, और जो किसी बाह्य प्रभाव से अपने मत को झुठला नहीं सकता, ऐसे आप्त पुरुष के वचन प्रामाणिक होते हैं। और ये वचन दो प्रकार के होते हैं – दृष्ट विषयों से सम्बद्ध और अदृष्ट विषयों से सम्बद्ध। आप्त जनों के उपदेश में इतना सामर्थ्य होता है कि कहे शब्द के अर्थ की प्रतीति श्रोता को हो जाती है -

आप्तोपदेशः शब्दः। स द्विविधो दृष्टादृष्तार्थत्वात् ॥[29]
आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसम्प्रत्ययः ॥[30]

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार जिसने यथार्थ वस्तु को देखा हो वह आप्त है चाहे वह ऋषि हो आर्य हो या म्लेच्छ –

साक्षात्करणमर्थस्याऽऽप्तिस्तया प्रवर्तत इत्याप्तः।
ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्।[31]

न्यायदर्शन के प्रकरण ग्रन्थ तर्कसंग्रह के अनुसार आप्त व्यक्ति के वाक्य को शब्द कहते हैं। आप्त का अर्थ है- यथार्थवक्ता (जो रागद्वेषादि से भी असत्य न बोले)। पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। जैसे 'गामानय' यह सुबन्त-तिङन्त पदसमूह वाक्य है। पद कहते हैं शक्त को, अर्थात् जिसमें शक्ति होती है वह पद है। इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए इस प्रकार के ईश्वर के सङ्केत कोशक्ति कहा जाता है। कोई भी पद शक्ति के कारण ही अर्थ का बोध कराता है। प्रत्येक पद के आदि में ईश्वरसंकेतरूप शक्ति है। इस पद से यह अर्थ जानें, यह ईश्वरसंकेत है। उस संकेत से हम लोग विशेष अर्थ में विशेष शब्द का प्रयोग करते हैं, यह नैयायिक-मत है। 'घटपद से घटरूप अर्थ समझना चाहिये, इस प्रकार की ईश्वरेच्छा ही शक्ति है- **आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः। यथा एक गामानयेति शक्तं पदम्। अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसङ्केतः शक्तिः।**[32]

शक्ति का अर्थ है–'स्मृति के अनुकूल पद और अर्थ का सम्बन्ध होना' यही शक्ति का लक्षण है। शक्ति के समान लक्षणा भी पद में रहने वाली (वृत्ति) है। अब लक्षणा क्या है? तो कहते हैं कि शक्य-सम्बन्ध लक्षणा है। शक्तिसम्बन्ध से उपस्थापित अर्थ का अर्थान्तर से सम्बन्ध लक्षणा है। यह तीन प्रकार की है—1. जहत् लक्षणा, 2 अजहत् लक्षणा और 3. जहत्-अजहत्

---

[28] तत्त्ववैशारदी पृ० ३४
[29] न्यायसूत्र १।१।७
[30] न्यायसूत्र २।१।८
[31] न्यायसूत्र वात्स्यायनभाष्य १.१.७
[32] तर्कसंग्रह शब्दप्रमाणखण्ड पृ २५

लक्षणा। गङ्गायां घोषः= गंगा के तीर में घर है। यहाँ पर 'गंगा' पद का वाच्य अर्थ प्रवाह है, (प्रवाह में घर नहीं हो सकता) अतः प्रवाह का सम्बन्ध 'तीर' के साथ है, अतः गंगापद का अर्थ यहाँ तीर हुआ। तात्पर्य की अनुपपत्ति= संगति नहीं बैठना ही लक्षणा का बीज = कारण है। अतः 'गङ्गायां घोष' ऐसा कहने पर, गंगा=प्रवाह, में घर का होना अनुपपत्र होता है, तब गंगापद का अर्थ तीर, लक्षणा द्वारा सिद्ध होगा। जहाँ शक्यार्थत्याग के बिना लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, वह अजहत् लक्षणा है। जैसे छत्रधारी जा रहे है। यहाँ कुछ बिना छत्र के भी जा रहे होते हैं, तब भी समूह में छत्रधारी शब्द का प्रयोग हुआ। यहाँ शक्यार्थ छत्रधारी के साथ लक्ष्यार्थ-अछत्रधारी के भी गमन का बोध जो होता है, वह अजहत् लक्षणा से होता है। सोऽयमधूः = यह वही अश्व है। इस स्थल में जहत् अजहत् लक्षणा है। जहदजहल्लक्षणा में कुछ अर्थ छोड़ दिया जाता है तथा कुछ अर्थ नहीं छोड़ा जाता है।

1.5.2 वाक्यार्थज्ञान

वाक्यार्थ के ज्ञान में तीन हेतु हैं :- 1.आकांक्षा 2.योग्यता और 3.सन्निधि - **आकाङ्क्षायोग्यतासन्निष्ट्यि वाक्यार्थज्ञाने हेतुः।**[33]

1. **आकांक्षा :- पदस्य पदान्तरव्यतिरेक- प्रयुक्ताऽन्वयाऽननुभावकत्वमाकाङ्क्षा।**[34] एक पद का दूसरे पद के अभाव से जहाँ शाब्दबोध की जनकता नहीं होती है वह आकांक्षा है। जैसे—'गौः अश्वः पुरुषः हस्ती' यह पदसमूह परस्पर आकांक्षादि से रहित है, अतः प्रमाण नहीं है।

2. **योग्यता -अर्थाबाघो योग्यता।**[35]अर्थ का बाधित नहीं होना योग्यता है। इस प्रकार आकांक्षा आदि से रहित वाक्य अप्रमाण होते हैं जैसे वह्निना सिञ्चति = आग से सींचता है। यह वाक्य प्रमाण नहीं है, क्योंकि यहाँ योग्यता का अभाव है। अर्थात् आग से सींचने का कार्य नहीं होने से सिंचन-योग्यता का अभाव है, अतः ऐसे वाक्य प्रमाण नहीं होते।

3. **सन्निधि -पदानाम- विलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः।** अर्थात् एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध-बाघ न होना योग्यता है। पदों का विलम्ब किये बिना उच्चारण करना सन्निधि है। प्रहर-प्रहर में, एक साथ उच्चारित न किये गये 'गाम् आनय' इत्यादि पद भी प्रमाण नहीं है, सान्निध्य के अभाव से। सान्निध्य = सामीप्य, यदि परस्पर उच्चारित शब्दों में न हो तो वह वाक्य प्रमाण नहीं होता।

1.5.3 वाक्यार्थज्ञान का स्वरूप

वाक्य के अर्थ का ज्ञान ही 'शाब्दज्ञान' है। शाब्दज्ञान का असाधारणकारण शब्द है - **वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानम्। तत्करणं तु शब्दः।**[36]

शाब्दबोध का क्रम इस प्रकार है- चैत्रो ग्रामं गच्छति—चैत्र गांव जाता है, यहाँ पर ग्रामकर्म वाले गमन के अनुकूल वर्तमानकालिककृति (प्रयत्न) वाला चैत्र है, ऐसा शाब्दबोध होता है। ग्रामम् में द्वितीयाविभक्ति का अर्थ कर्मत्व है। गम् धातु का अर्थ गमन है, और अनुकूलत्व,

---

[33] तर्कसंग्रह शब्दप्रमाणखण्ड पृ २५
[34] तर्कसंग्रह शब्दप्रमाणखण्ड पृ २५
[35]तर्कसंग्रह शब्दप्रमाणखण्ड पृ २५
[36] तर्कसंग्रह शब्दप्रमाणखण्ड पृ २५

संसर्ग= सम्बन्ध की मर्यादा से भासित होता है। गच्छति पद में वर्तमानत्व अर्थ लट् लकार का है। आख्यात = तिङ् का अर्थ कृति है, और उसका सम्बन्ध संसर्ग की मर्यादा से प्रकाशित है।

रथः गच्छति = रथ जाता है। इस वाक्य से 'गमन के अनुकूल व्यापार वाला रथ है', यह शाब्दबोध होता है। स्नात्वा गच्छति -स्नान कर जाता है। यहाँ पर 'गमन के प्रागभाव से युक्त काल में स्नान करने वाला, गमन के अनुकूल वर्तमानकालिक कृतिवाला' ऐसा शाब्दबोध होता है। 'स्नात्वा' में क्त्वाप्रत्यय का अर्थ कर्त्ता और पूर्वकालीनत्व = 'पूर्वकाल में होना' यह है। अन्य स्थान में इसी प्रकार वाक्यार्थबोध मानना चाहिए।

नैयायिक शाब्दबोध करते समय प्रथमान्तार्थ = कर्ता को मुख्य मानते हैं, वे तिङ् का अर्थ कृति मानते हैं। नैयायिकों को अचेतनकर्त्ता वाले स्थल में व्यापार अर्थ की प्रधानता माननी पड़ती है। जैसे कि रथो गच्छति में ऊपर बताया गया है वैयाकरण शाब्दबोध में सर्वत्र व्यापार=क्रिया को, मुख्य मानते हैं। उनके मत में आख्यातार्थ कर्त्ता कर्म संख्या व काल होता है।

1.6 पूर्वमीमांसा दर्शन में शब्द प्रमाण

1.6.1 पूर्वमीमांसा में शब्द प्रमाण का स्वरूप एवं भेद

मीमांसक अनुमान प्रमाण के अनन्तर शब्द प्रमाण को स्वीकार करते हैं। मीमांसकों के मत में शब्द प्रमाण सभी प्रमाणों की अपेक्षा गुरूत्त्वपूर्ण है। आप्त वाक्य ही शब्द है। किसी भी वाक्य के अन्तर्गत पदों के अर्थबोध से अनन्तर प्रत्यक्ष के द्वारा अज्ञात अर्थ का ज्ञान होता है, वह शब्द ज्ञान कहा जाता है। कहा गया है-

तत्र तावत् पदैर्ज्ञातैः पदार्थस्मरणे कृते।
असन्निकृष्ट वाक्यार्थज्ञानं शाब्मितीर्यते ॥[37]

शब्द ज्ञान में पदार्थ ही करण है, वाक्यार्थ का अवबोध फल है। शब्द प्रमाण दो प्रकार का है- पौरूषेय और अपौरूषेय। मीमांसकों के मत में आप्त वाक्य पौरूषेय है, वेदवाक्य अपौरूषेय है - **तच्च शाब्दं द्विविधं पौरुषेयमपौरुषेयं च। तत्राप्तवचः पौरुषेयं, वेदवचोऽपौरुषेयम्।**[38] प्रभाकर में दोष होते हैं, उससे पौरूषेय वाक्य प्रमाण पदवी को प्राप्त नहीं करते। इसीलिए कहा जाता है-

अपौरूषेये वेदे तु पुरूषस्पर्शसन्नतः।
कल्यो न विशङ्क्येत तत् कुतो व्यभिचारिता ॥[39]

इसका अर्थ है- पुरूष दोष अपौरूषेय वेद में शंकित होते हैं, उससे अपौरूषेय वेद का ही प्रामाण्य है, व्यभिचारों के अभाव के कारण।

शब्द- प्रमाण पर मीमांसकों का विशिष्ट विवेचन प्राप्त होता है। पदों से निर्मित उन वाक्यों को शब्द प्रमाण कहते हैं जिनसे हमें परोक्षार्थ ज्ञान मिलता है तथा जिन्हें हम आप्त साधन से पाते हैं। ये वाक्य पौरुषेय (आप्त पुरुषों के द्वारा प्रयुक्त) तथा अपौरुषेय (वेदवाक्य) हो सकते हैं। पौरुषेय वाक्य तो यथार्थवक्ता के द्वारा प्रयुक्त होने पर ही प्रामाणिक होते हैं किन्तु अपौरुषेय वाक्य

[37] मानमेयोदय-शब्दपरीक्षा ९१३
[38] मानमेयोदय-शब्दपरीक्षा
[39] मानमेयोदय ९१०

स्वयंसिद्ध प्रमाण हैं। पदों का अर्थ तो हमें पूर्व- ज्ञात रहता है जिससे उसे प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु उन ज्ञात पदों के अर्थों के संबन्ध पर आश्रित वाक्यार्थ का ज्ञान हमें किसी अन्य साधन से नहीं हो सकता, अतः पृथक् शब्द-प्रमाण मानने की आवश्यकता है। इस वाक्यार्थ के विषय में मीमासकों का विशेष अभिनिवेश है।

वाक्य का आरम्भ वस्तुतः वर्णों से ही होता है। प्रत्येक शब्द वर्णात्मक होता है। ये वर्ण (जों पद के अवयव हैं) अपना पृथक् अर्थ नहीं देते, केवल श्रुतिगोचर होते हैं। इनका श्रुतिविषय होना ही पद के अर्थज्ञान का साधन है। किन्तु हम जो किसी शब्द के अर्थ का ज्ञान पाते हैं उसका कारण वर्णों की अर्थवत्ता ही है जिसे अर्थापत्तिप्रमाण से सिद्ध किया जा सकता है (= अन्यथा शब्दार्थं की अनुपपत्ति होगी)। प्रत्येक वर्ण का प्रत्यक्ष स्वयं समाप्त होकर वर्ण-संस्कार को छोड़ता जाता है। प्रत्येक पूर्ववर्ण के संस्कारों को लेकर अन्तिम वर्णं तक हम जैसे ही पहुँचते हैं हमें शब्दार्थ का ज्ञान हो जाता है। यदि पूरा शब्द सुनने के बाद भी श्रोता को अर्थबोध नहीं हो तो समझना चाहिए कि अर्थज्ञान के लिए आवश्यक कुछ सहकारियों की कमी श्रोता में है। शब्दशक्ति का आरंभ चूँकि वर्णों की पृथक्-पृथक् शक्तियों से होता है अतः ये शक्तियाँ ही शब्दज्ञान का साक्षात् कारण है।

मीमांसकों का यह सिद्धान्त है कि सभी शब्दों में अर्थबोध कराने की स्वाभाविक शक्ति है— श्रोता बोध करें या न करें। इसे जैमिनि ने अपने सुप्रसिद्ध औत्पत्तिक-सूत्र (11115) मैं स्पष्ट किया है— **औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः।**[40] श्रोता शब्द-श्रवण के बाद भी तबतक उसके अर्थ का ग्रहण नहीं कर सकेगा जबतक उसे इस सम्बन्ध का ज्ञान न हो कि अमुक शब्द में अमुक अर्थ बोध कराने की शक्ति है। किन्तु श्रोता के अज्ञान का शब्दार्थ-संबन्ध पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता-शब्द में तो अर्थबोध की स्वाभाविकता शक्ति रहेगी ही। शब्दार्थ-संबन्ध न तो परंपरा पर निर्भर है, न ईश्वरादि की इच्छा पर (जैसा कि नैयायिक लोग मानते हैं)। केवल व्यक्तिबोधक नामों के विषय में हम परम्परा पर निर्भर करते हैं। इस सिद्धान्त का साक्षात् प्रभाव हम वैदिक विधियों के स्वतः प्रामाण्य पर देख सकते हैं। इन विधियों के अनुष्ठान से ही हमें अन्यथा अज्ञातव्य फलों की प्राप्ति होती है। नैयायिकों के विपरीत, मीमांसक लोग शब्द को नित्य मानते हैं। नित्य होने पर भी शब्द को प्रकाशित करने की आवश्यकता होती है जो उच्चारण करनेवाले पुरुष के प्रयत्न से संभव है। नैयायिक पुरुष प्रयत्न को जहाँ शब्द का उत्पादक समझते हैं, मीमांसक इसे शब्द का प्रकाशक मात्र मानते हैं।

वाक्यार्थ-विषयक दो परस्पर भिन्न मत मीमांसकों में पाये जाते हैं –

1.6.2 अन्विताभिधान-वाद

प्रभाकर का मत है कि विधायक वाक्यों में रहनेवाले शब्दों से ही शब्दार्थ-ज्ञान होता है, पृथक शब्द का ज्ञान नहीं होता। किसी उत्तमवृद्ध' के द्वारा प्रयुक्त - गामानय, अश्वं बधान (गाय को ले आओ, घोड़े को बाँध दो) इत्यादि-वाक्यों को सुनकर जब मध्यमवृद्ध र कार्य में प्रवृत्त होता है तब सामने बैठा बालक उत्तमवृद्ध के शब्दों को सुनकर तथा मध्यमवृद्ध के कार्यों को देखकर अनुमान तथा अर्थापत्ति प्रमाण से जान लेता है कि गौ तथा अश्व शब्दों का अमुक अर्थों के साथ संबन्ध है। इस प्रकार किसी विधिवाक्य में अन्य तथ्यों के साथ संबद्ध रहने पर ही शब्दार्थो का बोध शब्दों से होता है। प्रभाकर के इस सिद्धान्त को **अन्विताभिधान- वाद** (विधिवाक्य

[40] मानमेयोदय-शब्दपरीक्षा पृ १३४

में परस्पर अन्वय से युक्त पदों का अर्थबोध होना) कहा जाता है। तद- नुसार 'गामानय' में गाम्-पद का श्रवण करते ही यह बोध होता है कि गो-जाति के साथ कुछ क्रिया होनी है, यह क्रिया 'आनय' के द्वारा प्रकाशित होतो है **-वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः।।**[41]

सकलपदान्तरपूर्तावितरपदार्थैः समन्वितं स्वार्थम्।
सर्वपदानि वदन्तीत्यन्येषामन्विताभिधानमतम् ॥[42]

1.6.3 अभिहितान्वयवाद

कुमारिल का मत है कि वाक्य में प्रत्येक पद का पृथक्-पृथक् अभिधान होता है। इन अर्थों को योग्यता, आकांक्षा तथा संनिधि की सहायता से वाक्यार्थ के रूप से जोड़ देते हैं। इस प्रकार वाक्यार्थ और पदार्थ भिन्न तथ्य हैं। वाक्यार्थ को तात्पर्यार्थ भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त को **अभिहितान्वयवाद** (प्रत्येक शब्द के पृथक-पृथक अर्थों का बोध हो जाने पर वाक्य में अन्वय करना) कहा जाता है। वाक्यार्थ के विषय में नैयायिकों की भी यही मान्यता है -

आकाङ्क्षायोग्यतासंनिधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहिनान्वयवादिनां मतम्।[43]

अत्राकाङ्क्षा च योग्यत्वं सन्निधिश्चेति तत् त्रयम्।
वाक्यार्थावगमैः सर्वैः कारणत्वेन कल्प्यते ॥ [44]

गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्याकाङ्क्षारहितेष्विह।
अन्वयादर्शनात् तावदाकाङ्क्षा परिगृह्यते ॥[45]

अग्निना सिञ्चतीत्यादावयोग्यानामनन्वयात्।
योग्यतापि परिग्राह्या सन्निधिस्त्वथ कथ्यते ॥[46]

प्रभाकर केवल वेद की विधियों को ही शब्द-प्रमाण मानते हैं। जैसे-स्वर्गकामो यजेत। अन्य सभी स्थितियों में बोलनेवाले की आप्तता के आधार पर शब्दों के प्रामाण्य का अनु- मान होता है। कुमारिल आप्त पुरुषमात्र के शब्दों को शब्द प्रमाण में रखते हैं। कुमारिल भट्ट के अनुसार प्रकृत में उपयोगी होने के कारण जिसे शास्त्र कहा जाता है, वहीं शब्द प्रमाण है। कुमारिल के अनुसार लोक सिद्ध होने के कारण प्रत्यक्ष की तरह उसकी भी परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। नैयायिक शब्द बोध के प्रति ज्ञायमान पर अथवा पद-ज्ञान को कारण मानते हैं. परन्तु भाट्ट मीमांसक पदों के द्वारा पदार्थों का स्मरण होने पर जो वाक्यार्थ ज्ञन होता है, उसे ही शब्द प्रमाण कहते हैं। नारायण भट्ट ने भी इसी का समर्थन किया है।" पार्थसारथी मिश्र ने उपर्युक्त कथन में यह भी जोड़ा कि इस प्रमाण के द्वारा जो ज्ञान हो वह 'नवीन' होना चाहिए।

पूर्वमीमांसा में शब्द प्रमाण का अत्यन्त महत्त्व है। पूर्वमीमांसा में यहां तक कहता है कि धर्म प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं है –

[41] काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास सूत्र ७ पर व्याख्या
[42] मानमेयोदय-शब्दपरीक्षा पृ १३४
[43] काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास सूत्र ७ पर व्याख्या
[44] मानमेयोदय-शब्दपरीक्षा ९४३
[45] मानमेयोदय-शब्दपरीक्षा ९५३
[46] मानमेयोदय-शब्दपरीक्षा ९६३

तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्। [47]यह तो स्पष्ट ही है कि परोपकार करने से हमें भविष्य में सुख प्राप्त होगा, इसका कहां प्रत्यक्ष है ? अनुमान से भी हम इस निष्कर्ष पर कभी नहीं पहुंच सकते। सो वेद का स्वतः शब्द प्रमाण, अर्थात् जिसको किसी और वचन से अनुमोदन की आवश्यकता नहीं है,। पूर्वमीमांसा दर्शन ने अदृष्ट धर्म की परिकल्पना मस्तिष्क में उत्पन्न की, उसके फल, उसके लिए कर्म, सब का मनुष्यमात्र के लिए वर्णन किया। मीमांसकों ने शब्द को नित्य (eternal) माना है। इसकी न तो उत्पत्ति होती है न ही विनाश। शब्द का अस्तित्व अनादिकाल से है।दूसरी ओर नैयायिकों के मत में शब्द को अनित्य (non-eternal) माना गया है, अर्थात् इसकी उत्पत्ति और विनाश होता है।

1.7 उत्तरमीमांसा (अद्वैत वेदान्त) दर्शन में शब्द प्रमाण

1.7.1 वेदान्तदर्शन में शब्द प्रमाण का स्वरूप एवं भेद

जिस वाक्य के तात्पर्य का विषयरूप संसर्ग, अन्य प्रमाणों के द्वारा बाधित न हो, तो ऐसा वाक्य प्रमाण माना जाता है। वाक्यजन्य ज्ञान में आकांक्षा, योग्यता आसत्ति (सन्निधि) और तात्पर्य- ये चार कारण माने जाते हैं। हर एक वाक्य का अपना तात्पर्य होता है। पदार्थों के संसर्ग-सम्बन्ध को बोध कराना तात्पर्य का कार्य है और वह संसर्गबोध यदि किसी अन्य प्रमाण से बाधित न होता हो, तो वह वाक्य प्रमाण माना जाता है। गामानय' इस वाक्यश्रवण के बाद, – श्रवणप्रत्यक्ष के बाद- "गाय को लाओ" – ऐसा जो अर्थज्ञान होता है, वही शाब्दी प्रमा है। इस शाब्दी प्रमा का करण वाक्य है (श्रोत्र नहीं)। पदार्थ का बोध अवान्तर व्यापार है, और प्रत्येक पद का अपने अपने अर्थ में पूर्व से हुआ शक्तिग्रह सहकारी कारण माने गए हैं। इस सबके रहते जो शब्दज्ञान होता है, उसे 'शाब्दी प्रमा' कहा जाता है –

यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद्वाक्यं प्रमाणम्। वाक्यजन्यज्ञाने च आकांक्षायोग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानं च इति चत्वारि कारणानि।

1.7.2 शाब्दबोध के चार सहकारी कारण

शाब्दबोध के चार सहकारी कारण – आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति (सन्निधि) और तात्पर्य हैं। उनमें से क्रमशः हर एक का स्पष्टीकरण किया जा रहा है -

1. आकांक्षा

तत्र पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकांक्षा। क्रियाश्रवणे कारकस्य कारकश्रवणे क्रियायाः करणश्रवणे इतिकर्तव्यतायाश्च जिज्ञासाविषयत्वात् ऽजिज्ञासोरपि वाक्यार्थबोधात्' योग्यत्व मुपात्तम्। पहले आकांक्षा का स्वरूप और आवश्यकता को बताया जाता है। पदों के श्रवण से पदार्थ का बोध होता है। किन्तु इन पदार्थों में एक-दूसरे के प्रति जिज्ञासा विषय की योग्यता रहती है। इसी को यहाँ पर 'आकांक्षा' का नाम दिया गया है। जैसे 'गामानय' – 'गाय को लाओ' इस वाक्य के पहले 'गाय को' यह पद सुना, गाय को द्वितीया विभक्ति–कर्म विभक्ति का, अर्थज्ञान हुआ, अब जिज्ञासा होती है गाय को क्या करें? दोहें, बाँधे? लाएँ ? इसी प्रकार 'आनय' – 'लाओं'

[47] मीमांसासूत्र १।१।४

पद को भी सुना, इतिकर्तव्यता का अर्थबोध हुआ, आज्ञार्थ-मध्ययम पुरुष एकवचन है, यहाँ जिज्ञासा होती है किसको क्या लाना है? तो इन दोनों पदार्थों में परस्पर के लिए जो जिज्ञासा का विषयत्व है, वही है 'आकांक्षा'।

2. योग्यता-

योग्यता तात्पर्यविषयसंसर्गाबाधः। वह्निना सिञ्चति इत्यादौ तादृशसंसर्गबाधान्न योग्यता। स प्रजापतिरात्मनोवपामुदखिदत् इत्यादावपि तात्पर्यविषयीभूतपशुप्राशस्त्याबाधात्योग्यता। जहाँ पर वाक्य के तात्पर्य विषयभूत जो सम्बन्ध का अन्य प्रमाण से बाध न होता हो, तो वहाँ वाक्यार्थबोध करने की योगयता है।" यह योग्यता की व्याख्या है। उदाहरणार्थ 'गामानय' – इस वाक्य में योग्यता विद्यमान है, क्योंकि 'गोकर्मक' 'आनय' – क्रियारूप - इस वाक्य का तात्पर्य, विषयभूतसंसर्ग, किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं है। सावयव तथा परिच्छिन्न होने से आनमनक्रिया के साथ, कर्मत्वरूप से गो का सम्बन्ध संभव ही है। इसलिए इसका बाध कोई भी नहीं कर सकता। परन्तु 'अग्निना सिञ्चति' इस वाक्य का वह्निकरणक सेचन क्रियारूप तात्पर्य विषयीभूतसंसर्ग तो प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। कहीं भी कोई भी आग से गीला होता हुआ देखा-सुना नहीं गया है। आग से तो गीलेपन का शोष ही होता है।

इसलिए वह्निकरणक सेचन क्रिया का प्रत्यक्ष से बाध हो जाने से 'वह्निना सिञ्चति'- आदि वाक्य में योग्यता नहीं मानी जाती। 'स प्रजापतिरात्मनो यथामुदविदत्''—''उस प्रजापति ने अपनी वपा (चरबी) खरोंच डाली'' – आदि वाक्यों में पशुयाग की प्रशंसा अर्थवाद से की गई है। यहाँ अपनी वपा को खरोंच डालना तो प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध बात है। वह प्रत्यक्षप्रमाणबाधित है। दूसरे की वपा को तो कोई खरोंच सकता है, पर अपनी वपा को खरोंचना तो कभी देखा नहीं गया। इसलिए यह वाक्य अप्रमाणिक है। तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इस वाक्य का तात्पर्य, विषयीभूत संसर्ग- चरबी–के खरोंचने में नहीं है। किन्तु पशुयाग की प्रशंसा में है। इसका मतलब यह है कि पशुयाग इतना श्रेष्ठ है कि जिसकी सिद्धि के लिए प्रजापति ने भी खुद अपनी वपा- चरबी— का उल्खात किया था। इस प्रकार प्रशंसा बताकर पाशुयाग करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है। यहाँ यह याद रखने की जरूरत है कि योग्यता के होते हुए भी यदि वह ज्ञापमान नहीं है तो ऐसी अज्ञात योग्यता वाक्यार्थबोध में कारण हो नहीं सकती। अतः ज्ञायमान योग्यता ही वाक्यजन्यज्ञान में सहकारिकारण है। अज्ञात-अकेली-विद्यमान योग्यता नहीं।

3. आसत्ति (सन्निधि)-

आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिः।

अव्यवहित रूप से पदजन्य पदार्थों की जहाँ उपस्थिति होती है, वह 'आसत्ति' है। आसत्ति का लक्षण देते हैं – व्यवधानरहित पदजन्य पदार्थों की उपस्थिति को आसति कहते हैं। पदजन्य पदार्थों की उपस्थिति से आशय है - अन्य प्रमाणों के द्वारा उपस्थापित पदार्थ का वाक्यार्थबोध में अन्वय नहीं होता। उदाहरण - 'ओदनं पश्य' – 'भात को देखो', और 'चन्द्रं भुंक्ष्व' – 'चन्द्र को खाओ'- इन दोनों वाक्यों में प्रत्येक में दोनों पदों की उपस्थिति अव्यवहितरूप से बनी ही रही है।

4. तात्पर्य - तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम्।[48]

अर्थात् पदार्थों के संसर्ग की प्रतीति उत्पन्न करने की योग्यता का नाम तात्पर्य है। जैसे गेहे घटः-घर में घड़ा है, इस वाक्य में गेह आधार है और घट आधेय है। इन दोनों का आधाराधेयभाव सम्बन्ध बतलाना इष्ट है और ऐसे सम्बन्ध की प्रतीति कराने की योग्यता इस वाक्य में है। इसलिये इस वाक्य को सुनते ही गेह और घट के आधाराधेयभाव सम्बन्ध का बोध श्रोता को हो जाता है। इसलिये चाहे अर्थज्ञानशून्य व्यक्ति भी वेदमन्त्र का उच्चारण करे फिर भी उस मन्त्र में पदार्थों के संसर्गजनन योग्यता रूप तात्पर्य के होने से श्रोता को शाब्द बोध हो जाता है। अव्युत्पन्न अध्यापक के द्वारा उच्चारण किये गये वाक्य में भी विवक्षित पदार्थ के संसर्ग की प्रतीति जनन योग्यता विद्यमान रहने के कारण ही व्युत्पन्न छात्र एवं तटस्थ व्यक्ति को शाब्दबोध हो जाता है। जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते उनको भी उक्त योग्यता के कारण ही शाब्दबोध होता है, क्योंकि वह योग्यता रूप तात्पर्य शब्द में रहने वाला धर्म है। वह तात्पर्य वक्ता के अधीन नहीं है जैसा कि न्याय ने स्वीकार किया है- वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्। इसलिये जो वाक्य जिस पदार्थ के संसर्गप्रतीतिजनन में समर्थ है वह वाक्य तत्परक होता है। अर्थात् उस वाक्य से उसी अर्थ का बोध होता है। उससे अन्य का नहीं। जैसे 'गेहे घटः' यह वाक्य गेह और घट के संसर्गबोधन में समर्थ है गेह और पट के संसर्गबोधक में नहीं।

1.7.3 अद्वैतवेदान्त में वेद का प्रामाण्य

भारतीय दर्शन वेद की प्रामाणिकता प्रायः सभी आस्तिक सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। परन्तु न्याय एवं मीमांसा में वेद के नित्यत्व एवं प्रामाण्य को लेकर अधिक चिन्तन हुआ है। अतः अद्वैत वेदान्त में वेद के नित्यत्व एवं प्रामाण्य को लेकर न्याय एवं मीमांसा में भेद है। वेदान्तपरिभाषा ग्रन्थ में इस विषय पर चर्चा हुई है। अद्वैत वेदान्त के अनुसारनैयाविकों का यह कहना है कि, नित्य, सर्वज्ञ परमेश्वर के द्वारा प्रणीत होने से वेद में प्रामाण्य है मीमांसकों का कहना यह है कि वेद नित्य हैं, और पुरुषदोषों से रहित हैं, इसलिए वेदों का प्रामाण्य है -

तत्र वेदानां नित्यसर्वज्ञपरमेश्वरप्रणीतत्वेन प्रामाण्यमिति - नैयायिकाः। वेदानां नित्यत्वेन निरस्तसमस्तपुंदूषणतया प्रामाण्यमिथ्यध्वरमीमांसकाः।[49]

अद्वैत वेदान्त के अनुसार पौरुषेयत्व का अर्थ कर देने से सृष्टि के आरम्भकाल में परमेश्वर ने पूर्वकाल में (सृष्टि के आंरभ के पूर्वकाल में) सिद्ध वेदों के समान आनुपूर्वी-क्रमसहित बनाया। उनसे विजातीय-विपरीत-क्रमवाले वेदों को नहीं। इसलिए सजातीय-समान-क्रमवाले उच्चारण की अपेक्षा किए बिना उच्चारण करने वाला पौरुषेयत्व तो वेदों में नहीं है। इसके विपरीत भारत आदि लौकिक ग्रंथों का उच्चारण तो सजातीय-क्रमसहित-उच्चारण की अपेक्षा किए बिना ही (सजातीयोच्चारण की परवाह किए बिना ही) हुआ है। इसलिए उनमें 'पौरुषेयत्व' हैं। इस तरह पौरुषेय और अपौरुषेय के भेद से आगम को दो प्रकार बतला दिए हैं।

तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्वसर्गसिद्धवेदानुपूर्वीसमानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान् न तु तद्विजातीयं वेदमिति न सजातीयोच्चारण - अनपेक्षोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वं

---

[48] वेदान्त परिभाषा आगम परिच्छेद पृ १२३

[49] वेदान्तपरिभाषा आगमपरिच्छेद पृ ० १४५

वेदस्य। भारतादीनान्तु सजातीयोच्चारणमनपेक्ष्यैवोच्चारणमिति तेषां पौरुषेयत्वम्। एवं पौरुषेयापौरुषेयभेदेन द्विविध आगमो निरूपितः।[50]

1.8 शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता

शब्द प्रमाण कितना प्रामाणिक है ? इस प्रश्न के समाधान को न्यायदर्शन एवं मीमांसा दर्शन में पर्याप्त चर्चा हुई है। पहले न्यायदर्शन में शब्द प्रमाण का प्रामाण्य देखते हैं –

1.8.1 न्यायदर्शन में शब्द प्रमाण का प्रामाण्य

पूर्वपक्ष :- तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः।[51]

अर्थात् शब्द प्रमाण अप्रामाणिक है क्योंकि उसमें झूठ, परस्पर विरोध और पुनरुक्ति के दोष होते हैं।

सिद्धान्तपक्ष - सिद्धान्ती एक-एक करके उत्तर देते हैं –

न, कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्।[52]

अर्थात् जो बात प्रामाणिक है, उसके करने में या उसके कर्ता में अथवा उसके करने के साधन में यदि कोई दोष हुआ, तो वह गलत हो जाती है। इसमें शब्द का कोई दोष नहीं है। जैसे ऊपर दिए आइन्स्टाइन् के उदाहरण में, यदि उसकी कही बात को प्रमाणित करने वाले गलत प्रकार से माप लेते, अथवा स्वयं विषय के बारे में कम जानते अथवा उनके साधन दोषपूर्ण होते, तो वे आइन्स्टाइन् सही नहीं कह रहा, इस निष्कर्ष पर पहुंचते। वास्तव में, कमी आप्त-वचन की नहीं, अपितु उनके प्रयोग की होती।

अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्।[53]

दूसरे, वचन-व्याघात इस परिस्थिति में उत्पन्न हो सकता है, जब वचन मान कर, फिर सही समय पर क्रिया को न करने पर, वचन के क्रियान्वन में दोष आता है। जैसे किसी वैज्ञानिक के वचन का सूर्यग्रहण के समय परीक्षण आवश्यक था। अब यदि सूर्यग्रहण को छोड़ कर किसी अन्य समय पर प्रयोग किया जाए, तो वह वचन को सिद्ध करने में असमर्थ ही होगा। मेरे अनुसार, यहां यह समझ लेना चाहिए कि प्रयोग के अन्य दोषों के कारण भी विरोध पाया जा सकता है, केवल कालभेद ही नहीं।

अनुवादोपपत्तेश्च।[54]

तीसरे, पुनरुक्ति का दोष इसलिए नहीं होता क्योंकि वचन की आवृत्ति अनुवाद के लिए होती है, अर्थात् सकारण होती है, निरर्थक नहीं। जैसे, आइन्स्टाइन् ने एक समीकरण को दूसरे स्थान पर इस लिए पुनः कहा क्योंकि वहां पर उनको उससे एक अन्य सिद्धान्त उपपादित करना था। इस प्रकार, जहां ये दोष साधारण मनुष्यों के वचनों में अवश्य पाए जा सकते हैं, आप्त वचनों में ये

---

[50]वेदान्तपरिभाषा आगमपरिच्छेद पृ ० १४५

[51] न्यायसूत्र २।१।५८

[52] न्यायसूत्र २।१।५९

[53] न्यायसूत्र २।१।६०

[54] न्यायसूत्र २।१।६१

दोष नहीं होते। इसीलिए वे सर्वमान्य होते हैं।

1.8.2 मीमांसा दर्शन के अनुसार शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता

मीमांसादर्शन में शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता को पाँचवे जैमिनि सूत्र में स्पष्ट किया गया है -

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्।[55]

अध्याहार्यः – वेदानाम्, मतः

अनुवृत्तिः – धर्मः

एकवाक्यता – नित्यः (1।1।18तः)

अर्थात् वेदों के शब्द और अर्थ का सम्बन्ध उत्पत्ति से सम्बद्ध है। उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान उपदेश कहाता है और वह कभी असत्य अथवा व्यभिचारी नहीं होता। बादरायण ऋषि (जैमिनि के समकालीन अन्य दर्शनाचार्य) मानते हैं (जिसे जैमिनि भी पुरस्सर कर रहे हैं) कि यह प्रमाण उस अर्थ का प्रमाण होता है जो प्रत्यक्ष (या अनुमान से) उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि इस प्रमाण में अर्थ के उपलब्ध होने की अपेक्षा नहीं है।

इस वाक्य में 'औत्पत्तिकः' का 'मानव सृष्टि की उत्पत्ति' अर्थात् 'नित्यता' अर्थ है, जो कि 1।1।18 सूत्र से अनुवर्तित है। यह सिद्धान्तपक्ष का प्रतिपादन हुआ। अब प्रतिपक्षी विभिन्न युक्तियों से इसका खण्डन करने की चेष्टा करता है, जिनमें से कुछ युक्तियां हमारे सन्देहों को भी निरूपित कर सकती हैं ! क्रमवार ये युक्तियां और इनके उत्तर इस प्रकार हैं

शब्द तो तभी सुना जाता है जब उसका उच्चारण किया जाता है। जब उसके लिए कर्म करना पड़ता है, तो वह नित्य कैसे हो सकता है ? इसपर जैमिनि समझाते हैं कि शब्द के नित्यता पक्ष में भी उसकी अभिव्यक्ति के लिए कर्म अपेक्षित है। ऐसा नहीं है कि सब शब्द नित्य होने से सर्वदा इन्द्रियों के विषय बने रहते हैं। उनको व्यक्त करने के लिए प्रयत्न करना ही पड़ता है। इसलिए यह तर्क कुछ भी प्रमाणित नहीं करता।

यदि शब्द नित्य होता तो वह सदा उपस्थित रहता, परन्तु वह तो उच्चारण के बाद समाप्त हो जाता है। जैमिनि कहते हैं कि शब्द जो इन्द्रियों का विषय है, वह अवश्य ही अग्राह्य हो जाता है।

उपर्युक्त दो सूत्रों में अर्थापत्ति से यह निष्कर्ष निकलता है कि शब्द दो प्रकार के होते हैं – एक जिसका श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है और एक जो बुद्धि में, ग्रन्थों में स्थित होता है। पहला शब्द दूसरे शब्द की अभिव्यक्ति मात्र होता है और अनित्य होता है। यह तथ्य कहीं भी स्पष्टतया नहीं कहा गया है। इसीलिए सबको इस प्रकरण को समझने में कठिनाई होती है। इस बात को समझ लेने पर प्रायः सभी सन्देहों का निवारण हो जाता है।

"शब्द करता है", इस सामान्य प्रयोग से भी यही जाना जाता है कि शब्द कर्म है, और इसलिए अनित्य है। यह संशय तो उपर्युक्त दो संशयों के समान ही है, तथापि जैमिनि बताते हैं कि कथित वाक्य से केवल प्रयोग इंगित किया जाता है, उसकी नित्य या अनित्य सत्ता नहीं।

---

[55] पूर्वमीमांसासूत्र १।१।५

दो और उससे अधिक व्यक्ति एक ही शब्द का एकसाथ प्रयोग कर सकते हैं। यदि शब्द नित्य है, तो उसकी अभिव्यक्ति भी एक समय में एक होनी चाहिए। इससे यही जाना जा सकता है कि एक समान अनेक शब्द उत्पन्न हो रहे हैं अर्थात् शब्द अनित्य है। जैमिनि उत्तर देते हैं – जिस प्रकार सूर्य एक स्थान ही नहीं, अपितु सर्वत्र एकसाथ प्रकाश करता है, उसी प्रकार एक शब्द अनेक स्थान पर उच्चारित होता है।

वस्तुतः, इस तथ्य से तो शब्द की नित्यता ही प्रकाशित होती है, न कि अनित्यता, क्योंकि शब्द का ज्ञान सर्वत्र और सर्वदा विद्यमान होने से, उसे नित्य मानना ही सही है। जैमिनि स्वयं आगे 1|1|19 सूत्र में यह बताते हैं।

पूर्वपक्षी एक और आपत्ति सामने रखता है – शब्दों में प्रकृति व विकृति रूप देखे जाने से भी शब्द को नित्य नहीं माना जा सकता। सन्धि, समास, आदि, में शब्दों के पूर्वरूप में परिवर्तन आ जाता है, जैसे 'सत् + जन' मिलकर 'सज्जन' बन जाता है। यह आपत्ति अनेकों ग्रन्थों में देखने को मिलती है, जैसे न्यायदर्शन। प्रतीत होता है कि यह अकाट्य युक्ति है। तथापि जो आगे जैमिनि कहते हैं, वही अन्यों ने भी कहा है कि – यहां दूसरा वर्ण आकर बैठ जाता है, पूर्व वर्ण का विकार नहीं होता।

हमारे मुख, ओष्ठ, आदि, उच्चारण-तन्त्रों की बनावट के कारण, कुछ वर्णसमूह बोलने में कठिन होते हैं, कुछ असम्भव ही। जैसे – कन्प का उच्चारण कठिन है, परन्तु कम्प का सरल; और ञ्म का असम्भवप्राय है। प्रयोग की सुविधा के लिए वर्णों में अन्तर कर दिया जाता है, नहीं तो शब्द तो वही रहते हैं और उनके अर्थ भी।

अन्त में पूर्वपक्षी कहता है – शब्द में वृद्धि भी होती है जब बहुत जन उसको एकसाथ उच्चारते हैं। यहां 'शब्द' से 'ध्वनि' का ग्रहण किया गया है, जो भी 'शब्द' का एक अर्थ है। जैमिनि बताते हैं – यह नाद में वृद्धि है, शब्द में नहीं।

पुनः यहां हम प्रयोग और निराकार शब्द की सत्ता में भ्रान्ति पाते हैं। इसलिए इस भ्रान्ति का अपने मन से पूर्णतया निवारण करना हमारे लिए भी बहुत आवश्यक है।

पूर्वपक्षियों के सब सन्देह दूर करने के बाद, जैमिनि अब शब्द के नित्य होने में निश्चयात्मक युक्तियां प्रस्तुत करते हैं। इनको गहनता से समझना अत्यावश्यक है –

शब्द नित्य ही हैं क्योंकि उनके अर्थ दूसरों के लिए हैं। जो श्रोता या पाठक है, उसके लिए शब्द बोले या लिखे जाते हैं। यदि शब्द का अर्थ से सम्बन्ध पूर्व से वर्तमान न हो, तो शब्द किस प्रयोजन के रहेंगे ? जो एक व्यक्ति बोलेगा वह दूसरा समझ नहीं पाएगा !

परन्तु यह युक्ति तो दूसरी मानवीय भाषाओं पर भी प्रयुक्त होती है, जो कि स्पष्टतः आज हैं, कल नहीं। जैसे एक समय में पालि भाषा का बोलबाला था, आज वह कहीं भी नहीं बोली जाती। इस सन्देह का उत्तर यह है कि वेदों के विषय में सब जानते हैं कि वे पुरातन काल से वर्तमान हैं। यदि उनकी भाषा अनित्य होती, तो उसके शब्दों का अर्थों से सम्बन्ध बहुत पहले ही समाप्त हो जाता, क्योंकि अनेकों वैदिक शब्दों का प्रयोग बहुत पहले समाप्त हो गया है। जिस प्रकार सिन्धु घाटी की सभ्यता के शब्द प्रयोग के अभाव में अब नहीं समझे जाते, उसी प्रकार वैदिक शब्दों का भी लोप हो जाना चाहिए था।

फिर, ये शब्द एकसाथ सब व्यक्तियों में और सर्वदा जाने जाते हैं। जैसा हमने ऊपर देखा था, यह

तथ्य शब्द की अनित्यता स्थापित नहीं करता, अपितु उसका उल्टा स्थापित करता है, कि – शब्द व्यापक हैं व देश और काल में सीमित नहीं हैं।

जो हम कहें कि अन्य भाषाओं के लिए भी यह बात सही है, तो ऊपर दिया उत्तर यहां भी ग्रहण करना चाहिए।

व्याख्याकार इसका एक अन्य अर्थ भी करते हैं कि एक शब्द अपने सभी विषयों में एकसाथ व्यवहृत होता है, जैसे – 'गो' शब्द से सभी गायों का ज्ञान हो जाता है। पहले तो यह कथन सही नहीं है क्योंकि जब हम कहते हैं, "यह गाय", तब हम एक गाय का बोध कराते हैं; तथापि यह सही है कि 'गो' शब्द किसी व्यक्तिविशेष को नहीं कहता, अपितु गोजाति को कहता है, और गोजाति यदि नहीं भी रहे, तब भी उसका बोध कराता रहता है। फिर भी, इस तथ्य को मानने से शब्द नित्य नहीं हो जाता ! इसलिए मुझे यह व्याख्या त्याज्य लगती है।

पुनः, जैमिनि कहते हैं कि शब्दों के प्रयोग की कोई निर्धारित संख्या नहीं है। इसलिए भी वे नित्य हैं। यह तो पूर्व कथन का कुछ भेद लगता है ! इसलिए इसको ऐसे समझना चाहिए – वैदिक शब्दों का प्रयोग कितनी भी बार हो, वे अपना अर्थ नहीं त्यागते। परमात्मा के ज्ञान के समान, वे सदा एक ही अर्थ को कहते हैं।

और तो और, वैदिक शब्दों को प्रयोग की अपेक्षा ही नहीं है ! हम पाते हैं कि जनजातियों की भाषाएं लुप्त हो जाती हैं, क्योंकि उनका प्रयोग बन्द हो जाता है। जैमिनि बताते हैं कि वेदों के साथ कभी यह सम्भव नहीं है। चाहे कोई वह भाषा बोले या न, उस भाषा का अस्तित्व बना रहेगा। आज के परिपेक्ष में भी हम कह सकते हैं कि कोई मानव वैदिक भाषा नहीं बोलता, तथापि वेदों का ज्ञान, कुछ सीमित मात्रा में ही सही, अभी भी वर्तमान है। और, इससे भी महत्त्वपूर्ण है कि कोई परिश्रम करे तो उस ज्ञान को पुनरुज्जीवित कर सकता है, जैसे महर्षि दयानन्द ने लुप्त वैदिक ज्ञान का पुनरुद्धार किया।

वैदिक शब्दों का अर्थ से जुड़ने का कोई वर्णन नहीं प्राप्त होता, इसलिए ये नित्य हैं। परम्परा से हमें कहीं भी शब्दों की उत्पत्ति का कोई प्रमाण नहीं मिलता, जैसे कि हम आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति के विषय में अनुमान कर पाते हैं। अपितु हमें यही सुनने में आता है कि वेद जैसे-के-तैसे प्रकट हुए। इस प्रकार शब्दों का अर्थों के साथ संयोग न होने से, उनमें संयोग के कारण कार्यता का दोष नहीं आता। दर्शनशास्त्र हमें सदा बताते हैं कि कोई भी संयुक्त वस्तु कार्य वस्तु होगी, कारण नहीं हो सकती; और कार्य कभी नित्य नहीं होता। इसलिए शब्द व अर्थ के सम्बन्ध के संयोग की सम्भावना को दूर करना आवश्यक है।

व्याख्याकारों ने यहां वायु के संयोग-वियोग द्वारा शब्द की उत्पत्ति होने से शब्द के कार्य होने के संशय का निराकरण माना है। यहां मुझे अनेक दोष दीखते हैं – वायु का यहां कोई कथन नहीं है। सभी संशय जैमिनि ने स्पष्टतया पहले ही निरूपित कर दिए थे और उनका एक-एक करके निराकरण कर दिया था। इसलिए यहां किसी संशय की कल्पना करना कोरी कल्पना ही है ! फिर शब्द की अभिव्यक्ति में प्रयत्न का विषय पूर्व ही छेड़ दिया गया था और उसका उत्तर भी दे दिया गया था। इस व्याख्या में पुनरुक्ति ही है, कोई नई बात नहीं है। इन सब कारणों से मेरी उपर्युक्त व्याख्या, जिसमें कोई बाहर से शब्द नहीं जोड़े गए हैं, वह सही लगती है। वैदिक शब्दों की नित्यता में वह एक प्रभावी कारण भी दर्शाती है।

जैमिनि फिर कहते हैं कि वैदिक शब्द नित्य हैं क्योंकि इसका चिह्न भी दीखता है। वेदों में

परमात्मा से वेदों की उत्पत्ति के कथन को वह चिह्न माना गया है जिसकी यहां चर्चा हो रही है। परन्तु जब वैदिक शब्दों पर ही शंका करी जा रही है, तब हम उनका प्रमाण कैसे स्वीकारें ? यह तो अन्योऽन्याश्रय दोष हो जाएगा ! इसलिए, मेरे अनुसार यहां अर्थ है – हम यह भी देखते हैं कि कोई वेदों के लेखक होने का दावा नहीं करता। रामायण, महाभारत, आदि, सभी प्राचीन ग्रन्थों से किसी लेखक का नाम जुड़ा होता है। वेदों में ऐसा नहीं है। यह एक चिह्न है कि वेद अपौरुषेय हैं, और इसलिए नित्य हैं।

इस प्रकार मीमांसा दर्शन में शब्द की प्रामाणिकता को सिद्ध किया गया है।

1.9 सारांश

इस प्रकार प्रस्तुत इकाई में हमने शब्द प्रमाण का सांगोपांग अध्ययन किया।शब्द प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण मानने के विषय में जहाँ एक और जैन,सांख्य,योग, न्याय, मीमांसा और वेदान्त दर्शन शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करते हैं वहीं दूसरी और चार्वाक, वैशेषिक और बौद्ध शब्द प्रमाण को स्वीकार नहीं करते हैं। जैनाचार्यों ने श्रुतज्ञान को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक, बौद्ध आदि दार्शनिकों का खण्डन किया है। उनका कहना है कि इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान जैसे अपने और अपने विषय के जानने में संवादी होने के कारण भी प्रमाण रूप माना जाता है। उसी प्रकार स्व और अर्थ के जानने में सम्वादी होने के कारण श्रुतज्ञान भी प्रमाण रूप है। श्रुति से प्राप्त आप्तश्रुति है और आप्तश्रुति ही आप्तवचन या शब्दप्रमाण है। इसका तात्पर्य है कि श्रुतिवचनों को सांख्यदर्शन में शब्द प्रमाण माना गया है। श्रुति से प्राप्त आप्तश्रुति है और आप्तश्रुति ही आप्तवचन या शब्दप्रमाण है। इसका तात्पर्य है कि श्रुतिवचनों को सांख्यदर्शन में शब्द प्रमाण माना गया है। अपने बोध का सम्प्रेषण करने के लिए तत्वज्ञानी अर्थात् यथार्थद्रष्टा आप्त पुरुषों द्वारा शब्द के माध्यम से जो उपदेश किया जाता है, वह आगम प्रमाण है। आप्त = जो व्यक्ति किसी विषय का जाना-माना ज्ञाता हो, और जो किसी बाह्य प्रभाव से अपने मत को झुठला नहीं सकता, ऐसे आप्त पुरुष के वचन प्रामाणिक होते हैं। और ये वचन दो प्रकार के होते हैं – दृष्ट विषयों से सम्बद्ध और अदृष्ट विषयों से सम्बद्ध। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार जिसने यथार्थ वस्तु को देखा हो वह आप्त है चाहे वह ऋषि हो आर्य हो या म्लेच्छ। मीमांसकों के मत में शब्द प्रमाण सभी प्रमाणों की अपेक्षा गुरूत्त्वपूर्ण है। आप्त वाक्य ही शब्द है। किसी भी वाक्य के अन्तर्गत पदों के अर्थबोध से अनन्तर प्रत्यक्ष के द्वारा अज्ञात अर्थ का ज्ञान होता है, वह शब्द ज्ञान कहा जाता है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार जिस वाक्य के तात्पर्य का विषयरूप संसर्ग, अन्य प्रमाणों के द्वारा बाधित न हो, तो ऐसा वाक्य प्रमाण माना जाता है। वाक्यजन्य ज्ञान में आकांक्षा, योग्यता आसत्ति (सन्निधि) और तात्पर्य- ये चार कारण माने जाते हैं।

1.10 पारिभाषिक शब्दावली

- **प्रमा -**अनधिगत'— ऎसा विषय जो पूर्व में ज्ञात न हुआ हो। 'अबाधित'—ऎसा विषय जो दूसरे प्रमाण से (उत्तर ज्ञान से) मिथ्या सिद्ध न होने वाला हो अर्थात् बाधित न होने वाला हो। ऎसा विषय जिस ज्ञान है वह 'प्रमा' कहा जाता है।

- **प्रमाण -** पूर्व में अज्ञात एवं अबाधित ज्ञान प्रमा कहलाता है। प्रमा (यथार्थज्ञान) का जो करण (साधन) है वह **प्रमाण** है। प्रमा (यथार्थज्ञान) के करण को प्रमाण कहते हैं।

- **श्रुतज्ञान -**ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विगमविशेष से श्रवण करना श्रुत कहा है। इनके मत से जो वाच्य अर्थ आप्तवाक्य द्वारा सुना जा चुका है, वह अपने और वाच्यार्थ को जानने वाला आगमज्ञानरूप श्रुतज्ञान है।

- **शब्द -**आप्त व्यक्ति के उपदेश वचन को शब्द प्रमाण कहा जाता है। तत्वज्ञानी अर्थात् यथार्थद्रष्टा आप्त पुरुषों द्वारा शब्द के माध्यम से जो उपदेश किया जाता है, वह आगम प्रमाण है।

- **आप्त -**जिसने यथार्थ वस्तु को देखा हो वह आप्त है चाहे वह ऋषि हो आर्य हो या म्लेच्छ।आप्त का अर्थ है- यथार्थवक्ता (जो रागद्वेषादि से भी असत्य न बोले)।

- **वाक्य -**पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। जैसे 'गामानय' यह सुबन्त-तिङन्त पदसमूह वाक्य है।

- **पद-** कहते हैं शक्त को, अर्थात् जिसमें शक्ति होती है वह पद है। इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए इस प्रकार के ईश्वर के सङ्केत कोशक्ति कहा जाता है।

- **आकांक्षा :- पदस्य पदान्तरव्यतिरेक- प्रयुक्ताऽन्वयाऽननुभावकत्वमाकाङ्क्षा।** एक पद का दूसरे पद के अभाव से जहाँ शाब्दबोध की जनकता नहीं होती है वह आकांक्षा है।

- **योग्यता -अर्थाबाधो योग्यता।**अर्थ का बाधित नहीं होना योग्यता है। इस प्रकार आकांक्षा आदि से रहित वाक्य अप्रमाण होते हैं जैसे वह्निना सिञ्चति = आग से सींचता है। यह वाक्य प्रमाण नहीं है, क्योंकि यहाँ योग्यता का अभाव है। अर्थात् आग से सींचने का कार्य नहीं होने से सिंचन-योग्यता का अभाव है, अतः ऐसे वाक्य प्रमाण नहीं होते।

- **सन्निधि -पदानाम- विलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः।** अर्थात् एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध-बाघ न होना।पदार्थ का बोध अवान्तर व्यापार है, और प्रत्येक पद का अपने अपने अर्थ में पूर्व से हुआ शक्तिग्रह सहकारी कारण माने गए हैं। इस सबके रहते जो शब्दज्ञान होता है, उसे 'शाब्दी प्रमा' कहा जाता है

- **तात्पर्य -**पदार्थों के संसर्ग की प्रतीति उत्पन्न करने की योग्यता का नाम तात्पर्य है।

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा, चन्द्रधर, भारतीयदर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 2009
2. श्रीवास्तव, सत्यनारायण,पातञ्जलयोगदर्शनम्, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, 2010
3. मिश्र आद्याप्रसाद,सांख्यकारिका, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, 2006
4. शर्मा, उमाशंकर, मीमांसादर्शनम् चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, 2010
5. भार्गव, दयानन्द, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 2009
6. मुसलगांवकर, गजाननशास्त्री, वेदान्तपरिभाषा, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, 2017

1.12 बोध प्रश्न

1. जैन दर्शन में शब्द प्रमाण के स्वरूप की समीक्षा किजिए ?
2. सांख्य एवं योग दर्शन में शब्द प्रमाण का अन्तर स्पष्ट किजिए ?
3. न्याय दर्शन में शब्द प्रमाण एवं वाक्यार्थ ज्ञान का स्वरूप का वर्णन किजिए ?
4. मीमांसा दर्शन में शब्द प्रमाण के अन्तर्गत अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद का का विवेचन किजिए?
5. वेदान्त दर्शन में के अनुसार वाक्यार्थज्ञान के सहकारीकारण – आकांक्षा योग्यता सन्निधि एवं तात्पर्य का ज्ञान पर प्रकाश डालिए ?

इकाई 2 शब्द की शक्तिया

इकाई की रुपरेखा

2.0 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थी ! आप एम0 ए0 हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम के तृतीय खण्ड (शब्द, उपमान एवं अन्य प्रमाण) के इकाई सं0 02 "शब्द की शक्तियाँ" का अध्ययन करने जा रहें हैं। जिसके अध्ययन से आप –

- दार्शनिक दृष्टि में शब्द का स्वरूप गूढ ज्ञान प्राप्त कर पायेंगें।
- अभिधा शब्द शक्ति क्या है ? संकेतग्रह के क्या कारण हैं ? इस तथ्य को जान पायेंगें।
- दार्शनिक दृष्टि से लक्षणा शब्द शक्तिकी क्या उपयोगिता है ? इसका ज्ञान प्राप्त कर पायेंगें।
- व्यञ्जना एवं तात्पर्यवृत्ति की समीक्षा कर पायेंगें।
- वाक्यार्थबोध में आकांक्षा. योग्यता एवं सन्निधि स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर पायेंगें।

2.2 प्रस्तावना

शब्द तथा अर्थ के संबंध को शक्ति या शब्दशक्ति कहते हैं। इसको व्यापार भी कहा गया हैं। शब्द में निहित अर्थ-संपत्ति को प्रकट करने वाला तत्त्व शब्दव्यापार या शब्दशक्ति है। शब्दशक्तियाँ साधन के रूप में समादृत हैं। शब्द कारण है और अर्थ कार्य और शब्दशक्तियाँ साधन या व्यापार-रूप हैं। शब्दशक्ति के बिना शब्द के अर्थ का ज्ञान संभव नहीं है। शब्द तथा अर्थ के संबंध में विचार करनेवाले तत्व को शब्दशक्ति कहते हैं। शब्द की तीन शक्तियाँ हैं - अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। शब्द तीन प्रकार के होते हैं - वाचक, लक्षक और व्यंजक तथा

इनसे क्रमशः तीन प्रकार के अर्थ प्रकट होते हैं - वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ। इन तीनों अर्थों की प्रतीति तीन प्रकार की शक्तियों - अभिधा, लक्षणा और व्यंजना द्वारा होती है। इसे अधोलिखित तालिका के आधार पर समझा जा सकता है -

शब्द	अर्थ	शब्द शक्ति
वाचक	वाच्यार्थ ,मुख्यार्थ ,अभिधेयार्थ ,संकेतार्थ	अभिधा
लक्षक	लक्ष्यार्थ	लक्षणा
व्यंजक	व्यंग्यार्थ	व्यंजना

इन शब्द की शक्तियों के अतिरिक्त भारतीय दर्शन में तात्पर्य वृत्ति को भी एक शब्द शक्ति के रूप स्वीकार किया गया है। पदार्थों के संसर्ग की प्रतीति उत्पन्न करने की योग्यता का नाम तात्पर्य है। जैसे गेहे घटः-घर में घड़ा है, इस वाक्य में गेह आधार है और घट आधेय है। इन दोनों का आधाराधेयभाव सम्बन्ध बतलाना इष्ट है और ऐसे सम्बन्ध की प्रतीति कराने की योग्यता इस वाक्य में है। इसलिये इस वाक्य को सुनते ही गेह और घट के आधाराधेयभाव सम्बन्ध का बोध श्रोता को हो जाता है।

आईए प्रस्तुत इकाई में हम इन शब्द शक्तियों को विस्तार से समझते है :-

2.2 दार्शनिक दृष्टि में शब्द का स्वरूप

सामान्यतया शब्द से ऐसे सार्थक वर्णसमुदाय को गृहीत किया जाता है, जो कि श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होता है। यह शब्द ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक के भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें भेरी, मृदङ्ग इत्यादि को "ध्वन्यात्मक शब्द" कहते हैं, जबकि संस्कृत इत्यादि भाषाओं के शब्दों को "वर्णात्मक शब्द" कहते हैं। ऐसे इस भेदद्वयात्मक शब्द से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह शब्द कहलाता है –

श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः आकाशमात्रवृत्तिः। स द्विविधः ध्वन्यात्मकः वर्णात्मकश्च।तत्र ध्वन्यात्मकः भेर्यादौ। वर्णात्मकः संस्कृतभाषादिरूपः ॥[1]

शब्द की शक्तियाँ

शब्द के सामर्थ्य को शक्ति कहते हैं। शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध है इसलिये गौ शब्द के उच्चारण से श्रोता को गौ अर्थ का बोध होता है। यदि गौ शब्द के साथ सास्नादिमान् अर्थ का कोई सम्बन्ध ने होता तो गौ सुनने पर अश्व का भी बोध होता। किन्तु ऐसा नहीं होता। गौ शब्द को सुनकर सास्नादिमान् अर्थ का ही बोध होता है अश्व का नहीं। अतः गौ शब्द के साथ सास्नादिमान् अर्थ का सम्बन्ध है। इसी प्रकार प्रत्येक शब्द का कोई अर्थ अवश्य होता है। शब्द जिस सामर्थ्य से अर्थ का बोध कराता है वह सामर्थ्य ही शब्द की शक्ति कहलाता है - **अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसंकेतः शक्तिः॥**[2]

[1] तर्कसंग्रह गुण निरुपण पृ० 76

[2] तर्कसंग्रह,शब्दप्रमाण, पृ० ८२

शक्तिग्रह

शब्द से अर्थ की प्रतीति किस प्रकार होती है, इस विषय पर व्याकरण न्याय वैशोषिक आदि शास्त्रों में विस्तार से विचार किया गया है। शक्तिग्रह या संकेतग्रह की सहायता से ही कोई शब्द किसी अर्थ का बोध करा सकता है। इस संकेत को शक्ति या समय नाम से जाना जाता है। यह संकेत क्या है? वाच्यवाचकभाव की नियामक एक मान्यता ही समय या संकेत है। (कः पुनरयं समयः ? अभिधानाभिधेय नियमनियोगः। न्याय वार्तिक 2/1/56) अस्मात् शब्दात् अययर्थो बोद्धव्य ऐसी मान्यता ही संकेत है। गौ शब्द का वाच्य यह सास्नादिमान् पदार्थ अथवा इस सास्नादिमान् अर्थ को गौ कहते हैं यही संकेतग्रहण का स्वरूप है।

प्रचीन नैयायिकों के अनुसार ईश्वरेच्छा रूप संकेत ही शक्ति है। अर्थात् यह संकेत ईश्वर की इच्छा से हुआ है कि इस शब्द का वाचक यह अर्थ है। किन्तु नव्य नैयायिकों के अनुसार किसी के भी द्वारा किया हुआ संकेत शक्ति है। जिस शब्द का किसी अर्थ में साक्षात् रूप से शक्तिग्रह या संकेतग्रह होता है वह उस अर्थ का वाचक कहलाता है।

शक्तिग्रह के उपाय

शब्द की शक्ति का ग्रहण आठ साधनों से होता है। न्याय सिद्धान्तमुक्तावली में कहा गया है -

> **शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।**
> **वाक्यस्य शेषाद् विवृते र्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥**[3]

ये साधन हैं- 1. व्याकरण 2. उपमान 3.कोश 4. आप्तवाक्य 5. व्यवहार 6. वाक्यशेष 7. विवृति 8. प्रसिद्ध पद का सान्निध्य।

1. **व्याकरण** –शब्दों के अर्थ का ज्ञान व्याकरण से शीघ्र और सही-सही हो जाता है। संस्कृत जैसी भाषाओं में जहाँ प्रचुर मात्रा में यौगिक शब्द है। व्याकरण से समास-प्रत्यय-उपसर्ग-संधि का ज्ञान अर्थ निकालने में बड़ी सहायता होती है जैसे पाठक शब्द में पठ् (पढ़ना) धातु +ण्वुल् (क्रिया करने वाला) प्रत्यय = का अर्थ होता है = पढ़ने वाला।

2. **उपमान -** उपमान कभी-कभी बढ़ों के लिए अर्थ बताना कठिन होता है क्योंकि वह प्राणी या वस्तु पूछने वाले को प्रत्यक्ष अथवा चित्रादि के माध्यम से उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में बताने वाला उस सत्ता से समीपतम परिचित वस्तु का उल्लेख करते हुए कहता है कि यह वस्तु इसके समान होती है। जैसे गाय नीलगाय जैसी होती है।

3. **कोश -** कोश शब्दकोश तो मुख्यतया शब्दों के अर्थ/अर्थो को बताने तथा समझाने के लिए बनाए ही जाते हैं। यदि पड़ते समय पाठक के सामने कोई ऐसा शब्द आ जाता है, जिससे यह परिचित नहीं है तो सर्वप्रथम यह शब्दकोश निकाल कर अर्थ देखेगा।

4. **आप्तवाक्य -** आप्त उस व्यक्ति को कहते हैं जिसे संबद्ध विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और जो अपने विषय का विशेषज्ञ होता है। शास्त्रों में आए शब्दों के मानक एवं प्रामाणिक परिभाषा आधारित अर्थ जानने का यह प्रमुख स्रोत है। कक्षा में अध्यापक द्वारा बताए और अन्यत्र बड़ों द्वारा बताए अर्थों को बालक इसी साधन द्वारा ग्रहण करता है।

[3] न्याय सिद्धान्तमुक्तावली शब्द खण्ड ८१

5. **व्यवहार -** वृद्ध व्यवहार या लोक व्यवहार। छोटा बच्चा अपने बड़ों से अथवा भाषा विशेष न समझने वाला व्यक्ति उस भाषा को बोलने वाले लोगों से अनेक प्रकार के वाक्य सुनता और तदनुसार उनकी क्रियाओं को देखता है और तब शब्दों के अर्थों का ज्ञान होता है। शक्तिग्रह के उपायों में यह प्रमुखतम है। अश्व नय', 'मां नय', 'अश्वम् आनय 'गाम् आनय वृद्धजन व्यवहार के प्रसिद्ध उदाहरण है। जनसाधारण जीवन भर इसी साधन से अपनी शब्दावली बढ़ाता चलता है।

6. **वाक्यशेष -** शक्तिग्रह का षष्ठ साधन है -वाक्यशेष। वाक्यशेष का अर्थ है अवशिष्ट वाक्य। किसी वाक्य का अर्थ यदि किसी अन्य वाक्य के अर्थ के समझने पर ही समझा जा सके तो उस अन्य वाक्य को वाक्यशेष कहेंगे। जैसे एक वाक्य है- 'यवमयश्चरुः'। अर्थात् चरु यवमय होता है। यहाँ यव शब्द का असन्दिग्ध अर्थ ज्ञात न होने से वाक्यार्थ का निर्णय नहीं हो पाता। आर्यों के अनुसार यव शब्द का प्रयोग दीर्घ शूक वाले धान्य (जौ) के लिये किया जाता है जबकि म्लेच्छ लोग इस शब्द का प्रयोग कङ्ग अन्न के लिये करते हैं। इस प्रकार यव शब्द के अर्थ के विषय में सन्देह हो जाता है कि यव शब्द की शक्ति किस अर्थ में है। अतः यव शब्द के अर्थबोध के लिये निम्न लिखित प्राकरणिक वाक्यों की आवश्यकता हैं-

'अथान्या ओषधयो म्लायन्ते अथैते मोदमानास्तिष्ठन्ति।" " वसन्ते सर्वसस्यानां जायते पत्रशातनम्
मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः।। "

'अर्थात् वसन्त में अन्य ओषधियाँ म्लान हो जाती हैं किन्तु यव प्रसन्नता से रहते हैं।" तथा "वसन्त में समस्त धानों के पत्ते गिर जाते हैं किन्तु कणों से भरे हुए यव बड़ी प्रसन्न अवस्था में लहराते हैं।"

इन वाक्यों से यह निर्णय होता है कि यव का अर्थ 'जौ' है। यह ज्ञात होने पर 'यवमयश्चरुः' इस वाक्य का अर्थबोध हो जाता है। इसलिये उक्त वाक्यों को वाक्य शेष कहा जायेगा। उक्त वाक्यशेष को ही शक्तिग्राहक माना जाता है। उस वाक्यशेष से ही यव का शक्तिलभ्य अर्थ दीर्घशूक अन्नविशेष लिया जाता है।

7. **विवृति -** विवृत्ति का अर्थ है -विवरण देना अर्थात् व्याख्या देना। संस्कृत में भाष्य/ टीका आदि का बहुत प्रचलन था। साहित्यिक कृतियों पर भी टीकाएँ मिलती थीं। जिनसे अभिधा से अतिरिक्त व्यंजना, तात्पर्या आदि को स्पष्ट किया जाता है, साहित्यिक विशेषताओं को उद्घाटित किया जाता है और कथ्य के ज्ञानमीमासा- परक पक्षों पर प्रकाश डाला जाता है। विवृत्ति द्वारा शब्द के अर्थ के विविध पक्षों को उदाहरण, भेद-उपभेद आदि द्वारा सम्यक् रूप से समझाया जाता है।

8. **प्रसिद्ध पद का सान्निध्य -** यह वाक्यगत साधन है। वाक्य में अनेक शब्दों में से यदि केवल दो-एक शब्दों का अर्थ नहीं आता है तो ज्ञात (सिद्ध) पदों के सामीप्य से उनका अर्थ निकाला जा सकता है। जैसे 'इस आम के पेड़ पर पिक मधुरस्वर से गान कर रही है। वाक्य में 'पिक' शब्द का अर्थ नहीं ज्ञात है, किंतु सांसारिक जानकारी से मालूम है कि आम के पेड़ पर वसंत में कोयल ही कूकती है, अतएव 'पिक' शब्द का अर्थ 'कोयल' ज्ञात हो गया।

यह शक्ति तीन प्रकार की है-1.अभिधा 2. लक्षणा और 3. व्यंजना। अभिधा लक्षणा और व्यंजना - ये तीन शक्तियाँ शब्द की मानी जाती हैं। इनसे क्रमश: वाच्य (संकेतित), लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ का बोध होता है। इनमें व्यंजना का उपयोग काव्य में होता है। शास्त्र-ग्रंथो का प्राय: अभिधावृत्ति से ही काम चल जाता है, किन्तु कहीं कहीं लक्षणा का भी उपयोग होता है। अभिधा से लोकप्रसिद्ध मुख्य अर्थ का बोध होता है, इसलिए वाच्यार्थ को मुख्यार्थ भी कहते हैं। लेकिन कभी कभी ऐसा होता है कि वाक्य में मुख्यार्थ का अन्वय (सम्बन्ध) ठीक ठीक नहीं बैठता, तब लक्षणा का आधार लेना पड़ता है।

2.3 अभिधा

अभिधा - शब्द के तीन अर्थ होते हैं – 1. वाच्य 2. लक्ष्य और 3. व्यंग्य। साक्षात् संकेतित अर्थ वाच्यार्थ कहलाता है। उस साक्षात् संकेतित अर्थ के विषय में शब्द का जो मुख्य व्यापार है वह अभिधा कहलाती है।

स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधीयते। [4]

इस अभिधा शक्ति को शक्ति शब्द से भी कहा जाता है। शक्ति और संकेत शब्दों का कहीं कहीं समान अर्थ में व्यवहार किया जाता है। 'अस्मात् पदात् अयमर्थो बोध्य:' इस प्रकार की मान्यता ही संकेत है। जिससे साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध होता है वह वृत्ति अभिधा है। गौ शब्द से सास्नादिमान् साक्षात् संकेतित अर्थ का ज्ञान होता है। यह अर्थ जिस वृत्ति से होता है। वह वृत्ति अभिधा है।

अभिधा के भेद -

अभिधा के निम्न तीन भेद है:-

रूढ़ि

वे शब्द जिनका अर्थ तय हो, उनमे बदलाव नही हो सकते उन्हें रूढ़ि कहते है। जैसे:- रोटी, कलम, पेड़ आदि

योग

दो शब्दों के जोड़ से प्राप्त एक नये अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द को योग कहते है। इसमे दोनो शब्दों को अलग अलग करने पर उनका एक स्वतंत्र अर्थ भी होता है। जैसे:- बैलगाड़ी, मालगाड़ी आदि।

योगरूढ़ि

वे योग शब्द जो समाज में अब एक विशेष अर्थ के लिए रूढ़ हो गये है अर्थात उनका कोई भिन्न अर्थ हो भी फिर भी उन सबसे एक अर्थ विशेष की प्रतीति होती है। जैसे:- मुरलीधर, मधुसूदन, गोपाल आदि। यहाँ गोपाल 'गो' तथा 'पाल' के योग से निर्मित है जिसका अर्थ है गाय पालने वाला पर इसका अर्थ कृष्ण के लिए रूढ़ हो गया है।

2.4 लक्षणा

लक्षणात्मक वृत्ति से युक्त 'पद' को 'लाक्षणिक' कहते है और मुख्यार्थ का बाध होने पर प्रसिद्धि

[4] काव्य प्रकाश 2/8

को निमित्त मानकर अथवा किसी विशेष प्रयोजन को निमित्त मानकर जिस वृत्ति द्वारा किसी अन्य अर्थ को उपस्थापित किया जाता है, उसे लक्षणा कहते हैं। यह आरोपित शब्दव्यापार होता है-

**मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।।**[5]

अर्थात् मुख्यार्थ का बाध होने पर मुख्य अर्थ का सम्बन्ध होने पर, रूढि अथवा किसी प्रयोजनवश जिस वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है वह वृत्ति लक्षणा कहलाती है। यह लक्षणा वृत्ति स्वाभाविक न होकर आरोपित (Super imposed) है।

"शक्ति" शब्द की मुख्यवृत्ति है, जबकि "लक्षणा" गौणवृत्ति। बिना शक्यार्थ के ज्ञान हुए 'लक्ष्यार्थ' का ज्ञान नहीं हो सकता। लक्षणा होती है शक्यार्थ के साथ अभिप्रेत अर्थ में होने वाला सम्बन्ध। लक्ष्यार्थ सर्वदा शक्यार्थ से सम्बन्द्ध रहता है। लाक्षणिक पद से साक्षात् रूप शाब्दबोध नहीं होता, अपितु 'लाक्षणिक पद' से लक्ष्यार्थ का स्मरण मात्र होकर रह जाता है, पूरे वाक्यार्थ का बोध वाक्य के अन्यवाचक 'पद' के बल पर ही सम्पन्न हो पाता है।

लक्षणा के लक्षण में तीन हेतु कहे गये हैं जिस कारण यह अभिधा से भिन्न हो जाती है। प्रथम तो यह कि शब्द का जो तात्पर्यार्थ है वह अनुपपन्न हो जाये। दूसरा यह कि शब्द से जिस अन्य अमुख्य अर्थ की प्रतीति होती है उसका मुख्य अर्थ से सम्बन्ध होता है। तीसरा यह कि कहीं तो रूढि अथवा प्रसिद्धि के कारण शब्द से अमुख्य अर्थ की प्रतीति होती है और कहीं किसी विशेष प्रयोजन को ध्यान में रखकर लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। यह लक्षणा शक्ति आरोपित अर्थात् कल्पित वृत्ति है स्वाभाविक नहीं। मीमांसकों के अनुसार अभिधा शब्द की स्वाभाविक शक्ति है लक्षणा अस्वाभाविक है। नैयायिकों के अनुसार अभिधा ईश्वरेच्छ से उद्भावित है तथा लक्षणा मनुष्यकल्पित है। अभिधा साक्षात् संकेतित अर्थ की कहती है अतः यह सर्वसिद्ध वृत्ति है तथा शब्द का मुख्य व्यापार है किन्तु लक्षणा अमुख अर्थ को कहती है अतः आरोपिता या कल्पिता वृत्ति है।

जैसे "कर्मणि कुशल:" - यह व्यक्ति कर्म में कुशल है, यहाँ कुशल शब्द की दक्ष या चतुर अर्थ लक्षणा है।

कुशल शब्द का मुख्य अर्थ है कुश या दर्भ नामक घास को लाने वाला) (कुशान् दर्भान् लाति इति कुशलः)। यह मनुष्य अपने कर्म में कुशल है, यहाँ कुशाग्राहक रूप अर्थ संगत नहीं है अतः मुख्यार्थ का बाध हो रहा है। इस असंगति का निराकरण करने के लिये यह कुशल शब्द दक्ष या चतुररूप लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन करता है।

जैसे कुशा के पत्ते तीक्ष्ण होते हैं। वे लाने वाले के हाथ को काट देते हैं अतः कुशोत्पाटन या कुशानयन के लिये एक विवेकशीलता की आवश्यकता है। वैसी ही विवेकशीलता किसी कार्य को अच्छी प्रकार करने के लिये अपेक्षित है। यही साधर्म्य सम्बन्ध है।कुशल शब्द का दक्ष या चतुर रूप लक्ष्यार्थ ही क्यों लिया जाता है? क्योंकि लोक में कुशल शब्द का दक्ष या चतुर अर्थ प्रसिद्ध है। इस प्रकार कुशल शब्द की दक्ष अर्थ में लक्षणा होती है।

प्रयोजन से होने वाली लक्षणा का उदाहरण है-गंगायां घोष:-अर्थात् गंगा पर झोंपड़ी है। गंगा

---

[5] काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास ९

शब्द का मुख्य अर्थ है- जलधारा या प्रवाह। उस पर घोष नहीं हो सकता। अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध हो रहा है। इसलिये प्रयोजन के कारण गंगाशब्द की गंगातट में लक्षणा मानी जाती है। गंगाशब्द में गंगातट का लक्षणा द्वारा बोध कराने में प्रयोजन यह है कि इससे शीतता पावनता आदि की प्रतीति होती है। क्योंकि गंगा में शीतता तथा पावनता है। यदि गंगातटे घोष:-'गंगातीर पर घोष है' ऐसा वाक्य प्रयोग किया जाता तो शीतता पावनता आदि की वैसी प्रतीति नहीं होती जैसी -'गंगायां घोष:' इस वाक्य से होती है। गंगा से दूर भी तो गंगा तीर पर घोष हो सकता है जहाँ गंगा की शीतता पावनता आदि का कोई सम्बन्ध न हो। अतः 'गंगायां घोष:' इस वाक्य में गंगा शब्द की गंगातीर में लक्षणा होती है।

महावाक्य के अर्थबोध में लक्षणा शब्द शक्ति का विनियोग -

अद्वैत वेदान्त में लक्षणा शब्द शक्ति का उपयोग महावाक्य के अर्थ के ज्ञान में किया गया है।विद्यारण्य स्वामी ने पञ्चदशी के 'महावाक्यविवेक' नामक पञ्चम प्रकरण में इन चार महावाक्यों की व्याख्या की है – (1) प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐत0 आ0 5।3) – ऋग्वेद से, (2) अहं ब्रह्मास्मि (बृहदा0 1।4।10) यजुर्वेद से, (3) तत्त्वमसि (छान्दोग्य0 6।8।7) – सामवेद से, और (4) अयमात्मा ब्रह्म (माण्डुक्य0 2) अथर्ववेद से। इन चारों महावाक्यों में 'तत्त्वमसि' वाक्य साक्षात् उपदेशरूप होने के कारण विद्वानों के मध्य बहुत लोकप्रिय हुआ। इसलिए अधिकांश वेदान्तग्रन्थों में प्राय: इसी का व्याख्यान किया गया है।

यह "तत्त्वमसि" (छा0 6।8।9) वाक्य के तीन सम्बन्धों द्वारा अखण्ड (निर्गुणब्रह्मरूप) अर्थ का बोधक बनता है अर्थात् इस वाक्य के अखण्ड अर्थ का ज्ञान हमें तीन सम्बन्धों द्वारा होता है। अखण्डार्थ: अखण्डश्चासौ अर्थश्चेती अखण्डार्थ: अर्थात निर्गुण ब्रह्म, जो स्वगत सजातीय और विजातीय भेदों से रहित होने के कारण माया और माया के कार्यो से सर्वथा असंस्पृष्ट (सम्बन्धरहित) और निरपेक्ष है, उसे अखण्डार्थ कहते है। तीन सम्बन्ध हैं – (1) दोनों ('तत्' और 'त्वम्') पदों का समानाधिकरण्य, (2) दोनों पदों में, उनके वाच्यार्थो में विशेषणविशेष्यभाव, तथा (3) प्रत्यगात्मा और दोनों पदों के वाच्यार्थ में लक्ष्यलक्षणभाव। ऐसा ही (सुरेश्वराचार्य के द्वारा) कहा गया है –"(महाकाव्य के) पदों में, उनके वाच्यार्थों में, तथा उनके वाच्यार्थो और प्रत्यगात्मा में क्रमश: समानाधिकरण्य, विशेषणविशेष्यभाव और लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध है।

> **``सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता।**
> **लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् ॥"** [6]

यहाँ हम लक्षणा शब्द शक्ति पर विचार कर रहे हैं अतः लक्ष्य लक्षण सम्बन्ध की चर्चा करेंगें -

लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध

अभिधा लक्षणा और व्यंजना - ये तीन शक्तियाँ शब्द की मानी जाती हैं। इनसे क्रमश: वाच्य (संकेतित), लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ का बोध होता है। इनमें व्यंजना का उपयोग काव्य में होता है। शास्त्र-ग्रंथो का प्राय: अभिधावृत्ति से ही काम चल जाता है, किन्तु कहीं कहीं लक्षणा का भी उपयोग होता है। अभिधा से लोकप्रसिद्ध मुख्य अर्थ का बोध होता है, इसलिए वाच्यार्थ को मुख्यार्थ भी कहते हैं। लेकिन कभी कभी ऐसा होता है कि वाक्य में मुख्यार्थ का अन्वय

[6] नैष्कर्मसिद्धि ३/३

(सम्बन्ध) ठीक ठीक नहीं बैठता, तब लक्षणा का आधार लेना पड़ता है।

'जब अभिधा से प्रतीत होने वाले मुख्यार्थ का बाध हो, अर्थात् वाक्य में उसकी संगति न बैठे, तो रूढि के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन को सूचित करने के लिए, मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाले किसी अन्य अर्थ की प्रतीति जिस शक्ति के द्वारा होती है, उसे लक्षणा कहते हैं। यह शब्द में आरोपित (कल्पित) होने वाली शक्ति है –

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।।

जैसे गंगायां घोष:' (गंगा में अहीरों का गाँव है) इस वाक्य में 'गंगाया' का मुख्य अर्थ है 'गंगा की धारा में'। उसमें गाँव का होना असम्भव है। अत: 'गंगा शब्द, मुख्यार्थ अन्वय बाधित होने से, मुख्यार्थ को छोड़कर अपने से सम्बद्ध तट का लक्षणा से बोध कराता है।

(जब अभिधा से प्रतीत होने वाले मुख्यार्थ का बाध हो, अर्थात वाक्य में उसकी संगति न बैठे, तो रूढि के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन को सूचित करने के लिए, मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाले किसी अन्य अर्थ की प्रतीति जिस शक्ति के द्वारा होती है, उसे लक्षणा कहते हैं। यह शब्द में आरोपित (कल्पित) होने वाली शक्ति है।'

जैसे गंगाया घोष:' (गंगा में अहीरों का गाँव है) इस वाक्य में 'गंगाया' का मुख्य अर्थ है 'गंगा की धारा में'। उसमें गाँव का होना असम्भव है। अत: 'गंगा शब्द, मुख्यार्थ अन्वय बाधित होने से, मुख्यार्थ को छोड़कर अपने से सम्बद्ध तटका लक्षणा से बोध कराता है।

यह लक्षणा तीन प्रकार की होती है – जहल्ल्क्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा।

1. जहल्लक्षणा – 'वाच्यार्थमशेषत: परित्यज्य तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा' अर्थात् वाच्यार्थ का पूर्णरूप से परित्याग करके वाच्यार्थ से सम्बन्ध किसी दूसरे अर्थ का बोध कराने वाली वृति 'जहल्लक्षणा' कहलाती है। इसको लक्षणलक्षणा भी कहते हैं। उदहारण – जैसे 'गंगायांघोष:' इस वाक्य में गंगा शब्द अपने वाच्यार्थ का पूर्णतया परित्याग करके अपने से सम्बद्ध 'गंगातट' रूप अर्थान्तर का लक्षणा बोध कराता हैं।

2. अजहल्लक्षणा – 'वाच्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनि (अर्थान्तरे) वृत्तिरजहल्लक्षणा' अर्थात् वाच्यार्थ का विना परित्याग किए हुए वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्था का बोध करानेवाली वृत्ति 'अजहल्लक्षणा' कहलाती है। इसको उपादानलक्षणा भी कहते हैं। उदाहारण – 'शोणो धावति' अर्थात् 'लाल दौड़ रहा है'। घुड़ दौड़ के अवसर पर किसी ने पूछा 'कौनसा घोड़ा दौड़ रहा है ?' इसके उत्तर में किसी ने कहा 'लाल दौड़ रहा है' (शोणो धावति)। इस उदहारण में शोण वर्ण जड़ होने के कारण 'धावति' क्रिया के कर्त्तारूप से वाक्यार्थ में अन्वित नहीं हो सकता है। इसलिए वाक्यार्थ में अपने अन्वय की सिद्धि के लिए 'शोण' शब्द अपने वाच्यार्थ विना परित्याग किए हुए अपने से सम्बद्ध 'शोणवर्णमाला अश्व' इस अर्थान्तर का लक्षणा से बोध कराता है।

3. जहदजहल्लक्षणा – 'वाच्यार्थेकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिर्जहल्लक्षणा' अर्थात् वाच्यार्थ के एक अंश का परित्याग करके अवशिष्ट अंश का बोध करानेवाली वृति 'जहदजहल्लक्षणा' कहलाती है। इस वृत्ति के द्वारा वाच्यार्थ के एक भाग का परित्याग कर दिया जाता है और एक भाग को ग्रहण कर लिया जाता है। एक भाग का परित्याग करने से

इसको भागत्यागलक्षणा और भागमात्र को ग्रहण करने से भागलक्षणा भी कहते हैं। 'सोऽयं देवदत्त' और 'तत्त्वमसि' इसी लक्षणा के उदहारण हैं –

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वम्पदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादि-विशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः ॥ ॥ इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते ॥

सोऽयं देवदत्त- इस वाक्य में 'स:' पद का वाच्यार्थ भूतकालविशिष्ट देवदत्त है, और 'अयम्' पद का वाच्यार्थ वर्त्तमानकालविशिष्ट देवदत्त है, ये दोनों वाच्यार्थ परस्पर विरुद्ध हैं। वाच्यार्थों में विरोध होने से इनके वाचक पद भी एक दुसरे के विरुद्ध हुए। दोनों पदों में समानाधिकरण्य के कारण जो एक वाक्यार्थ प्रतीत हो रहा है, वह उन पदों में परस्पर विरोध होने के कर्ण अक तक सिद्ध नहीं हो सकता है जब तक लक्षणा के द्वारा उस विरोध की निवृत्ति न हो जाय। इतना ही नहीं, दोनों पदों के वाच्यार्थों में परस्पर विरोध होने से विशेषणविशेषभास्य भी तब तक सिद्ध नहीं हो सकता है, जब तक लक्षणा के द्वारा वाच्यार्थगत विरोध की निवृत्ति न हो जाय। इसलिए लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना अनिवार्य है। भागलक्षणा के द्वारा दोनों पदों के वाच्यार्थो में तत्कालविशिष्टत्व और एतकालविशिष्टत्वरूप जो विरुद्ध अंश है, उसका परित्याग करके अविरुद्ध देवदत्त ग्रहण कर लिया जाता है। इस उदहारण में 'स:' और 'अयम्' पद अथवा इन दोनों के वाच्यार्थ विरुद्धांश रहित होकर 'लक्षण' या 'लक्षक' हैं, और अविरुद्ध देवदत्त 'लक्ष्य' है।

इसी प्रकार'तत्त्वमसि' – इस वाक्य में भी 'तत्' और 'त्वम्' पदों में तथा इनके वाच्यार्थों में परस्पर विरोध होने से लक्षणा के विना न तो समानाधिकरण्य के कारण प्रतीत होने वाले एक वाक्यार्थ की सिद्धि हो सकती है, और न उनमें परस्पर विशेषणविशेष्यभाव ही सिद्ध हो सकता है। लक्षणा से पारस्परिक विरोध की निवृत्ति हो जाने पर समानाधिकरण्य तथा विशेषणविशेष्यभाव भी सिद्ध हो सकता है और वाक्यार्थ भी निष्पन्न हो जाता है। भागलक्षणा के द्वारा 'तत्' और 'त्वम्, पदों तथा इनके वाच्यार्थों में परोक्षत्वादिविशिष्टत्व और अपरोक्षत्वादिविशिष्टरूप जो विरुद्धांश है, उसका परित्याग करके अविरुद्ध (अखण्ड) चैतन्य का बोध होता है। यहाँ पर 'तत्' और 'त्वम्' पद अथवा इनके वाच्यार्थ विरुद्धांश से रहित होकर 'लक्षण' हैं, और अखण्ड चैतन्य 'लक्ष्य' है। इस प्रकार पदों अथवा पदार्थों का अखण्ड चैतन्य (प्रत्यगात्मा) के साथ लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध सिद्ध होता है। अन्य वेदान्तग्रन्थो में भी 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का अर्थ बोध भागलक्षणा के द्वारा ही माना गया है –

तत्त्वमस्यादि वाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ॥

"जैसे 'सोऽयम्' आदि वाक्यों में स्थित पदों में भागलक्षणा (का आश्रय लिया जाता) है, कोई दूसरी (जहल्लक्षणा या अजहल्लक्षणा) नहीं, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में भी भागलक्षणा ही (आश्रयणीय) है, कोई दूसरा नहीं।"

वाचस्पत्यम् में भी जहदजहल्लक्षणा का निरूपण करते समय 'सोअयं देवदत्त:' को

दृष्टान्तरूप से और 'तत्त्वमसि' को दार्ष्टान्तिकरूप से प्रस्तुत किया गया है –

वाच्यार्थदेश परित्यागेन अनेकदेशवृत्तौ लक्षणायाम्। यथा सोऽयं देवदत्तः तत्त्कालैत्कालरूपार्थत्यागेन केवल देवदत्तमात्रार्थबोधनत्वाद्वाच्यार्थैकदेशवृत्तिता। एवं तत्त्वमसिती वाक्ये विरुद्धसर्ज्ञत्वाल्पज्ञत्वपरित्यागेन चैतन्यमात्रबोधनत्वात्तथात्वम्।

4. तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थबोध हेतु लक्षणा शब्द शक्ति की उपादेयता -

अब प्रश्न यह उठता है कि जिस प्रकार 'नीलमुत्पलम' वाक्य में समानाधिकरण्य और विशेषण-विशेष्यभाव होने पर क्यों न अभिधामात्र से ही वाक्यार्थ का बोध हो जाय ? इसमें लक्षणा आश्रय लेने की क्या आवश्यकता है ?

'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' पदों से एक अखण्ड अर्थ (निर्विशेष चैतन्य) विवक्षित है, परन्तु अभिधा से उस अखण्ड अर्थ का बोध नहीं हो सकता है, क्योंकि अभिधा से तो दोंन पदों के परस्पर विरुद्ध वाच्यार्थ की ही प्रतीति होती है। अत: उस अखण्डार्थ के बोध के लिए लक्षणा का आश्रय लेना अनिवार्य है। 'नीलमुत्पलम्' वाक्य से इसका भेद इसलिए है, क्योंकि 'नीलमुत्पलम्' में अखण्डार्थ विवक्षित नहीं है। उसमें 'नील' पद का वाच्यार्थ नीलगुण है, जो शुक्ल रक्त आदि अन्य गुणों का व्यावर्तन करता है, और 'उत्पल' पद का वाच्यार्थ उत्पलद्रव्य है, जो घट पट आदि अन्य द्रव्यों का व्यावर्तन करता है। इसलिए परस्पर गुणगुणिभाव होने से किसी प्रकार का विरोध न होने के कारण पुरे वाक्य का अर्थ इनमे से कोई भी माना ज सकता है-

क) दोनों पदों के वाच्यार्थ में परस्पर विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध।

ख) एक से विशिष्ट दूसरा पदार्थ, अर्थात 'नीलत्वविशिष्टमुत्पलम्' अथवा 'उत्पलत्वविशिष्ट नीलम्'।

ग) दोनों की एकता (अभेद), अर्थात 'नीलाभिन्नमुत्पलम्' अथवा उत्पलाभिन्नं नीलम्'।

इन तीनों अर्थों का बोध अभिधा से ही हो जाता है, और किसी भी प्रमाण से विरोध भी नहीं दिखाई पड़ता है, अत: लक्षणा की सहायता की बिल्कुल अपेक्षा नहीं है। यद्यपि 'नीलाभिन्नमुत्पलम्' अथवा 'उत्पलाभिन्नं नीलम्' यह वाक्यार्थ अभीष्ट होने से दोनों में अभेद विवक्षित है, तथापि अखण्डार्थ विवक्षित नहीं है, क्योंकि एक गुण है तथा दूसरा द्रव्य। अखण्डार्थ में तो द्वैत की कल्पना भी नहीं हो सकती है। जैसे 'सोअयम् देवदत्त:' में स:' और 'अयम्' दोनों पदों से अखण्ड देवदत्त विवक्षित है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' पदों से अखण्ड चैतन्य विवक्षित है। यहाँ पर अणुमात्र भी भेद सम्भव नहीं है।

'तत्त्वमसि' वाक्य से निर्विशेषचैतन्यरूप जो अखण्डार्थ विवक्षित है, उसकी प्रतीति अभिधा से किसी भी प्रकार नहीं हो सकती है, क्योंकि अभिधासे प्रतीत होने वाला वाक्यार्थ पूर्वोक्त तीन विधाओं में से ही किसी एक विधाका हो सकता है। किसी भी विधाको स्वीकार करने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होगा। उस स्थिति में लक्षणा के द्वारा ही दोनों पदार्थों के पारस्परिक विरोध व्यावर्तन होने पर निर्विशेषचैतन्यरूप अखण्डार्थ का बोध सम्भव हो सकेगा।

'नीलमुत्पलम्' में जिस प्रकार गुणगुणिभाव है, उसी प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थों में गुणगुणीभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि ' नीलमुत्पलम् ' में एक गुण है और दूसरा द्रव्य जबकि यहाँ पर दोनों ही द्रव्य हैं। इन दोनों में अर्थात तत्पदार्थ एवं त्वम्पदार्थ कुण्डल और सुवर्ण के

समान कार्य- कारणभाव भी नहीं हो सकता है, क्योंकि दोनों ही नित्य और अविकृत हैं। भूमि और ऊसर के समान अंशाशिभाव भी नहीं है, क्योंकि दोनों ही निरवयव हैं। निष्क्रिय होने के कारण बाण आदि के समान क्रियाक्रियावद्भाव भी नहीं है। द्रव्य होने के कारण ही गोत्व और स्वस्तिमती के समान जातिव्यक्तिभाव भी नहीं है, और इसीलिए विशेषविशेषिभाव भी नहीं है। यदि इनमें से कोई भी सम्बन्ध होता, तो वाक्यार्थ संसृष्ट माना ज सकता था। परन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ तो वह 'अखण्ड सत्य' है, जो स्वगत सजातीय और विजातीय भेदों में सर्वथा रहित 'विज्ञानघनमात्र' है, और शास्त्रों में 'नेति नेति' कहकर समस्त विशेषों का प्रत्याख्यान करने के द्वारा जिसे 'निर्विशेषचैतन्य' कहा गया है। इसलिए इस वाक्य से किसी भी प्रकार संसृष्टार्थ की कल्पना के लिए रञ्चमात्र भी अवकाश नहीं है।

संसर्गः- किसी वाक्य में आए हुए पदों निर्दिष्ट पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध को संसर्ग कहते हैं। यह संसर्ग दो प्रकार का होता है - भेदरूप संसर्ग और अभेदरूप संसर्ग।

भेदसंसर्गः- जहाँ पर वाक्यगत पदों में भिन्न भिन्न विभक्तियों का प्रयोग होने से समानाधिकरण्य का अभाव होता है, वहाँ पर वाक्यार्थ भेदसंसर्गरूप माना जाता है जैसे 'दण्डेन गां नय' (डण्डे से गाय हाँक ले जाओ) इस वाक्य के पदों में समानाधिकरण्य नहीं है, इसलिए यहाँ पर वाक्यार्थ भेदसंसर्गरूप है।

अभेदसंसर्गः - जहाँ पर वाक्यगत पदों में समान विभक्ति का प्रयोग होने से समानाधिकरण्य होता है, वहाँ पर वाक्यार्थ अभेदसंसर्गरूप अथवा विशिष्ट (विशेषणविशेष्यभावरूप) माना जाता है। जैसे 'नीलमुत्पलम्' वाक्य के पदों में समानाधिकरण्य होने से वाक्यार्थ अभेदसंसर्गरूप अथवा विशिष्ट है।

'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य भी पदगत समानाधिकरण्य के कारण इस दूसरी विधा के ही अन्तर्गत प्रतीत होते हैं, इसलिए इनका वाच्यार्थ अभेदसंससर्गरूप अथवा विशिष्ट होना चाहिए। परन्तु ऐसा मानने में में कठिनाई है, क्योंकि 'नीलमुत्पलम्' और 'तत्त्वमसि' से होनेवाले वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया में बहुत भेद है। 'नीलमुत्पलम्' वाक्य के पदार्थों में गुणगुणिभाव होने से अभेदसंसर्गरूप या विशेषणविशेष्यभावरूप वाक्यार्थ मानने में कोई अड़चन नहीं है, परन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य के दोनों पदार्थों के द्रव्य रूप होने से और परस्पर विरुद्ध होने से अभेदसंसर्गरूप मुख्यार्थ बाधित हो जाता है। उस स्थिति में लक्षणा के द्वारा वाक्यार्थरूप से जी अखण्ड (निर्विशेष) चैतन्य का बोध होता है, वह प्रतिपादिकार्थमात्र होने से अभेदसंसर्गरूप नहीं हो सकता है -

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।

अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥"

इस श्लोक में संसर्गपद से भेदरूप संसर्ग और विशिष्टपद से अभेदरूप संसर्ग अर्थात दोनों प्रकार के संसर्ग का वाक्यार्थरूप से निषेध किया गया है। इस श्लोक पर रामकृष्ण की व्याख्या दृष्टव्य है–

वाच्यार्थैकदेशत्यागेनैकदेशवृत्तौ लक्षणायाम्। यथा सोऽयं देवदत्त इत्यत्र तत्कालैत्कालरूपार्थत्यागेन केवलदेवदत्तमात्रार्थबोधनत्वाद्वाच्यार्थैकदेशवृतिता। एवं तत्त्वमसीति वाक्ये विरुद्धसर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वार्थत्यागेन चैतन्यमात्रबोधनात्तथात्वम्।

तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थबोध हेतु भागलक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) की अनिवार्यता

महावाक्य का अर्थबोध अभिधामात्र से नहीं हो सकता है, प्रत्युत लक्षणा का आश्रय लेना अनिवार्य है, इसका निरूपण किया गया। अब पूर्वोक्त तीन प्रकार की लक्षणा में भागलक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) से ही महावाक्य का अर्थबोध सम्भव है।

लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध

अभिधा लक्षणा और व्यंजना - ये तीन शक्तियाँ शब्द की मानी जाती हैं। इनसे क्रमश: वाच्य (संकेतित), लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ का बोध होता है। इनमें व्यंजना का उपयोग काव्य में होता है। शास्त्र-ग्रंथो का प्राय: अभिधावृत्ति से ही काम चल जाता है, किन्तु कहीं कहीं लक्षणा का भी उपयोग होता है। अभिधा से लोकप्रसिद्ध मुख्य अर्थ का बोध होता है, इसलिए वाच्यार्थ को मुख्यार्थ भी कहते हैं। लेकिन कभी कभी ऐसा होता है कि वाक्य में मुख्यार्थ का अन्वय (सम्बन्ध) ठीक ठीक नहीं बैठता, तब लक्षणा का आधार लेना पड़ता है।

'जब अभिधा से प्रतीत होने वाले मुख्यार्थ का बाध हो, अर्थात् वाक्य में उसकी संगति न बैठे, तो रूढि के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन को सूचित करने के लिए, मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाले किसी अन्य अर्थ की प्रतीति जिस शक्ति के द्वारा होती है, उसे लक्षणा कहते हैं। यह शब्द में आरोपित (कल्पित) होने वाली शक्ति है –

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।। [7]

जैसे गंगायां घोष:' (गंगा में अहीरों का गाँव है) इस वाक्य में 'गंगाया' का मुख्य अर्थ है 'गंगा की धारा में'। उसमें गाँव का होना असम्भव है। अत: 'गंगा शब्द, मुख्यार्थ अन्वय बाधित होने से, मुख्यार्थ को छोड़कर अपने से सम्बद्ध तट का लक्षणा से बोध कराता है।

(जब अभिधा से प्रतीत होने वाले मुख्यार्थ का बाध हो, अर्थात वाक्य में उसकी संगति न बैठे, तो रूढि के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन को सूचित करने के लिए, मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाले किसी अन्य अर्थ की प्रतीति जिस शक्ति के द्वारा होती है, उसे लक्षणा कहते हैं। यह शब्द में आरोपित (कल्पित) होने वाली शक्ति है।'

जैसे गंगाया घोष:' (गंगा में अहीरों का गाँव है) इस वाक्य में 'गंगाया' का मुख्य अर्थ है 'गंगा की धारा में'। उसमें गाँव का होना असम्भव है। अत: 'गंगा शब्द, मुख्यार्थ अन्वय बाधित होने से, मुख्यार्थ को छोड़कर अपने से सम्बद्ध तटका लक्षणा से बोध कराता है)

यह लक्षणा तीन प्रकार की होती है – **जहल्ल्क्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा।**

जहल्लक्षणा – 'वाच्यार्थमशेषत: परित्यज्य तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा'[8] अर्थात् वाच्यार्थ का पूर्णरूप से परित्याग करके वाच्यार्थ से सम्बन्ध किसी दूसरे अर्थ का बोध कराने वाली वृति 'जहल्लक्षणा' कहलाती है। इसको लक्षणलक्षणा भी कहते हैं। उदहारण – जैसे 'गंगायांघोष:' इस वाक्य में गंगा शब्द अपने वाच्यार्थ का पूर्णतया परित्याग करके अपने

---

[7] काव्यप्रकाश, ९.

[8] विद्वन्मनोरंजिनी, १२५

से सम्बद्ध 'गंगातट' रूप अर्थान्तर का लक्षणा बोध कराता हैं।

अजहल्लक्षणा – 'वाच्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनि (अर्थान्तरे) वृत्तिरजहल्लक्षणा'[9] अर्थात् वाच्यार्थ का विना परित्याग किए हुए वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्था का बोध करानेवाली वृत्ति 'अजहल्लक्षणा' कहलाती है। इसको उपादानलक्षणा भी कहते हैं। उदाहारण – 'शोणो धावति' अर्थात् 'लाल दौड़ रहा है'। घुड़ दौड़ के अवसर पर किसी ने पूछा 'कौनसा घोड़ा दौड़ रहा है ?' इसके उत्तर में किसी ने कहा 'लाल दौड़ रहा है' (शोणो धावति)। इस उदहारण में शोण वर्ण जड़ होने के कारण 'धावति' क्रिया के कर्त्तारूप से वाक्यार्थ में अन्वित नहीं हो सकता है। इसलिए वाक्यार्थ में अपने अन्वय की सिद्धि के लिए 'शोण' शब्द अपने वाच्यार्थ विना परित्याग किए हुए अपने से सम्बद्ध 'शोणवर्णमाला अश्व' इस अर्थान्तर का लक्षणा से बोध कराता है।

जहदजहल्लक्षणा – 'वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिर्जहल्लक्षणा'[10] अर्थात् वाच्यार्थ के एक अंश का परित्याग करके अवशिष्ट अंश का बोध करानेवाली वृति 'जहदजहल्लक्षणा' कहलाती है। इस वृत्ति के द्वारा वाच्यार्थ के एक भाग का परित्याग कर दिया जाता है और एक भाग को ग्रहण कर लिया जाता है। एक भाग का परित्याग करने से इसको भागत्यागलक्षणा और भागमात्र को ग्रहण करने से भागलक्षणा भी कहते हैं। 'सोऽयं देवदत्त' और 'तत्त्वमसि' इसी लक्षणा के उदहारण हैं –

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा
विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः।
तथात्रापि वाक्ये तत्त्वम्पदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादि-
विशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः ॥ ॥
इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते ॥[11]

सोऽयं देवदत्त- इस वाक्य में 'सः' पद का वाच्यार्थ भूतकालविशिष्ट देवदत्त है, और 'अयम्' पद का वाच्यार्थ वर्त्तमानकालविशिष्ट देवदत्त है, ये दोनों वाच्यार्थ परस्पर विरुद्ध हैं। वाच्यार्थों में विरोध होने से इनके वाचक पद भी एक दुसरे के विरुद्ध हुए। दोनों पदों में समानाधिकरण्य के कारण जो एक वाक्यार्थ प्रतीत हो रहा है, वह उन पदों में परस्पर विरोध होने के कर्ण अक तक सिद्ध नहीं हो सकता है जब तक लक्षणा के द्वारा उस विरोध की निवृत्ति न हो जाय। इतना ही नहीं, दोनों पदों के वाच्यार्थों में परस्पर विरोध होने से विशेषणविशेषभास्य भी तब तक सिद्ध नहीं हो सकता है, जब तक लक्षणा के द्वारा वाच्यार्थगत विरोध की निवृत्ति न हो जाय। इसलिए लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना अनिवार्य है। भागलक्षणा के द्वारा दोनों पदों के वाच्यार्थो में तत्कालविशिष्टत्व और एतकालविशिष्टत्वरूप जो विरुद्ध अंश है, उसका परित्याग करके अविरुद्ध देवदत्त ग्रहण कर लिया जाता है। इस उदहारण में 'सः' और 'अयम्' पद अथवा इन दोनों के वाच्यार्थ विरुद्धांश रहित होकर 'लक्षण' या 'लक्षक' हैं, और अविरुद्ध देवदत्त 'लक्ष्य' है।

इसी प्रकार**'तत्त्वमसि'** – इस वाक्य में भी 'तत्' और 'त्वम्' पदों में तथा इनके वाच्यार्थों में

---

[9] विद्वन्मनोरंजिनी, पूर्ववत्.

[10] विद्वन्मनोरंजिनी, पृ० १२७.

[11] वेदान्तसार, पृ ० १२७

परस्पर विरोध होने से लक्षणा के विना न तो समानाधिकरण्य के कारण प्रतीत होने वाले एक वाक्यार्थ की सिद्धि हो सकती है, और न उनमें परस्पर विशेषणविशेष्यभाव ही सिद्ध हो सकता है। लक्षणा से पारस्परिक विरोध की निवृत्ति हो जाने पर समानाधिकरण्य तथा विशेषणविशेष्यभाव भी सिद्ध हो सकता है और वाक्यार्थ भी निष्पन्न हो जाता है। भागलक्षणा के द्वारा 'तत्' और 'त्वम्, पदों तथा इनके वाच्यार्थों में परोक्षत्वादिविशिष्टत्व और अपरोक्षत्वादिविशिष्टरूप जो विरुद्धांश है, उसका परित्याग करके अविरुद्ध (अखण्ड) चैतन्य का बोध होता है। यहाँ पर 'तत्' और 'त्वम्' पद अथवा इनके वाच्यार्थ विरुद्धांश से रहित होकर 'लक्षण' हैं, और अखण्ड चैतन्य 'लक्ष्य' है। इस प्रकार पदों अथवा पदार्थों का अखण्ड चैतन्य (प्रत्यगात्मा) के साथ लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध सिद्ध होता है। अन्य वेदान्तग्रन्थो में भी 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का अर्थ बोध भागलक्षणा के द्वारा ही माना गया है –

तत्त्वमस्यादि वाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ॥ [12]

"जैसे 'सोऽयम्' आदि वाक्यों में स्थित पदों में भागलक्षणा (का आश्रय लिया जाता) है, कोई दूसरी (जहल्लक्षणा या अजहल्लक्षणा) नहीं, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में भी भागलक्षणा ही (आश्रयणीय) है, कोई दूसरा नहीं।"

वाचस्पत्यम् में भी जहदजहल्लक्षणा का निरूपण करते समय 'सोअयं देवदत्त:' को दृष्टान्तरूप से और 'तत्त्वमसि' को दार्ष्टान्तिकरूप से प्रस्तुत किया गया है –

वाच्यार्थदेश परित्यागेन अनेकदेशवृत्तौ लक्षणायाम्। यथा सोऽयं देवदत्तः तत्कालैत्कालरूपार्थत्यागेन केवल देवदत्तमात्रार्थबोधनत्वाद्वाच्यार्थैकदेशवृत्तिता। एवं तत्त्वमसिती वाक्ये विरुद्धसर्ज्ञत्वाल्पज्ञत्वपरित्यागेन चैतन्यमात्रबोधनत्वात्तथात्वम्। [13]

2.5 व्यञ्जना

वाच्यार्थ की अनुपपत्ति की अपेक्षा किये बिना ही बोध कराने वाला, वाच्यार्थ से सम्बद्ध तथा असम्बद्ध दोनों ही स्थितियों में समान रूप से रहने वाला, प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध दोनों प्रकार के अर्थों का बोधक तथा वक्ता आदि की विशेषता के ज्ञान और प्रतिभा आदि से जागरित होने वाला संस्कारविशेष ही व्यंजना है। इस प्रकार अभिधा तथा लक्षणा से अजन्य जो प्रतीति है उसका जनक जो शब्दादि में रहने वाला व्यापार है वह व्यापार ही व्यंजना कहलाता है। जैसे 'गंगायां घोष:' में प्रयोजनवश गंगा शब्द की तीर अर्थ में लक्षणा की गयी थी। उस प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना से ही होती है। शैत्य पावनत्वादि की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती क्योंकि गंगा शब्द का साक्षात् संकेतित अर्थ तो प्रवाह है। लक्षणा से भी शैत्यादि की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि शक्ति गंगाशब्द का गंगातीर अर्थ लक्षित करके विरत हो जाती है। अतः शैत्य पावनत्वादि की प्रतीति कराने वाला व्यापार व्यंजना के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता। यही बात विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कही है-

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।
यया प्रत्याय्यते सा स्याद् व्यंजना लक्षणाश्रया।।[14]

[12] पंचदशी ७/७४

[13] वाचस्पत्यम् (मथुरानाथतर्कवागीश कृत) पृ ० ४०६

[14] साहित्य दर्पण 2/15

इस व्यंजना को शब्दनिष्ठ व्यापारविशेष माना जाये या हृदयनिष्ठ संस्कारविशेष, इस विषय में यह कथनीय है कि वस्तुतः व्यंजना वृत्ति शब्दनिष्ठ बाद में है। पहले वह सहृदयों के हृदय में रहने वाला संस्कार है। शास्त्रीय प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति को व्यंजना व्यापार का बोध होता है जो वाच्यार्थ में वाच्य तथा लक्ष्य दोनों अर्थों से भिन्न किसी व्यंग्य अर्थ का अभिव्यंजक हेतु होता है।

2.6 तात्पर्यवृत्ति

आकांक्षा योग्यता और सन्निधि से युक्त शब्दों के समूह को वाक्य कहते है, उसी से अर्थबोध होता है, यह बात न्याय मीमांसा वेदान्त आदि सभी शास्त्रों को मान्य है। किन्तु विचारणीय यह है कि यह वाक्य से प्रतीत होने वाला अर्थ शब्दों के पृथक्-पृथक् अर्थों का समूह मात्र होता है? अथवा शब्दों के अर्थों से भिन्न कोई नवीन अर्थ होता है?

इस विषय में मीमांसक आचार्य कुमारिल भट्ट का कथन है कि शब्दों के अर्थ से भिन्न एक नवीन अर्थ वाक्यार्थ के रूप में प्रकट हुआ करता है। इसका क्रम यह है कि पद अपनी अभिधा वृत्ति से किन्हीं अर्थों को पृथक्-पृथक् प्रकट कर देते हैं। उसके पश्चात् उन अर्थों का परस्पर सम्बन्ध हो जाता है। अर्थात् शब्दों के द्वारा अभिहित (Expressed) अर्थों का बाद में अन्वय अर्थात् परस्पर सम्बन्ध हो जाता है। इस सिद्धान्त को मानने के कारण कुमारिल भट्ट और उनके अनुयायी अभिहितान्वयवादी कहलाते हैं –

अभिहितानामन्वयः। अभिभावृत्त्या(शक्त्या)उपस्थापितानामर्थानां परस्परसंबन्धे।[15]

इनका मत है कि पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध अथवा अन्वय ही वाक्य का अर्थ है। वह वाक्यार्थ पदार्थों से विशेष प्रकार का है, अतः पदों के द्वारा वह प्रकट नहीं होता। उसे प्रकट करने के लिये एक विशेष शक्ति या वृत्ति की उद्भावना करनी चाहिये। वही तात्पर्य वृत्ति है। उसी तात्पर्य वृत्ति से वाक्यार्थ का बोध होता है और यह वृत्ति अभिधा लक्षणा तथा व्यंजना इन तीनों वृत्तियों से भिन्न है।

प्रभाकर का मत उपर्युक्त मत से भिन्न है। प्रभाकर कहते हैं कि पदों से परस्पर सम्बन्ध न रखने वाले अर्थ की प्रतीति नहीं होती अपितु परस्पर अन्वित अर्थात् सम्बद्ध अर्थ की ही प्रतीति होती है। इस प्रकार शब्द अन्वित अर्थ का ही कथन करते हैं (अन्वितानाम् अभिधानम्)। इस सिद्धान्त को मानने के कारण प्रभाकर अन्विताभिधानवादी कहलाते हैं –

इतरान्वितस्वार्थ ज्ञानशक्तत्वेन ज्ञात पद स्वार्थान्वयानुभावकमिति वाक्यार्थएव शक्त्याऽभिधीयते इत्यन्विताभिधानवादिनः।[16]

इस मत के अनुसार वाक्य का अर्थ भी वाच्यार्थ ही है। वह पदसमुदाय वाक्य का साक्षात् अर्थ है, तात्पर्यवृत्ति से प्रकट होने वाला कोई आगन्तुक अर्थ नहीं, अतः कुमारिल का मत ठीक नहीं है। इसलिये तात्पर्य वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार तात्पर्य वृत्ति के विषय में अभिहितान्वयवादियों और अन्विताभिधान वादियों का मत पृथक्-पृथक् है।

---

[15] वाचस्पत्यम् पृ ६७

[16] वाचस्पत्यम् पृ ६७

वाक्यार्थबोध-अद्वैतवेदान्त का मत

शब्द एक ऐसा प्रमाण है जिसका कभी-कभी आपाततः अर्थ से तात्पर्यार्थ सर्वथा भिन्न हो जाया करता है। अतः शब्द का अर्थ करते समय यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि किसी अन्य प्रमाण से आपात अर्थ का बाध भले ही हो रहा हो किन्तु तात्पर्यार्थ का बाध नहीं होना चाहिये। ऐसी स्थिति होने पर ही वाक्य प्रमाण माना जाता है। उदाहरण के लिये इस वैदिक वाक्य को देखिये -" स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्" अर्थात् उस प्रजापति ने अपने हृदय की चमड़ी को उखाड़ डाला। आपात रूप से यह अर्थ अप्रामाणिक है, क्योंकि प्रजापति ने चमड़ी को उखाड़ ही नहीं। हाँ इसके तात्पर्य अर्थ की ओर ध्यान दें तो इसका तात्पर्य पशुयाग की प्रशंसा करने मात्र में है चमड़ी उखाड़ने में नहीं। अर्थात् जिस पशुयाग के सम्पादन के लिये स्वयम् प्रजापति ने भी अपनी चमड़ी को उधेड़ डाला तो वह याग अवश्य श्रेष्ठ है उसे किया ही जाना चाहिये। ऐसा प्रशंसापरक अर्थ करने पर प्रमाणान्तर से उसका बाध नहीं होता। वेदवाक्य सर्वथा प्रामाणिक है। इसी प्रकार तात्पर्य के अनुसार शब्द का अर्थ करना पड़ता है।

तात्पर्य की सिद्धि के लिये ही लक्षणा की जाती है। यदि लक्षणा से कार्य न लिया जाये तो 'गंगायां घोषः "कुन्ताः प्रविशन्ति', 'श्वेतो धावति' इत्यादि वाक्य निरर्थक और अप्रमाणिक होने लग जायेंगे। इसलिये जहाँ पर तात्पर्यार्थ सिद्ध न हो रहा हो वहाँ जहत् अजहत् एवं भागलक्षणा से तात्पर्य अर्थ को सिद्ध करना पड़ता है। अतः आकांक्षा योग्यता तथा आसत्ति के साथ तात्पर्यज्ञान को भी वाक्यार्थबोध में हेतु मानना चाहिये। ऐसा अद्वैत वेदान्तियों का मत है – **वाक्यजन्ये च ज्ञाने आकाङ्क्षायोग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्य्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि।**[17]

तात्पर्य की परिभाषा-न्याय मत

तात्पर्यज्ञान को वाक्यार्थबोध में कारण नैयायिक भी मानते है। तात्पर्यज्ञान होने पर ही भोजन के अवसर पर "सैन्धवमानय" इस वाक्य में सैन्धव शब्द का अर्थ लवण लिया जाता है और युद्ध के अवसर पर सैन्धव का अर्थ अश्व लिया जाता है। नैयायिकों के अनुसार तात्पर्य की परिभाषा है -"**वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्**"[18] अथवा "**तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं तात्पर्यम्। तात्पर्यज्ञानञ्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः** "[19] अर्थात् वक्ता की इच्छा को तात्पर्य कहते हैं। जहाँ वक्ता के विवक्षित अर्थ का बोध उसके द्वारा उच्चारण किये गये शब्द से होता हो तो वहाँ पर तात्पर्य का ज्ञान माना जाता है। अत: विवक्षित अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उच्चारण होना ही तात्पर्य है।

तात्पर्य- अद्वैत वेदान्त का मत

अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि नैयायिकों के द्वारा मान्य तात्पर्य का लक्षण दोषरहित नहीं। इसमें अव्याप्ति दोष है। क्योंकि मोनी व्यक्ति के द्वारा लिखे गये लिपिसंकेत से भी उसका तात्पर्य जान लिया जाता है। उसने विवक्षित अर्थ की प्रतीति की इच्छा से शब्द का उच्चारण तो किया नहीं, क्योंकि जब मोनी के श्लोक में उच्चरितत्व ही नहीं है तो उसमें अर्थप्रतीति की इच्छा से उच्चरितत्वरूप तात्पर्य कैसे रह सकेगा? अतः नैयायिकों के तात्पर्य के लक्षण में अव्याप्ति दोष है।

---

[17] वेदान्तपरिभाषा पृ० १२५

[18] न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ० ८५

[19] तर्कसङ्ग्रहः/शब्दनिरूपणम् पृ० ८७

दूसरी ओर जिसे अर्थ का ज्ञान नहीं है ऐसा बालक भी जब "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करता है तो उसके श्रवण से संस्कृतज्ञों को शाब्द बोध होता ही है। वह शाब्द बोध नहीं होना चाहिये क्योंकि उसने उस अर्थ की की इच्छा से तो उच्चारण किया नहीं। अतः वहाँ भी न्यायसम्मत तात्पर्यलक्षण की अव्याप्ति हो रही है।

यहाँ पर न्याय अपना समाधान देता है कि वह वेदमन्त्र का उच्चारण करने वाला व्यक्ति भले ही अर्थज्ञान शून्य है किन्तु सुनने वाले को ऐसा भ्रम होता है कि इसी अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उसने उच्चारण किया है, अतः तात्पर्य का भ्रम हो जाने से अर्थज्ञान शून्य व्यक्ति के द्वारा उच्चारण किये गये वेदमन्त्र का ज्ञान हो जायेगा।

अद्वैतवेदान्ती कहते हैं कि नैयायिकों का उक्त कथन उचित नहीं। क्योंकि एक अध्यापक पद और पदार्थ के ज्ञान से व्युत्पन्न नहीं है, किन्तु अध्यापन काल व्युत्पन्न छात्र तथा तटस्थ व्यक्ति उसकी अव्युत्पन्नता को भी समझता है और साथ ही उसके द्वारा उच्चारित वेदमन्त्र के अर्थ को भी समझता है। वहाँ पर तो तात्पर्य के भ्रम से शाब्दबोध हुआ नहीं। अतः न्यायसम्मत तात्पर्य लक्षण यहाँ भी अव्याप्त है।

न्याय पुन: कहता है कि अव्युत्पन्न अध्यापक का तात्पर्य वहाँ भले ही न हो किन्तु ईश्वरीय तात्पर्य तो वहाँ है ही। तात्पर्य ज्ञान से ही सर्वत्र शाब्द बोध होता है। अत: चाहे अर्थज्ञानशून्य व्यक्ति हो अथवा अव्युत्पन्न अध्यापक हो, सर्वत्र ईश्वरीय तात्पर्यज्ञान से ही शाब्दबोध हो जायेगा।

किन्तु न्याय का उक्त समाधान भी दोषरहित नहीं है। क्योंकि जो लोग ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते उन्हें भी वैदिक तथा लौकिक वाक्यों के श्रवण से वाक्यार्थज्ञान होता है। वहाँ पर अर्थज्ञानशून्य पुरुष से उच्चारण किये गये वेदवाक्य में न तो वक्ता का ही तात्पर्य है न ही ईश्वरीय तात्पर्य है फिर भी व्युत्पन्न श्रोता को वाक्यार्थबोध होता ही है। अतः नैयोयकों का उक्त तात्पर्यलक्षण असंगत है।

तात्पर्य का निर्दुष्ट लक्षण

अद्वैतवेदान्ती आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र तात्पर्य का लक्षण करते हैं- **तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम्।**[20]

अर्थात् पदार्थों के संसर्ग की प्रतीति उत्पन्न करने की योग्यता का नाम तात्पर्य है। जैसे गेहे घटः- घर में घड़ा है, इस वाक्य में गेह आधार है और घट आधेय है। इन दोनों का आधाराधेयभाव सम्बन्ध बतलाना इष्ट है और ऐसे सम्बन्ध की प्रतीति कराने की योग्यता इस वाक्य में है। इसलिये इस वाक्य को सुनते ही गेह और घट के आधाराधेयभाव सम्बन्ध का बोध श्रोता को हो जाता है। इसलिये चाहे अर्थज्ञानशून्य व्यक्ति भी वेदमन्त्र का उच्चारण करे फिर भी उस मन्त्र में पदार्थों के संसर्गजनन योग्यता रूप तात्पर्य के होने से श्रोता को शाब्द बोध हो जाता है। अव्युत्पन्न अध्यापक के द्वारा उच्चारण किये गये वाक्य में भी विवक्षित पदार्थ के संसर्ग की प्रतीति जनन योग्यता विद्यमान रहने के कारण ही व्युत्पन्न छात्र एवं तटस्थ व्यक्ति को शाब्दबोध हो जाता है। जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते उनको भी उक्त योग्यता के कारण ही शाब्दबोध होता है, क्योंकि वह योग्यता रूप तात्पर्य शब्द में रहने वाला धर्म है। वह

[20] वेदान्त परिभाषा आगम परिच्छेद पृ १२३

तात्पर्य वक्ता के अधीन नहीं है जैसा कि न्याय ने स्वीकार किया है- वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्। इसलिये जो वाक्य जिस पदार्थ के संसर्गप्रतीतिजनन में समर्थ है वह वाक्य तत्परक होता है। अर्थात् उस वाक्य से उसी अर्थ का बोध होता है। उससे अन्य का नहीं। जैसे 'गेहे घटः' यह वाक्य गेह और घट के संसर्गबोधन में समर्थ है गेह और पट के संसर्गबोधक में नहीं।

2.7 वाक्यार्थबोध : आकांक्षा. योग्यता एवं सन्निधि

वाक्यार्थबोध -जो शब्द अभिधा लक्षणा अथवा व्यंजना वृत्ति से किसी अर्थ को प्रकट करता है वही सार्थक पद है (शक्तं पदम्)। अर्थात् सार्थक वर्णसमूह का नाम पद है तथा पदों के समूह का नाम वाक्य है- (पदसमूहो वाक्यम्)। किन्तु केवल शब्दों का या पदों का समूहमात्र सम्यक् अर्थबोध में समर्थ नहीं होता है अपितु आकांक्षा योग्यता और सन्निधि होने पर ही शब्दों का परस्पर उचित रूप से अन्वय होता है और तभी सम्यक् अर्थबोध होता है। इन आकांक्षा आदि के स्वरूप का अनेक आचार्यों ने प्रतिपादन किया है।

आकांक्षा

सम्यक् अर्थबोध के लिये यह आवश्यक है कि पदों में परस्पर आकांक्षा हो। यह आकांक्षा क्या है? तर्क संग्रह में आकांक्षा का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है-

तत्र पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकाङ्क्षा।[21]अर्थात् जब वक्ता किसी पद का उच्चारण करता है अथवा श्रोता उसका श्रवण करता है तो एक गाम् आदि पद के पश्चात् दूसरे आनय पद की विवक्षा या जिज्ञासा होती है यह अर्थबोधसम्बन्धी आकांक्षा वास्तव में मानवहृदय में होती है किन्तु एक शब्द का दूसरे के बिना अन्वयबोध कराने का असामर्थ्य शब्दों में पारस्परिक आकांशा कही जाती है। जैसे 'जलेन सिञ्चति' यहाँ 'जलेन' शब्द के श्रवणानन्तर आकांक्षा होती है-कः ? केन? अतः यहाँ दोनों पद एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं अतः साकांक्ष हैं तथा इनसे सम्यक् अर्थबोध होता है। आकांक्षा के बिना शब्दसमूह वाक्य नहीं कहला सकता, और न उससे सम्यक् अर्थबोध हो सकता है। जैसे गौः, अश्वः पुरुषो हस्ती इत्यादि पदसमूह से कोई निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता।

योग्यता

> **योग्यता च तात्पर्य्यविषयसंसर्गाबाधः।**
> **वह्निना सिञ्चेदित्यादौ तादृशसंसर्गबाधान्नातिव्याप्तिः।**[22]

सम्यक् अर्थबोध के लिये पदों में परस्पर अन्वय की योग्यता होनी चाहिये। योग्यता का अर्थ है- पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में किसी प्रकार की बाधा न होना (अर्थाबाधो योग्यता)। जैसे- 'जलेन सिञ्चति' इस वाक्य में प्रयुक्त जल पद के अर्थ में अर्थात् जलरूप वस्तु में सींचने की योग्यता है। इसी कारण से इस वाक्य से सम्यक् अर्थबोध होता है। योग्यता के बिना कोई शब्दसमुदाय प्रामाणिक नहीं हो सकता, क्योंकि उससे सम्यक् अर्थबोध नहीं होता। जैसे 'अग्निना सिञ्चति' यह पदसमूह प्रामाणिक नहीं, क्योंकि अग्नि का कार्य जलाना पकाना आदि है। सेचन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। अतः अग्नि और सेचन के पारस्परिक सम्बन्ध में बाधा पड़ती है।

[21] वेदान्तपरिभाषा आगम परिच्छेद १२३

[22] वेदान्तपरिभाषा आगम परिच्छेद १२४

सन्निधि

आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिः।[23]

साकांक्ष पदों का एक बुद्धि का विषय होना सन्निधि है। आकांक्षा पदों की निधि के लिये या आसत्ति के लिये उनके मध्य में अर्थबोध में बाधा उपस्थित करने ले अन्य पद नहीं होने चाहिये तथा उन पदों का अविलम्ब उच्चारण होना चाहिये। जैसे 'जलेन सिञ्चति' ये दोनों पद पारस्परिक सान्निध्य होने पर ही सम्यक् अर्थबोध कराते हैं। सन्निधि के अभाव में पदसमुदाय प्रामाणिक नहीं होता। वह सम्यक् अर्थबोध नहीं कराता जैसे- 'पर्वतः खादति अग्निमान् देवदत्तः।

यहाँ पर्वत तथा अग्निमान् के बीच में अर्थबोध में बाधा डालने वाले पद 'खादति' का प्रयोग है। अतः सन्निधिरहित होने से यह शब्दसमूह सम्यक् अर्थबोध नहीं कराता। इसी प्रकार यदि कोई 'गाम्' कहने के घंटो या दिनों के पश्चात् 'आनय' शब्द का उच्चारण करे तो यह शब्दसमूह सन्निधिरहित होने से सम्यक् अर्थबोध नहीं करा सकेगा।इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आकांक्षा योग्यता और सन्निधि से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। उसी वाक्य से पूर्ण अर्थबोध होता है।

2.8 सारांश

शब्द से ऐसे सार्थक वर्णसमुदाय को गृहीत किया जाता है, जो कि श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होता है। यह शब्द ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक के भेद से दो प्रकार का होता है। शब्द तथा अर्थ के संबंध को शक्ति या शब्दशक्ति कहते हैं। इसको व्यापार भी कहा गया हैं। शब्द में निहित अर्थ-संपत्ति को प्रकट करने वाला तत्त्व शब्दव्यापार या शब्दशक्ति है। शब्दशक्तियाँ साधन के रूप में समादृत हैं। शब्द कारण है और अर्थ कार्य और शब्दशक्तियाँ साधन या व्यापार-रूप हैं। शब्दशक्ति के बिना शब्द के अर्थ का ज्ञान संभव नहीं है। शब्द तथा अर्थ के संबंध में विचार करनेवाले तत्व को शब्दशक्ति कहते हैं। शब्द की तीन शक्तियाँ हैं - अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। साक्षात् संकेतित अर्थ वाच्यार्थ कहलाता है। उस साक्षात् संकेतित अर्थ के विषय में शब्द का जो मुख्य व्यापार है वह अभिधा कहलाती है। अभिधा शक्ति से निरूपित मुख्य अर्थ को बाधित करके रूढ़ि(प्रसिद्धि) या प्रयोजन (उद्देश्य) के कारण जिस वृत्ति या शक्ति से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, शब्द के अर्थ का बोध कराने वाली उस शक्ति को लक्षणा शक्ति कहते हैं। अभिधा और लक्षणा की सीमा के बाहर पड़नेवाले अर्थ को जो शक्ति व्यक्त करती है, उसे व्यंजना कहते हैं।इन शब्द की शक्तियों के अतिरिक्त भारतीय दर्शन में तात्पर्य वृत्ति को भी एक शब्द शक्ति के रूप स्वीकार किया गया है। पदार्थों के संसर्ग की प्रतीति उत्पन्न करने की योग्यता का नाम तात्पर्य है। जो शब्द अभिधा लक्षणा अथवा व्यंजना वृत्ति से किसी अर्थ को प्रकट करता है वही सार्थक पद है (शक्तं पदम्)। अर्थात् सार्थक वर्णसमूह का नाम पद है तथा पदों के समूह का नाम वाक्य है- (पदसमूहो वाक्यम्)। किन्तु केवल शब्दों का या पदों का समूहमात्र सम्यक् अर्थबोध में समर्थ नहीं होता है अपितु आकांक्षा योग्यता और सन्निधि होने पर ही शब्दों का परस्पर उचित रूप से अन्वय होता है और तभी सम्यक् अर्थबोध होता है। इस प्रकार प्रस्तुत इकाई में हमने शब्द की शक्तियों का दार्शनिक दृष्टिकोण से व्यवस्थित अध्ययन किया है।

[23] वेदान्तपरिभाषा आगम परिच्छेद पृ० १३०

2.9 पारिभाषिक शब्दावली

- **शब्द -** शब्द से ऐसे सार्थक वर्णसमुदाय को गृहीत किया जाता है, जो कि श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होता है।

- **शब्दशक्ति -** शब्दशक्ति इसको व्यापार भी कहा गया हैं। शब्द में निहित अर्थ-संपत्ति को प्रकट करने वाला तत्त्व शब्दव्यापार या शब्दशक्ति है।

- **अभिधा-** साक्षात् संकेतित अर्थ वाच्यार्थ कहलाता है। उस साक्षात् संकेतित अर्थ के विषय में शब्द का जो मुख्य व्यापार है वह अभिधा कहलाती है।

- **लक्षणा -** अभिधा शक्ति से निरूपित मुख्य अर्थ को बाधित करके रूढ़ि(प्रसिद्धि) या प्रयोजन (उद्देश्य) के कारण जिस वृत्ति या शक्ति से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, शब्द के अर्थ का बोध कराने वाली उस शक्ति को लक्षणा शक्ति कहते हैं।

- **व्यंजना –** अभिधा तथा लक्षणा से अजन्य जो प्रतीति है उसका जनक जो शब्दादि में रहने वाला व्यापार है वह व्यापार ही व्यंजना कहलाता है।

- **तात्पर्य - तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम्।**[24] अर्थात् पदार्थों के संसर्ग की प्रतीति उत्पन्न करने की योग्यता का नाम तात्पर्य है।

- **वाक्य -** सार्थक वर्णसमूह का नाम पद है तथा पदों के समूह का नाम वाक्य है- (पदसमूहो वाक्यम्)। -

- **आकांक्षा -तत्र पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकाङ्क्षा।**अर्थात् जब वक्ता किसी पद का उच्चारण करता है अथवा श्रोता उसका श्रवण करता है तो एक गाम् आदि पद के पश्चात् दूसरे आनय पद की विवक्षा या जिज्ञासा होती है यह अर्थबोधसम्बन्धी आकांक्षा वास्तव में मानवहृदय में होती है।

- **योग्यता -** योग्यता का अर्थ है-पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में किसी प्रकार की बाधा न होना (अर्थाबाधो योग्यता)।

- **सन्निधि -** साकांक्ष पदों का एक बुद्धि का विषय होना सन्निधि है। आकांक्षा पदों की निधि के लिये या आसत्ति के लिये उनके मध्य में अर्थबोध में बाधा उपस्थित करने ले अन्य पद नहीं होने चाहिये तथा उन पदों का अविलम्ब उच्चारण होना चाहिये।

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- भार्गव, दयानन्द, तर्कसंग्रह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2012

- शास्त्री धर्मेन्द्र,न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (विश्वनाथ पंचानन कृत), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2017.

[24] वेदान्त परिभाषा आगम परिच्छेद १४३

- आचार्य विश्वेश्वर, काव्य प्रकाश (मम्मट कृत), ज्ञानमण्डल प्रकाशन, काशी, 2015.
- शुक्ल, बदरीनाथ, वेदान्तसार विद्वन्मनोरंजिनी टीका सहित (सदानन्द कृत), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2008
- विद्याभास्कर, रामावतार, पंचदशी (विद्यारण्य मुनि कृत), चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान,दिल्ली, 2009
- शास्त्री शालिग्राम, साहित्य दर्पण (विश्वनाथ कृत), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2016.
- शास्त्री, मुँसलगावकर गजानन, वेदान्तपरिभाषा (धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत), चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन,वाराणसी 2012.

2.11 बोध प्रश्न

1. शब्द की परिभाषा बताते हुए शब्द के स्वरूप का विवेचन किजिए ?
2. अभिधा शब्दशक्ति क्या है ? संकेतग्रह के क्या कारण हैं ? विवेचन किजिए ?
3. लक्षणा शब्दशक्ति किसे कहते ? लक्षणा शब्दशक्ति महावाक्य के ज्ञान में क्या उपयोगिता है ? इसका विवेचन किजिए ?
4. व्यञ्जना एवं तात्पर्यवृत्ति में क्या अन्तर है ? स्पष्ट किजिए ?
5. वाक्यार्थबोध में आकांक्षा. योग्यता एवं सन्निधि की आवश्यक्ता पर प्रकाश डालिए ?

इकाई 3 उपमान प्रमाण की परिभाषा एवं स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्‌देश्य

इस ईकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात् आप निम्नलिखित विचारों को भली–भाँति समझ सकेंगे–

- प्रमाण के रूप में उपमान का क्या अर्थ है?
- उपमान प्रमाण का स्वरूप एवं वैशिष्ट्य क्या है?
- उपमान प्रमाण सम्बन्धी दार्शनिक मत क्या है?
- उपमान प्रमाण तथा सादृश्यता में क्या अन्तर है?

3.1 प्रस्तावना

आप अक्सर गणितीय सवालों में यह पढ़ा करते हैं कि क=ख और ख=ग तो आप यह निष्कर्ष निकालते हैं कि क=ग। क से ज्ञ तक पहुँचने में दो बातें आती हैं। एक तो ख जिसका सम्बन्ध क और ग से है। दूसरा क और ख तथा ग में सम्बन्ध बताने वाला और आप इस निष्कर्ष को सच मानते है। भारतीय दर्शन में निष्कर्ष प्राप्त करने की इस साधन को उपमान प्रमाण कहा गया है। उपमान प्रमाण को चार्वाक और बौद्धदर्शन को छोड़कर सभी दार्शनिक समुदाय प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। चूकि चार्वाक विशुद्ध प्रत्यक्षवादी है। अतः वह उपमान को इसलिये नही स्वीकार करता कि इस प्रमाण में प्रत्यक्षकर्ता को प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान प्राप्त नहीं होता। बौद्धदर्शन अपनी तत्त्वमीमांसीय दृढ़ता के कारण उपमान प्रमाण को अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत ही स्वीकार करने का सुझाव देता है। भारतीय धर्मदर्शन के अन्य सभी मत, मतान्तर तथा सम्प्रदाय अपने ज्ञानपरम्परा का विस्तार उपमान प्रमाण के द्वारा करते हैं। इस ईकाई में हम आपको उपमान प्रमाण का अर्थ स्वरूप वैशिष्ट्य को बताने जा रहे है। इसके लिये जरूरी है कि हम सबसे पहले उपमान प्रमाण के अर्थ को जान लें।

3.2 उपमान का अर्थ

उपमान शब्द की निरूक्ति की जाती है– 'उपमीयते अनेनेति उपमानम्' अर्थात् जिसके द्वारा उपमिति उत्पन्न हो, उसे उपमान कहते है। यहां उपमीति का अर्थ है– उपमा या सादृश्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान। उपमान में केवल उपमा कर देना ही जरूरी नही होता बल्कि उपमान प्रमाण में एक प्रसिद्ध वस्तु के द्वारा सादृश्य देकर विभिन्न दूसरी अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान कराये जाने को उपमान कहते हैं। इस प्रकार से उपमान द्वारा प्राप्त ज्ञान में उपमान प्रमाण के रूप में एक असाधारण कारण के रूप में मान्य है। क्योंकि उपमान प्रमाण एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया के द्वारा सम्पन्न होता है। इससे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह यथार्थ होता है क्योंकि इस प्रमाण में ज्ञात वस्तु के साथ सादृश्य के आधार पर अज्ञात वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उपमान प्रमाण को प्रमाण के रूप में विस्तृत विवेचन न्यायदर्शन में किया गया है। अब हमलोग न्यायदर्शन में उपमान प्रामण की विवेचना पढ़ेंगे।

प्रश्न : उपमान अन्य प्रमाणों से कैसे भिन्ना है। इस तथ्य को जानने से पहले इस बात पर विचार कर लिया जाय कि उपमान को स्वतन्त्र उपमान माना जाय या नही?

उत्तर : आप यह पढ़ चुके हैं कि उपमान को एक स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। न्याय दर्शन में प्रमा (यथार्थ ज्ञान) के साधन के रूप में एक अन्य प्रमाण को स्वीकृत किया गया है, जिसे ''उपमान प्रमाण'' के रूप में संबोधित किया जाता है। न्याय दर्शन के अतिरिक्त उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मानने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय है– मीमांसा और अद्वैत वेदांत अर्थात् न्याय, मीमांसा और अद्वैत वेदान्त में उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त अन्य दार्शनिक सम्प्रदयों में उपमान के स्वतंत्र प्रमाणतत्व का निषेध किया गया है। यथा– चार्वाक ने उपमान को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना है, क्योंकि चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानता है अन्य प्रमाणों की उपेक्षा करता है। इसी तरह जैन दार्शनिक भी उपमान की सत्ता स्वतंत्र प्रमाण के रूप में नहीं मानते हैं। वैशेषिक दर्शन भी उपमान को स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानता है। सांख्य दर्शन भी उपमान प्रमाण की स्वतंत्र सत्ता को नहीं स्वीकार करता है। सांख्य का मानना है कि उपमान एक प्रकार का प्रत्यक्ष है। अर्थात् उपमान प्रमाण की अपनी स्वयं की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इस प्रकार सांख्य दर्शन के अनुसार उपमान स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। अतः मीमांसा, न्याय और अद्वैत वेदान्त में उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में अद्वैत वेदान्त ने उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान की है। इन दार्शनिकों का मानना है कि उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानना पूर्णतः न्याय–संगत है। इसका कारण यह है कि यह प्रमाण अर्थात् उपमान प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और प्रत्यभिज्ञा से पूर्णतः भिन्न है।

प्रश्न : उपमान प्रमाण प्रत्यक्ष से कैसे भिन्न है?

उत्तर : आप जानते है कि प्रत्यक्ष का तात्पर्य वह ज्ञान जो ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान का अर्थ है ज्ञानेन्द्रियों के सामने रहना। यथा– नीलगाय के प्रत्यक्षीकरण के बाद यह ज्ञान तो हो सकता है कि यह एक गाय है या गाय सदृश कोई चौपाया पशु है। किन्तु उपमान प्रमाण इससे भिन्ना है। उपमान प्रमाण के अनुसार– यदि नीलगाय के सम्बन्ध में पहले से जानकारी नहीं है तो उसे देख लेने के बावजूद नीलगाय की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। अर्थात् उपमान प्रमाण में वस्तु या व्यक्ति के बारे में पूर्व ज्ञान का होना अनिवार्य है। अतः उपमान को प्रत्यक्ष प्रमाण के अलावा एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में मानना उचित है। क्योंकि जहां पर में केवल

इन्द्रियाँ एवं वस्तु के सम्पर्क होने पर ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है, किन्तु उपमान में प्रत्यक्ष के साथ पूर्व प्रत्यक्ष की स्मृति भी सम्मिलित होती है। जंगल में जब हमारा प्रत्यक्ष नीलगाय से होता है, तो गांव में देखी हुई गाय याद आती है और उसी के साथ उस व्यक्ति का कथन भी याद आता है कि नीलगाय गाय के समान होती है। उस व्यक्ति के उपमा और अपने प्रत्यक्ष के द्वारा हमें नीलगाय का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

प्रश्न : इन विवेचनों से इस बात की आशंका स्वाभाविक है कि उपमान और प्रत्यक्ष में तो भेद है किन्तु अनुमान और उपमान में हम भेद किस प्रकार से करते हैं?

उत्तर : अभी तक आपने पढ़ा कि उपमान प्रमाण के अन्तर्गत पूर्व ज्ञान के आधार पर वर्तमान ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है अर्थात् उपमान प्रमाण के अन्तर्गत सादृश्यता का सहारा लिया जाता है, जबकि अनुमान में प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर अप्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अनुमान प्रमाण व्याप्ति और पक्षधर्मता के सहारे आगे बढ़ती है। आप जानते हैं कि जब दो घटनाएँ कार्यकारण के रूप में या साहचर्य के कारण हमेशा साथ साथ रहती है तो उनमें से किसी एक के प्रत्यक्ष से हम दूसरे का अनुमान करते हैं। अनुमान करने की इस प्रक्रिया में व्याप्ति की स्थापना व्यक्ति के बाहर वस्तुओं के सम्बन्ध के आधार पर विकसित होता है जबकि उन सम्बन्धों का ज्ञान मानसिक रूप से होता है। जिसे पक्षधर्मता कहा जाता है। इस प्रकार अनुमान में ज्ञाता अपने मानसिक प्रक्रिया के प्रयोग से ज्ञान प्राप्त कर लेता है। किन्तु उपमान की स्थिति थोड़ी भिन्न है। यहां पर गाय और नीलगाय में न तो कोई कार्यकारण सम्बन्ध है और न ही साहचर्य सम्बन्ध। गाय और नीलगाय दोनों अलग अलग जीव है और अलग अलग स्थान पर पाई जाती है अतः इनमें कोई व्याप्ति सम्बन्ध नहीं बनता। और आप जानते है कि बिना व्याप्ति सम्बन्ध के अनुमान प्रमाण को अनुमान प्रमाण नही माना जाता। अनुमान प्रमाण में में सादृश्यता का अभाव पाया जाता है और उपमान प्रमाण में व्याप्ति तथा पक्षधर्मता का इस प्रकार उपमान का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुमान से भिन्न होता है। इस बात को और स्पष्ट करने के लिये हम आपको उपमान प्रमाण के स्वरूप विवेचन को विभिन्न विद्वानों के मत के आलोक में बताने जा रहे हैं।

3.3 उपमान प्रमाण का स्वरूप

सभी नैयायिको ने उपमान प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान की है, केवल एकमात्र नैयायिक भासर्वज्ञ ने उपमान को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना है। महान नैयायिक एवं न्याय दर्शन के प्रतिपादक अक्षपाद गौतम ने 'न्याय–सूत्र' में लिखा है कि– ''प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्'' (न्या0सू0 06) अर्थात् प्रसिद्ध वसतु (जैसे गाय) के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु (जैसे गवय) के ज्ञान को उपमिति और उसके साधन को उपमान कहा जाता है। सम्भवतः गौतम उपमान विरोधियों के इस तर्क से परिचित थे कि 'साधर्म्य' की मात्रा निश्चित नहीं हो सकती, अतः उपमान प्रमाण नहीं है। इसलिए वे कहते हैं कि उपमान का आधार साधर्म्य की मात्रा या स्तर नहीं अपितु उसकी प्रसिद्धि है। (अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धि)।

गौतम के कथन का विश्लेषण करते हुए वात्स्यायन ने कहा है कि ज्ञात वस्तु के सामय के आधार पर ज्ञापनीय वस्तु का ज्ञान कराने वाला साधन उपमान है। उदाहरणार्थ ''जिस प्रकार की गौ होती है, उसी प्रकार का गवय होता है। इस कथन में गवय का ज्ञान कराने वाला जो साधन है, वह उपमान प्रमाण कहलायेगा। इस प्रकार उपमान के द्वारा नाम और नाम वाले पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान

होता है। वात्स्यायन के कथन में संशोधन करते हुए उद्योतकर ने यह कहा कि साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य और असाधारण धर्म के द्वारा भी अमिति होती है। उत्तरवर्ती नैयायिकों ने उपमान की परिभाषा में साधर्म्य–वैधर्म्य की अपेक्षा संज्ञा–संज्ञि सम्बन्ध का उल्लेख किया है। वात्स्यायन ने इस सम्बन्ध को 'समाख्या–सम्बंध प्रतिपत्ति' कहा था।

केशव मिश्र ने तर्क भाषा (पृ0सं0 119) में कहा है कि– ''अतिदिश्यते प्रतिपाद्यतेऽनेन साध्र्यादिः इति अतिदेशः।'' अर्थात् अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण करने के साथ ज्ञात वस्तु (गाय) के सादृश्य से युक्त अज्ञात पिण्ड (गवय) का ज्ञान कराने वाला प्रमाण उपमान कहलाता है। अतिदेश वाक्य का अर्थ है– समानता आदि बताने वाला वाक्य। उदा0 – गौ की समानता से युक्त पिण्ड के ज्ञान के पश्चात् यह पिण्ड गवय शब्द का वाच्य है– इस प्रकार जो संज्ञा (गवय शब्द) तथा संज्ञी (गवय वस्तु/पिण्ड) के सम्बन्ध की प्रतीति होती है। वह उपमिति अर्थात् उपमान का फल है।

उपमान की प्रक्रिया के तीन सोपान हैं–

1. गोसदृश पशु विशेष का ज्ञान।
2. अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण। और
3. गोसादृश पशु विशेष गवय शब्द का वाच्य है।

इसमें से प्रथम दो उपमान और अन्तिम को उपमिति कहा जाता है।

उपमान के पृथक प्रमाण के सन्दर्भ में नैयायिकों का तर्क

भारत के प्राचीनतम दार्शनिक सम्प्रदाय सांख्य के अनुसार उपमान का अन्तर्भान प्रत्यक्ष में हो जाता है। सांख्य 'तत्त्व कौमुदी' में 'वाचस्पति मिश्र' ने यह कहा है कि नीलगाय के साथ आँख (चक्षु) का सन्निकर्ष होता है जिससे कि ऐसा ज्ञान होता है कि– ''नीलगाय गौ के सदृश्य है।'' इस प्रकार सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण यह प्रत्यक्ष ही है। सांख्य मत के अनुसार स्मर्यमाण 'गौ' में नीलगाय के सादृश्य का स्मरण भी प्रत्यक्ष के कारण ही है। इस प्रकार सांख्य मत उपमान को स्वतंत्र प्रमाण की मान्यता नहीं प्रदान करता है।

नैयायिक सांख्य दर्शन के उपर्युक्त मत से सहमत नहीं है। नैयायिकों के अनुसार उपमान प्रमाण का जो फल (संज्ञा–संज्ञि सम्बन्ध प्रतीति) है, उसकी सिद्धि प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष इन्द्रिय सन्निकर्ष पर आधारित है, उसमें अतिदेश वाक्य के अर्थ के स्मरण की अपेक्षा नहीं रहती, जबकि उपमान हेतु उसकी अनिवार्य है।

नैयायिक पुनः कहते हैं कि सांख्य दर्शन के उपर्युक्त तर्क के आधार पर भी उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष से तो केवल यह ज्ञान होता है कि दृश्यमान वस्तु (यथा गवय) स्मर्यमाण वस्तु (यथा गौ) के धर्मों के सदृश धर्मों से युक्त है। अतः 'यह गवय है' यह ज्ञान प्रत्यक्ष पर उतना आधारित नहीं है, जितना कि आप्त व्यक्ति द्वारा कथित इस वाक्य के स्मरण पर कि 'गवय गाय के सदृश होता है। 'वरदराज' ने 'तार्किकशिक्षा' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है।

अक्षपाद गौतम ने अनुमान में उपमान के अन्तर्भाव का खण्डन किया है। गौतम के अनुसार–अनुमान द्वारा ऐसा बोध नहीं होता कि– ''जैसा धूम है, वैसी अग्नि है'' जबकि

उपमान से यह बोध होता है कि – ''जैसी गाय है, वैसी नीलगाय है। इस प्रकार दोनों पृथक है। इस प्रकार उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव सम्भव नहीं है।

वास्तव में अनुमान व्याप्ति पर निर्भर करता है। जबकि उपमान में लिंग–लिंगी का व्याप्ति सम्बन्ध नहीं होता है। ज्ञातव्य (गवय) और ज्ञात (गौ) के सादृश का दर्शन पहले नहीं हुआ। अनुमान उस अवस्था में होता जब यह व्याप्ति पायी जाती कि – जो–जो गौ के सदृश है, वह नीलगाय (गवय) है। किन्तु उपमान में इस प्रकार का साहचर्य नहीं पाया जाता है। अतः उपमान का अन्तर्भाव में नहीं हो सकता है।

अक्षपाद गौतम तथा अन्य नैयायिकों के अनुसार उपमान का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि शब्द प्रमाण के अन्तर्गत विषय के प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं होती। जबकि उपमिति के लिए गवय नामक पिण्ड का प्रत्यक्षीकरण आवश्यक है। इसके साथ ही गाय के धर्मों तथा अतिदेश वाक्य का स्मरण और गाय तथा गवय के धर्मों में समानता का ज्ञान भी अपेक्षित होता है। जयंत भट्ट ने 'न्याय मंजरी' में लिखा है कि–

> **सामग्रीभेदात् फलभेदाच्च प्रमाणभेदः।**
> **अन्ये एव च सामग्रीफले शब्दोपमानयोः।। 1–30**

अर्थात् सामग्रीभेद और फलभेद से प्रमाण भेद होता है और उपमान तथा शब्द प्रमाण की सामग्री तथा फल अलग–अलग है। अतः उपमान प्रमाण को शब्द में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता है।

कुमारिल नैयायिकों के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि– 'गवय' शब्द का नीलगाय से जो सम्बन्ध है, उसका ज्ञान तो अतिदेश वाक्य से ही हो जाता है। इस प्रकार तो नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित उपमान, प्रमाण, शब्द प्रमाण से भिन्न नहीं हो सकता।

नैयायिकों ने कुमारिल के इस मत का खण्डन किया है। नैयायिक यह कहते हैं कि – वस्तुतः हमें जो अनुभव होता है, वह इस प्रकार होता है कि– 'गवय गाय के सदृश है।' यह अनुभव नहीं होता कि– 'गाय गवय के सदृश है।' यदि ऐसा अनुभव होता है तो यह स्मृति का उदाहरण होगा, न कि गाय का। यदि इसको स्मृति न भी मानें तो यह अनुमान में अन्तर्भूत हो जायेगा। जिसका स्वरूप इस प्रकार होगा–

1. स्मर्यमाण गाय गवय के समान है।
2. क्योंकि गाय के अनेक अंग गवय के अंगों के समान हैं।
3. यदि एक वस्तु के अनेक अंग दूसरी वस्तु के अनेक अंगों से मिलते हों तो दोनों वस्तुओं में समानता मानी जाती है। जैसे कि जुड़वा भाइयों में।

बौद्ध मत ने भी नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित उपमान प्रमाण को प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत माना है। बौद्ध मत का मानना है कि जब कोई व्यक्ति गवय को देखता है तो उसे यह मालूम होता है कि दृश्यमान जीव गाय के सदृश है। इस तरह वह व्यक्ति अपन साक्षात् ज्ञान के आधार पर ही ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है कि– ''गवय गाय के सदृश है।'' अतः बौद्ध मतावलम्बियों के अनुसार, यह प्रत्यक्ष से भिन्ना नहीं है।

इस सन्दर्भ में नैयायिकों का यह कहना है कि ''सादृश्य का कथन केवल गवय में ही नहीं, अपितु 'गाय' में भी होता तो यह प्रत्यक्ष होता, किन्तु गाय तो व्यक्ति (नागरिक)

के समक्ष है ही नहीं, अतः सादृश्य ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। बौद्ध अपने कथन का समर्थन इस प्रकार करते हैं कि सादृश्य आंशिक रूप से नहीं रहा करता, अतः गाय का उस समय दर्शन हुए बिना भी यानी केवल गवय को देखने से भी सादृश्य का बोध हो सकता है। अतिदेश वाक्य के अभाव में भी गवय का दर्शन तो व्यक्ति कर ही सकता है।

जयंत भट्ट ने बौद्धों के उपर्युक्त तर्क का समाधान करते हुए कहा कि जैसा अनुमान प्रमाण के सन्दर्भ में पर्वत पर जो धूम देखा जाता है वह प्रत्यक्ष होते हुए भी प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है, उसी प्रकार सादृश्य का जो प्रत्यक्ष व्यक्ति को होता है, वह भी प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है। क्योंकि धूम दर्शन और सादृश्य दर्शन ज्ञान प्रक्रिया के मध्यवर्ती सोपान है, वे अपने आप में लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य तो अनुमान के सन्दर्भ में पर्वत पर अग्नि का ज्ञान है और उपमान के सन्दर्भ में संज्ञा–संज्ञि सम्बन्ध प्रतीति।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि– जिस प्रकार अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष पर आधरित होते हुए भी प्रत्यक्ष से भिन्न है, उसी प्रकार उपमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष का सहारा लेने पर भी प्रत्यक्ष से भेद रखता है अर्थात् प्रत्यक्ष से भिन्न है। न्याय कुसुमांजलि में उदयनाचार्य ने कहा है कि–

> ''सम्बंधस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह।
> प्रत्यक्षादेर साध्यत्वात् उपमानफलं बिदुः।।'' न्या0कु0 3.8.

अर्थात् संज्ञा का संज्ञी के साथ सम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता। उसके लिए उपमान प्रमाण को मानना आवश्यक है। तर्क संग्रह के टीकाकार नीलकण्ठ का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि– उपमान से जो ज्ञान होता है वह सम्भावित होता है, जबकि प्रत्यक्ष और अनुमान से जो ज्ञान होता है, वह निश्चित होता है।

3.4 उपमान प्रमाण के भेद

उपमान प्रमाण अपने स्वरूप के व्यापकता के कारण कई प्रकार से प्रमाण बनता है। इन प्रमाणों को उपमान प्रमाण के भेद के रूप में विवेचना की जाती है। उनका भी संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

1. **साधर्म्योपमान** : जब किसी ज्ञात वस्तु के सादृश्य के आधार पर किसी ज्ञात नाम के वस्तु का ज्ञान प्राप्त करता है तो उसे साधर्म्योपमान कहते हैं। जैसे– किसी व्यक्ति ने नीलगाय का नाम किसी अनुभवी व्यक्ति द्वारा सुना है किन्तु उसने नीलगाय को देखा नहीं है। नीलगाय को देखकर यहीं नीलगाय है, इस बात का ज्ञान उसे साधर्म्योपमान से प्राप्त होता है।

2. **वैधर्म्योपमान** : जब किसी ज्ञात वस्तु असमानता के आधार पर अज्ञात वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है, तो वहां वैधर्म्योपमान होता है। जैसे– किसी व्यक्ति ने भैंस देखा है और उसे भैंस के आधार पर यह बताया जाय कि हाथी जैसे काले रंग की इस भैंस में क्या क्या गुण नहीं है और जब वह फिर काले रंग के हाथी को देखता है तो उस भैंस के असमानता के ज्ञान के आधार पर हाथी उसे हाथी का ज्ञान हो जाता है।

3. **धर्ममात्रोपमान** : जब किसी वस्तु के वाचकता का ज्ञान उसकी विलक्षणता अथवा विशेषताओं के आधार पर किया जाता है तो उसे धर्ममात्रोपनान कहते हैं। जैसे–

ऊँट को नहीं जानने वाले व्यक्ति को बताया जाता है कि उसके आस–पास पाये जाने वाले सभी जन्तुओं से ऊँट विलक्षण होता है, उसकी गर्दन लम्बी होती है, वह रेगिस्तान तेज़ दौड़ता है तथा कांटों को बड़े प्रेम से खाता है। इस तरह के वाक्यों को सुना हुआ व्यक्ति जब इन विशेषताओं वाले किसी जानवर को देखता है तो उसे धर्ममात्रोपमान की संज्ञा दी जाती है।

अब उपमान के स्वरूप विवेचन के बाद उपमान से जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है अर्थात् उपमिति में इसका विवेचन किया जा रहा है।

3.5 उपमिति

उपमिति उपमान प्रमाण द्वारा प्राप्त यथार्थ ज्ञान को कहा जाता है अर्थात् जब हम ज्ञान के साधन के रूप में उपमान का प्रयोग करते हैं तो जो हमें ज्ञान प्राप्त होता है उसे उपमिति कहते हैं। यह न्याय परम्परा का तीसरा अनुभव आधारित ज्ञान है। वास्तव में यह सादृश्य आधारित है। उपमिति में उपमा–सादृश्य–साधर्म्य तुलना का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य के आधार पर अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमिति है। उपमिति के अन्तर्गत अप्रसिद्ध, अपरिचित पदार्थ को समझना अनिवार्य होता है। उपमा के द्वारा यह कार्य तभी सम्भव है, जब उपमान (जिसकी उपमा दी गई है) से वह व्यक्ति परिचित हो, जिसे उस पदार्थ या वस्तु के बारे में समझाना है। उदाहरणार्थ श्याम नाम का एक लड़का है, वह गाय के बारे में अच्छी तरह से जानना है। उसने यह भी सुना रखा है कि वन में (अन्यत्र) 'गवय' नामक एक जीव पाया जाता है, किन्तु 'गवय' के बारे में उसे सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है। 'गवय' से सम्बधित अपनी जिज्ञासा को शांत करने हेतु वह लड़का वन की ओर प्रयाण करता है तथा वहाँ वन प्राणी विशेषज्ञ से उसकी मुलाकात होती है, श्याम उनसे 'गवय' के बारे में पूछ बैठता है कि – 'गवय' किस प्रकार का होता है? वे सज्जन उत्तर देते हैं कि– **गोसदृशः गवयः** (गाय के समान)। इस उत्तर को पारिभाषिक रूप में **'अतिदेश–वाक्य'** कहते हैं। इस उत्तर की प्रगति के पश्चात् श्याम जब कभी वन जाता है, तो उसके समक्ष गाय सदृश (समान) एक चतुरपद जीव आता है तो वह उस चतुष्पद जीव या प्राणी को देखकर 'अतिदेश–वाक्य' के अर्थ को याद करता है और निर्णय लेता है कि यह अचतुष्पद्–प्राणी 'गवय' है।

'गवय' शब्द संज्ञा है और वह प्राणी संज्ञी है। इसलिए इस तथ्य को हम संज्ञा–संज्ञी सम्बन्ध की प्रतीति भी कह सकते हैं। संज्ञा–संज्ञी सम्बंध को ही शक्ति (संकेत) भी कहा जाता है। अतः उक्त विषय को शक्ति ज्ञान, संकेत ग्रह आदि भी कहना उचित ही है। जंगल/वन जाने के बाद श्याम को ये ज्ञान होता है – क. गोसदृश जीव का प्रत्यक्ष (गवय का और उसमें वर्तमान गोसादृश्य का प्रत्यक्ष), ख. अतिदेश–वाक्यार्थ का स्मरण और ग. संज्ञा–संज्ञि (शक्ति) का ज्ञान। इनमें अन्तिम ज्ञान प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से सम्भव नहीं है। इस प्रकार उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानना अनिवार्य है। उपमान प्रमाण के स्वरूप विवेचन के बाद उपमान प्रमाण तथा सादृश्य और तादात्म्य के अन्तर को समझना आवश्यक है क्योंकि हमारे व्यवहार में यह तीनो शब्द एक वस्तु से दूसरे वस्तु की तुलना के लिये प्रयोग की जाती है। पहले हमें सादृश्य और तादात्म्य में अन्तर आपको बता रहे हैं–

सादृश्य (**SimilUrity**) और तादात्म्य (**Identity**) में अन्तर :

सादृश्य का अर्थ है कुछ अन्तर के साथ कुछ समानता या कुछ कुछ समानता के साथ

अन्तर। जबकि तादात्म्य में पूर्णतः समानता का भाव पाया जाता है, तादात्म्य अन्तर अंश मात्र भी नहीं पाया जाता है। इस प्रकार सादृश्य और तादात्म्य में अन्तर होता है।

ध्यातव्य है कि– जहाँ नैयायिक संज्ञा–संज्ञि–सम्बन्ध ज्ञान को फल मानते हैं, वहीं मीमांसक और वेदान्ती– 'गाय गवय के सदृश है'– इस ज्ञान को फल (उपमिति) कहा है। मीमांसकों के अनुसार ''यथा गौ स्तथा गवयः''– इस अतिदेश वाक्य को सुनने के बाद कोई व्यक्ति वन में जाकर गौ के सदृश पिण्ड को देखता है तो उसे विदित होता है कि मेरी गाय इस पशु के सदृश है। यही ज्ञान उपमान प्रमाण का फल है। यहाँ पर प्रभाकर और कुमारिल के उपमान सम्बन्धी मत में अन्तर है। कुमारिल सादृश्य को गुण को मानते हैं जबकि प्रभाकर सादृश्य को एक पृथक पदार्थ के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। अर्थात् सादृश्यता एक पृथक पदार्थ है।

उपमान और पाश्चात्य दर्शन का सादृश्यानुमान :

उपमान और पाश्चात्य दर्शन के सादृश्यनुमान में आंशिक समानता है किन्तु निम्नलिखित अन्तर भी विद्यमान हैं–

1. सादृश्यानुमान का आधार केवल समानता है, जबकि उपमान में समानता के साथ–साथ असमानता और विलक्षणता भी पाया जाता है।
2. सादृश्यानुमान के द्वारा किसी वस्तु के किसी विशेष गुण या किसी विशेष भाग का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, जबकि उपमान प्रमाण के द्वारा समग्र पिण्ड ही नहीं अपितु पिण्ड की विशेषता का भी बोध होता है।
3. सादृश्यानुमान द्वारा सम्भावित निष्कर्ष की प्राप्ति होती है जबकि उपमान से यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है।

नैयायिकों के अनुसार उपमान प्रमाण से संज्ञा–संज्ञि–सम्बन्ध का ज्ञान होता है, जबकि मीमांसकों के अनुसार–उपमान प्रमाण से ज्ञात वस्तु की समानता के आधार वस्तु का ज्ञान होता है।

उपमान प्रमाण की उपादेयता : उपमान प्रमाण को ज्ञान प्राप्ति का एक अलग साधन या प्रमाण माना जाय या नहीं, इस पर मतभेद होने के बावजूद उपमान प्रमाण भी उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। महान दार्शनिक वात्स्यायन ने पूर्व–परिचित वस्तुओं के सादृश्य के आधार पर अनेक अपरिचित औषधियों के ज्ञान का उल्लेख किया है। जैसे– मूंग के आकार में दिखने वाला पौधा विषय दूर करने की औषधि है। ऐसा सुनने के बाद जब मनुष्य जंगल में जाकर मूंग के आकार वाला पौधा देखता है, तब उसे अतिदेशे वाक्य का स्मरण होता है और वह मनुष्य निश्चत करता है कि मूंम के आकार का यह पौधा विष दूर करने वाला औषधीय पौधा है।

नैयायिकों और मीमांसकों में उपमान प्रमाण के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी उनके इस कथन में समानत है कि – उपमान की अपनी स्वयं की उपयोगिता है। अतः किसी अन्य प्रमाण से उपमान प्रमाण का कार्य नहीं चलाया जा सकता है।

3.6 उपमान प्रमाण की समीक्षा

भारतीय दर्शन के कुछ दार्शनिक सम्प्रदायों ने उपमान को प्रमा का साधन नहीं माना है। इन दार्शनिक सम्प्रदायों ने उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मान्यता नहीं प्रदान की है। यथा– चार्वाक दर्शन ने उपमान को प्रमाण नहीं स्वीकार किया है, क्योंकि

उपमान से पदार्थ (नाम) का यथार्थ या वास्तविक ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। बौद्ध दार्शनिक उपमान को प्रत्यक्ष एवं शब्द का परिवर्तित रूप मानते हैं। इसी तरह वैशेषिक एवं सांख्य दर्शन ने उपमान को अनुमान का ही एक प्रकार माना है। जैन दर्शन में उपमान को प्रत्यभिज्ञा कहा गया है अर्थात् उपमान को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना गया है। अद्वैत वेदांती और मीमांसक उपमान को प्रमाण तो मानते हैं, किंतु उनके उपमान विषयक विचार न्याय दर्शन के उपमान विषयक विचार से भिन्न हैं।

इस प्रकार उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में नैयायिक, मीमांसक और अद्वैत वेदांती स्वीकार करते हैं। इन तीनों दार्शनिक सम्प्रदायों के अनुसार उपमान स्वतंत्र प्रमाण है। अतः उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द आदि प्रमाणों में नहीं किया जा सकता है। उपमान प्रत्यक्ष से भिन्न है, क्योंकि सादृश्य के आधारभूत गाय का इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं होता है। उपमान प्रमाण अनुमान से भी भिन्न है, क्योंकि गाय एवं गवय के दो भिन्न प्रदेशों में होने के कारण उनमें किसी भी प्रकार का व्यार्प्ति सम्बन्ध नहीं हो सकता है। नैयायिकों के अनुसार इसका अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में भी नहीं हो सकता है, क्योंकि संज्ञा–संज्ञि–सम्बन्ध में केवल आप्त वचन (विश्वनीय व्यक्ति) ही पर्याप्त नहीं है। इसमें गवय का प्रत्यक्षीकरण तथा गाय की स्मृति भी अनिवार्य है। इस प्रकार उपमान प्रमा का एक स्वतंत्र प्रमाण है। जिसे नैयायिक, मीमांसक एवं अद्वैत वेदांती स्वीकार करते हैं।

पिछली ईकाई में आप लोगों ने प्रमाण के बारे में अध्ययन किया। जैसा कि आप लोग जानते होंगे, भारतीय दर्शन में 'ज्ञान के साधन' को 'प्रमाण' कहा जाता है तथा ज्ञान के विषय में 'प्रमेय' के रूप में स्वीकार किया जाता है। प्रमेय के अन्दर ऐसे विषयों को सम्मिलित किया जाता है जिनका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। न्याय दर्शन में ज्ञान को बुद्धि (Coguition) और उपलब्धि (Apprehension) का पर्याय माना गया है। वास्तव में न्याय दर्शन में ज्ञान बुद्धि और उपलब्धि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ज्ञान का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है– संकुचित अर्थ और व्यापक अर्थ। संकुचित अर्थ में यह अयथार्थ ज्ञान का सूचक है, जबकि व्यापक अर्थ में यह यथार्थ ज्ञान का सूचक है, जबकि व्यापक अर्थ में यह यथार्थ ज्ञान का बोध कराता है। उदाहरणार्थ– सायं काल में एक व्यक्ति रस्सी को देखकर रस्सी समझता है और दूसरा रस्सी को देखकर साँप समझता है। यद्यपि यहाँ ज्ञान दोनों व्यक्तियों को हो रहा है किन्तु यहाँ पर दोनों के ज्ञान में अन्तर है– एक को यथार्थ ज्ञान हो रहा है और दूसरे को अयथार्थ ज्ञान हो रहा है। इस प्रकार व्यापक अर्थ में ज्ञान शब्द का प्रयोग यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान के रूप में होता है इसके विपरीत संकुचित अर्थ में ज्ञान; यथार्थ ज्ञान का ही एकमात्र बोधक है। वास्तव में न्याय दर्शन 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग यथार्थ ज्ञान के रूप में ही करता है। न्याय दर्शन ज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में तीन बातें वर्णित करता हैं–

क. ज्ञान वस्तु प्रकाशक है।

ख. ज्ञान हमारे व्यवहार का आश्रय है।

ग. ज्ञान आत्मा का गुण है।

इस प्रकार न्याय दर्शन में ज्ञान का स्वरूप प्रकाशमय माना गया है। ज्ञान का वास्तविक स्वरूप किसी वस्तु को प्रकाशित करना है। यह वैसे ही है जिस प्रकार दीपक अपने समीप रखी वस्तु को प्रकाशित करता है। ठीक इसी प्रकार ज्ञान भी वस्तु को प्रकाशित करता है। 'तर्क कौमुदी' में कहा गया है कि ''अर्थ प्रकाशो बुद्धिः''। वस्तु

के प्रकाश में ही ज्ञान निहित है। वास्तव में वस्तु का प्रकाशन यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान दोनों में हो सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि – ज्ञान का कार्य ज्ञेय वस्तु को प्रकाशित करना है।

ज्ञान हमारे कार्य का आधार है। मनुष्य सही या गलत ज्ञान के आधार पर ही कार्य करता है। इसीलिए विज्ञान को सभी व्यवहार का जनक स्वीकार किया जाता है। ज्ञान आत्मा का गुण है। न्याय दर्शन के अनुसार– ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध है। जो ज्ञान प्राप्त करता है वह ज्ञाता है, जो ज्ञान का विषय है वह ज्ञेय है। बिना ज्ञाता है, जो ज्ञान का विषय है, वह ज्ञेय है। बिना ज्ञाता या आत्मा के ज्ञान सम्भव नहीं है। जब आत्मा ज्ञेय (विषय) के सम्पर्क में आता है, तब ज्ञान सम्भव होता है। आत्मा (ज्ञाता) ही ज्ञान का आधार है।

इसी तरह संशय, भ्रम और तर्क को 'अप्रमा' भी कोटि में रखा गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन्हें 'अप्रमा' की कोटि में क्योंकि रखा गया है? इस प्रश्न का उत्तर विश्लेषणोरान्त ही प्राप्त होता है।

1. संशय : यह अनिश्चित ज्ञान है। इसमें मन में निश्चित और अनिश्चित को लेकर द्वन्द्व उत्पन्ना होता है। जैसे सायं काल में सुदूर स्थित वस्तु को देखकर मन में यह द्वन्द्व उत्पन्न होता है कि यह वस्तु आदमी है या खम्भा।

2. भ्रम (**Illusion**) : यथार्थ वस्तु के 0पर अयथार्थ वस्तु का आरोपण श्रम है अर्थात् अयथार्थ प्रत्यक्ष ही भ्रम है। जैसे 'रस्सी' को 'साँप' के रूप में देखना 'भ्रम' है।

3. तर्क : इसके द्वारा किसी वस्तु को परोक्ष/अप्रत्यक्ष ढंग से सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। जैसे कोई व्यक्ति दूर से 'धुआँ' को देखकर कहता है कि वहाँ आग है। जब उसका प्रतिपक्षी इसका विरोध करता है, तब वह कहता है कि 'यदि आग नहीं होती तो 'धुआँ' भी नहीं होता। इस प्रकार यह 'तर्क' कहलाता है। वास्तव में तर्क अनुभवजन्य ज्ञान नहीं है, इसलिए 'तर्क' से निश्चित ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। इसीलिए 'तर्क' को अप्रमा की कोटि में रखा गया है।

'प्रमा' अर्थात् 'यथार्थ ज्ञान' की अपनी कुछ विशेषतायें भी हैं तथा– प्रथम– 'प्रमा' अनुभव आधारित है अर्थात् यह अनुभवजन्य ज्ञान है जैसे– हमारे समक्ष कोई घोड़ा विद्यमान है, जिसका साक्षात् अनुभव हो रहा है, इसलिए यह प्रमा है। द्वितीय विशेषता इसका असंदिग्धत्व हैं अर्थात् हमें घड़े का असंदिग्ध रूप से अनुभव हो रहा है। इसलिए यह प्रमा है। तीसरी एवं महत्त्वपूर्ण विशेषता इसका यथार्थत्व है। अर्थात् हमें घड़े का निश्चित ज्ञान उपलब्ध हो रहा है। यही प्रमा है।

3.7 सारांश

अभी तक आपने उपमान प्रमाण का विस्तृत विवेचन किया। उपमान प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान के बाद सर्वाधिक उपयोग में लाया जाता है। उपमान प्रमाण में सादृश्यानुभव और सादृश्यानुमान दोनों महत्त्वपूर्ण है। एक प्रमाण के रूप में उपमान प्रमाण भी अनुमान प्रमाण के समान प्रत्यक्ष के बाद उत्पन्न होता है। अनुमान प्रमाण से किञ्चित भेद होने के कारण भारतीय दर्शन के वस्तुवादी तथा अध्यात्मवादी दोनों प्रकार के विचारकों ने इस एक स्वतन्त्र प्रमाण माना है। ज्ञात या प्रसिद्ध वस्तु की सहायता से उससे जुड़ी हुई अज्ञात और अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमान प्रमाण का मुख्य उपयोग है। गणित, काव्य, व्याख्या तथा तत्त्वविवेचन में उपमान प्रमाण का प्रयोग

किया जाता है। इस प्रकार उपमान प्रमाण में प्रमाता को उपमिति प्राप्त होता है।

3.8 पारिभाषिक शब्दावली

प्रमा : 'यथार्थ ज्ञान' को ही 'प्रमा' कहा गया है अर्थात् वस्तु के उसी रूप में ग्रहण करना जिस रूप में वस्तु है 'प्रमा' कहलाता है। अर्थात् वस्तु को वस्तु के वास्तविक रूप में ग्रहण करना 'प्रमा' है। जैसे– घड़े को घड़े के रूप में ग्रहण करना प्रमा है या रस्सी को रस्सी के रूप में ग्रहण करना प्रमा है। अयथार्थ ज्ञान को 'अप्रमा' कहा जाता है। व्यावहारिक जीवन में अनुभव दो प्रकार का होता है– यथार्थ अनुभव और अयथार्थ अनुभव। यथार्थ अनुभव ही 'प्रमा' है। इसी प्रकार अयथार्थ अनुभव ही 'अप्रमा' है। इसी प्रकार पूर्व में प्राप्त ज्ञान का स्मरण 'स्मृति' है। 'अनुभव' वह ज्ञान है, जो स्मृति से भिन्न होता है। अनुभव–यथार्थ ज्ञान है।

अप्रमा : यथार्थ अनुभव ही प्रमा है। चूँकि 'स्मृति' का अनुभव वर्तमान में नहीं होता है, इसलिए 'स्मृति' को 'प्रमा' नहीं माना जाता है। यथार्थ अनुभव को ही प्रमा कहा गया है। इसके विपरीत अयथार्थ अनुभव को 'अप्रमा' कहा गया है। संशय, भ्रम आदि 'अप्रमा' की श्रेणी में आते हैं। जब हम किसी वस्तु में ऐसे गुणों की कल्पना करते हैं, जिस गुण का अस्तित्व वस्तु में नहीं है तब वह ज्ञान 'अप्रमा' कहलाता है। जब हम 'रस्सी' को 'साँप' समझ लेते हैं तब यह ज्ञान 'अप्रमा' है क्योंकि 'रस्सी' में वास्तव में 'साँप' का गुण अन्तर्निहित नहीं है। इसी प्रकार पीलिया रोग से ग्रसित रोगी का सफेद शंख को पीला देखना अप्रमा है जबकि इसके ठीक विपरीत उसे सफेद देखना प्रमा है अर्थात् इसके विपरीत उसे सफेद देखना प्रमा है अर्थात् व्यक्ति शंख को उसके यथार्थ रूप या वास्तविक स्वरूप में ही देख रहा है।

नीलगाय : एक जंगली चौपाया पशु जो गाय और घोड़े का मिश्रित रूप में दिखता है। उसे नीलगाय कहते हैं।

न्यायमंजरी : न्यायदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके लेखक जयंतभट्ट है, जिनका जन्म काश्मीर में हुआ था।

प्रमाता (Knower) : ज्ञान प्राप्त करने वाले को 'प्रमाता' कहते हैं। प्रमा की उत्पत्ति के लिए किसी चेतन मनुष्य का रहना अति आवश्यक है। इस प्रकार प्रमा (यथार्थ ज्ञान) की प्राप्ति तभी हो सकती है जब कोई ज्ञान प्राप्त करने वाला होगा।

प्रमेय (Objects of Knowledge) : ज्ञान के विषय को ही प्रमेय कहा जाता है। ज्ञान सदैव किसी न किसी विषय का ही होता है। प्रमाता को शून्य का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रमाता को ज्ञान की अनुभूति तभी हो सकती है, जब कोई न कोई विषय उपस्थित हो। अर्थात् ज्ञान की सार्थकता के लिए कुछ विषय का रहना अनिवार्य है।

प्रमाण (Sources of Knowledge) : ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं। प्रमाता और प्रमेय के रहने के बावजूद ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक ज्ञान का कोई साधन न हो। वास्तव में ज्ञान का साधन ही प्रमाण है।

3.9 संस्तुत पुस्तकें

1. चक्रधर विजलवान, न्यायदर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखन0, 1999
2. हीरालाल आर शिवहरे, पदार्थ विज्ञान, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी

3. डी.एम. दत्ता, 'सिक्स वे ऑफ नोईंग'

3.10 बोधप्रश्न

1. उपमान प्रमाण के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
2. उपमान प्रमाण का समीक्षात्मक विश्लेषण कीजिए।
3. उपमान प्रमाण को मानने वाले दार्शनिक सम्प्रदायों के दृष्टिकोण को रेखांकित कीजिए।
4. नैयायिक एवं मीमांसकों की दृष्टि से उपमान प्रमाण का वर्णन कीजिए।
5. उपमान प्रमाण और पाश्चात्य सादृश्यानुमान को स्पष्ट करें।
6. उपमान प्रमाण की उपादेयता को दर्शाइये।
7. .उपमान प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द से कैसे भिन्न है, वर्णन कीजिए।

इकाई 4 अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि प्रमाण की परिभाषा एवं स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस ईकाई के अध्ययन के पश्चात् हम लोग यह जान सकेंगे

- अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में जान सकेंगे।
- अनुपलब्धि का अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप को जान सकेंगे।
- अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि की स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार्यता तथा उसके प्रमाणत्व एवं विश्लेषण एवं उपादेयता को जान सकेंगे।
- भारतीय प्रमाण विवेचन में अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में महत्त्व को समझ सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

भारती प्रमाण व्यवस्था में वेदान्त और मीमांसा दर्शन में न्याय द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान तथा शब्द प्रमाण के अतिरिक्त दो और प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। जिसे अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि कहते हैं। इसका संक्षिप्त विवेचन उपरोक्त बिन्दुओं के अन्तर्गत किया गया है। इस ईकाई का समग्र अध्ययन एवं विश्लेषण अग्रांकित है।

4.2 अर्थापत्ति का अर्थ एवं स्वरूप

सर्वप्रथम यह जानना अनिवार्य है कि– अर्थापत्ति का शाब्दिक अर्थ क्या है? इस शब्द की व्युत्पत्ति कैसे हुई है? अर्थापत्ति शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से होती हैं। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार– अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् अर्थात् अर्थ की आपत्ति जिससे हो, वह अर्थापत्ति है। इसके अनुसार अर्थापत्ति प्रमाण है। द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार– अर्थस्य

आपत्तिः अर्थापत्तिः अर्थात् अर्थ की आपत्ति अर्थापत्ति है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थापत्ति को प्रमा माना जाय या प्रमाण माना जाय परन्तु इससे एक विशेष प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् अर्थापत्ति से विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है। विशिष्ट ज्ञान ही विशिष्ट प्रमा है। विशिष्ट ज्ञान को उदाहरण से समझा जा सकता है। ''पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते'' अर्थात् देवदत्त मोटा है परन्तु दिन में भोजन नहीं करता। अतः वह रात मे भोजन करता है। यदि देवदत्त दिन में निराहार रहता है, तो वह रात में आहार (भोजन) अवश्य ग्रहण करता है अन्यथा वह मोटा नहीं हो सकता। इस प्रकार मोटे देवदत्त की व्याख्या रात में भोजन के कारण ही सम्भव है।

अर्थापत्ति के दो भाग किये गये हैं– 1. उपपाद्य और 2. उपपादक। उपरोक्त उदाहरण में देवदत्त का मोटा होना उपपाद्य है तथा देवदत्त का रात में भोजना करना उपपादक है। अतः यह कहा जा सकता है कि अर्थापत्ति उपपादक से उपपाद्य का ज्ञान है। इस उदाहरण के अन्तर्गत हमें देवदत्त के मोटा होने की व्याख्या करनी है। इस व्याख्या के अन्तर्गत 'देवदत्त के मोटा होने में' हमें यह मानना पड़ेगा कि देवदत्त रात में भोजन करता है। अतः कहा जा सकता है कि– अर्थापत्ति में उपपाद्य और उपपादक दोनों अर्थों की आवश्यकता है। इसका कारण यह है कि जो मनुष्य (देवदत्त) दिन में उपवास रखता है और रात में भी भोजन न करें तो वह स्वस्थ नहीं रह सकता है।

ज्ञात अर्थ की व्याख्या के लिए अज्ञात अर्थ की कल्पना करना अर्थात् जिसकी सहायता के बिना उस ज्ञात अर्थ की उपपत्ति नहीं हो पाती उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे किसी देवदत्त नामक व्यक्ति का जीवन प्रमाणान्तर (ज्योतिषादि) से निश्चित है किन्तु घर में जब उसकी उपलब्धि या उपस्थिति नहीं होती है, तब उसके बाहर होने की कल्पना की जाती है। इसी कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। यहाँ उपपाद्य जीवन करण है और उपपादक बहिर्भाव फल है। जिसके बिना जो अनुपपन्न हो उसे उपपाद्य कहते हैं जैसे– जीवन तथा जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति हो उसे उपपादक कहते हैं जैसे– बहिर्भाव। जीवन और बहिर्भाव में प्रमाण–सिद्ध जो परस्पर विरोध है। वह अर्थापत्ति में करण होता है। किसी प्रमाण से ज्ञात हो कि देवदत्त घर में है या देवदत्त घर से बाहर है और किसी अन्य प्रमाण से यह भी ज्ञात हो कि– देवदत्त घर में नहीं है, ऐसी स्थिति में दोनों ही वाक्य परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। इस विशेष या प्रतिधातु का समाधान बहिर्भाव की कल्पना से किया जाता है। अतः दो प्रामाणिक अर्थों के बीच अर्थान्तर की कल्पना द्वारा समाहित होने वाला पारस्परिक विरोध अर्थापत्ति का कारण कहलाता है। उस विरोध (प्रतिघात) के समाधान हेतु जो अर्थान्तर कल्पना होती है उसे अर्थापत्ति कहते हैं।

अर्थापत्ति को स्वीकार करने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय : मीमांसा और वेदान्त दर्शन में अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है। इससे एक पृथक प्रमा की उत्पत्ति होती है। पृथक प्रमा की उत्पत्ति के कारण यह पृथक प्रमाण है। इसके प्राप्त होने वाला ज्ञान विशेष प्रमा या नया ज्ञान है। इसलिए अर्थापत्ति का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान में नहीं हो सकता। अतः यह चारों प्रमाणों से भिन्न, पाँचवाँ प्रमाण है, किन्तु सभी दार्शनिक ऐसा नहीं मानते हैं। नैयायिकों के अनुसार अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में ही हो सकता है। अतः न्याय दर्शन के अनुसार इसे स्वतंत्र एवं पृथक प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

शबर के अनुसार, अर्थापत्ति उस अर्थ की कल्पना को कहा जाता है, जिस अर्थ की कल्पना के बिना दृष्ट या श्रुत अर्थ (विषय) की उपपत्ति न होती हो। उदाहरण– यदि देवदत्त जीवित है और वह घर पर नहीं है तो यह कल्पना की जा सकती है कि वह

घर से बाहर होगा। यदि इस कल्पना को अस्वीकार कर दिया जाय तो देवदत्त के जीवित होने और घर पर न रहने के तथ्यों का परस्पर सामंजस्य नहीं हो सकता। कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र के व्याख्या को उसी रूप में स्वीकार किया है। कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र दोनों ने अर्थापत्ति को स्वीकार किया है।

प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति

सांख्य दर्शन में अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मान्यता नहीं प्रमाण की है, अपितु अर्थापत्ति को अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत रखते हैं। इसी तरह न्याय दर्शन भी अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानना अपितु नैयायिक भी अर्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्निहित मानते हैं। मीमांसा एवं वेदांत के अतिरिक्त अन्य दार्शनिक समुदाय ने इसे स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मान्यता नहीं प्रदान किया है।

अर्थापत्ति और अनुमान

नैयायिकों ने अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में किया है तथा इसे स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना है। जबकि मीमांसक आचार्य कुमारिल आदि ने अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं स्वीकार किया है। इसी का विश्लेषण यहाँ पर किया गया है–

अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव : न्याय–वैशेषिक, सांख्य और योग दर्शन के आचार्यों ने अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में किया है किन्तु मीमांसा और वेदान्त अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं। अतः नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत तर्क और मीमांसक आचार्यों द्वारा उसका निवारण अंग्राकित है–

नैयायिकों के अनुसार अनुमान में अर्थापत्ति के अन्तर्भाव की प्रक्रिया इस प्रकार हो सकती है–

क. जीवित चैत्र घर से बाहर है।

ख. क्योंकि वह जीवित है और घर पर नहीं है।

ग. मेरी तरह।

यहाँः–

पक्ष– चैत्र जीवित है।

साध्य – चैत्र का बहिर्भाव है।

हेतु – चैत्र का गृहाभाव है।

किन्तु कुमारिल के मतानुसार उपर्युक्त अन्तर्भाव उचित नहीं है। क्योंकि चैत्र का गृहाभाव हेतु की कोटि में नहीं रखा जा सकता। इसका कारण यह है कि हेतु (गृहाभाव) की विद्यमानता पक्ष (चैत्र) में सिद्ध नहीं की जा सकती। यहाँ तो केवल घर दिखायी दे रहा है चैत्र नहीं। चैत्र जीवित है घर पर नहीं है, यह बात तब तक सही नहीं मानी जा सकती, जब तक कि चैत्र को बाहर कहीं देख न लिया जाये। अतः स्पष्ट है कि – ''चैत्र घर पर नहीं है''– इस बात को सिद्ध करना है, यह वस्तु पहले दृश्यमान (दिखायी दे रही है) तथा जिससे सिद्ध होना है, वह बाद में दिख रहा है, जबकि अनुमान के अन्तर्गत हेतु पहले आता है तथा साध्य बाद में आता है।

अर्थापत्ति का प्रयोग अर्थापपत्ति का समाधान करके मस्तिष्क को हल्का करने के लिए किया जाता है, जबकि अनुमान में अनुपपत्ति की समस्या खड़ी ही नहीं होती।

प्रभाकर का मानना है कि अनुमान और अर्थापत्ति की प्रक्रियायें अलग–अलग हैं। पर्वत पर धूम तब तक नहीं रह सकता, जब तक वहाँ आग विद्यमान न हो। किन्तु अर्थापत्ति में यह क्रम उलट जाता है अर्थात् बहिर्भाव (चैत्र घर से बाहर है) की कल्पना तब तक नहीं की जा सकती, जब तक जीवित होने का बोध न हो जाय। इस प्रकार प्रभाकर ने भी अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण माना तथा अनुमान में इसके अन्तर्भाव का विरोध किया।

कुमारिल एवं प्रभाकर के तर्कों के सन्दर्भ में 'जयंत भट्ट' का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि यदि मीमांसक यह मानते हैं कि चैत्र का बहिर्भाव उसके घर पर अनुपस्थिति के बिना असम्भ है तो उनको सीधी तरह से यह भी मानना चाहिए कि यदि जीवित चैत्र घर में नहीं हो तो वह अवश्य ही बाहर कहीं होगा और ऐसा मानना तो अनुमान ही है।

अर्थापत्ति में अनुमान का अन्तर्भाव : नैयायिकों ने अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मान्यता नहीं प्रदान की है। अतः नैयायिकों की दृष्टि में– अर्थापत्ति में अनुमान के अर्न्तभाव का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। किंतु 'पार्थसारथि मिश्र' एवं धर्मराजाध्वरीन्द्र जैसे कुछ दार्शनिकों ने अर्थापत्ति में अनुमान के अन्तर्भाव का प्रयास किया है। मीमांसक आचार्य पार्थसारथि मिश्र ने यह कहा कि– अनुमान का आधार व्याप्ति है और अर्थापत्ति का आधार अनुपपत्ति है। धर्मराजाध्वरीन्द्र का यह विचार है कि– व्यतिरेक अनुमान का अन्तर्भाव अर्थापत्ति में हो जाता है। किन्तु नैयायिक उपर्युक्त तर्कों के आधार पर अर्थापत्ति में व्यतिरेक अनुमान के अन्तर्भाव को भी स्वीकार नहीं करते।

4.3 अर्थापत्ति के भेद

मीमांसा दर्शन में अर्थापत्ति के दो भेद भेद प्राप्त होते हैं– दृष्टार्थापत्ति एवं श्रुतार्थापत्ति। कुमारिल के अनुसार भाष्य में प्रयुक्त श्रुत और दृष्ट शब्द अर्थापत्ति के दो भेदों के वाचक हैं। किन्तु प्रभाकर का यह कथन है कि श्रुत और दृष्ट एक ही प्रमाण के दो नामान्तर हैं। अतः श्रुतार्थापत्ति एक पृथक भेद नहीं है। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने श्रुतार्थापत्ति (शाब्दबोध में अनुपपत्ति) को अर्थापत्ति का एक पृथक भेद तो माना ही है। इसके साथ ही अभिधाननुपत्ति और अभिहितानुपपत्ति के रूप में उसके दो उपभेदों का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार यदि देखा जाय तो अर्थापत्ति के कुल चार भेद हुए, जिसमें ये दोनों, उपभेद भी शामिल हैं। सर्वप्रथम अर्थापत्ति के दो प्रमुख भेद – 1. दृष्ट, 2. श्रुत का वर्णन अग्रांकित/निम्नलिखित हैं–

1. **दृष्टार्थापत्ति** : यदि कोई व्यक्ति दूर से किसी चमकीली वस्तु को देखता है और उस चमकीली वस्तु वह चाँदी समझ लेता है कि किन्तु जब वह व्यक्ति उस चमकीली वस्तु के समीप पहुँचता है, तब उसे ज्ञात होता है कि यह वस्तु चाँदी नहीं है। इस प्रकार उस व्यक्ति को एक साथ दो विरोधी ज्ञान प्राप्त होते हैं– प्रथम 'यह रजत है' और द्वितीय– 'यह रजत नहीं है।' इन दोनों ज्ञान में से एक अवश्य असत्य होगा। इसमें अनुपपत्ति है। इसका समाधान तभी सम्भव है, जब यह ज्ञात हो जाय कि दूर दिखायी पड़ने वाली वस्तु रजत नहीं थी। यदि चमकीली वस्तु रजत होती तो निकट आने पर रजत ही प्रतीत होती। यहाँ पर 'इदं रजतम्' तथा 'न इदं रजतम्' दोनों तथ्य हैं किन्तु दोनों अनुपपन्न हैं। ये उपपन्न तभी हो सकता है जब प्रथम तथ्य (इदं रजतम्) को असत्य मान लिया जाय। वास्तव में यदि 'इदं रजतम्' (यह रजत है।) सत्य होता तो निकट आने पर भी वह रजत ही प्रतीत होता किन्तु ऐसी प्रतीति नहीं होती। चूँकि अर्थापत्ति प्रमा दृष्ट विषय की व्याख्या के लिए है, अतः यहाँ दृष्टार्थापत्ति है।

2. **श्रुतार्थापत्ति** : श्रुतार्थापत्ति के अन्तर्गत सुने हुए विषय की व्याख्या के लिए उपपादक अर्थ की कल्पना की जाती है। श्रुत विषय सम्बंधी अनुपपत्ति को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। देवदत्त जीवित है तथा वह घर पर नहीं है, तो यहाँ पर यह कल्पना की जा सकती है कि वह घर के बाहर ही कहीं होगा। इस उदाहरण से दो ज्ञान अनुपपन्न होते हैं– प्रथम देवदत्त जीवित है और द्वितीय–वह घर पर नहीं है। इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ 'देवदत्त के घर से बाहर रहने की बात' स्वीकार करना होगा। उपपत्ति इस प्रकार हो सकती है– यदि देवदत्त जीवित है तथा वह घर पर नहीं है, तो निश्चित ही वह घर से बाहर है। इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ हमें निश्चित रूप से यह स्वीकार करना होगा कि – देवदत्त जीवित है, तो वह घर पर है या फिर बाहर है। यदि वह (देवदत्त) जीवित है और घर तथा बाहर दोनों जगहों पर नहीं है ऐसा सम्भव नहीं हो सकता है।

महान वेदान्ती धर्म राजाध्वरीन्द्र ने श्रुतार्थापत्ति के दो भेद बताये हैं–

1. अभिधानानुपपत्ति।
2. अभिहितानुपपत्ति।

1. **अभिधानानुपपत्ति** : यदि कोई वक्ता 'द्वारम्' या 'द्वार को' केवल इतना ही शब्द बोलकर रूक जाता है, तो यह कथन स्पष्ट नहीं हो पाता है। इस कथन सम्बन्धी समस्या या अनुपपत्ति को दूर करने हेतु इस शब्द के आगे 'पिथेहि' पद जोड़ना पड़ेगा। तब यह कथन 'द्वारं पिथेहि' अर्थात् दरवाजा बंद कर दो– पूर्ण वाक्य होगा। जब 'द्वारम्' में 'पिथेहि' क्रिया को संयुक्त नहीं किया जायेगा, तो वाक्य अनुपपन्न होगा। अतः यहाँ पर 'पिथेहि' क्रिया का अध्याहार आवश्यक है।

2. **अभिहितानुपपत्ति** : वैदिक वाक्य– ''स्वर्गकामो–ज्योतिष्टोमेन यजेत्'' अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाला ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ करे। इस वाक्य के अर्थ को समझने हेतु हमें सर्वप्रथम 'अपूर्व' की जानकारी होना आवश्यक है कि 'अपूर्व' क्या है? उपर्युक्त वाक्य की मूल समस्या यह है कि– स्वर्ग प्राप्ति का कारण ज्योतिष्टोम यज्ञ को माना गया है। यज्ञ अभी तथा इसी जीवन काल में सम्पन्न हो रहा है और इस यज्ञ का फल मरने के बाद स्वर्ग में प्राप्त होगा। इस समस्या का निवारण 'अपूर्व' के अन्तर्गत समय आने पर ही फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार 'अपूर्व' के ज्ञान के बिना यह वाक्य (स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेनयजेत्) स्पष्ट नहीं हो सकता। अतः कहा जा सकता है कि अभिहितानुपपत्ति में अर्थ सम्बन्धी कठिनाई है। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति कहता है कि– ''स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत्'' तो यहाँ पर श्रोता को 'अपूर्व' नामक एक अदृष्ट अर्थ की कल्पना करनी होगी, अन्यथा इस वैदिक वाक्य का अर्थ स्पष्ट नहीं होगा।

शबर स्वामी ने 'दृष्ट' और 'श्रुत' नामक अर्थापत्ति के भेद को नहीं स्वीकार किया है।

आचार्य कुमारिल शबर स्वामी की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'दृष्ट' और 'श्रुत' विषयक दो प्रकार की अर्थापत्ति है। इस प्रकार विभिन्न आचार्यों ने अपने–अपने ढंग से अर्थापत्ति की व्याख्या की है।

ज्ञातव्य है कि वेदान्त और मीमांसा दर्शन अर्थापत्ति को एक स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं। मीमांसक कहते हैं कि यह सभी प्रमाणों से भिन्न पृथक प्रमाा है। मीमांसकों के अनुसार हमारे कर्ण में अनुच्चारित शब्दों को सुनने (श्रवण करने) की क्षमता का अभाव होता है।

इसलिए श्रुतार्थापत्ति प्रत्यक्ष से भिन्न है। अर्थापत्ति के अन्तर्गत लिंग का निर्धारण नहीं हो सकता, इसलिए यह अनुमान से भिन्न है। उच्चरित होने वाले वाक्यों और अनुच्चरित होने वाले वाक्यों में समानता नहीं पायी जाती है, अतः यह उपमान भी नहीं है। यह शब्द प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि शब्द प्रमाण में पूर्ण वक्य का प्रयोग होता है। अर्थापत्ति के अन्तर्गत वाक्य के कुछ अंश श्रुत होते हैं तथा कुछ अंश कल्पित या काल्पनिक होते हैं। अतः इसे शब्द प्रमाण भी नहीं कहा जा सकता है। इसलिए मीमांसकों एवं वेदांतियों ने अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण माना है।

4.4 अर्थापत्ति की उपादेयता

मीमांसकों और अद्वैत वेदांतियों के अनुसार अर्थापत्ति के द्वारा हमें ऐसे तथ्यात्मक ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो किन्तु अन्य प्रमाण के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता है। मीमांसक आचार्य अर्थापत्ति का उपयोग वेद विहित मंत्र की व्याख्या करने में करते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे शब्दों एवं उसके अर्थ को समझने के लिए भी अर्थापत्ति का प्रयोग करते हैं, जिनका उच्चारण नहीं किया जा सकता है। मीमांसक आचार्य अर्थापत्ति के आधार पर ही आत्मा की अमरता में विश्वास करते हैं। इसी प्रकार अद्वैत वेदांतियों का माया–सिद्धांत भी बहुत कुछ अर्थापत्ति पर ही आधारित है।

नैयायिकों ने उपर्युक्त विचार का विरोध किया है। नैयायिकों ने मीमांसक और अद्वैत वेदांतियों के अर्थापत्ति और उपयोगिता पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए कहा है कि– यह उपयोगिता तो अनुमान द्वारा ही सम्पन्ना हो जाती है। अतः अर्थापत्ति का पृथक अस्तित्व मानना उचित नहीं है। नैयायिकों की दृष्टि से जब अनुमान के अन्तर्गत 'केवल व्यतिरेक अनुमान' नामक भेद को स्वीकार करके प्रमाण को सिद्ध किया जा सकता है, तो इसके लिए अलग प्रमाण मानना युक्तिसंगत नही है।

उपर्युक्त आलोचना के उत्तरार्थ मीमांसकों, आचार्यों ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं–

1. अनुमान के अन्तर्गत एक ज्ञात वस्तु के सहारे किसी अन्य अज्ञात वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जबकि अर्थापत्ति के अन्तर्गत तथ्य (गृहाभाव) तो एक ही रहता है। पहले तथ्य अनुपपन्न रहता है और बाद में कल्पना द्वारा उत्पन्न होता है। इसीलिए मीमांसक आचार्य अर्थापत्ति को पृथक प्रमाण के रूप में उपयोगी मानते हैं।

2. मीमांसक आचार्यों का मानना है कि– हम अपने पूर्व अनुभव के साथ किसी तथ्य का विरोध दृश्यमान या श्रव्यमान (सुनाई देना) होने पर उसके समाधान हेतु अर्थापत्ति का सहारा लेते हैं, जबकि अनुमान के 'हेतु' के तहत पूर्व अनुभव के साथ पूर्णतः सामंजस्य की स्थिति में हम उसके सहारे किसी अज्ञात वस्तु का अनुमान करते हैं। अतः मीमांसक आचार्यों की दृष्टि में अर्थापत्ति पृथक प्रमाण के रूप में उपयोगी है।

3. मीमांसक आचायों का मानना है कि – अर्थापत्ति का मुख्य आधार अनुपपन्नता है, जबकि अनुमान प्रक्रिया अनुपपन्नता पर आधारित नहीं हैं। इसलिए भी मीमांसक आचार्य अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में उपयोगी मानते हैं

4.5 अनुपलब्धि प्रमाण का अर्थ एवं स्वरूप

अनुपलब्धि का शाब्दिक अर्थ है– जो उपलब्ध न हो अर्थात् जिसकी उपलब्धि (ज्ञान) का अभाव हो उसे ही अनुपलब्धि कहते हैं। प्रमाण के रूप में– अनुपलब्धि का प्रमुख कार्य अभाव को ग्रहण करना है। प्रमुख मीमांसक आचार्य 'पार्थसारथी मिश्र' ने 'शास्त्रदीपिका' में उल्लिखित किया है कि– ''भट्टमीमांसा' में सर्वप्रथम अनुपलब्धि नामक स्वतंत्र प्रमाण को स्वीकार किया गया जिससे अनुपलब्धि प्रमा का ज्ञान होता है। कालान्तर में अद्वैत वेदान्त में भी इसे स्वतंत्र प्रमाण माना गया। ज्ञातव्य है कि – मीमांसा और अद्वैत वेदान्त में अनुपलब्धि के अतिरिक्त– प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति को भी ज्ञान का स्वतन्त्र साधन स्वीकार किया गया है।

भाट्ट मीमांसकों और अद्वैत वेदांतियों का यह कथन है कि किसी स्थान विशेष पर कोई वस्तु विद्यमान न हो तो उस स्थान पर उस वस्तु का अभाव माना जायेगा और उस अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि नामक एक पृथक प्रमाण से होगा। जैसे– किसी स्थान पर घट नहीं है तो इस घटाभाव का ग्रहण अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है। अतः अनुपलब्धि एक स्वतन्त्र प्रमाण है। इसके स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है– यदि किसी घट को मैंने देखा है, परन्तु इसी स्थान पर उपलब्धि के सभी साधनों के होते हुए भी इस समय घट नहीं दिखायी देता है, अर्थात् घट की उपलब्धि यथ समय, यथा स्थान पर नहीं होती है, तो हमें अन्ततः यह स्वीकार करना होगा कि इस स्थान पर घटभान है और इसका ज्ञान हमें अनुपलब्धि से हो रहा है।

नैयायिक और मीमांसक दोनों ने अभाव को 'पदार्थ' तो माना है किन्तु अनुपलब्धि को प्रमाण रूप में केवल मीमांसक ही मानते हैं अर्थात् मीमांसकों के अनुसार– 'अभाव' पदार्थ और प्रमाण दोनों है। आचार्य कुमारिल ने 'श्लोकवार्तिक' में कहा हैं कि–

''प्रमाणपंचकं यत्र वस्तुरूपे न ज्ञायते।
वस्तुसत्ताबोधार्थं तत्राभाव प्रमाणता।।''

अर्थात् अभाव के सन्दर्भ में अन्य पाँ प्रमाण चरितार्थ नहीं हो सकते। अतः उसके ज्ञान के लिए अनुपलब्धि को प्रमाण मानना आवश्यक है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार ज्ञान रूपी करण से उत्पन्न न होने वाले अभावानुभव के असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहा जाता है। अनुमान आदि से जन्य अतीन्द्रिय अभाव (यथा– अहं पुण्याभाववान् सुखाभावत्वात् : जो इस व्याप्ति ज्ञान पर निर्भर है कि 'यत्र–यत्र सुखाभावः तत्र–तत्र पुण्याभावः) में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए लक्षण में– ''ज्ञानकरणाजन्यत्व' इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। अनुमान व्याप्ति ज्ञान जन्य होता है, जबकि अनुपलब्धि में ऐसा नहीं होता।

धर्मराधाध्वरीन्द्र का यह कथन है कि ईश्वर, काल, अदृष्ट आदि की कारणता तो सभी कार्यों के साथ रहती है। अतः उनका परिहार करने के लिए 'अनुपलब्धि' के लक्षण में 'असाधारण' शब्द का समावेश किया गया है। इसी 'अभाव' की 'स्मृति' में अतिव्याप्ति के निवारण हेतु ':अनुभव' शब्द का प्रयोग किया गया है। धर्म एवं अधर्म जैसी वस्तुओं में प्रत्यक्ष योग्यता नहीं है। अतः उनकी अनुपलब्धि योग्य अनुपलब्धि नहीं कही जा सकती। प्रत्यक्ष योग्य वस्तु के ही अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है, न कि प्रत्यक्ष अयोग्य वस्तु के अभाव का भी ज्ञान। ज्ञान के कारणों के होते हुए भी ज्ञान योग पदार्थ का ज्ञान न होना उस पदार्थ के अभाव के ज्ञान का कारण होता है। अत्यंत दूर स्थित पदार्थ का भी ज्ञान नहीं होता, किन्तु उसका अभाव नहीं माना जा

सकता क्योंकि वह ज्ञान के योग्य ही नहीं है। अतः सिद्ध होता है कि ज्ञान योग्य पदार्थ की अनुपलब्धि ही उस पदार्थ के अभाव को सिद्ध कर सकती है न कि ज्ञान के अयोग्य पदार्थ की अनुपलब्धि।

कुमारिल भट्ट का यह विचार है कि प्रमाण और ज्ञेय वस्तु के स्वभाव में समानता होनी चाहिए। भावात्मक पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष आदि भावनात्मक प्रमाणों से और अभावात्मक पदार्थों का ज्ञान अभावात्मक प्रमाण के द्वारा होता है। कुमारिल के अनुसार वस्तुयें सद्–असद् रूप से दो प्रकार की होती है। जयंत भट्ट ने कुमारिल के मत का खंडन किया है।

भारतीय दर्शन में अभाव के स्वरूप को लेकर पर्याप्त मतभेद रहा है। भट्ट मीमांसक और अद्वैत वेदांतियों के अनुसार अभाव एक पदार्थ है और उसका ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। प्रभाकर मीमांसक और सांख्य की दृष्टि से सत्ता (भाव) और असत्ता (अभाव) ये एक ही वस्तु के दो रूप है। अभाव कोई पदार्थ नहीं है लेकिन उसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा हो जाता है। नैयायिक अभाव को एक पदार्थ मानते हैं और नैयायिकों का मानना है कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। वैशेषिक भी अभाव को एक पदार्थ मानते हैं, किन्तु अभाव का ज्ञान अनुमान से होता है। यहाँ पर वैशेषिक, नैयायिकों से भिन्ना मत रखते हैं। बौद्ध दार्शनिकों का मानना है कि अभाव कल्पना मात्र है तथा अभाव का ज्ञान अनुमान से ही हो जाता है। यहाँ बौद्धों का मत वैशेषिक दार्शनिकों से साम्य रखता है।

अनुपलब्धि का प्रमाणत्व एवं विश्लेषण : नैयायिक अनुपलब्धि का प्रमाणत्व स्वीकार नहीं करते हैं तथा अनुपलब्धि का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में करते हैं। नैयायिकों का कथन है कि– 'यदि यह घड़ा होता तो भूतल के समान वह दिखायी देता।' इस तर्क द्वारा सहकारी अनुपलब्धि से युक्त प्रत्यक्ष से भूतल में घटाभाव का ज्ञान होता है। अतः पृथक अनुपलब्धि प्रमाण भी आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर यह संशय उत्पन्न होता है कि नियमतः इन्द्रियाँ अपने से सम्बद्ध विषय को ही ग्रहण करती हैं। जैसे– त्वक् इन्द्रिय–संयोग–सम्बन्ध से अपने सम्बद्ध विषय (द्रव्य) को ग्रहण करती है। इसी तरह घ्राण समवाय सम्बन्ध से स्वयं से सम्बद्ध गंध का ग्रहण करती है। यहाँ पर चक्षु के साथ अभाव का कोई संशय नहीं है। अतः चक्षु से अभाव का ग्रहण नहीं होता है। सम्बन्ध दो ही होते हैं – संयोग और समवाय। संयोग सम्बंध दो द्रव्यों के बीच होता है जबकि अभाव द्रव्य नहीं है। समवाय सम्बन्ध भी दो अयुत्सिद्ध पदार्थों के मध्य होता है, जबकि चक्षु और अभाव का एक दूसरे की अनुपस्थिति में भी विद्यमान रहते हैं।

नैयायिकों ने उपर्युक्त समस्या के समाधान के लिए 'विशेषण–विशेष्य भाव' सम्बंध के आधार पर अभाव को प्रत्यक्षगम्य माना। जैसे– 'भूतल घटाभाव से विशिष्ट है' (भूतलं घटाभाववत्) इस कथन में घटाभाव विशेषण और भूतल विशेष्य है तथा घटाभाव भूतल से विशिष्ट है (भूतले घटाभावः)। इस कथन में भूतल विशेषण तथा घटाभाव विशेष्य है। अतः नैयायिकों के अनुसार चक्षु का सम्बन्ध घटाभाव के साथ भूतल के माध्यम से मानने में कोई समस्या नहीं है। अतः इन्द्रियों द्वारा अभाव का ग्रहण किया जा सकता है।

नैयायिकों के 'विशेषण–विशेष्य भाव' पर वैदांतियों ने आपत्ति प्रकट की है। सम्बन्ध वह कहलाता है, जो दो व्यक्तियों पर निर्भर (आश्रित) हो, आश्रयभूत दोनों व्यक्तियों से भिन्न हो और स्वयं एक हो। ये तीनों बातें– 'विशेषण–विशेष्यभाव' में नहीं दृष्टिगत होती है। विशेषण केवल विशेषण में पायी जाती हैं और विशेष्य केवल विशेष्य में। अतः

विशेषण–विशेष्यभाव उभयाश्रित नहीं है। विशेषण विशेषण से तथा विशेष्य विशेष्य से पृथक नहीं है। विशेषणविशेष्य रूप सम्बन्ध दोनों से भिन्न एक व्यक्ति रूप भी नहीं है। अतः यह सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार कहा जा सकता है कि– विशेषण विशेष्यभाव, विशेषण–विशेष्य स्वरूप से भिन्न नहीं है, उभयाश्रित नहीं है तथा एक व्यक्ति रूप भी नहीं है। अतः विचार करने पर तो – विशेषण–विशेष्य भाव सम्बन्ध नहीं है। किन्तु नैयायिकों ने इसे सम्बन्ध का साधर्म्य माना है, जिसे 'उभयनिरूपणीयत्व' (दोनों से बाधित होना) कहते हैं। जिस प्रकार भेरी और दण्ड का संयोग सम्बन्ध भेरी और दण्ड के बिना नहीं जाना जा सकता, उसी प्रकार विशेषणविशेष्यभाव भी दोनों के बिना नहीं जाना जा सकता। अतः इन्हें युगल रूप में ही जाना जा सकता है। इसीलिए इसे 'उपचारवश' सम्बन्ध कहते हैं।

नैयायिकों के अनुसार नियमतः इन्द्रियाँ स्वसम्बद्ध विषयों को ही ग्रहण करती हैं किन्तु यह नियम केवल भाव पदार्थों के लिए है। अभाव का ग्रहण उसके साथ इन्द्रिय का सम्बंध हुए बिना विशेषण विशेष्यभाव से हो जाता है।

बौद्धों के अनुसार– विशेषण–विशेष्य भाव को सम्बंध नहीं माना जा सकता, क्योंकि बौद्धों की दृष्टि में यह काल्पनिक है। जयंत भट्ट ने बौद्धों द्वारा– 'विशेषण–विशेष्य–भाव' को काल्पनिक मानने का खंडन किया है। जयंत भट्ट का मानना है कि अभाव की वस्तु सत्ता है और 'विशेषण–विशेष्य भाव' द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है। अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मीमांसक और अद्वैत वेदांतियों द्वारा मान्यता प्राप्त है।

4.6 अनुपलब्धि प्रमाण की उपादेयता

न्याय एवं वैशेषिक आदि ने अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण नहीं स्वीकार किया है, किन्तु न्यायशास्त्र में अभाव का व्यापक विश्लेषण किया गया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रमाण रूप में अनुपलब्धि को न स्वीकारने के बावजूद अभाव के महत्त्व को माना गया है। दार्शनिकों का मानना है कि यदि सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से विचार किया जाय तो भाव के साथ अभाव की समस्या सदैव बनी रहती है। वास्तव में यदि अभाव की सत्ता न होती तो लोगों पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ इतना अवश्य है कि इसके ज्ञान को लेकर भारतीय आचार्यों में मतभेद है। भाट्ट मीमासांकें और वेदांतियों ने अभाव के ज्ञान के लिए ही अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में प्रतिपादित किया। किन्तु लोक व्यवहार में नैयायिकों का मत अधिक प्रसिद्ध है। क्योंकि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान और शब्द से भी अभाव का ज्ञान हो सकता, जबकि अधिकांशतः अभाव के ज्ञान हेतु प्रत्यक्ष का सहारा लिया जाता है।

नैयायिकों की दृष्टि में 'विशेषण–विशेष्य–भाव' को एक सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, जिससे कि अनुपलब्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण में अन्तर्भाव किया जा सकता है। अतः यह कहा जा सकता है कि अनुपलब्धि के प्रमाणत्व को लेकर विवाद होने के बावजूद, 'अभाव' को लेकर भारतीय दर्शन में जो विश्लेषण तथा खण्डन–मण्डन प्रस्तुत किया गया वह इसकी उपादेयता को सिद्ध करता है। अतः प्रमाणित होता है कि भारतीय दर्शन में अनुपलब्धि प्रमाण महत्त्व स्वतः सिद्ध है।

4.7 सारांश

अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण भारतीय दर्शन में वेदमूलक दर्शनों में मीमांसा और वेदान्त में स्वीकार्य है। हमारे जीवन में बहुत सारे ऐसी घटनाएँ या विचार की वस्तुएँ आती है, जिनका हमें केन्द्रीय प्रत्यक्ष नहीं होता, फिर भी उनका अस्तित्व होता है। यदि उनके अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया जाय, तो जीवजगत की बहुत सारी व्याख्याएँ नही हो पायेंगी। अर्थापत्ति जहां दृष्टकार्य या घटनाओं को देखकर उसके पीछे की अदृष्ट (बिना देखी हुई) कारण का बौद्धिक निर्धारण है, वही अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा हम किसी भी वस्तु या घटना के किसी देश और काल में अनुपस्थिति को सिद्ध करते हैं। इस प्रकार से अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण भारतीय ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र को व्यापकता प्रदान करता है। इन प्रमाणों के ही आधार पर हम आत्मा, ईश्वर या दैवीय सत्ताओं के 0पर विश्वास कर पाते हैं। ये प्रमाण हमारे जीवन में आस्तीकता का प्रवेश कराते हैं।

4.8 पारिभााषिक शब्दावली

4.9 सहायक उपयोगी पाठ्यपुस्तकें

1. चक्रधर विजलवान, न्यायदर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखन0, 1999
2. हीरालाल आर शिवहरे, पदार्थ विज्ञान, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
3. डी.एम. दत्ता, 'सिक्स वे ऑफ नोईंग'

4.10 बोध प्रश्न

1. अर्थापत्ति की परिभाषा दीजिए तथा स्वरूप का वर्णन कीजिए।
2. अर्थापत्ति को स्वीकारने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय की दृष्टि में अर्थापत्ति का विवेचन कीजिए।
3. अर्थापत्ति के कितने प्रकार है? अर्थापत्ति के प्रकार को व्याख्यायिक कीजिए।
4. अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है? विश्लेषण कीजिए।
5. अनुपलब्धि प्रमाण की परिभाषा दीजिए तथा इसके स्वरूप का वर्णन कीजिए।
6. अनुपलब्धि के स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार्यता का विवेचन कीजए।

खण्ड 4
प्रमाण सिद्धान्त का अनुप्रयोग

चतुर्थ खण्ड का परिचय

प्रमाण-सिद्धान्त का अनुप्रयोग नामक चतुर्थ खण्ड में आपका स्वागत है। यह खण्ड तीन इकाइयों में विभक्त है। केवल प्रमाण-सिद्धान्त तथा प्रमाणों का निरूपण ही नहीं किन्तु प्रमाणों का विभिन्न शास्त्रों में अनुप्रयोग भी भारतीय ज्ञानपरम्परा में प्राप्त होत है। प्रमाण-सिद्धान्त का परिचय प्राप्त करने तथा प्रमुख प्रमाणों का अध्ययन करने के पश्चात् अब आप प्रमाण-सिद्धान्त तथा तत् निरूपित प्रमाणों के कतिपय शास्त्रों में अनुप्रयोगों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगें। प्रथम इकाइ में विभिन्न भारतीय शास्त्रों में तत्त्व की जो विविचना की गई है उसमें प्रमाणों का किस प्रकार अनुप्रयोग हुआ है इस विषय का वर्णन प्रस्तुत है। दूसरी इकाई में आयुर्वेद में प्रमाणों के अनुप्रयोग की जानकारी दी गई है। अन्तिम इकाई में विधिशास्त्र में प्रमाणों का अनुप्रयोग वर्णित है और इसी के साथ यह खण्ड पूर्ण होता है। चतुर्थ खण्ड के अध्ययन के बाद आप प्रमाणों के विभिन्न शास्त्रों में अनुप्योगों के विषय में विवरण दे सकेंगें।

इकाई 1 तत्त्वविवेचन में प्रमाणों का अनुप्रयोग

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप–

- तत्त्वसिद्धान्त और प्रमाणसिद्धान्त के बीच गहरे अन्तःसम्बन्ध को जान सकेंगे।
- 'हिन्दू तत्त्वसिद्धान्त केवल आस्था का विषय नहीं है, किन्तु एक पुष्ट प्रमाणसिद्धान्त पर आधारित है।' इस तथ्य से भलिभाँति परिचित हो सकेंगे।
- विभिन्न प्रमाणों के आधार पर विभिन्न तत्त्वों का निर्धारण कैसे होता है, यह समझ सकेंगे।
- प्रमाण व्यवस्था इसलिये महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि एक सशक्त प्रमाण व्यवस्था ही हमें वास्तविक तत्त्वबोध तक ले जाता है। इस तथ्य से भी अवगत हो सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

ज्ञान क्या है? ज्ञान प्राप्ति के साधन क्या है? इन साधनों की संख्या कितनी है? इत्यादि प्रश्नों को ज्ञानमीमांसीय प्रश्न कहा जाता है। ज्ञानमीमांसा में ज्ञान की वैधता के निर्धारण में जिन ज्ञानात्मक अवयवों की चर्चा की जाती है, उन्हें प्रमाणसिद्धान्त कहा जाता है तथा तत्त्वों का स्वरूप, परिभाषा तथा संख्या इत्यादि पर विचार तत्त्वसिद्धान्त कहलाता है। हिन्दू सभ्यता में तत्त्वसिद्धान्त तथा ज्ञानमीमांसा के बीजतत्त्व वेद में पाये जाते हैं। किन्तु एक सुव्यवस्थित शास्त्र के रूप में इनका वर्णन दार्शनिक ग्रन्थों में

उपलब्ध होता है।

प्राचीन आस्तिक दर्शन सांख्य मत मे ंअपने 25 तत्त्वों की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण तथा (शास्त्र) आगम प्रमाण के द्वारा सिद्ध किया गया है।

इस ईकाई में आप जान सकेंगे कि तत्त्वमीमांसा में प्रमाण की स्थापना कैसे हुई है? तथा प्रमाण सिद्धान्त के अनुप्रयोग ही तत्त्व सिद्धान्त विकसित होता है। इस विवेचन से हम यह भी समझ सकेंगे कि विभिन्न दार्शनिक प्रणालियाँ इसलिये विकसित हुई हैं क्योंकि उन्होंने विभिन्न प्रकार के प्रमाण सिद्धान्तों को अपनाया है। इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप यह समझ सकेंगे कि प्रमाण सिद्धान्त और तत्त्व विवेचन के मध्य सम्बन्धों को समझने के लिये विभिन्न दर्शनों ने विभिन्न प्रमाणों का उपयोग कैसे हुआ है।

1.2 तत्त्वमीमांसा में प्रमाण

भारतीय दर्शन में प्रसिद्ध सिद्धान्त है– 'वादे–वादे जायते तत्त्वबोधः', दर्शन ग्रन्थों का प्रारम्भ जिज्ञासा से होता है– अथातो ब्रह्म जिज्ञासा, अथातो धर्म जिज्ञासा, वाक्य इसके प्रमाण हैं। इन वाक्यों में ब्रह्म तथा धर्म नामक तत्त्व को जानने की इच्छा हुई है। भारतीय परम्परा में सन्देह का दार्शनिक और वैज्ञानिक उपयोग हुआ है। एक सुदीर्घ परम्परा है। चार्वाक के सन्देहवाद ने बौद्ध एवं न्याय दर्शन के लिए समृद्ध आधारभूमि तैयार की है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में प्रमाणशास्त्र के महत्त्व पर लिखा है–

प्रदीपः सर्व विद्यानाम् उपायः सर्वभूतानाम्
आश्रयः सर्व धर्माणाम् शश्वदा विक्षिकीमता।

प्रमाण–सिद्धान्त का उपयोग धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त होने में प्रयुक्त होता है। इसीलिए न्याय–सिद्धान्त को सभी दर्शनों ने अपने विचार प्रक्रिया में स्थान दिया है। बेकन का आगमन का सिद्धान्त भी सभी विज्ञानों में प्रयुक्त होता है। यह 16वीं सदी की घटना है। न्याय सिद्धान्त अपने अन्तिम 500 वर्षों में विधिशास्त्र से मिश्रित हो चुका है (स्मृति, अलंकारशास्त्र और वेदान्त) शंकर सभी प्रमाण व्यवहार को अविद्या के अन्तर्गत रखते हैं।

नागार्जुन का ग्रन्थ विग्रहव्यावर्तिनी तथा माध्यमिका कारिका तथा 'श्री हर्ष' के खण्डन–खाद्य में हम एक संरचनात्मक–सन्देहवाद को पाते हैं।

हनुमानाष्टक की स्तुति है–

यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो बौद्ध।
बुद्ध इति प्रताण पटवः कर्तेति नैयायिकाः।।

अर्हनित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः।
सोऽयं नो विद्धातु वांच्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।।

अर्थात्

शैव शिवरूप से, वेदान्ती ब्रह्म रूप से, बौद्ध बुद्ध रूप से प्रमाणकुशल नैयायिक कर्त्तारूप से, जैन अर्हत रूप से और मीमांसक कर्मरूप से जिनकी उपासना करते है, वे त्रैलोक्याधिपति श्रीहरि हमें वांच्छित फल प्रदान करें।

भागवत पुराण में एक प्रसंग आया है, वह इसप्रकार है– सृष्टि करने हेतु ब्रह्मा जी को

भगवान ने कहा – मेरे अनुग्रह से प्राप्त करें।

श्री भगवान् उवाच

अहमेवासमेवाग्रे नान्यधत्सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्।।1।।

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः।।2।।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्य प्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्।।3।।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयवतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा।।4।।

चतुः श्लोकि भागवतम् – 2/9/32–35

श्री भगवान् कहते हैं–

"सृष्टि संरचना से पूर्व मैं ही केवल थ। न सत था ना असत था मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं था ये सबकुछ है इस रूप में मैं ही हूँ जब कुछ भी नहीं रहेगा तब भी मैं ही रहूँगा/काल स्वरूप परमात्मा सबका साक्षी है।

- सृष्टि की संरचना के पूर्व मैं ही केवल था। न सत् था न असत् था और न दोनों के आभास होने का ज्ञान। मुझसे अतिरिक्त कुछ नहीं था सृष्टि के ना होने पर भी उस सृष्टि के होने पर भी जो कुछ भी प्रतीत हो रहा है वह भी मैं ही हूँ। सृष्टि के रूप में जो स्थित है प्रलय काल में जो शून्य है और उसके बाद भी जो बचा रहेगा वह भी मैं ही हूँ। इतना ही जानने योग्य है।
- जो आभासित वस्तु मुझ मूल तत्त्व के अतिरिक्त मिथ्या प्रतीत हो रही है अथवा विद्यमान होने पर जिसमें मेरी प्रतीति नहीं होती/इसे मेरी ही माया समझनी चाहिये जो अनिर्वचनीय अंधकार की भांति मिथ्या है।
- जैसे प्राणी के पञ्चमहाभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश द्वारा रचित छोटे बडे शरीरों में मैं प्रवेश करते हए भी कारण रूप से विद्यमान रहने के कारण रूप से विद्यमान रहने के कारण प्रवेश नहीं भी करता। वैसे शरीर की दृष्टि से मैं उनमें आत्मा के रूप में विद्यमान हूँ और आत्मदृष्टि से एकमात्र होने के कारण प्रवेश नहीं भी करता।
- जो आत्मा व परमात्मा का तत्त्व जानने की इच्छा रखते हैं उन्हें केवल इतना ही जानने की आवश्यकता है कि अन्वय और व्यतिरेक की पद्धति से सर्वातीत और सर्वस्वरूप एवम् स्वयं प्रकाश भगवान ही सर्वदा सर्वस्वरूप एवम् स्वयं प्रकाश भगवान ही सर्वदा और सर्वत्र विद्यमान हे वही वास्तविक आत्मतत्त्व है। इस अन्वय का व्यतिरेक विधि का दार्शनिक ग्रन्थों में प्रचुर विवेचन हुआ है।

भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध में लिखा है–

वदन्ति तत्त्वच्चविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।11।।

तत्त्ववेत्ता लोग ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से रहित अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप ज्ञान को ही तत्त्व कहते हैं। उसी को कोई ब्रह्म, कोई परमात्मा कोई भगवान् नाम से पुकारते हैं।

1.3 तत्त्व का अर्थ एवं अवधारणा

मनुष्य अपनी सद्‌गति के लिए मन, वचन और शरीर से यथाशक्ति प्रयत्न करता रहता है, उन सद्‌गतियों की पराकाष्ठा को प्रत्येक भारतीय दर्शनकारों ने 'मोक्ष' माना है। मोक्ष का साधन सर्वतन्त्र से सिद्ध और लोक प्रसिद्ध तत्त्वज्ञान ही है। तत्त्व ज्ञान से मोक्ष होता है यह सर्व तन्त्र सिद्धान्त है। अर्थात् सभी दर्शनों में मान्य है।

जगत् में दिखाई देने वाले विविधता के मूलकारण के अनुसन्धान में प्रवृत्त महर्षियों (ज्ञानियों) के अनुसार जितने और जिस प्रकार के तत्त्व भासित हुए, उतने ही और उसी प्रकार के तत्त्वों का निदर्शन उन दर्शनों में किया गया है। अर्थात् जिसको जितना और जिस प्रकार का तत्त्व अपनी बुद्धि के अनुसार भासित हुआ, उसने उसी के अनुसार अपना दर्शन बनाया। इसलिए, भारतीय दर्शन में तत्त्वभेद भी दर्शन–भेद का ज्ञापक है। तत्त्व ज्ञान मोक्ष का साधन है तथा बन्ध को समझने में सहायक है। बन्ध मोक्ष का प्रतिद्वन्दी है। चेतन के साथ अचेतन का जो सम्बन्ध है वही बन्ध है। यद्यपि अचेतन वस्तुए भूत–भौतिक–शरीर आदि भेद से कई हैं तथापि जीवात्मा के साथ जो शरीर का सम्बन्ध हैं, वही मुख्य बन्ध माना जाता है।

चेतन जीवात्मा के साथ अचेतन शरीर का जो सम्बन्ध वही बन्ध है। मोक्ष के अभिलाषी व्यक्ति के लिए यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह जीवात्मा का शरीर के साथ सम्बन्धरूपी जो बन्ध है, उसके नाश के लिये यत्न करता है। क्योंकि जब तक बन्ध का नाश नहीं हो जाता मोक्ष असम्भव है। यह बात प्रायः सभी दर्शनकारों ने स्वीकार की है। बन्ध के स्वरूप के विचार के सन्दर्भ में मूल तत्त्व का अनुसंधान करना परमआवश्यक हो जाता है।

तत्त्व का अर्थ–

तत्त्व 'शब्द 'तनु विस्तारे' धातु से बना है, जो विस्तार या निर्माण अर्थ में प्रयुक्त है। 'तत्त्व तन् क्विप् ततो भावः तस्य भावो वा त्व वा तलोपः' यथार्थे, स्वरूपे, परमात्मनि ब्रह्मणि। तदिति सर्वनाम सर्व च ब्रह्म, या तस्य नाम, सर्वनाम तस्य भावः। ब्रह्मत्वे। सांख्योत्तेषु पळचविंशतिपदार्थेषु' ('शब्दस्तोममहानिधि)।

अर्थात् यह विस्तृत संसार जिससे ढंका हुआ है, उसके यथार्थ स्वरूप को तत्त्व कहा जाता है। शब्दस्तोममहानिधि के इस निरुक्ति में तत्त्व रूप में दो विषय रखे गये हैं– 1. ब्रह्म तथा 2. सांख्योक्त पंचविंशति तत्त्व। अर्थात् यह विस्तृत संसार तो ब्रह्म से पूर्णतः आच्छादित है या सांख्योक्त पंचविंशति तत्त्वों से आच्छादित है। इनका जो यथार्थ स्वरूप है अर्थात् यथार्थतः ब्रह्म या पंचविंशति तत्त्वों का जो स्वरूप है, उसको तत्त्व कहा जाता है। संक्षिप्ततः तत्त्व की निरुक्ति करते हुए कहा गया है कि– 'तनोति सर्वान् व्याप्य आस्ते इति तत्त्वम्' अर्थात् जो इस समस्त सृष्टि को 'तनोति' अर्थात् अपने विस्तार से ढ का है तथा सृष्टिगत रचनाओं में कारण रूप में व्याप्त है, उसे तत्त्व कहा जाता है।

तत्त्व का लक्षण– काश्मीर के शैव दर्शन के आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने ग्रन्थ तत्त्वालोक में तत्त्व का लक्षण निर्धातिर करते हुए लिखते हैं वह अति महत्त्वपूर्ण है।

'स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मार्थे यद्वयापि स्वसदृशगुणे।
आस्ते सामान्यकल्पेन तननात् व्याप्तृभावतः।।
तत्तत्त्वं क्रमशः पृथिवी प्रधानं पुंशिवादयः।'

अर्थात् स्वकीय कार्य में यानि अपने द्वारा किये गये कार्य में, धर्म समुदाय में, या स्वसमान गुण वाले वस्तु में सामान्य रूप से व्यापक पदार्थ को तत्त्व कहते हैं। यहाँ पुनः उदाहरण देकर तत्त्व को समझाया गया है कि क्रमशः पृथिवी, प्रधान अर्थात् प्रकृ ति, पुरुष आदि तत्त्व हैं। यहाँ आदि शब्द से इन तीनों के अतिरिक्त सांख्योक्त अन्य तत्त्वों का बोध होता है।

तत्त्व शब्द की निरुक्ति से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्व से तात्पर्य सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त मूलरूप सत्ता है। इस लक्षण में जो स्वकीय कार्य या 'स्वस्मिन् कार्येऽथ' कहा गया है, वह तत्त्व के लिए कहा गया है कि– 'स्वस्मिन् कार्येऽथ' अर्थात् जो अपने द्वारा किये गये कार्यों में यानि अपने द्वारा उत्पन्न किये गये सम्पूर्ण कार्य–द्रव्यों में, सम्पूर्ण धर्मसमूह में अर्थात् इस सृष्टि के समस्त व्यवहार या समस्त गुण वाले वस्तुओं में सामान्य रूप से अर्थात् प्रत्येक भावों में अपने इस प्रकार के सृष्टि–व्यापार या समस्त सृष्टि–संचालन प्रक्रियायों में, अथवा सम्पूर्ण अपने समान भी देख रहे स्वरूप में जिसमें एकत्व भाव का ज्ञान हो, व्याप्त रहने वाले को तत्व कहा जाता है। इस लक्षण के द्वारा तत्त्व शब्द की निरुक्ति के अनुसार ही इसके लक्षण को भी आधार पर ही तत्त्व–विनिश्चय किया गया है। इस सृष्टि में हम जो कुछ भी देख रहे हैं या जिस किसी का भी प्रत्यक्ष कर रहे हैं, वे सभी द्रव्य हैं, क्योंकि जो कुछ भी प्रत्यक्षगम्य है, वह भौतिक सृष्टि है तथा जिसका हम अलौकिक या योगज प्रत्यक्ष के द्वारा या ज्ञानयोग से ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह आध्यात्मिक सृष्टि है। इस प्रकार इन्द्रियादि की सहायता से या योगज प्रत्यक्ष के द्वारा हम जो कुछ भी प्रत्यक्षीकृत कर रहे हैं, वह द्रव्य है। अतः यहाँ तत्त्व के लक्षण को द्रव्याधार पर ही स्पष्ट किया गया है अर्थात् तत्त्व के लक्षण को स्पष्ट करने के लिए द्रव्य को आधार बनाया गया है। द्रव्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि जिसमें गुण व कर्म समवाय सम्बन्ध से हों तथा जो समवायि कारण हो उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य, स्वसमान द्रव्य व स्वसमान गुण उत्पन्न करता है। यहाँ इस लक्षण में तत्त्व की व्यापकता द्रव्य, गुण, कर्म में सामान्य सिद्धान्त के आधार पर दर्शायी गई है, अतः यह लक्षण आयुर्वेद की दृष्टि से व्यावहारिक, युक्तिसंगत और उपादेय है। यदि उपर्युक्त लक्षण के एक–एक पद को समझा जाय तो इसका लक्षण अतिस्पष्ट हो जाता है।

1. **स्वस्मिन् कार्येऽथ**– अपने द्वारा उत्पन्न सभी कार्य–द्रव्यों में 'आस्ते सामान्यकल्पेन तननात् व्याप्तृभावतः' सामान्य रूप में व्याप्त है या कार्यद्रव्यों में व्याप्त होकर उन्हें आच्छादित किये हुए है। इस प्रकार यहाँ 'कार्येऽथ' से स्पष्ट किया गया है कि अपने द्वारा उत्पन्न समस्त कार्य–द्रव्यों में सामान्य रूप से व्याप्त रहने वाला तत्त्व है। यहाँ सामान्य का अर्थ यह है कि प्रत्येक कार्य–द्रव्य में वह अपने स्वरूप में विद्यमान रहता है; परन्तु कार्य–द्रव्यों की भिन्नता के कारण उसकी सामान्यता या एकत्व दृष्टिगोचर नहीं होता है। जैसे– स्नेह घृत–दुग्ध में है, उस दुग्ध से बने खोया में भी है. किलाट में भी, दही में भी है। अर्थात् दुग्ध से उत्पन्न समस्त विकारों में है तथा सम्पूर्ण विकारों में अपने स्वरूप में विद्यमान है, अतः स्नेहत्व

सभी द्रव्यों में है। इसी प्रकार जिस तत्त्व से कार्य–द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, वह उन कार्य–द्रव्यों में समान रूप से व्याप्त रहता है। इस प्रकार यहाँ द्रव्य में तत्त्वता प्रदर्शित की गई है। द्रव्य में गुण कर्म आश्रित रहते हैं, अतः जब समस्त कार्य द्रव्यों को वह उत्पन्न कर उसमें व्याप्त रहता है, तो उसके द्वारा उत्पन्न कार्य–द्रव्यों में उसकी व्यापकता स्वाभाविक है, अतः पुनः कहा गया है कि–

2. **'धर्मार्थे यद्'** 'अर्थात् धर्मसमुदाय में जो 'आस्ते सामान्यकल्पेन तननात् व्याप्तृभावतः' अर्थात् जो सामान्य रूप में व्याप्त है, वह तत्त्व कहा जाता है। यहाँ धर्म का तात्पर्य समस्त सृष्टिगत व्यवहारों अथवा कर्मों से है। इसके अन्तर्गत लोकगत जो समस्त कर्मजन्य व्यवहार है या विभिन्न क्रियायें हैं या पुरुषगत या प्राणियों के समस्त कर्मजन्य व्यवहार हैं, वह उसमें सामान्य रूप से व्याप्त रहता है। जैसे इस सृष्टि में समस्त प्राणियों में एकत्व स्थापित करने वाला भाव चौतन्यानुवृत्ति या क्रियाशीलता या गतिशीलता है। इस एकत्व वृत्ति में जो सामान्य रूप में विद्यमान रहता है, वह तत्त्व है। इस प्रकार यहाँ समस्त कर्मों में उसकी व्यापकता दर्शायी गई है। पुनः गुण में तत्त्व की व्यापकता दशात हुए कहा गया है कि–

3. **'यद्व्यापि स्वसदृशगुणे'** अर्थात् जो अपने समान गुण में या गुणयुक्त वस्तुओं में व्याप्त हो (वास्तव में 'स्वसदृशेगुणे का तात्पर्य 'अपने समान गुण में' होता है; परन्तु कतिपय विद्वान् इसका 'गुणयुक्त वस्तुओं में' अर्थ लगाते हैं। वस्तुओं के लिए तो 'स्वस्मिन् कार्येऽथ' कहा ही गया है; परन्तु विद्यार्थी संदिग्धता का अनुभव न करें, इस दृष्टिकोण से यहाँ 'गुणयुक्त वस्तुओं में' कहा गया है, अथवा 'जो अपने समान गुण में' यह अर्थ समझना चाहिए) 'आस्ते सामान्यकल्पेन तननात् व्याप्तृभावतः' अर्थात् जो सामान्य रूप से व्याप्त हो, उसे तत्त्व कहते हैं।

   प्रारम्भ से आज तक मानव तत्त्वज्ञान में संलग्न है। अपने बुद्धिविशेष, साधनविशेष तथा मार्गविशेष के कारणानुरूप तत्त्वदर्शन करता रहा है। तत्त्व का जो यथार्थ रूप कहा जाता है (यहाँ तत्त्व के यथार्थ रूप का तात्पर्य उत्पादक भाव या सृष्टि के उत्पादक भाव के यथार्थ रूप से है) वह अपने–अपने बुद्धि आदि के अनुसार कहा जाता है। यथा–एक पालतू पक्षी की आवाज को या किसी ध्वनिविशेष को अपने–अपने कल्पना रूप में समझा जाता है परन्तु जो ध्वनि या शब्द का यथार्थ स्वरूप है, उसे यथार्थ तत्त्वदर्शी ही समझ सकते हैं। उसी प्रकार तत्त्व के बारे में भी प्राचीन वैज्ञानिक से आधुनिक वैज्ञानिक तक तत्त्वचिन्तन कर रहे हैं।

   वस्तुतः इस संसार के सभी प्राणी दुःख से आत्यन्तिक छुटकारा पाना चाहते हैं, दुःख का सर्वथा नाश भगवत्साक्षात्कार के बिना नहीं हो सकता श्रुति कहती है– 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अम्नाय।' अर्थात् परमात्मा को जानकर ही आत्यन्तिक दुःख से छुटकारा मिलता है। उपनिषद कहते हैं कि, परमात्मा का साक्षात्कार श्रवण, मनन और निदिध्यासन से होता है। गुरु से परमेश्वर के स्वरूप ज्ञान और उसके गुणों का श्रवण, पुनः युक्तिपूर्वक चिन्तन तथा मनन, पुनः अपने अन्तःकरण में भावन से मनुष्य आत्म–साक्षात्कार प्राप्त करता है। महर्षियों ने इसे इस रुप में भी कहा है–

   आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यास बलेन च।
   त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञा लभते योगमुत्तमम्।।

अवधेय है कि मनन अनुमान के अधीन है अतः अनुमान का स्वरूप है। यह अनुमान व्याप्ति ज्ञान के अधीन है। व्याप्ति ज्ञान हमें पदार्थ विवेक से प्राप्त होता है। विभिन्न पदार्थों में से निर्मित इस जीवजगत में कौन व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध है।

इसलिये 'अथातो धर्म जिज्ञासा' इत्यादि सूत्रों के द्वारा वस्तुवादी दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद ने छः पदार्थों में पूरे विश्व को समझने की विधि दी है। प्रमाण सिद्धान्त द्वारा तत्त्वसिद्धान्तों की स्थापना विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने किस प्रकार से स्थापित किया है इनका संक्षिप्त विवरण क्रमशः इसप्रकार है–

1.4 चार्वाक मत में तत्त्वमीमांसा

जय शशि भट्ट जैसे तार्किक ने अपने ग्रन्थ तत्त्वोपल्लवसिंह के मंगलाचरण में लोकव्यवहार की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा है कि तत्त्व (सिद्धान्तों) का विनाश करने वाले उस विषम कृति का निश्चितरूप से मैं सृजन करने जा रहा हूँ। इसका फल कुछ भी नहीं (जैसा कि स्वर्गादि) है। यह निश्चित है कि इसप्रकार के कर्मों का परमार्थ के विज्ञों ने भी कहा है, "लौकिक मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। लोक व्यवहार के प्रति बालक और पण्डित समान होते हैं।"

तत्त्वमीमांसा की सिद्धि प्रमाणों से होती है। प्रमाणों की स्थापना के लिए सत्लक्षण से युक्त प्रमाण का निश्चय करना चाहिए। प्रमाण के द्वारा ही प्रमेयों की सिद्धि होती है। उसका अभाव होने पर प्रमाण और प्रमेय का सद्व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। उस अवस्था में आत्मा (अपने) में रूप की अवस्थिति होती है और घड़े आदि में मुख हैं। इन अनुचित तथ्यों का व्यवहार करना होगा।

जहाँ कारण दोषयुक्त है और जहाँ मिथ्याज्ञान है ऐसा बोध होता है वही अप्रामाणिक ज्ञान अथवा विसंवादी वळचनात्मक ज्ञान है ऐसा निश्चय होता है। (यत्र च दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एव असमीचीनः प्रत्ययः शावरभा 1/15)

1.5 तत्त्वविवेचन में प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष प्रमाण की मान्यता के विषय में किसी भी दार्शनिक में मत भेद नहीं है। उसके स्वरूप एवं क्षेत्र के विषय में मतभेद हो सकता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के अस्तित्व को सभी स्वीकार करते हैं। बौद्ध दर्शन स्वलक्षण का ज्ञान प्रत्यक्ष से मानता है। न्याय दर्शन व्यावहारिक पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से एवं अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान अनुमान प्रमाण से मानता है। न्यायदर्शन अनुमान प्रमाण को प्रत्यक्ष से भी बलवत्तर मानता है। कभी–कभी तो न्यायदर्शन यह भी कहता है, कि प्रत्यक्ष "परिकल्पितमपि अर्थम् अनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्क रसिकाः" अर्थात् प्रत्यक्ष दृष्टवस्तु का ज्ञान भी तर्क रसिक विद्वान् अनुमान प्रमाण के द्वारा करते हैं। इसलिये न्यायदर्शन को तर्क प्रधान दर्शन कहा जाता है।

अद्वैत वेदान्त का मत बौद्ध एवं नैयायिक दोनों से भिन्न है। वह बौद्धों के इस मत से सहमत नहीं है, कि परमतत्व का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है।

उसका प्रत्यक्ष प्रमाण, अन्य दर्शनों के प्रत्यक्ष से अत्यन्त भिन्न है। इस प्रमाण के तात्विक विवेचन के रूप में यह कहा जा सकता है कि अद्वैत प्रत्यक्ष प्रमाण के विश्लेषण से मुख्य रूप से निम्नांकित विषयों की सिद्धि करता है–

1. मिथ्यात्व की सिद्धि

2. प्रमाता एवं विषय की ऐक्य सिद्धि
3. अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान
4. ब्रह्मज्ञान

इसके अतिरिक्त भी प्रत्यक्ष के द्वारा अन्य विषयों का बोध होता है।

1.6 तत्त्व विवेचन में अनुमान

चार्वाक के अतिरिक्त प्रायः सभी दार्शनिक अनुमान प्रमाण मानते हैं। चार्वाक अनुमान के आधार व्याप्ति का भी खण्डन करता है। इस व्याप्ति खण्डन की प्रक्रिया का निर्देश प्रमाण निरूपण के अवसर पर किया गया है। चार्वाक अनुमान प्रमाण क्यों नहीं मानता, इसका मूल कारण यह है कि यदि वह अनुमान प्रमाण मान लेगा, तो अनुमान प्रमाण के कारण सिद्धान्त रूप से जिन पदार्थों को मानना पड़ेता है, उन सभी को मानना पड़ेगा। अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि अनुमान प्रमाण के द्वारा होती है, यदि चार्वाक भी अनुमान प्रमाण मान लेगा, तो उसको भी अतीन्द्रिय पदार्थ मानने पड़ेंगे। चार्वाक अतीन्द्रिय पदार्थ को मानने में कोई रूचि नहीं रखते।

बौद्ध दर्शन अनुमान प्रमाण मानते हैं, किन्तु उसका तात्विक विवेचन भिन्न है। बौद्ध अनुमान के द्वारा सामान्य लक्षण का ज्ञान मानते हैं, किन्तु वह भी कल्पित है। अनुमान प्रमाण को न्याय, सांख्य, मीमांसा, आदि दर्शन मानते हैं, किन्तु उनका अनुमान आत्मा, ईश्वर, धर्म, अधर्म, अपूर्व, आदि की सिद्धि तक ही सीमित है।

वेदान्त इस प्रसंग में न तो बौद्धों से सहमत है, और न न्याय आदि से। उसका कथन है कि आत्मा या ईश्वर का ज्ञान अनुमान से नहीं हो सकता। आत्मा या ब्रह्म, निर्गुण है। स्वयं सिद्ध है। उसके विषय में व्याप्ति नहीं बन सकती ह। इसलिये उसका ज्ञान अनुमान से नहीं हो सकता। जगत कारण के रूप में ईश्वर की सिद्धि अनुमान से नहीं अपितु श्रुति से होती है। "जन्माद्यस्ययतः" यह ब्रह्मसूत्र का द्वितीय सूत्र इसका प्रतिपादक है। ईश्वर या ब्रह्म का तटस्थ लक्षण इस सूत्र में बताया गया है। इस तटस्थ लक्षण की सिद्धि भी श्रुति से ही होती है। श्रुति में कहा गया है कि "यतो व इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति" इत्यादि। जिसके द्वारा समस्त प्रपंच की उत्पत्ति स्थिति एवं भंग होता है, वही ब्रह्म है।

इसप्रकार जगत् जन्मादि का कारण ब्रह्म है, यहाँ पर यह शंका हो सकती है, कि सांख्य आदि दर्शन प्रकृति, परमाणु, आदि को जगत् का कारण मानते हैं। वेदान्त ब्रह्म को जगत् का कारण मानता है। इसका क्या आधार हो सकता है? वेदान्त ने इसके उत्तर के रूप में "शास्त्रयोनित्वात्" नामक तीसरे सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत की है। इस सूत्र की दो प्रकार की व्याख्यायें हैं। पहली व्याख्या हैः शास्त्रं योनिः प्रमाणं यस्मिन्, तस्याभावः शास्त्रयोनित्वं तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म ही जगत् का कारण है, और उस ब्रह्म की सिद्धि शास्त्र अर्थात् वेद से होती है। ब्रह्मशास्त्र प्रमाणक है, शास्त्र अर्थात् वेद में जगत् के कारण के रूप में ब्रह्म का निरूपण किया है। इसलिये ब्रह्म जगत् का कारण है।

पहली व्याख्या में 'योनि' शब्द का अर्थ प्रमाण है, तथा दूसरी व्याख्या में 'योनि' शब्द का अर्थ कारण है। इसका अभिप्राय यह है, शास्त्रस्य योनिः, शास्त्र योनिः तस्यभावः शास्त्रयोनित्वं तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्, अर्थात् ब्रह्म विषयक विवेचना में प्रमाण के रूप में शास्त्र का कारण है। शास्त्र ही हमें बताते हैं कि इस जगत का कारण ब्रह्म है।

इसप्रकार ब्रह्म या ईश्वर की सिद्धि अनुमान से नहीं बल्कि श्रुति प्रमाण से होती है।

जहाँ–जहाँ व्याप्ति बनती है, वहाँ–वहाँ अनुमान प्रमाण के द्वारा ज्ञान हो सकता है, किन्तु जहाँ व्याप्ति नहीं बनती उसका ज्ञान अनुमान के द्वारा नहीं हो सकता। निर्गुण ब्रह्म के विषय में किसी प्रकार की व्याप्ति नहीं बनती, इसलिये उसका ज्ञान अनुमान प्रमाण के द्वारा नहीं हो सकता।

यद्यपि अनुमान के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता है, तथापि अनुमान का वेदान्त सिद्धान्त में तात्विक महत्त्व है। उसके मत से अनुमान के द्वारा स्वतंत्र विधि से चाहे ब्रह्म का ज्ञान भले ही न हो फिर भी अनुमान ब्रह्मज्ञान का सहायक अवश्य है। श्रुति सम्मत अनुमान से या श्रुतिसमर्थक अनुमान से ब्रह्म ज्ञान की पुष्टि होती है, अनुमान स्वतंत्र रूप से ब्रह्मज्ञान का कारण नहीं बन सकता। वेदान्त ने न सिर्फ तत्त्व रूप में ब्रह्म की सिद्धि में अनुमान की भूमिका को नकारते हैं बल्कि जगत प्रपंच का कारण सांख्य दर्शन की त्रिगुणात्मिका प्रकृति नहीं, तथा न्याय का परमाणु भी जगत प्रपंच का कारण नहीं, इत्यादि विकल्पों का खण्डन, श्रुतिमूलक अनुमान के आधार पर करने के अन्नतर, वेदान्त ने ब्रह्म को जगत का अभिन्न निमित्तोत्पादन कारण माना है। इसकी सिद्धि श्रुतिमूलक अनुमान से की गयी है। इसके अतिरिक्त श्रुतियों का समन्वय अद्वैत सिद्धान्त में किस प्रकार होता है, और किस प्रकार परस्परविरोधिनी श्रुतियों के तात्पर्य का अवधारण किया जायेगा? इत्यादि प्रसंगों में भी, श्रुतिमूलक अनुमान सहायक होता है। इसप्रकार तत्व की अवधारणा के विषय में यद्यपि अनुमान साक्षात् सहायक नहीं है, फिर भी, परोक्षरूप से उसकी सहायता महत्त्वपूर्ण है। व्यावहारिक क्षेत्र में अनुमान की तत्वावधारण विषयक सहायता वेदान्त को अवश्य मान्य है। इसप्रकार वेदान्त बौद्धिक अनुमान को परमतत्व के विषय में समर्थ न मानते हुए भी, इसका सर्वथा तिरस्कार नहीं करता है। बल्कि उसकी सीमा निर्धारित कर देता है, अन्य दार्शनिक ऐसा नहीं करते। जगत् का मिथ्यात्व, अज्ञान का अस्तित्व, एवं जीव–ब्रह्म का ऐक्य भी, श्रुति समर्थित अनुमान के माध्यम से ही, सिद्ध होता है।

अनुमान का प्रयोगः–

परलोक–सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण माना जाता है और अनुमान अनुमान प्रमाण को न मानने पर परलोक आदि की सिद्धि नहीं होती।

न्याय दर्शन में अनुमान से अतीत वर्तमान भविष्य में होने वाली घटनाओं की सिद्धि की जाती है। सड़क पर पानी देखकर वर्षा, आसमान में बादल देखकर होने वाली बारिश तथा पहाड़ी नदी में पानी का बढ़ना देखकर पर्वत पर हो रही वर्षा का ज्ञान अनुमान से ही सिद्ध होता है।

1.7 तत्त्वविवेचन में उपमान

वेदान्त में तात्विक दृष्टि से उपमान के द्वारा मिथ्यात्व की सिद्धि भी होती है। जिस प्रकार 'इदं रजतम्' सीपी में चांदी है। यह ज्ञान मिथ्या है, उसी प्रकार जगत भी मिथ्या है। उपमान प्रमाण से जगत् में रजत् सादृशं की सिद्धि होती है अतः जैसे इदं में अध्यस्त रजत मिथ्या है, उसी प्रकार ब्रह्म में अध्यस्त में जगत् भी मिथ्या है। ब्रह्मसूत्र ग्रन्थ में जड़त्वात् परिच्छिन्नत्वात् इन हेतुओं से जगत् को मिथ्या सिद्ध किया जाता है, किन्तु इस स्थल पर भी उपमान सहायक होता है, जड़ एवं परिच्छिन्न वस्तु का सादृश्य जगत् में प्रतीति होने से, जगत् भी मिथ्या है यह सिद्ध होता है। इसप्रकार उपमान प्रमाण का भी तात्विक दृष्टि से अद्वैत वेदान्त में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

1.8 तत्त्वविवेचन में शब्द

तत्व विवेचन में शब्द प्रमाण का प्रमुख स्थान है। ब्रह्म का निर्वचन शब्द प्रमाण के आधार पर ही किया जा सकता है। उसी को श्रुति प्रमाण भी कहते हैं। श्रुति एवं अनुभव दोनों ही ऐसे प्रमाण हैं, जिनके माध्यम से ब्रह्म का ज्ञान किया जा सकता है। ब्रह्म; जगत् को उत्पन्न करता है, जगत् का पालन करता है तथा उसका नाश भी करता है। उपनिषद वाक्यों एवं ब्रह्मसूत्र के आधार पर भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। प्रायः सभी उपनिषद वाक्यों के माध्यम से ब्रह्म की ही सिद्धि होती है। अभेद का प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् वाक्यों के रहते हुए, इन वाक्यों का दूसरा अर्थ नहीं किया जा सकता। कुछ दार्शनिक उपनिषद् वाक्यों का "कर्ता एवं देवता रूप" अर्थ करते हैं।

इस विषय में यह प्रश्न उठता है कि श्रुति वाक्यों के माध्यम से जिस ब्रह्म का प्रतिपादन होता है, वह ब्रह्म पहले से सिद्ध है या असिद्ध। यदि ब्रह्म पहले से सिद्ध है, तो उसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण के माध्यम से होना चाहिए। जैसे घट, पट, आदि पदार्थ पहले से सिद्ध हैं, उनका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। यदि ब्रह्म भी पहले से सिद्ध है और उसी का प्रतिपादन उपनिषद वाक्यों से होता है, तो उपनिषद् वाक्य पूर्व–सिद्ध ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं। पूर्व सिद्ध वस्तु का प्रतिपादनकर्ता, उसका मूल प्रतिपादक नहीं होता, अपितु सिद्ध का प्रतिपादन करने से वह अनुवादक होता है। अनुवाद का प्रामाणिक नहीं माना जाता, इसलिए श्रुति वाक्यों के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन मानना उपयुक्त नहीं है।

इस आक्षेप के समाधान के रूप में यह कहा जाता है कि ब्रह्म, सिद्ध वस्तु तो अवश्य है, किन्तु उसका प्रतिपादन श्रुति के अतिरिक्त अन्य से नहीं हो सकता। "तत्त्वमसि" इसप्रकार के अभेद का प्रतिपादन श्रुति के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रमाण से सम्भव नहीं है। इसलिए श्रुति को ही मूलरूप से ब्रह्म का प्रतिपादक माना जाता है।

यहाँ पर पुनः यह प्रश्न उठता है कि किसी भी वस्तु के विषय में दो प्रकार के विकल्प होते हैं– या तो कोई वस्तु किसी गुण के कारण ग्रहण करने योग्य होती है, इसी को उपादेय भी कहते हैं। या किसी विशेष दोष के कारण ग्रहण करने योग्य नहीं होती है; इसी को अनुपादेय या हेय कहते हैं। अर्थात् कोई भी वस्तु या तो हेय होगी या उपादेय होगी। हेय का तात्पर्य जो वस्तु हेय या उपादेय होगी, उसका सम्बन्ध किसी न किसी क्रिया से होगा। ब्रह्म का सम्बन्ध किसी भी क्रिया के साथ नहीं माना जाता। इसलिए ब्रह्म न तो हेय है, न उपादेय। वह हेय एवं उपादेय दोनों ही प्रकार की विशेषताओं से रहित है। इस स्थिति में ब्रह्म का प्रतिपादन करना सार्थक नहीं है। श्री शंकराचार्य जी का कथन है कि ब्रह्म हेय एवं उपदेय से रहित है, किन्तु उसी के प्रतिपादन से सभी प्रकार के क्लेशों का नाश होता है। उसी के माध्यम से एवं उसी के ज्ञान से दुःखो की निवृत्ति होती है, अतः उसका प्रतिपादन करना सार्थक है और चूँकि उसका प्रतिपादन शब्द के माध्यम से ही हो सकता है, इसलिए शब्द–प्रमाण अतीव उपयोगी है।

1.9 तत्त्वविवेचन में अनुपलब्धि

अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त में जिनते भी प्रमाण माने गये हैं, उन सभी प्रमाणों का मुख्य लक्ष्य अद्वैत तत्व की प्रतिष्ठा एवं जगत् को मिथ्या सिद्ध करना है। प्रत्यक्ष प्रमाण ने प्रत्यक्ष रूप से, अनुमान प्रमाण ने व्याप्ति के माध्यम से, उपमान प्रमाण ने सादृश्य के

द्वारा, अर्थापत्ति प्रमाण ने अन्यथानुपपत्ति के द्वारा जगत् को मिथ्या सिद्ध किया है। किन्तु अनुपलब्धि प्रमाण ने ब्रह्म में जगत् का अभाव सिद्ध किया है। प्रपंच के अभाव के द्वारा या प्रपंच को मिथ्या सिद्ध करने के माध्यम से अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा करना ही सभी प्रमाणों का मुख्य उद्देश्य रहा है। अन्य प्रमाणों ने जगत् को मिथ्या सिद्ध करके अद्वैत की सिद्धि की है और अनुपलब्धि प्रमाण ने ब्रह्म में जगत् का अभाव सिद्ध करके ही अद्वैत तत्त्व की सिद्धि की है।

वेदान्त दर्शन में प्रपंच का अभाव सिद्ध करने के लिये कई युक्तियाँ दी गयी हैं। किसी पदार्थ का अपने अधिकरण में जो तीनों कालों में अभाव रहता है, वह अभाव इसका द्योतक है कि वह वस्तु मिथ्या है या असत्य। जैसे वायु में रूप नहीं है, इसलिये रूप की प्रतीति वायु में नहीं हो सकती। भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् काल में कभी भी वायु में रूप की प्रतीति नहीं होगी, अतः वायु में रूप का अत्यन्त अभाव माना जाता है और उसी वायु अधिकरण में यदि रूप की प्रतीति हो तो उसे मिथ्या माना जा सकता है। उसी प्रकार ब्रह्म में भी जगत् का तीनों काल में अभाव है। जगत् की सत्ता पूर्वकाल में भी सत्य नहीं थी, वर्तमान में भी रज्जु–सर्प के समान सत्य नहीं है और बाद में भी सत्य नहीं रहेगी। रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है और इसका बोध भी होता है। प्रामाणिक प्रत्यक्ष से विचार करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि यह रज्जु पूर्वकाल में भी सर्प नहीं थी और न भविष्य में अर्थात् बाध प्रतीति के अन्नतर भी सर्प रहेगी। अतः मध्यवर्ती समय में जो भी इसको सर्प माना जा रहा है वह भ्रमात्मक है, मिथ्या है। इसप्रकार वेदान्त, अनुपलब्धि प्रमाण के माध्यम से जगत् का अभाव सिद्ध करता है।

वेदान्त ने उसने जगत् की अभाव–सिद्धि के लिए अन्य तर्क भी दिये हैं।। जैसे घट में पट का अभाव है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् का अभाव है। इस अभाव की कई प्रक्रियाएँ हैं। एक तो यह है कि अभाव का अधिकरण उत्पन्न होता है और तात्त्विक दृष्टि से वह अधिकरण भी असत्य है। इसप्रकार की परस्पर एक–दूसरे के अधिकरण में, एक–दूसरे के अस्तित्व के अभाव की प्रतीति केवल लोक व्यवहार के लिए कल्पित जागतिक पदार्थों में ही होती है। जैसे– यह घट, पट नहीं है अर्थात् जिस प्रकार घट में पट के अभाव की या पट के भेद की प्रतीति होती है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् के अभाव की प्रतीति होती है। किन्तु घट, पट के परस्पर अन्योन्य अभाव की अपेक्षा, ब्रह्म में जगत् का अभाव भिन्न प्रकार का है। घट और पट दोनों एक जैसे हैं, व्यावहारिक रूप से दोनों का अस्तित्व है, किन्तु ब्रह्म और जगत् में ब्रह्म परमार्थ सत् एवं जगत् मिथ्या है, व्यावहारिक सत्ता है इसलिए दोनों समान कोटि के नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त एक ऐसा भी परस्पर अभाव होता है, जिसके अधिकरण की उत्पत्ति नहीं होती। इसप्रकार के अभाव को अनादि अभाव मानते हैं। जैसे– जीव, उपाधि के कारण ब्रह्म से भिन्न है। उसका अधिकरण ब्रह्म है, वह नित्य है। जीव, उपाधि के कारण ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होता है। यह प्रतीति अनादिकाल से चली आ रही है, क्योंकि इस प्रतीति का कारण अविद्या भी अनादि है, अतः प्रतीति भी अनादि है। वेदान्त इस भेदात्मक, प्रतीति को आनादि तो मानता है, किन्तु इस प्रतीति का भी विनाश होता है। वह यह भी स्वीकार करता है कि अज्ञान का नाश हो जाने के पश्चात् सभी प्रकार की भेद प्रतीतियाँ समाप्त हो जाती हैं; इसलिए भेद की कल्पना का मूल कारण अज्ञान ही है। ज्ञानी को जब यह प्रतीति होती है कि "नेह नानास्ति किञ्चन, अहं ब्रह्मास्मि" तो उसकी दृष्टि में कोई भी भेद नहीं रहता। भेद उपाधियों की निवृत्ति के पश्चात् भेदों की भी निवृत्ति हो जाती है। जैसे– एक ही आकाश को घटाकाश, मठाकाश आदि के रूप में जाना जाता है, किन्तु घट एवं मठ उपाधियों को

हटाने के बाद शुद्ध आकाश रह जाता है। उसी प्रकार एक ही ब्रह्म को जीव, जीवसाक्षी आदि कई रूपों में जाना जाता है, किन्तु उपाधियों के हटने पर शुद्ध ब्रह्म ही रह जाता है। इन उपाधियों के अभाव को ही अनुपलब्धि प्रमाण सिद्ध करता है तथा इसी रूप से प्रपञ्च के अभाव की सिद्धि एवं अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा करता है। तत्त्व विवेचन में अनुपलब्धि प्रमाण का एक योगदान यह भी है कि किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान चाहे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भले ही मान लिया जाय, किन्तु ज्ञान के अभााव का ज्ञान बिना अनुपलब्धि प्रमाण के नहीं हो सकता। जिस स्थल पर अन्य प्रमाणों का अभाव रहता है, वहाँ प्रमाणों का अभाव भी अन्य प्रमाण से नहीं जाना जा सकता, उसका ज्ञान भी अनुपलब्धि प्रमाण से ही होगा। नैयायिक को भी ज्ञानाभाव के ज्ञान एवं प्रमाणाभाव के ज्ञान के लिए बलात् इसी प्रमाण की शरण में आना पड़ेगा।

अनुपलब्धि के तात्त्विक विवेचन में यह बात भी महत्त्वपूर्ण है, कि "घटः पटो न" इस अन्योन्याभाव की प्रतीति में, घट पट में अनयोन्याभाव घट पट के परस्पर भिन्नत्व के कारण नहीं अपितु मिथ्यात्व के कारण है। घट एवं पट दोनों समान स्तर के हैं, दोनों वस्तु हैं; किन्तु जगत् मिथ्या है, मिथ्या एवं ब्रह्म में परस्पर भिन्नत्व भी नहीं है।

न्यायदर्शन अभाव को पदार्थ मानता है, इसलिये उसके मत से अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है, किन्तु वेदान्त अभाव को अधिकरण रूप मानता है, इसलिए उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं मानता, इस विषय में एक प्रश्न उठता है कि अविद्या की निवृत्ति के अन्नतर अविद्या का अभाव रहेगा, इससे द्वैत की सिद्धि हो जायगी। क्योंकि ब्रह्म एवं अविद्या का अभाव ये दो पदार्थ रह जायेगें। वेदान्त का एक विशेषसम्प्रदाय मिथ्यात्व का भी मिथ्यात्व मानता है। यहाँ पर सिद्ध होगा। जैसे– घटाभाव। इस घटाभाव का भी अभाव घट रूप होगा। उसी प्रकार मिथ्यात्व का मिथ्यात्व भी जगत् सत्य रूप होगा, द्वैतापत्ति यथावत् बनी रह जायेगी। इस पर वेदान्त कहता है कि दोनों मिथ्या पदार्थ एक कोटि के नहीं हैं, मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए तो विधि का निषेध किया जाता है, क्योंकि जगत् की विधि है, किन्तु मिथ्यात्व कोई विधि नहीं है वह तो निषेध है। निषेध का निषेध करना अलग बात है, और विधि का निषेध करना अलग बात है, इसलिए दोनों निषेध समान कोटि के नहीं हें, अतः भिन्न हैं, इसलिए दोनों निषेध समान कोटि के नहीं हैं, अतः भिन्न है, इसलिए मिथ्यात्व के मिथ्यात्व से द्वैतापत्ति नहीं होगी, अपितु अद्वैत की ही सिद्धि होगी।

अद्वैत वेदान्त इन युक्तियों से अद्वैत की प्रतीष्ठा करता है। इन तथ्यों की सिद्ध में अनुपलब्धि प्रमाण का महत्त्वपूर्ण योगदान है, इसलिए तत्त्व विवेचन में इस प्रमाण की भी भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

1.10 प्रमाणफल का प्रतिपादन

प्रमाण का साक्षात् फल का अनुभव अज्ञान का नाश है। सर्वज्ञ के ज्ञान का फल केवल (परम आह्लाद) सुख और उपेक्षा (मध्यस्थ वृत्तिता) है, शेष जो साधाराण लोग हैं उनके प्रमाण का फल आदेय–ग्रहण करने योग्य का ग्रहण और हेय छोड़ने योग्य का छोड़ना है।

प्रमाणस्य फलं साक्षादसान निवर्त्तनम्।
केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादान हानधीः।।

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के प्रसिद्ध ग्रन्थ में प्रमाण के फल पर विचार करते हुए लिखा है कि प्रमाण से द्विविध फल की सिद्धि होती है– (1) साधक के अपने स्वार्थ (तत्त्वज्ञान या सम्बोधि की सिद्धि और (2) पर–कल्याण की सिद्धि होती है। प्रमाण के रूप में भगवान् अपने तायित्व (तारकत्त्व) शक्ति के द्वारा दुःखी जनों का उद्धार होता है। ऐसे ही महापुरुषों के लिये कहा जाता है– "स्वयं तीर्णाः परॉश्च तारयन्ति"।

1.11 सारांश

प्रमाणसिद्धान्त तथा तत्त्वसिद्धान्त के मध्य गहरे अन्तःसम्बन्धो के बारें में एक प्रसिद्ध उक्ति हैं कि **'मानाधिनं मेयसिद्धिः'** अर्थात् तत्त्वसि़द्धान्त प्रमाणसिद्धान्त के अधीन है। जिस प्रकार की प्रमाणसिद्धान्त होगा, वैसा ही तत्त्वसिद्धान्त हमें प्राप्त होगा। उदाहरण के लिये चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही वैध प्रमाण मानता है। अतः चार्वाक के अनुसार इस जगत् मे वे ही तत्त्व तत्त्व कहलाने योग्य है, जिनकी सिद्धि प्रत्यक्ष द्वारा होती है। अपने इस प्रमाण सिद्धान्तीय प्रतिबद्धता के कारण ही चार्वाक दर्शन में सृष्टि निर्माण में चार मूल तत्त्व (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि) माने हैं तथा प्रत्यक्ष और अनुमान पर आधारित होने के कारण बौद्धदर्शन किसी ग्रन्थ को ईश्वरकृत नही मानता तथा सृष्टि विज्ञान में क्षणिकवाद की स्थापना करता है। इसी प्रकार से अपरोक्क्षानुभूति को परमप्रमाण मानते हुए वेदान्त दर्शन ने सृष्टि का मूल तत्त्व ब्रह्मा को माना है तथा ब्रह्मा और सृष्टि के मध्य सम्बन्ध की व्याख्या में प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि प्रमाणों को प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया है।

1.12 पारिभाषिक शब्दावली

तत्त्वालोक : काश्मीर के प्रसिद्ध शैव दार्शनिक अभिनवगुप्त द्वारा लिखित दार्शनिक ग्रन्थ है।

अपरोक्षानुभूति : गहन प्रत्यक्ष का एक प्रकार जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय के मध्य का भेद समाप्त हो जाता है। अपरोक्षानुभूति कहा जाता है। यह अनुभूति समाधि तथा गहन ध्यान के स्थिति में उपलब्ध होती है। आचार्य शंकर ने अपरोक्षानुभूति को ही पारमार्थिक ज्ञान का साधन माना है। उनके शब्दों में प्रत्यक्षानुभूति वह अनुभूति है, जहाँ प्रमाण–प्रमेय–व्यवहार का ऐक्य हो जाता है।

क्षणिकवाद : बौद्धदर्शन का प्रमुख तात्त्विक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार इस जगत् के भौतिक और मानसिक सभी प्रकार के पदार्थ क्षणिक है। कोई पदार्थ नित्य नही है, क्षणिकवाद कहलाता है।

धर्मकीर्ति : ये सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध बौद्ध तर्कशास्त्री है। इन्होंने प्रमाण वार्तिक जैसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्था लिखा। यह ग्रन्थ भारत, तिब्बत, चीन इत्यादि देशों में आदर के साथ देखा जाता है।

मिथ्यात्व : यह एक पारिभाषिक दार्शनिक शब्द है, जिसका सामान्य अर्थ किसी वस्तु के असत्यता और अनित्यता के रूप में ग्रहण किया जाता है। इस शब्द का बहुधा प्रयोग वेदान्त और बौद्धदर्शन में किया गया है।

अनयोन्याभाव : यह अभाव प्रमाण का एक प्रकार है। जब एक पृथक् वस्तु का दूसरे पृथक् वस्तु में अभाव अनयोन्याभाव कहलाता है। जैसे– जल में आग और आग में जल का अभाव अनयोन्याभाव है।

अन्यथानुपपत्ति : यह एक पारिभाषिक शब्द है। जब किसी कार्य की व्याख्या में बताये गये कारण से उस कार्य की व्याख्या नही होती, बल्कि अन्यथा कारण से उसकी सिद्धि होती हो, तो अन्यथानुपपत्ति कहलाती है।

जड़त्वात् परिच्छिन्नत्वात् : इस सिद्धान्त का अर्थ होता है कि प्रत्येक जड़ पदार्थ की एक सीमा होती है।

अतीन्द्रिय : वह ज्ञान या वह वस्तु जो इन्द्रीयों द्वारा नहीं जाना जा सकता या प्राप्त किया जा सकता, अतीन्द्रिय कहलाता है। ईश्वर, आत्मा, अकारणता इत्यादि शब्द अतीन्द्रिय कहलाते हैं।

1.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली।
2. शुक्रनीतिसार
3. Problems of Interpretation and Translation of Philosophical and Religious Texts, N.S.S. Raman, Indian Institute of Advanced Study Rashtrapati Nivas, Shimla
4. कौटिल्य अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

1.14 बोध प्रश्न

1. ईश्वर, आत्मा विषयक विचार आस्था के विषय मात्र नहीं है, किन्तु प्रमाणित विचार हैं, इस कथन की व्याख्या कीजिये।
2. बौद्ध दर्शन अपनी प्रमाणमीमांसीय प्रतिबद्धता के कारण आत्मा के अस्तित्व को नही स्वीकारता। इस कथन की व्याख्या कीजिये।
3. हिन्दूधर्म दर्शन में एक सशक्त प्रमाण सिद्धान्त है। इस कथन की विवेचना कीजिये।
4. प्रमाण सिद्धान्त और तत्त्व सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक है, इस कथन की समीक्षा कीजिये।
5. भारतीय दर्शन में विभिन्न प्रमाण सिद्धान्त के कारण विभिन्न तत्त्व सिद्धान्त का उद्भव हुआ है, इसकी विवेचना कीजिये।

इकाई 2 आयुर्वेद में प्रमाणों का अनुप्रयोग

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय प्रमाणशास्त्र की व्यावहारिक उपयोगिता को उदाहरण सहित समझ सकेंगे।
- यह भी जान सकेंगे कि आयुर्वेद एक चिकित्सा प्रणाली के रूप में भारतीय विद्या का प्रमुख उदाहरण है।
- इसे भी जान सकेंगे कि आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली किस प्रकार से प्रमाणसिद्धान्त के उपयोग द्वारा समृद्ध हुई है।
- साथ ही यह भी जान सकेंगे कि कोई भी दार्शनिक तत्त्व सिद्धान्त सुदृढ़ प्रमाण सिद्धान्त के उपयोग द्वारा वैज्ञानिक ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकता है?

2.1 प्रस्तावना

ज्ञान के स्वरूप, साधन और उसके प्रमुख अवयवों को जानने के बाद अब आप प्रमाणों के अनुप्रयोग तथा उस अनुप्रयोग से प्राप्त लाभों के बारे में पढ़ने जा रहे हैं। आयुर्वेद जिसे भारतीय चिकित्सा विज्ञान कहा जाता है, यह भारतीय दर्शन विशेषकर सांख्ययोग तथा न्यायवैशेषिक दर्शन पर अवलम्बित है। परिकल्पनात्मक दर्शन पर अवलम्बित होने मात्र से यह निष्कर्ष नही निकाल लेना चाहिए कि आयुर्वेद मात्र ज्ञान है परिकल्पना। आयुर्वेद ज्ञान का आरम्भ ग्रन्थपरम्परा तथा गुरूपरम्परा से भले आगे बढ़ती है, किन्तु इस विद्या के ज्ञान में विस्तार और उस ज्ञान की उपयोगिता प्रमाणसिद्धान्त से पुष्ट होती रही है। इस बात को ध्यान में रखकर इस ईकाई में हम यह पढ़ेंगे कि किस प्रकार और किन किन स्थितियों में आयुर्वेद ने प्रमाणसिद्धान्त का उपयोग किया है।

2.2 आयुर्वेद

चरकसूत्र में लिखा गया है–

हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधेयं पितामहः।।

आयुर्वेद वेद रूप में सर्वप्रथम ब्रह्मा जी को प्राप्त हुआ था। यह शास्त्र स्वस्थ एवं रोगियों के लिये उत्तम मार्ग बतलाने वाला है तथा निदान, लक्षण और औषधि का नित्यपुण्य देने वाला है। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थ चरकसंहिता एवं सुश्रुतसंहिता है। मध्यकाल में वागभट्ट ने अष्टांगहृदय नामक ग्रन्थ भी लिखा। इन ग्रन्थों के अवलोकन से इस बात यह सहज ही अन्दाजा लगाया जा सकता है कि भारतीय चिकित्साविज्ञान उच्च कोटि पर था। आजकल ऐलोपैथी चिकित्सा काफी उन्नति पर है किन्तु इस चिकित्सा का आधार मनुष्य का केवल प्रत्यक्ष शरीर है जबकि आयुर्वेद में प्रत्यक्ष शरीर के साथ–साथ तात्त्विक शरीर अर्थात् शरीर की दार्शनिक अवधारणा को मानते हुए निदान किया जाता है। सुश्रुत ने कहा है कि इस प्रत्यक्ष शरीर में व्याप्त परमसूक्ष्म जीवात्मा शरीर को आंखों से नही देखा जा सकता। उसके लिये हमें ज्ञान और तप की आंखों की जरूरत पड़ती है। यहां प्रत्यक्ष शरीर (Anatomy) का अर्थ है, शवविच्छेदन (Post-mortem) से प्राप्त शरीर के अंगप्रत्यंग का ज्ञान तथा तात्त्विक शरीर का अर्थ है ज्ञान एवं तप से प्राप्त शरीरव्याप्त परमसूक्ष्म जीवात्मा का ज्ञान इन दोनों ज्ञानों का प्राप्त करना ही सम्पूर्ण शरीर का ज्ञान है। ऐसा ज्ञान ही इहलोक तथा परलोक दोनों में कल्याणकारी एवं मंगलकारी होता है। आयुर्वेद चिकित्साशास्त्र के साथ साथ एक सम्पूर्ण विज्ञान है क्योंकि इसमें शरीर के साथ ही साथ मन तथा आत्मा का भी अध्ययन एवं उपचार किया जाता है।

2.2.1 आयुर्वेद की परिभाषा

एक चिकित्सापद्धति के रूप में आयुर्वेद की परिभाषा महर्षि चरक ने इस प्रकार से दी है–

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।।

जिस शास्त्र में 1. हित 2. अहित 3. सुख और 4. दुःख– इन चार प्रकार की आयु का वर्णन किया गया हो, आयु के लिये किस तरह का आहार या आचार हितकर या

अहितकर है, इसका वर्णन किया गया हो, आयु का मान बतलाया गया हो (अर्थात् किस प्रकृति का, किन लक्षणों वाला, किस तरह के रोग वाला तथा किस तरह की बुद्धि– मन–चेष्टा वाला, किस तरह के आचार–विचार वाला व्यक्ति अल्पायु या दीर्घायु होता है, इसका विचार किया हो और आयु किसे कहते है? उसका स्वरूप क्या है? इन सभी विषयों का युक्तियुक्त प्रकार से सुन्दर वर्णन किया गया हो, उसे 'आयुर्वेद' कहते हैं।

इस प्रकार आयुर्वेद आयु का ज्ञान कराने वाला वेद है। यह इसी लोक में प्रत्यक्ष फल देने वाला है क्योंकि यह रोगी को रोग से मुक्त करता है तथा इस पूर्ण कार्य को सम्पन्न करने में सहायक होने के कारण पारलौकिक फल प्रदान करता है। आयुर्वेद के 1. वैद्य 2. औषध द्रव्य 3. परिचारक और 4. रोगी– ये चार पाद है, जिसपर आयुर्वेद का समग्र ज्ञान संस्थान खड़ा है। वैद्य और वैद्य का ज्ञान शब्दप्रमाण के रूप में मान्य है तथा औसत द्रव्य, परिचारकक्रिया और रोगी के रोग की खोज में प्रत्यक्ष अनुमान अर्थापत्ति अनुपलब्धि इत्यादि प्रमाणों का उपयोग किया जाता है। जिस प्रकार से तत्त्वज्ञान में शब्दप्रमाण प्रमुख है, उसी प्रकार चिकित्सा में वैद्य की सर्वश्रेष्ठता मानी गयी है। चरकसूत्र के अनुसार वैद्य की परिभाषा इस प्रकार दी गयी हैं–

> कारणं षोडशगुणं सिद्धौ पादचतुष्टयम।
> विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधानं भिषगत्र तु।।

सोलह गुणों से युक्त (चिकिस्सा के) चतुषाद सफलता में कारण है। इन चारों (औषध तथा रोग) को जानने वाला, (परिचारक का) शासन करने वाला और (रोगों के लिये औषधपथ्य आदि की) योजना करने वाला केवल वैद्य होता है। इसलिये वैद्य ही प्रधान माना गया है।

2.2.2 आयुर्वेद का प्रयोजन

किसी प्राणी के स्वास्थ्य की रक्षा हेतु आहार विहार, पथ्यापथ्य, ऋतुचर्या, दिनचर्या, रात्रिचर्या आदि का विधान 'युक्ति' पर ही आधारित है, जिसके पालन करने से स्वस्थ व्यक्ति के दोष सम, अग्नि सम, मलक्रिया सम, आत्मा प्रसन्न, इन्द्रियाँ प्रसन्न तथा मन प्रसन्न रहता है।

> 'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
> प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते'।। –सु0 सू0 15/44

समय के कारण शारीरिक रोग उत्पन्न न होने पाये इसके लिए ऋतुओं में होनेवाले दोषों के संचय, प्रकोप और प्रशम के अनुसार 'युक्तिपूर्वक' दोषजन्य विकारों मे बचने का उपदेश आयुर्वेद में किया गया है। यथा–

> ''हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमनकाले।
> धनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगान् ऋतुजान्न जातु।।
> –च0 शा0 2/45

अर्थात् हेमन्त ऋतु में संचित दोष (कफ) को वसन्त ऋतु (चौत्र) में, ग्रीष्म में संचित दोष (बात) को अभ्रकाल (वर्षा श्रावण) में, वर्षा ऋतु संचित दोष (पित्त) को शरद् (मार्गशीर्ष) में निकालने पर पुरुष को ऋतुकालजन्य रोग समूह नहीं होते।

उसी प्रकार मानस रोगों से बचने के लिए रज और तम के दुर्गुणों से बचने का

उपदेश भी आयुर्वेद में 'युक्ति' के आधार पर ही किया गया है। यथा—

'नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः।।

मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धं सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः।।

अर्थात् हितकारी आहार—विहार का सेवन करने वाला, विचारपूर्वक काम करने वाला, काम—क्रोधादि विषयों में आसक्त न रहने वाला, दान देने वाला, सम अर्थात् सभी प्राणियों पर सम (तुल्य) दृष्टि रखने वाला, सत्य बोलने में तत्पर रहने वाला, सहनशील और आप्तपुरुषों की सेवा करने वाला मनुष्य अरोग (रोग रहित) रहता है।

रोगी के रोग को दूर करना अर्थात् चिकित्सा में भी श्युक्तिश को सर्वप्रथम स्थान आयुर्वेद में दिया गया है। चतुष्पाद (भिषग्, द्रव्य, परिचारक और रोगी) भी जब 'युक्तियुक्त' होता है, तभी वह रोग को दूर करने में सफल हो पाता है। वैद्य किस प्रकार का होना चाहिए? इस सम्बन्ध में आयुर्वेद में कहा गया है—

'स्मृतिमान् हेतुयुक्तिक्षो जितात्मा प्रतिपत्तिमान्।
भिषगौषधसंयोगैश्चिकित्सां कर्तुमर्हति।। —च0 सू0 2/36

'मात्राकालाश्रया युक्तिः सिद्धियुक्तो प्रतिष्ठिता।
तिष्ठत्युपरि युक्तिशो द्रव्यज्ञानवतां सदा।। —च0 सु0 2/16
'युक्तियुक्ता चतुष्पावसम्पद् व्याधिनिबर्हणी' — च0 सू0 11/24

अर्थात् वैद्य को स्मरणशक्ति सम्पन्न, रोगों के कारणों का ज्ञाता, युक्ति (औषध प्रयोग की युक्ति का ज्ञाता), जितेन्द्रिय और प्रपत्तिमान (समय के अनुसार शीघ्र निर्णय करने वाला) होना चाहिए, तभी वह रोगानुसार औषधियों का योग बनाकर सफलतापूर्वक चिकित्सा कर सकता है। किसी भी औषधि की युक्ति (योजना) उसकी मात्रा और काल पर निर्भर करती है तथा युक्ति में सिद्धि (सफलता) प्रतिष्ठित (स्थित) है। द्रव्य का ज्ञान रखने वाले वैद्य से युक्ति को जानने वाला वैद्य सर्वदा श्रेष्ठ रहता है।

'प्राणाभिसर' वैद्य (जो जाते हुए प्राण को लौटा दे) के लक्षण में भी कहा गया है कि चिकित्सक को युक्त होना चाहिए; यथा—

'तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्त कर्मदर्शने।
द्य भिषक् चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते।।

बिना 0हापोह एवं तर्क—वितर्क के न तो रोगी के शारीरिक रोग का निदान किया जा सकता है, और न ही मानसिक रोगों का निदान सम्भव है। इसलिए 'युक्तिपूर्वक' ज्ञानबुद्धि के प्रदीप से रोगी की अन्तरात्मा की पहचान करने पर ही चिकित्सा सफल होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पग—पग पर आयुर्वेद में युक्तिप्रमाण का वैशिष्ट्य है। जो दार्शनिक सिद्धान्त साङ्ख्य, वेदान्त, न्यायवैशेषिक ने स्थापित किये थे, उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर मनुष्य के जीवन को किस प्रकार से पूर्ण किया जाय। उनको दुःखों से मुक्त किया जाय। इस आकांक्षा से हमारे ऋषियों ने आयुर्वेद ज्ञान के प्रयोग में युक्ति के उपयोग पर बल दिया है। प्रमुख प्रमाणों के अनुप्रयोग के पूर्व युक्तिप्रमाण के अर्थ को जान लेना आवश्यक है।

2.3 युक्तिप्रमाण

युक्ति शब्द 'युज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से बनता है। युक्ति के शाब्दिक अर्थ– ठीक तर्क, उपाय, तरकीब, ढंग, चातुरी, उचित विचार, दलील, किसी समस्या के समाधान आदि हैं।

2.3.1 युक्तिप्रमाण का लक्षण

'बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्।
द्य युक्तिस्त्रिकाला सा शेया त्रिवर्गः साध्यते यया'।।

अनेक कारणों के योग से उत्पन्न अविज्ञात भावों को विज्ञात भावों के कार्य–कारण भाव के अनुसार तथ्य को देखने वाली बुद्धि को युक्ति कहते हैं। युक्ति एक 0ह है, जिसके द्वारा कारण की उपस्थिति में हम कल्पना करते हैं कि ऐसा होना चाहिए। यह युक्ति त्रैकालिक होती है, अर्थात् इससे तीनों कालों का ज्ञान होता है और धर्म, अर्थ, काम इन तीन वर्गों की सिद्धि होती है।

'विज्ञातेऽय कारणोपपत्तिदर्शनादविज्ञाऽपि तदवधारणं युक्तिः'।

विज्ञात अर्थ में कारण और उपपत्ति को देखकर अविज्ञात अर्थ में भी उसका अवधारण युक्ति कहलाता है।

'बहूपपत्तियोगज्ञायमानानर्थान् या बुद्धिः पश्यति, 0हलक्षणा सा युक्तिरिति प्रमाणसहायीभूता'। –चक्रपाणि

अनेक उपपत्तियों के योग से जानने योग्य अर्थों को जो बुद्धि देखती है, वह युक्ति कहलाती है।

'या कल्पना यौगिकी स्यात् सा तु युक्तिरुच्यते, अद्यौगिकी तु कल्पनापि सती युक्तिर्नोच्यते'। –चक्रपाणि

जो कल्पना योगिक होती है, वही युक्ति कहलाती है। जो कल्पना अयौगिक है, वह कल्पना होते हुए भी युक्ति नहीं है।

2.3.2 युक्तिप्रमाण का उदाहरण

'जलकर्षण बीजसंयोगात् सस्यसम्भवः।
युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणां सम्भवस्तथा।।

मध्यमन्यनमन्यानसंयोगादग्निसम्भवः।
युक्तियुक्ता चतुष्पाद सम्पदुख्याधिनिर्वाहणी'।।

जिस प्रकार जल, जोती हुई भूमि, बीज और ऋतु के संयोग से सस्य (जौ, गेहूँ आदि धान्य) की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार छः धातुओं (पञ्चमहाभूत और आत्मा) के संयोग से गर्भ की उत्पत्ति होती हैय यह युक्तिप्रमाण है । (यहाँ पर पहला पक्ष ज्ञात है, उसे साक्षात् देखते हैं जब कि दूसरा पक्ष अज्ञात है और उसका प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं। यहाँ पर जो ज्ञात एवं प्रत्यक्ष है उसके आधार पर जो अविज्ञात एवं अप्रत्यक्ष है, उसे सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।)

और मथ्य (मथने के योग्य नीचे रखी गयी लकड़ी), मन्यन (मथने की क्रिया) तथा

मन्थान (मथने के लिए प्रयोग में लायी जाने वाली लकड़ी) इन तीनों के संयोग से जिस प्रकार अग्नि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार चतुष्पाद सम्पत्ति (चिकित्सा के चार पाद युक्तियुक्तभिष, द्रव्य, उपस्थाता और रोगी) व्याधि का नाश करती है। (यहाँ पर भी ज्ञात के आधार पर भज्ञात को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।)

उपरोक्त विवरण के आधार पर हम युक्ति के निम्न दो प्रमुख लक्षण मान सकते हैं–

1. अनेक कारणों के संयोग से कार्य की उत्पत्ति।
2. ज्ञात के आधार पर अज्ञात की जानकारी।

युक्ति को स्वतन्त्र प्रमाण माना जाय या नहीं?

यद्यपि महर्षि वरक ने युक्ति को चौथा प्रमाण मानते हुए सूत्रस्थान के 11वें अध्याय में इसका पृथक् वर्णन किया है, लेकिन विमानस्थान के चौथे अध्याय में यह कहकर कि श्अनुमानं खलु तर्कों युक्त्यपेक्षःश इसका समावेश अनुमान के अन्तर्गत ही कर लिया है। वैशेषिक तथा बौद्ध आदि दर्शन भी युक्ति को स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते।

कुछ विद्वान् जो कि युक्ति को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं, इसके समर्थन में निम्न युक्तियाँ देते हैं –

1. महर्षि चरक ने सूत्रस्थान के ग्यारहवें अध्याय में सत्–असत् परीक्षण के लिए स्वतन्त्र रूप से युक्ति का निर्देश किया है।
2. चरकसंहिता में परादि गुणों में युक्ति बतलायी गयी है।
3. महर्षि चरक ने जहाँ युक्ति की आवश्यकता नहीं समझी, वहाँ उसे अनुमान के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया है। वैसे चरक ने इसे प्रमाण ही माना है।

2.3.3 युक्तिप्रमाण का वैशिष्ट्य

आयुर्वेद के दोनों ही प्रयोजनय यथा स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा रोगी के रोग को दूर करना इनकी सफलता युक्ति पर ही आधारित होने के कारण आयुर्वेद में युक्ति का बार–बार निर्देश किया गया है। युक्ति में सम्मिलित विभिन्न ज्ञानमीमांसीय पक्षों के आधार पर आयुर्वेद का ज्ञान विस्तृत होता है। अतः अब हमलोग युक्ति द्वारा विकसित प्रमाणों का आयुर्वेद में उपयोग की चर्चा करेंगे।

2.4 आयुर्वेद में प्रमाण का उपयोग

चरक तथा सुश्रुत दोनों का ही दावा है कि आयुर्वेद में जो कुछ भी कहा गया है वह सभी प्रमाणों की कसौटी पर खरा या सत्य उतरने के बाद हो कहा गया है। इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो इनके विरुद्ध हो। पाञ्चभौतिक जगत् के सद् एवं पदार्थों की परीक्षा प्रमाण के आधार पर ही की जाती है। अध्यात्म तथा अधिभूत वस्तुतत्व को जानने–समझने का साधन प्रमाण हो है। अध्यात्म अर्थात् जीवात्मा है, इसको ही बारम्बार कर्मानुसार शरीर ग्रहण कर जन्मना तथा मरना पड़ता है, वास्तव में जीवात्मा तो जनम तथा मरण से परे हैं, जनम तथा मरण तो शरीर का होता है न कि का इस जीवात्मा को जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक इसे बार–बार जनम लेना पड़ता है, अतएव पुनर्जन्म होता है। आयुर्वेद में पुनर्जन्म की सिद्धि चरकसंहिता–सूत्रस्थान के ग्यारहवें अध्याय में चतुविध प्रमाणों द्वारा ही की गयी है।

आयुर्वेद में रोग–ज्ञान के लिए आचार्य चरक ने 'प्रमाण' के लिए परीक्षा शब्द का प्रयोग

किया है। आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा रोगों की भलीभांति परीक्षा कर रोग–निदान कर चिकित्सा करने का निर्देश दिया है। इसी प्रकार औषध द्रब्यों के गुण–कर्मों एवं उसके पहचान के लिए प्रमाण का प्रचुर उपयोग आयुर्वेद में किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चरक तथा सुश्रुत का यह दावा कि आयुर्वेद में जो कुछ भी कहा गया है, वह सभी प्रमाणों की कसौटी पर खरा या सत्य उतरने के बाद ही कहा गया है – आयुर्वेद की सत्यता को तथा प्रमाण की महत्ता को स्पष्ट करते हुए– सत्य एवं यथार्थ है।

2.4.1 आयुर्वेदशास्त्र में प्रमाण के सन्दर्भ में परीक्षा शब्द का व्यवहार

आयुर्वेद में प्रमाणों के विवेचन के प्रसंग में महर्षि चरक ने परीक्षा शब्द का प्रयोग किया है। यथा–

'द्विविधमेव खलु सर्व सच्चासच्च; तस्य चतुर्विधा परीक्षा– आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानं युक्तिश्चेति।' अर्थात् इस इस पाञ्चभौतिक जगत् में सभी वस्तुएँ दो प्रकार की होती है– 1. सत् और 2. असत्। इन दोनों की परीक्षा चार प्रकार से की जाती 1. (Authoritative) 2. प्रत्यक्ष (Direct observation), 3. अनुमान (Inference) और 4. युक्ति (Reason or experiment)।

चरक ने प्रमाणों के विवेचन में परीक्षा शब्द का प्रयोग किया है, प्रमाण का नहीं। इसका मुख्य कारण है चरक का व्यावहारिक एवं प्रायोगिक चिकित्साशास्त्रीय दृष्टिकोण आयुर्वेद में इन प्रमाणों का उपयोग साधनों के रूप में किया गया है, दर्शनों की तरह साध्य के रूप में नहीं। इसीलिए चिकित्सा शास्त्रीय दृष्टिकोण से जो अधिक उपयोगी मालूम हुआ, उसी पर अधिक बल दिया गया है। शायद यही कारण है कि एक स्थान पर उन्होंने मात्र प्रत्यक्ष और अनुमान को ही इस कोटि में रखा है। यथा–

'द्विविधा तु खलु परीक्षा ज्ञानवतां––प्रत्यक्षम् अनुमानञ्च' ।

आयुर्वेदशास्त्र में प्रमुख प्रमाणों का समावेश

सुश्रुत के मतानुसार चार प्रमाण– 1. आगम (आप्तोपदेश) 2. प्रत्यक्ष, 3. अनुमान तथा 4. उपमान हैं। यहाँ पर उपमान का समावेश आप्तोपदेश के अन्तर्गत कर लेते हैं, कारण कि उपमान में सादृश्यज्ञानहोने पर ही किसी की पहचान होती है। जैसे– तिल के जैसा दाग पड़ जाने पर उसे 'तिल' कहा जाता है। यहाँ तिल की आकृति देखकर तिल के सदृश ज्ञान से यह 'तिल' (क्षुद्ररोग) ही है, ऐसा ज्ञान होता है तथा आप्तपुरुषों के उपदेश के तिल के विषय में जानकारी होने से 'तिल' को देखकर उसका ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार उपमान को अलग से प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

महर्षि चरक ने भी चरकसंहिता के सूत्रस्थान में चार प्रमाण; यथा– 1. आप्तोपदेश, 2. प्रत्यक्ष, 3. अनुमान तथा 4. युक्ति का उल्लेख किया है, लेकिन आगे चलकर अनुमान की व्याख्या करते समय युक्ति को अनुमानप्रमाण की मात्र मान लिया है– 'अनुमानं नाम तर्कों युक्त्यपेक्षः।' (च0 वि0 8)। इस प्रकार विमानस्थान के चतुर्थ अध्याय में चरक ने तीन प्रमाण आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमान माना है। चरकसंहिता के विमान स्थान (अष्टम अध्याय) में उपमान का स्वतन्त्र वर्णन भी मिलता है। परन्तु यह वर्णन प्रमाणवर्णनान्तर्गत में न आकर के मार्गज्ञान–वर्णन के अन्तर्गत आया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आयुर्वेद में सिद्वान्त रूप में तीन ही प्रमाण 1. आप्तोपदेश,

2. प्रत्यक्ष तथा 3. अनुमान स्वीकार गया है और इन्हीं तीनों प्रमाणों में अन्य शास्त्रोक्त सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है।

2.5 प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष का लक्षण औषधि गुणों का ज्ञान तथा किसी रोगी के रोग का ज्ञान हमें सर्वप्रथम उनके लक्षणों से प्राप्त होता है। जिसे वैद्य प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा प्राप्त करता है। पूर्व के अध्यायों में आप प्रत्यक्ष प्रमाण की संरचना और उनकी प्रमुख अवयवों जैसे कि– ज्ञानोत्पत्ति प्रकार, इन्द्रियों का स्वरूप एवं लक्षण, इन्द्रियों की विशेषताएँ, इन्द्रियों का श्रेणी–विभाजन तथा संख्या का वर्णन ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय उभयेन्द्रिय का वर्णन इन्द्रियों के विषय का वर्णन, इन्द्रिय का भौतिकत्व, पञ्चपञ्चक–वर्णन, इन्द्रियों की वृत्तियाँ, त्रयोदश करण, करणों में अन्तःकरण का प्राधान्य, अन्तःकरण की वृत्तियां, प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद, निर्विकल्पक और सविकल्पक वर्णन, सन्निकर्ष का स्वरूप एवं भेद, सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति, ज्ञानलक्षणप्रत्यासंत्ति एवं योगज वर्णन, आयुर्वेद में इन्द्रिय सन्निकर्ष का स्वरूप, वेदना अधिष्ठान, वेदनानाश का हेतु, इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व विचार, प्रत्यक्ष ज्ञान का बाधक कारण, विविध यन्त्रादि द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान का विस्तार, प्रत्यक्ष होने पर अन्य प्रमाणों की आवश्यकता का वर्णन, आयुर्वेद में प्रत्यक्षप्रमाण की उपयोगिता।

इन्द्रिय सन्निकर्ष का स्वरूप

आयुर्वेद में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष की कल्पना चिकित्साशास्त्र दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर की गयी है। वहाँ इसे इन्द्रियार्थसंयोग कहा गया है। सात्म्य एवं असात्म्य भेद से इन्द्रियार्थसंयोग के दो प्रकार होते हैं । मात्म्यसंयोग उसे कहते हैं जिसमें इन्द्रिय का अर्थ की ऐसी मात्रा के साथ संयोग होता है जो उसके लिए सामान्यतः सहा या ग्राह्य होती है। उदाहरणस्वरूप आँख का प्रकाश की ऐसी मात्रा के साथ संयोग जिसमें कोई तकलीफ न हो तथा प्राणी आराम से काम कर सकता हो, सात्म्यसंयोग है तथा इसके विपरीत असात्म्यसंयोग है। आयुर्वेद में असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग को रोगों का कारण माना गया है। ये अतियोग, अयोग तथा मिथ्यायोग भेद से तीन प्रकार का हो जाता है। नेत्र से अत्यधिक प्रभा (चमकने) वाले सूर्य, अग्नि आदि दृश्यों को अधिक मात्रा में देखना रूपों का नेत्रेन्द्रिय के साथ अतियोग है। नेत्र से रूपों को सर्वथा न देखना या अल्प देखना रूप का अयोग है। नेत्र से विषयों का अधिक समीप होना, अधिक दूर होना तथा कठोर, भयानक, अद्भुत, द्विष्ट, बीभत्स और विकृत तथा वित्रासन अर्थात् शीघ्र ही भयोत्पादक रूपों को देखना नेत्रेन्द्रिय का रूपों के साथ मिथ्यायोग है। यही बात अन्य इन्द्रिय प्रत्यक्षों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। इस प्रकार असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग 15 प्रकार के हो जाते हैं। यथा–

1. चक्षुरिन्द्रियविषयातिरोग
2. चक्षुरिन्द्रियविषयायोग
3. चक्षुरिन्द्रिय–विषयमिथ्यायोग,
4. घ्राणेन्द्रिविषयातियोग
5. घ्राणेन्द्रियविषयमिथ्यायोग
6. घ्राणेन्द्रिविषयमिथ्यायोग
7. श्रोत्रेन्द्रियविषयातियो
8. श्रोत्रेन्द्रियविषयायोग
9. श्रोत्रेन्द्रियविषयमिथ्यायोग
10. रसनेन्द्रियविषयातियोग
11. रस–नेन्द्रियविषयायोग
12. रसनेन्द्रियविषयमिथ्यायोग
13. स्पर्शनेन्द्रियविषयाति–योग
14. स्पर्शनेन्द्रियविषयायोग
15. स्पर्शनेन्द्रियविषयमिथ्यायोग

वेदना के अधिष्ठान

आयुर्वेद ग्रन्थों में उन शारीरिक भागों को चिन्हित करने का प्रयास किया गया है, जहां पर रोगी को वेदना का अनुभव होता है। उन स्थलों पर उत्पन्न वेदना के आधार पर रोग के कारणों का निदान प्रस्तुत किया जाता है। चरकसंहिता में कहा है कि–

'वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना।'

अर्थात् केश, लोम, नख का अग्र भाग, अन्न का मल (विट्), द्रव (मूत्र) तथा गुण (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध) को छोड़कर मन और इन्द्रिय के साथ शरीर वेदना का अधिष्ठान है।

प्रश्न : रोगी का जो वेदना होती है, उस वेदना का कारण क्या क्या हो सकता है?

उत्तर : आयुर्वेद ने मनुष्य के शरीर में अस्वभाविक वेदना के कारणों पर विचार करते हुए वेदना नाश के अन्तिम कारण को घोषित करते हुए कहा गया है कि–

'योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम् ।
मोक्षे निवृत्तिनिःशेषो योगो मोक्षप्रवर्तकः।।'

अर्थात् योग और मोक्ष में सभी वेदनाओं का नाश हो जाता है। मोक्ष में आत्यन्तिक वेदनाओं का नाश होता है। योग मोक्ष को दिलाने वाला होता है। आप समझ सकते हैं कि आयुर्वेद किस प्रकार प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष से जुड़ी हुई शारीरिक वेदना के अनुभव से अन्तिम मुक्ति योग और मोक्ष के माध्यम से स्वीकार करता है। यह इस बात का प्रमाण है कि भारत में वैज्ञानिक ज्ञान की भी अन्तिम परिणति आध्यात्मिक ज्ञान में होता है।

प्रत्यक्ष के साथ ही अन्य प्रमाणों की आवश्यकता

प्रत्यक्ष ही एक ऐसा प्रमाण है जिसे सभी लोग स्वीकार करते हैं, चाहे वह आस्तिक हो, नास्तिक हो, अशिक्षित हो या सुशिक्षित हो। सभी को प्रत्यक्ष प्रमाण मान्य है– 'प्रत्यक्षं कि प्रमाणम्?' अर्थात् किसी वस्तु का यदि प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त गया तो अन्य प्रमाण की क्या आवश्यकता? लेकिन ऐसा नहीं है, प्रत्यक्ष के विषय कम हैं जबकि अप्रत्यक्ष के विषय बहुत अधिक हैं। अस्तु अप्रत्यक्ष विषय की यथार्थ जानकारी के लिए अन्य प्रमाणों की सहायता अपेक्षित है। कहा भी गया है–

'प्रत्यक्षं ह्यल्पम्य अनल्पम प्रत्यक्षमस्ति, यदागमानुमानयुक्तिभिरुपलभ्यते, यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि ।'

जगत् में प्रत्यक्ष बहुत कम वस्तुओं का होता है और अप्रत्यक्ष वस्तुएँ बहुत हैं, जिनकी प्राप्ति आगम (शास्त्रप्रमाण), अनुमान और युक्तिप्रमाण द्वारा होती है। दूसरी बात यह है कि यदि केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मान जाय तो यह दूसरा दोष आ जायेगा कि जिन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष का ग्रहण होता है वे इन्द्रियाँ ही स्वयं अप्रत्यक्ष हैं। यदि अप्रत्यक्ष होने के कारण इन्द्रियों को न मानें तो वस्तुओं का ज्ञान कैसे सम्भव होगा? यदि इन्द्रियाधिष्ठान को इन्द्रिय मान लिया जाय तो बहरे या अन्धे होने पर इन्द्रियाधिष्ठान के होते हुए ज्ञान होना चाहिए पर होता नहीं है। इसीलिए इन्द्रियों का ज्ञान अनुमान प्रमाण द्वारा किया गया है, यथा–

'चक्षुर्बुद्ध्यादिकाः करणकार्याः क्रियत्वात् छिदिक्रियावत्' ।

अस्तु प्रत्यक्ष होने पर भी अप्रत्यक्ष विषय की यथार्थ जानकारी हेतु अन्य प्रमाणों की आवश्यकता है– यह निर्विवाद सिद्ध हुआ।

आयुर्वेद में प्रत्यक्षप्रमाण की उपयोगिता भले ही मनुष्य को आत्यन्तिक दुःखों से मुक्ति योग और मोक्ष से प्राप्त हो। योग और मोक्ष जीवात्मा का सभी दुःखों से, सभी कालों के लिये मुक्त करते हैं। किन्तु तात्कालिक दुःख से मुक्ति के लिये आयुर्वेदशास्त्र रोगों का निदान करके उसका उपचार करता है। लम्बे समय में प्राप्त होने वाले विधियों के भरोसे नहीं बैठता। रोग निदानार्थं प्रत्यक्षप्रमाण का आयुर्वेद में काफी महत्त्व है; कहा है–

'प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरीर गतान् परीक्षेत अन्यत्र रसज्ञानात्' ।

प्रत्यक्ष के द्वारा रोग की परीक्षा करने की इच्छा वाले वैद्य को चाहिए कि वह अपनी सभी इन्द्रियों द्वारा (रसनेन्द्रिय को छोड़कर) रोगी के शरीर में रहने वाले सभी इन्द्रियार्थों की परीक्षा करें।

कान द्वारा परीक्ष्य विषय

कुछ ऐसे लक्षण है, जिनका पता वैद्य अपने कानों के उपयोग से प्राप्त करता है। जैसे– आंतों का बोलना, सन्धि और अंगुलि–पर्वों का फूटना, स्वरभेद– ये और अन्य भी जो इस शरीर में होने वाले शब्द हों उन सभी की परीक्षा कान से करनी चाहिए। आधुनिक युग में चिकित्सक स्टेथेस्कोप का प्रयोग श्रोत्र प्रत्यक्ष ज्ञान के विस्तार हेतु करते हैं। फुप्फुस–ध्वनि, हृदय–ध्वनि, अन्त्रकूजन आदि की परीक्षा स्टेथेस्कोप से भलीभाँति हो जाती है।

आँखों द्वारा परीक्ष्य विषय

रोगी का वर्ण, आकार, प्रमाण, छाया–इनकी शरीर में स्वाभाविक अवस्था या विकृत अवस्था जो भी कोई नेत्र के विषय हों या जो यहाँ नहीं कहा है उन सबकी परीक्षा क्षेत्र से करनी चाहिए।

घ्राण द्वारा परीक्षा : रोगी के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हुए स्वाभाविक या विकृत गन्धों की परीक्षा नाक से करनी चाहिए ।

स्पर्श द्वारा परीक्षा : प्रकृति और विकृति से युक्त स्पर्शन परीक्षा हाथ से करनी चाहिए।

रुग्ण–परीक्षा के अतिरिक्त औषधि द्रव्य की परीक्षा भी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष की जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्यक्षप्रमाण का आयुर्वेद में काफी महत्त्व है।

प्रश्न : कुछ रोग के लक्षण इतने सूक्ष्म होते है कि वो हमारे इन्द्रियों के पकड़ में नही आते, इस स्थिति में आयुर्वेद द्वारा मान्य सिद्धान्त अनुपायोगी हो सकता है।

उत्तर : इस समस्या के सामाधान के दो पक्ष प्राप्त होते है। 1. चरक ने वैद्य के नेत्र को दो नेत्रों का सम्मेलन माना है, क. उसका शारीरिक और स्वस्थ नेत्र, ख. तपोमूलक तथा दिव्य नेत्र। 2. दूसरा पक्ष यह है कि हम विविध यंत्रादि का प्रयोग करके हम प्रत्यक्ष ज्ञान में विस्तार कर लें। आजकल नेत्रों की दुर्बलता में चश्में का प्रयोग, हियरिंग यंत्र, एक्स–रे, अल्ट्रा सोनाग्राफी इत्यादि का प्रयोग किया जा रहा है।

अनुमान द्वारा परीक्ष्य विषय

रोगी के शरीर में उत्पन्न जिल्ला इन्द्रिय के विषय रस का ज्ञान अनुमान द्वारा करना चाहिए। इसे प्रत्यक्ष रूप से करना उचित नहीं। इसलिए रोगी से पूछ कर यह जानना चाहिए कि रोगी के मुख का स्वाद कैसा है। जुएँ, लीख आदि जन्तु शरीर से यदि अलग हो जायें तो समझें कि शरीर का रस विकृत हो गया है। मक्खियों के शरीर पर अधिक बैठने से शरीर का रस मीठा हो गया है ऐसा समझे। रक्तपित्त का सन्देह होने पर क्या यह शुद्ध रक्त है या रक्तपित्त का रक्त है, यह जानने के लिए उसे अन्न में मिलाकर कुत्ता या कौवा को खाने के लिए दे दें। यदि वे उसे ला जायें तो शुद्ध रक्त और यदि न खाये तो रक्तपित्त का रक्त ऐसा अनुमान करना चाहिए। इसी प्रकार रोगी के शरीर में अन्य रसों की परीक्षा अनुमान द्वारा की जानी चाहिए। आजकल रासायनिक परीक्षण द्वारा यह परीक्षा की जाती है।

2.6 अनुमान

युक्ति सापेक्ष आयुर्वेद में लक्षण को देखकर रोग का युक्ति द्वारा निर्धारण करने की प्रक्रिया में अनुमान का प्रयोग किया जाता है। अनुमान प्रक्रिया त्रिकालिक होता है। व्यायाम करते हुए शरीर को देखकर शक्ति का अनुमान वर्तमानकालिक है। गर्भ को देखकर मैथुन का अनुमान भूतकालिक है। बीज और मिट्टी को साथ–साथ देखकर इसमें से पौधा उगेगा भविष्कालिक अनुमान है। अनुमान में रोग के चिन्हों के आधार पर शरीर में रोग की उपस्थिति का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। वैद्य परामर्श और व्याप्ति ज्ञान के द्वारा अपनी अनुमान को पुष्ट करता है। आयुर्वेद में परामर्श शब्द का अर्थ सलाह, मंत्रणा, युक्ति और विचार के रूप में लिया जाता है। वहीं व्याप्ति सम्बन्ध का अर्थ दो घटनाओं को हमेशा साथ–साथ रहने के रूप में लिया जाता है।

2.6.1 अनुमानप्रमाण की उपयोगिता

आयुर्वेद में अनुमानप्रमाण का सर्वाधिक उपयोग है, कारण है कि 'प्रत्यक्ष' जितना दिखलाई देता है उससे बहुत अधिक परोक्ष है, जिसका ज्ञान अनुमान द्वारा किया जाता है। जिन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वे इन्द्रियाँ स्वयं अप्रत्यक्ष हैं, जिन्हें अनुमान से जाना जाता है।

> 'प्रत्यक्षं ह्यल्पमपम प्रत्यक्षमस्ति. यदागमानुमानयुक्तिरुपलभ्यते। येरेव
> तावदिन्द्रियः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि'। च0 सू0 11/7

आयुर्वेद में मुख्यतः तीन प्रमाण माने गये हैं– प्रत्यक्ष अनुमान तथा आमो पदेश। प्रत्यक्षज्ञान की सीमा थोड़ी है और आतोपदेश भी सीमित है, अस्तु अनुमान ही एक ऐसा प्रमाण है जिसके द्वारा प्रत्यक्ष तथा आप्तोपदेश की पहुँच के बाहर के विषयों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

रोग ज्ञान में अनुमान द्वारा गूढलिङ्ग (जिनका लक्षण रहस्यमय और अव्यक्त है) व्याधियों की परीक्षा की जाती है। पुनर्जन्म के समर्थन में भो अनुमानप्रमाण का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आयुर्वेद में अनुमानप्रमाण का पर्याप्त उपयोग किया गया है। आयुर्वेद के सभी आचार्यों ने अनुमान को निदान और चिकित्सा के क्षेत्र में विशिष्ट महत्त्व दिया है और उसे त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का साधक कहा है।

2.7 शब्दप्रमाण

आयुर्वेद में आप्तोपदेश का प्राधान्य, आतोपदेश के पर्यायवाची शब्द, आप्तस्वरूप तथा आप्तोपदेश लक्षण, ऐतिह्य प्रमाण, शास्त्र लक्षण, निघण्टु, पद लक्षण, शब्द के प्रकार, चरकोक्त शब्द का लक्षण एवं भेद, तर्कसंग्रहानुसार शाब्दज्ञान, पद के भेद, वाक्य–स्वरूप, वाक्य के भेद, वाक्यार्थ ज्ञान में हेतु, आकांक्षा योग्यता–सन्निधि, शब्दार्थ या वाक्यार्थ बोधक वृत्तियाँ, अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना तात्पर्याख्या, शक्ति ग्रह, अनेकार्थक शब्द से किसी एक ही अर्थ की प्रतीति में कारण।

2.7.1 आयुर्वेद में शब्दप्रमाण का प्रमुखता

महर्षि चरक ने आप्तोपदेशप्रमाण को ही आयुर्वेदोक्त तीन प्रमाणों में प्रधानता दी है। रोग विशेष का ज्ञान आयुर्वेद में तीन प्रमाणों द्वारा किया जाता हैय यथा–आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमान। इन दोनों परीक्षाओं में सबसे पहले आप्तोपदेश से ज्ञान होता है। तदनन्तर प्रत्यक्ष और अनुमान से ज्ञान होता है। यदि पहले किसी का उपदेश न किया जाय तो किसकी प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा परीक्षा की जायेगी । इसिलिए ज्ञान–सम्पन्न वैद्य के लिए प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रकार की परीक्षाएँ हैं। अथवा आप्तोपदेश को लेकर तीन परीक्षाएँ हैं।

'त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानं, ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते कि ह्यनुपदिष्टं पूर्व यसत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात्। तस्माद् द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षम्, अनुमानं च विविधा वा सहोपदेशेन'। – च0 वि0 4/5

शब्दप्रमाण के पर्यायवाची शब्द – आप्तोपदेश, आप्तवचन, आप्तश्रुति, शब्द तथा आगम – ये आप्तोपदेश के पर्यायवाची शब्द हैं।

2.7.2 शब्द प्रमाण का स्वरूप तथा लक्षण

आयुर्वेद चिकित्सापद्धति में संहिता ग्रन्थों तथा अनुभवी और योग्यवैद्य के कथन को शब्द प्रमाण के रूप में माना जाता है। योग्यवैद्य कौन है? इस प्रश्न पर चरकसंहिता में निम्नवत् विचार किया हैं। इसे पढ़कर आप उत्तमवैद्य की परिकल्पना को समझ सकते हैं–

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा।।

आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः।।

अर्थात् जो अपनी तपस्या एवं ज्ञान के बल से जो रज और तम से मुक्त हो गये हैं, जिनको सदा भूत–भविष्य वर्तमान इन तीनों कालों का ज्ञान निर्वाध रूप से होता रहता है और जिनकी ज्ञानशक्ति कभी भी नहीं रुकती, ऐसे व्यक्तियों को आप्त, शिष्ट और विबुद्ध कहा जाता है। ऐसे आमपुरुषों के वचन या उपदेश सन्देहरहित (सत्य) होते हैं। वे आसपुरुष रज और तम से शून्य होने के कारण सदा सत्य ही बोलते हैं। रज और तम से शुन्य होने के कारण वे असत्य बोलेंगे ही क्यों? चरकसंहिता में यह स्पष्ट लिखा है कि योग्यवैद्य की वाणी प्रमाण के रूप में स्वीकार करनी चाहिए। 'तत्राप्तोपदेशो नाम आप्तवचनम्। आप्ता हावितर्कस्मृतिविभागदो निष्प्रीत्युपतापदशनश्च। तेषामेबंगुणयोगाद् यद् वचनं तत् प्रमाणम्। अप्रामाण पुनमंतोन्मत्त मूर्ख

रक्तदुष्टदुष्टवचनमिति।'

यहां पर आप्तपुरुष का तात्पर्य आयुर्वेद का ज्ञाता या वैद्य से लिया जाता है। इनके वचनों को आप्तोपदेश कहा जाता है। आप्तपुरुष तर्क से रहित अर्थात् निश्चित ज्ञान वाले, स्मरणशक्ति–सम्पन्न तथा कार्य और अकार्य के विभाग को जानने वाले होते हैं, जो किसी भी प्राणी के प्रति प्रीति–उपताप अर्थात् राग–द्वेष से रहित हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों को आप्त माना जाता है। वे इन गुणों से युक्त होने के कारण जो वचन कहते हैं वह प्रमाण माना जाता है और मतवाले, पाग, मूर्ख का वचन वह चाहे दुष्ट हो अथवा अदुष्ट हो तो भी अप्रमाण माना जाता है। आपको स्मरण दिला दें कि इसी प्रकार की बातें नहीं न्यायदर्शन के ग्रन्थ 'न्यायवार्तिक' में भी शब्दप्रमाण के बारे में कहा गया है। न्यायवार्तिक का कथन है–'आप्तोपदेशः शब्दः'।

अतः स्पष्ट है किसी आप्तपुरूष के उपदेश को शब्द कहते हैं। आप्तजन साक्षात्कृतधर्मा होते हैं तथा यथादृष्ट विषयों का दूसरों को ज्ञान करने की इच्छा से उपदेश करते हैं।

आप्तोपदेश भी दो प्रकार के होते हैं– (1) लौकिक (2) अलौकिक। लौकिक आप्तोपदेश लौकिक पुरूषों के वाक्य होते हैं, जबकि अलौकिक आप्तोपदेश श्रुति या वेद के वाक्य होते हैं। इसे ही वैदिक आप्तोपदेश भी कहते हैं।

चरकसंहिता के भाष्यकार चक्रपाणि ने अलौकिक आप्तोपदेश वेदादि को ही 'ऐतिह्य' शब्द से कहा है।

'अलौकिकाप्तोपदेश ऐतिह्यपदेनोच्यते'।

– चक्रपाणि

वेदादि का तात्पर्य यहाँ वेद के अतिरिक्त आदि अर्थात् स्मृति–पुराणादि सहित भारतीय परम्परा के अन्य ग्रन्थों को ग्रहण करना चाहिए। शब्द प्रमाण के बाद हमें उपमान की उपयोगिता भी जान लेनी चाहिए।

2.8 उपमान की उपयोगिता

आयुर्वेद में उपमान की उपयोगिता पग पर देखने को मिलती है। यथा–

1) रोगों के कारण निदान में उदाहरण किसी कारणवश किसी व्यक्ति को कोई रोग हो गया हो और वही रोग जब दूसरे व्यक्ति को हो जाता है, तब उस दशा में रोग का कारण निश्चित करने में उपमान का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ता है कि जिस प्रकार उस व्यक्ति को यह रोग किसी पदार्थ विशेष या मिथ्या आहार–विहार के सेवन से हुआ था, उसी प्रकार इस व्यक्ति के रोग का कारण भी वही पदार्थ या आहार–विहार है। यह कारण–ज्ञान उपमान के आधार पर ही किया जाता है।

2) रोग का ज्ञान या निदान (क्पंहदवेपे) भी उपमान द्वारा होता है। जैसे– दण्डक रोग का दण्ड से एवं धनुस्तम्भ ज्ञान होता है। धनुष के सादृश्य से ज्ञान होता है।

3) रोग–चिकित्सा में बढ़े हुए दोषों को घटाने और जीण दोषों को बढ़ाने के लिए वैधर्म्य और साधम्य ज्ञान का महान् योगदान अपेक्षित है। दोष और रोग के विपरीत देश, काल और औषधि का प्रयोग हितकर होता है तथा रोग और दोष के साथ सादृश्य रखने वाले देश, काल, आहार और बिहार तथा औषधि का प्रयोग अहितकर होने से नितान्त परित्याज्य है। इस प्रकार आयुर्वेद चिकित्सा में सदृश

और विसदृश ज्ञानोपार्जन के लिए 'उपमान' की अत्यन्त उपयोगिता देखने में आती है। स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोगी की चिकित्सा इन दोनों ही क्षेत्रों में सामान्य और विशेष की महत्ता को स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निदान, रोग–विज्ञान तथा चिकित्सा में सभी स्थानों पर उपमानप्रमाण की ही उपयोगिसा है।

ऐतिह्यप्रमाण

जैसा कि ऊपर वर्णन कर आये हैं कि 'ऐतिह्य' का अर्थ होता है– 'ऐसा ही निश्चयपूर्वक कहा है बड़ों ने।' यह तो इसका शाब्दिक अर्थ हुआ। बड़ों के वाक्यों को ही ऐतिह्य प्रमाण माना गया है। वास्तव में ऐतिह्य एक परम्परा है, जो वंशानुक्रम से अतीत काल से चला आ रहा है। यह कैसे आया तथा इसकी परम्परा कब से चली आ रही है– यह बतलाना मुश्किल है। इसके कारण का कोई पता नहीं चलता। हमारी बहुत–सी धारणाएँ एवं मान्यताएँ इसी अतीतकाल से चली आ रही परम्परा पर ही अवलम्बित है। पौराणिक लोग इसे भी प्रमाण के रूप में स्वीकार करते है। लेकिन नैयायिक इसे स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार यह एक प्रकार का 'शब्द' है, परन्तु शब्द 'प्रमाण' नहीं है, क्योंकि यह क्या मालूम कि– परम्परागत उपदेश आप्त द्वारा ही वर्णित है। फिर भी इस परम्परागत ज्ञान को ऐतिह्य प्रमाण के अन्तर्गत मान लिया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐतिह्य प्रमाण के अन्तर्गत 1. अलौकिक आप्तोपदेश (वेद), 2. स्मृति–पुराणादि तथा 3. परम्परागत ज्ञान–इन तीनों का समावेश कर लिया जाता है।

'अथैतिह्यम्–ऐतिह्य नामाप्तोपदेशो वेदादिः'।

अर्थात् आप्तों के जो उपदेश हैं, उन्हें ऐतिह्य कहते हैं, जैसे– वेद, स्मृति, पुराणादि।

2.9 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों आप आयुर्वेद तथा आयुर्वेद में प्रमाणों का अनुप्रयोग विस्तारपूर्वक पढ़ चुके हैं। अब यहां संक्षेप में हम आपको भारतीय चिकित्साविज्ञान ने प्रमाणों के अनुप्रयोग को बताने जा रहे है। आप अब यह जान चुके हैं कि आयुर्वेद न केवल भौतिक शरीर, बल्कि उसमें अन्तर्निहित अभौतिक शरीर अर्थात् परमसूक्ष्म भौतिक शरीर का अध्ययन करता है। ज्ञान की वस्तु सूक्ष्मतर होने पर हमें प्रत्यक्ष के अलावा अन्य प्रमाणों को स्वीकार ही करना पड़ता है। इसीलिये आयुर्वेद में भी प्रत्यक्षप्रमाण के उपयोग के साथ साथ अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति तथा शब्दप्रमाण का भलिभाँति उपयोग होता है। रोग के लक्षणों की परीक्षा तथा औषधियों के औषधि गुणों के अनुसंधान में प्रमाणसिद्धान्त का उपयोग हुआ है। इस तथ्य की जानकारी हमें आयुर्वेद के ग्रन्थों से ही हो जाती है। वे ज्ञान जिनसे हमारा दैनिक जीवन व्यवहार चलता है, वहां तो प्रत्यक्ष प्रमाण प्रमुख है। किन्तु आयुर्वेद में रोग के लक्षण परीक्षण में तो प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान का उपयोग वैद्य साधन के रूप में करता है। श्रेष्ठ प्रमाण स्वयं वैद्य और वैद्य का ज्ञान है। जिसे वह शब्दप्रमाण से प्राप्त करता है। इस प्रकार से आयुर्वेद भारतीय ज्ञानपरम्परा के प्रमाणमीमांसीय सिद्धान्तों का उपयोग करते हुए अपने को समृद्ध करता रहा है।

2.10 पारिभाषिक शब्दावली

पंचम वेद के रूप में आयुर्वेद : आयुर्वेद का इतिहास ठीक ठीक ज्ञात नहीं है। चरक, सुश्रुत, काश्यप एवं वाग्भट्ट आदि आचार्यों ने आयुर्वेद का उपवेद माना है। ब्रह्मवैतर्त पुराण में आयुर्वेद को पंचम वेद कहा गया है क्योंकि आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है तथा स्वतन्त्र वेदांग के रूप में पुण्यतं वेद है। इसलिये आयुर्वेद को पंचम वेद भी कहा जाता है।

'प्राणाभिसर' वैद्य : जो जाते हुए प्राण को लौटा दे।

चरकसंहिता : आयुर्वेदशास्त्र का प्राचीन ग्रन्थ जो महर्षि चरक द्वारा उपदेशीत है। इस संहिता का निर्माण कालक्रम के आधार पर तीन स्तर में हुआ है– क. अग्निवेश (उपनिषत्काल : 1000 ई0पू0), ख. चरक (शुगकाल : द्वितीय शताब्दी ई0 पू0), ग. दृढ़बल (गुप्तकाल : चौथी शताब्दी)। चरकसंहिता में आयुर्वेद के सिद्धान्तों का वर्णन है।

हेमन्तऋतु : भारतीय महाद्वीप में छः ऋतुएँ (मौसम) पाई जाती है। जिनका नाम है– बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शीशीर, शरद, हेमन्त। इन छहों ऋतुओं में से हेमन्त ऋतु मध्य जनवरी से मध्य मार्च तक पाया जाता है।

आप्तपुरूष : वह अनुभवी व्यक्ति जिसकी बातों को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाता है, उसे आप्तपुरूष कहा जाता है। चरक के अनुसार वह वैद्य जिसने अपने शारीरिक नेत्र के साथ–साथ तप के द्वारा तपनेत्र तथा दिव्यनेत्र को प्राप्त कर लिया है, उसे आप्तपुरूष कहा जाता है।

2.11 सन्दर्भग्रन्थ सूची

1. चरक संहिता, सम्पादक– आचार्य विद्याधर शुक्ल तथा रविदत्त त्रिपाठी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली।
2. पदार्थ विज्ञान, हीरालाल आर शिवहरे, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

2.12 बोध प्रश्न

1. क्या आयुर्वेदशास्त्र वैज्ञानिक विधि द्वारा स्थापित है?
2. रोग के लक्षण की खोज करने के लिये किन किन प्रमाणों का प्रयोग किया जाता है? विस्तार में विवेचन किजिए।
3. अनुमान प्रमाण केवल तर्क और युक्ति पर आधारित नही है बल्कि अनुमान प्रक्रिया में प्रत्यक्ष वस्तुएँ सम्मिलित होती है, यही कारण है कि अनुमान प्रक्रिया से हमें वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्राप्त होता है। इस तथ्य का विवेचन अपने शब्दों किजिए।
4. आयुर्वेदशास्त्र में सभी प्रमाण श्रेष्ठ है, किन्तु शब्दप्रमाण सर्वश्रेष्ठ है। इस कथन की परीक्षा किजिए।
5. आयुर्वेदशास्त्र के द्वारा हमें लौकिक तथा पारलौकिक उपलब्धियाँ प्राप्त होती है। इस कथन की परीक्षा किजिए।

इकाई 3 विधिशास्त्र में प्रमाणो का अनुप्रयोग

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप–

- ज्ञान परम्परा के रूप में विधिशास्त्र का अर्थ समझ सकेंगे।
- विधिक प्रक्रिया में प्रमाणों का उपयोग समझ सकेंगे।
- प्रत्यक्ष प्रमाण की ज्येष्ठता को स्वीकार करते हुए अपराध की मीमांसा में पारदर्शिता को लाने के लिये अन्य प्रमाणों को सहायक रूप में प्रयोग किया जाता है। इस तथ्य से परिचित हो सकेंगे।
- समग्र विधिशास्त्र तथा उसका अनुप्रयोग स्पष्ट प्रमाण मीमांसा पर आधारित है, इसे समझ सकेंगे।
- और आप इस तथ्य से भी अवगत होंगे कि जिस प्रकार से भारतीय प्रमाण सिद्धान्त में स्थूल से लेकर सूक्ष्म विषयों पर विचार किया जाता है, इस कारण से भारतीय विधिव्यवस्था में भी प्रत्यक्ष से लेकर अर्थापत्ति तक के प्रमाणों को उपयोग किया जाता है।

3.1 प्रस्तावना

कानूनी प्रणाली को संचालित करने के लिए तर्क, विधि, और न्यायप्रणाली आदि के माध्यम से प्रमाणों का अनुप्रयोग किया जाता है। प्रमाणसिद्धान्त का अनुप्रयोग करके, कानूनविज्ञान का आधार वैध और प्रमाणित ज्ञान होता है जो न्यायिक निर्णयों की गुणवत्ता और सत्यता को सुनिश्चित करता है। इस ईकाई में हम कानूनविज्ञान में प्रमाणसिद्धान्त का अनुप्रयोग पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

सन्दर्भ प्रमाणों का अनुप्रयोग प्रमाणसिद्धान्त न्यायशास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों में से एक है। न्यायशास्त्र में यह सिद्धान्त उदाहरण और तर्कों के माध्यम से न्यायिक निर्णयों की वैधता और सत्यता को सुनिश्चित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। यहां कानूनविज्ञान के सन्दर्भ में प्रमाणसिद्धान्त का अनुप्रयोग हमें नियमों, विधियों, गवाहों, साक्ष्य, युक्तियों आदि के माध्यम से सन्दर्भ प्रमाणों का उपयोग करके कानूनी निर्णयों की प्रामाणिकता और वैधता को सुनिश्चित करता है।

हिन्दू विधि व्यवस्था केवल विधि शास्त्रों में वर्णित विधि या विधिवेत्ताओं का निर्णय या किसी विशेष वर्ग, अनुशंसा, उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं है। इस ईकाई में भारतीय विधि व्यवस्था, उसके प्रमुख अवयव, उन अवयवों का लोकातान्त्रिक स्वरूप और विधि की स्थापना, निर्णयन तथा कार्यान्वयन में प्रमाणों के प्रयोग का वर्णन किया गया है। इसके पढ़ने के उपरान्त आप प्रमाण सिद्धान्त और विधि व्यवस्था के मध्य अन्तःसम्बन्ध को समझते हुए भारतीय विधि व्यवस्था के वैशिष्ट्य से जुड़े हुए प्रश्नों का उत्तर देने में सक्षम हो सकेंगे।

3.2 कानूनी निर्णयों में प्रमाण सिद्धान्त का अनुप्रयोग

1. न्यायालयों में प्रमाण प्रमाणसिद्धान्त के अनुसार, न्यायालयों में प्रमाण का महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यहां गवाहों के द्वारा साक्ष्य, दस्तावेजों का प्रमाण, तर्क आदि के माध्यम से न्यायिक निर्णयों की वैधता और सत्यता का निर्धारण किया जाता है।

2. विधियों के अनुप्रयोग कानूनविज्ञान में विधियाँ प्रमाणसिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण हिस्सा होती हैं। यहां न्यायिक निर्णयों की वैधता और सत्यता के लिए विधियों का प्रमाण उपयोग किया जाता है। विधियों के माध्यम से न्यायिक प्रक्रियाओं में नियमितता और न्याय को सुनिश्चित किया जाता है।

3. युक्तियों का अनुप्रयोग प्रमाणसिद्धान्त के द्वारा कानूनविज्ञान में युक्तियों का अनुप्रयोग किया जाता है। युक्तियाँ (Logical Reasoning) के माध्यम से न्यायिक निर्णयों की वैधता और सत्यता को समर्थित करने में मदद करती हैं। यहां तर्क, न्याय, निर्णय और न्यायिक प्रक्रियाओं में युक्तियाँ का प्रमाणसिद्धान्त प्रयोग होता है।

3.3 भारतीय विधिशास्त्र में प्रमाण सिद्धान्त का उपयोग

विधि शास्त्र का सम्बन्ध आगमन की समस्या से जुड़ी है पश्चिमी विचारकों ने समाज विज्ञान पर कार्य करते हुए आगमन की समस्या को कैसे सुलझाया है तथा भारतीय दर्शन में यह बहुत महत्त्वपूर्ण समस्या है। यहाँ की ज्ञान मीमांसा में आगमन की समस्या का क्या समाधान है तथा भारतीय ज्ञानमीमांसा में इसका क्या स्वरूप है इसके भेद को समझ प्रत्यक्ष और अनुमान का प्रयोग समाज विज्ञान में कैसे करें! प्रत्यक्ष

भारतीय दर्शन में विभिन्न–विभिन्न दृष्टियों से विकसित किया गया है।

मूल समस्या प्रामाण्य की समस्या है। इसको लेकर भारतीय दर्शन में कई प्रमाण्यवाद का विकास हुआ है। लेकिन मूल प्रश्न यह है कि प्रमाणिकता की जिज्ञासा ही क्यों है? Quest of validity of Knowledge क्यों होती है मनुष्य के जीवन में प्रामाणिकता की जिज्ञासा ही क्यों उत्पन्न होती है। इसे समझना आवश्यक है चाहें समाज वैज्ञानिक हो या प्राकृतिक वैज्ञानिक हो उसे प्रमाणिकता की जिज्ञासा होती ही है। सभी विधाओं के लिए प्रामाण्य की जिज्ञासा है। मूल प्रश्न है प्रामाण्य की जिज्ञासा क्यों उत्पन्न होती है? भा. द. प्रामाण्यवाद की विवेचना बहुत की गयी है। लेकिन प्रामाण्य की विवक्षा ही क्यों होती है इसको समझे बिना हम प्रामाण्यवाद के स्वरूप और उपयोग को नहीं समझ सकते हैं।

प्रामाण्य की विवक्षा मनुष्य की चेतना में क्यों होती है? ज्ञान की प्रामाण्य की जिज्ञासा ही क्यों होती है? विचार को सिद्ध दिशा में निश्चित करिये फिर उसको समस्या की पहचान करयै फिर कोई कार्य हो पायेगा। इसे समझ कर प्रमाण की मानव जीवन में उपयोगिता समझ में आ सकती है। प्रामाण्य की जिज्ञासा ज्ञान की खोज से जुड़ी हुई है भारतीय दर्शन में प्रमाण और प्रमाण्यवाद के लिए लिखा गया है– प्रमाणम् प्राणनिलयः प्राणधृत प्राण जीविनः प्रमाण मनुष्य के प्राण का घर है। मनुष्य के प्राण का घर है। मनुष्य प्रामाण्य के बिना जी ही नहीं सकता Quest of validity of Knowledge बहुत प्रबल है।

प्रामाण्य की जिज्ञासा ज्ञान को लेकर होती है ज्ञान तो सभी को होती है। सभी लोग ज्ञान से ही अपना जीवन यापन करते हैं। प्रमाण का मानव के सामाजिक जीवन में कैसे होती है इसका प्रतिवाद बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने की है न्याय बिन्दु में धर्मकीर्ति कहते हैं–

सम्यक् ज्ञान पूर्वी का पुरुषार्थ सिद्धिः तद् इति व्युत्पाद्यतें समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि सम्यक् ज्ञान से होती है। ज्ञान के प्रामाणिकता के बिना मनुष्य का जीवन सिद्ध नहीं हो पाती है।

प्रामाण्य की जिज्ञासा मनुष्य के अस्तित्व से जुड़ी हुई है।

भारतीय ज्ञानमिमांसा का समाज विज्ञान का उपयोग किस प्रकार होता है। यह मूल प्रश्न है?

प्रामाण्य की जिज्ञासा समस्या ज्ञान के स्वरूप को लेकर नहीं होती बल्कि ज्ञान के विषय को लेकर होती है। भ्रमात्मक ज्ञान भी अपने स्वरूप को जानता ही है ज्ञान के विषय को लेकर जिज्ञासा होती है। ज्ञान किसी भी प्रेक्षावान व्यक्ति की प्रेक्षित वस्तु की प्राप्ति का साधन है। इसलिये ज्ञान मात्र को व्यवहार का निमित्त कारण है। ज्ञान के बिना व्यवहार सम्भव नहीं। ज्ञान प्रमाणिक नही ंतो व्यवहार में धोखा होगा। इसलिए जरूरी है कि हम प्रामाणिक ज्ञान की खोज करें प्रामाणिक ज्ञान के स्वरूप को निश्चित करना होगा।

यहा निर्धारित करना होगा कि ज्ञान वस्तु का ज्ञापक होता है कि प्रापक होता है। वस्तुतः ज्ञान वस्तु का ज्ञापक है प्रापक नहीं है। जानने का तात्पर्य प्राप्त करना होता है और जानने मात्र से किसी वस्तु की प्राप्ति होती तो ज्ञान की जिज्ञासा नहीं होती और जानने वाला प्रत्येक व्यक्ति को जानने मात्र से वस्तु की प्राप्ति कर लेता लेकिन

ऐसा होता नहीं। कोई भी वस्तु ज्ञान का ज्ञापक है प्रापक नहीं ज्ञान ज्ञापक कारण है प्रापक कारण नहीं/ज्ञापक एवं प्रापक के बीच में संवाद बना रहे यह तभी सम्भव है जब ज्ञान वैध है।

अतः ज्ञापक और प्रापक का भेद ही प्रामाण्य की जिज्ञासा का मूल कारण है। यदि ज्ञान प्राप्त हो जाय तो सभी जिज्ञासाएं विनिर्मित हो जाती है।

3.4 विधि के स्रोत

प्रारम्भिक समाज में विधि का मूल आचार एवं नैसर्गिक नियमों से प्रारम्भ होता है। भारतीयों के अनुसार वह युग 'ऋत' एवं सत्य का है। राज्य एवं न्यायपालिका का विकास उसी ऋत की परम्परा कार्यान्वित करने के लिए हुआ। वे स्वयं ऋत एवं सत्य की व्यख्या नहीं करते, अपितु सामाजिक आचारों में ऋत जिन विधियों से मूर्त रूप धारण करता है, उन विधियों को कार्यान्वित करने के माध्यम या साधन हैं।

ऋत में क्रमबद्धता, स्थिरता, निश्चयात्मकता आदि गुण रहते हैं और सामाजिक विधियाँ गतिमान्, विकासशील एवं अस्थिर रहती हैं। ग्रीक विधि व्यवस्था में नैसर्गिक विधि और सदाचार विधि में परस्पर असंगति आयी और उसका समाधान नहीं हो सका। भारत में विधि का मूल ही यह असंगति दूर कर विकसित होता है। इसमें सामाजिक विधि नैसर्गिक विधि पर आधारित की गयी एवं नैसर्गिक विधि का समाजीकरण किया गया। इस प्रक्रिया में विवेक का प्रयोग हुआ किन्तु यह नवीन विधि संहिताबद्ध कर निर्वैयक्तिक ही रखी गयी।

वेदों को आधार बनाने के लिए आचार्यों ने 'एकवक्यता' सिद्धान्त की स्थापना की। वे ही 'आचार एवं स्मृतियाँ प्रामाणिक मानी गयीं जिनका वेद से विरोध न हो। गौतम के अनुसार न्यायिक प्रशासन का निर्देशन वेद, शास्त्र, पुराण, अंग आदि से अविरुद्ध देश, जाति, कुल के आचार एवं कृषक, व्यापारी, कलाकार आदि वर्गों की परम्पराओं से होना चाहिए। अपने–अपने वर्ग में ही वे प्रमाण माने जायें।

इस प्रकार विधि के स्रोतों में वेद एवं धर्मग्रन्थ, सामाजिक संघटनों के आचार, नियम तथा परम्परा माने गये। आपस्तम्ब ने वेद की विधि का स्रोत अवश्य माना, किन्तु प्रथम स्थान 'धर्मज्ञ–समय' को ही दिया। इसीलिए परिषद, जाति–कुलाचार और, जिसे हरदत्त ने अर्थशास्त्र भी कहा है, उसकी भी समायता प्रमाण में ली जाती है। अन्य आचार्यों ने भी वेद के साथ स्मृति और शिष्टाचार को विधि का स्रोत माना है। मनु ने श्रुति, स्मृति और सदाचार के साथ आत्म–प्रेरणा या आत्मतुष्टि (स्वस्य च प्रियमात्मनः) को भी विधि का स्रोत माना है। मनु द्वारा प्रतिपादित विधि के 4 स्रोतों को याज्ञवल्क्य ने भी स्वीकार किया किन्तु उनके 'ज्ञापक हेतुओं' (स्थान) में 10 का और परिगणन किया गया है। याज्ञवल्क्य तक विधि के स्रोतों एवं उनके हेतुओं के विश्लेषण के निष्कर्ष से विधि का मूल स्रोत श्रुति है। उसके बाद स्मृति, शिष्टाचार, परिषद, इतिहास, पुराण, न्याय, मीमांसा आदि का स्थान है। इनमें इतिहास, पुराण, मीमांसा आदि स्वयं प्रमाण नहीं अपितु प्रमाण स्थिर करने में सहायक हैं। इसी प्रकार परिषद् सामाजिक संघटन है, जिससे विधि के स्रोतों की व्यख्या की जाती है।

प्रथम के आधार पर ही द्वितीय की समन्वय किया गया। साथ ही विभिन्न समाजों की विधि स्वीकार करने में उनके मूल ज्यों के त्यों स्वीकर किये गये। राज्य, समाज एवं विधि के परस्पर सम्बन्ध होने पर इस प्रकार का समन्वय एकदेशीय हो जाता है। किसी भी विधि एवं आचार को 'आम्नाय' (वेद) के विरूद्ध प्रमाण नहीं माना गया

फलतः अवैदिक परम्पराएँ या तो वैदिक परम्परा में समाविष्ट होने लगीं या मिट गयीं।

3.4.1 वेद

विधि के स्रोतों में वेद का स्थान सर्वप्रथम है। 'वेद' का अर्थ है ज्ञान। इस ज्ञान के स्वरूप–निर्धारण में मीमांसकों ने उसे अपौरुषेय (Eternal and self existant) रूप में स्थिर करने का प्रयास किया। अपौरुषेय की सत्ता स्थिर करने के लिए वेद को स्वतःप्रमाण (Self valid) माना गया। इस प्रकार के स्वतःप्रमाण्यवाद (The theory of intrinsic validity) के रूप हैं; प्रामाण्य की स्वयं उत्पत्ति (प्रामाण्यं स्वतः उत्पद्यते) और प्रामाण्य का स्वतः ज्ञान (प्रामाण्यं स्वतः ज्ञायते च)। शब्द एवं उसके अर्थ में नित्य सम्बन्ध होता है। स्वयं शब्द भी नित्य होते हैं। इस प्रकार अपौरुषेयत्व और स्वतः प्रामाण्य को अभिन्न मानते हुए मीमांसक नैयायिकों के इस विचार का भी खंडन करते हैं कि वेद ईश्वर कृत हैं। वे वेदान्तियों का शब्द सिद्धान्त भी अस्वीकार करते हैं।

मीमांसकों ने वेद को 5 भाग में विभक्त किया है– (1) विधि (Injuction), (2) मंत्र (Hymus; Sacrificial prayers), (3) नामधेय (Name), (4) निषेध (Prohibition) और अर्थवाद (Explanatory passages)। मीमांसकों द्वारा वेद की व्याख्याओं एवं उसके स्वरूप–निर्धारण में उपस्थित की गयी युक्तियाँ आग्रहस्त हैं। वे बौद्धों एंव जैनियों से होनेवाले वेद की अप्रामाणिता का उत्तर दे रहे थे अतएव निष्पक्ष न हो सके।

न्यायपालिका में विधि शब्द का प्रयोग विधि के अर्थ में न होकर जीवन के समग्र अंश में होता है। इस विधि का स्रोत समग्र वैदिक साहित्य है जिसमें चारों संहिताओं के साथ ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का भी ग्रहण होता है। संहिता में विधि की सामग्री अत्यन्त न्यून है। श्रौत एवं गृह्यसूत्रों का भी सम्बन्ध वेदों से है किन्तु इनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष या साक्षात् की अपेक्षा सम्प्रदाय एवं परम्परा से है। वेद को शश्वत ज्ञान एवं विधि का आगार, विश्व और विश्वात्मा का ज्ञापक मानने वाले भी वेद को ऋषियों द्वारा साक्षात्कृत (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः) मानते हैं। उनके अनुसार वेद के बहुत से अंश लुप्त हो गये और उनका ज्ञान सम्प्रदाय एवं परम्परा से हो सकता है।

वेदों के परस्पर विरोध में विधि, अर्थवाद और मन्त्र की व्यवस्था से समाधान होता है। एक सम्प्रदाय के अनुसार अर्थवाद और मन्त्र विधि के आधार नहीं हैं। केवल विधि वचन को विधि का आधार बनाया जा सकता है। कुमारिल और शबरस्वमी मीमांसा की व्यख्या मानते हैं कि वेद के सभी अंश आधार हैं। इतना अवश्य है कि वे आधार सीमाबद्ध हैं और उनका प्रयोग निश्चित एंव नियमित क्षेत्रों में हो सकता है। इस स्थिति में विधि के स्रोत में श्रुति के प्रयोग के दो माध्यम प्रस्तुत होते हैं– व्याख्या के प्रकार और लुप्त शाखाएँ एवं उनकी नित्य परम्परा। इस मान्यता से कुछ असंगतियाँ आ जाती हैं। एक तरफ मीमांसक व्यावहारिक या दृष्ट (अर्थ, काम) से वेद को अलग करते हैं। जिन विधियों का आधार वेद में नहीं मिलता उन्हें लुप्त शाखाओं पर आधारित मान लिया जाता है। वस्तुतः वेद को नित्य एवं अपौरुषेय बनाने में ही मीमांसक इस प्रकार की असंगतियाँ प्रस्तुत करते हैं।

यह सत्य है कि भारतीय समाज में उपलब्ध मूलभूत विधियों का आधार वेदों में उपलब्ध होता है। प्रारम्भ में विधि के लिए वेद ही एक मात्र प्रमाण थे और अन्य प्रमाण उसके पूरक थे। लेकिन आगे चलकर स्मृतियाँ, समयाचार, वेदज्ञ और परिषद् भी विधि के स्रोत में समानस्तरीय महत्त्व प्राप्त करने लगे।

एक धारा एक मात्र वेद पर आधारित है और दूसरी वेद से अविरुद्ध समाचार आदि पर। दूसरी धारा का विकास वेद से नहीं हुआ, उसका स्रोत समाज था किन्तु उसे वेद से अविरुद्ध रखने का प्रयास किया गया। इन दोनों धाराओं के स्पष्टीकरण में ही वेद की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

वस्तुतः भारतीय न्यायपालिका में विधि का स्रोत ऋत से प्रारम्भ होता है। ऋत के सामाजिक सम्बन्धों, तात्कालीन आचारों एवं नैसर्गिक विधि के प्रथम संहिताबद्ध रूप वेद हैं। संहिताबद्ध होने के बाद उपनिषदों तक विकसित होने वाली विधि के स्रोत तो वेद प्रत्यक्ष रूप से है लेकिन आगे की विधि के वे स्रोत नहीं आधार रह गये। ऋत से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने एवं उसका सामाजिक स्वरूप विधि (धर्म) के रूप में प्रस्तुत करने से वेद भारतीय समाज, न्यायपालिका एवं विधि के स्रोत और आधार बने रहे। उत्तरवर्ती काल में समयाचार, अवैदिक जातियों एंव युग की अन्य विधियों का विकास हुआ। उन्हें विधि के रूप में स्मृतियों ने व्यक्तत किया। इस प्रयास में स्मृतिकारों ने वेद की मूलभूत धारणा स्वीकार की क्योंकि ऋत से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखनेवाले वेदों को ही समाज अपना आदर्श मानता था। स्मृतियों में कितने ही अंश ऐसे है, जो वेदिक आधार पर तो स्थिर है किन्तु उनके स्रोत वेद नहीं हो सकते। उनका सम्बन्ध वैदिक काल के बाद के आचारों से है। विधि का उत्तरवर्त्ती संकलन वेद की धारणा से इतना सम्पृक्त था कि उसे वेद से अतिरिक्त न मान वेद को ही सभी का आगार मान लिया गया।

शबरस्वामी स्मृति का आधार वेद मानते हैं। मीमांसकों के अनुसार धर्म का सम्बन्ध वेद (शब्द) से है। उससे अतिरिक्त के प्रमाण की अपेक्षा (अनपेक्ष) नहीं है अथवा 'कर्तृसामान्यता' से स्मृति का अनुमान माना जा सकता है। जैमिनी के सूत्र (1/3/1–2) पर शबरस्वामी की टीका, अन्यान्य विमर्शों एवं अष्टकश्राद्ध सम्बन्धी विचारों का यही निष्कर्ष है। स्मृति पूर्णरूप से तभी प्रमाण मानी गयी जब वैदिकों ने उसे स्वीकार कर लिया। मनु 'पुरुषविशेष' थे। उनकी स्मृति का प्रमाण सर्वाधिक इसलिए रहा कि वह वेद की परम्परा से अत्यधिक (तत्त्वयुक्त अन्धपरम्परान्याय) निकट थे। इस प्रकार स्मृतियों का वैदिक आधार दो प्रकार से है– प्रत्यक्ष (साक्षात्) और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष में स्मृतियों का आधार वेदों के प्रत्यक्ष वचनों पर रहता है। अप्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष में स्मृतियों का आधार वेदों के प्रत्यक्ष वचनों पर रहता है। अप्रत्यक्ष में वैदिक वचन तो नहीं मिलते किन्तु उनके वैदिक आधार होने का 'अनुमान' किया जाता है। यह अनुमान विच्छिन्न न होनेवाली शिष्टों की परम्परा से होता है। इसी में धर्मशास्त्रकार प्रमाण माने गये। स्मृतियाँ जितने अंश में वेद के वचनों से साक्षात् सम्बद्ध हैं उनमें आधार का प्रश्न नहीं है। आधार की समस्या है स्मृति के उस अंश में है जिसका प्रत्यक्ष वैदिक आधार नहीं मिलता। प्रत्यक्ष आधार न मिलने का मुख्य कारण यह माना जाता है कि दीर्घकाल की परम्परा में वेद की बहुत सी शाखाएँ लुप्त हो गयीं। उनका व्यवहार समाज में परम्परा से होता रहा। कुमारिलस्वामी स्वयं मानते हैं कि स्मृतियाँ स्मृतिकारों की भाषा में बिखरी हुई शाखाओं का संकलन हैं। परवर्ती साहित्य का सम्बन्ध वेदों से इस प्रकार बना रहा कि जिन अंशों में वेद के वचनों का सम्बन्ध नहीं मिल सका, बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ा कि वेद का उतना अंश लुप्त हो गया। उस लुप्त हुए अंश का 'शिष्टों' ने परम्परा से अनुमान किया। इसलिए स्मृतियों को 'अनुमान' भी कहा जाता है।

वेद के साथ स्मृति के अप्रत्यक्ष आधार में स्मृति की वास्तविकता निहित है। अप्रत्यक्ष सम्बन्ध के माध्यम हैं– शिष्ट और परम्परा। अनुमान के आधार पर श्रुति–स्मृति का सम्बन्ध माने जाने पर कुछ समस्याएँ सामने आएँगी– (1) विश्व के किसी भी विचार

को कहा जा सकता है कि इसका आधार वेद है और वह लुप्त हो गया। स्वयं भगवान् बुद्ध ने कहा 'जो मैं कहता हूँ वही सनातन धर्म है। (2) यदि वेद और उसकी शब्द राशि (मीमांसकों के अनुसार) नित्य है तो उसका लोप कैसे हो सकता है? (3) श्रुति की किसी विद्यमान शाखा का अनुमान, जैसा कुमारिल मानते हैं, स्मृति है तो श्रुति के वचन ज्यों के त्यों क्यों नहीं रखे गये? वेदों की बिखरी हुई शाखाओं को क्रमबद्ध करना जैसा शास्त्रदीपिका ने माना है, स्मृतियों का तात्पर्य है। लेकिन इस प्रकार की आवश्यकता क्यों हुई? क्रमबद्ध करने का प्रकार और आधार क्या था? यदि इसमें शिष्ट और परम्परा को महत्त्व दिया जाय तो उस पर देश, काल, परिस्थिति और क्रमबद्ध करनेवाले शिष्टों के व्यक्तित्त्व का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। श्रुति और स्मृति में नित्य सम्बन्ध मानने या स्मृति को एक मात्र श्रुति आधारित करने में ऐसी अनेक समस्याएँ आती हैं जिनका समाधान कठिन हो जाता है।

3.4.2 स्मृतियाँ

विधि के स्रोतों में स्मृतियों का द्वितीय स्थान है। स्मृति का प्रयोग कुछ आचार्यों ने पारिभाषिक और कुछ ने सामान्य अर्थ में किया है। गौतम, वशिष्ठ औरा बौधायन ने स्मृति को 'वेद के जाननेवालों का स्मरण' माना है। पूर्वाचार्यों की व्याख्या स्वीकार करते हुए मनु ने भी स्मृति का अर्थ 'वेदज्ञों का स्मरण' माना और उसका प्रयोग धर्मशास्त्र के अर्थ में किया है।

स्मृति की परिभाषा एवं प्रामाणिकता आचार्यों ने जिस रूप में प्रस्तुत की है उसके तीन निष्कर्ष हो सकते हैं– स्मृतियों का वेद पर आधारित होना, वेद के ज्ञाता से स्मरण होना और समाज के आचार का परम्परा के माध्यम से वेद के साथ समन्वित होना। इसीलिए आपस्तम्ब ने 'समयाचारिक' शब्द के प्रयोग में विद्वानों की घोषणा, उनके आचार एवं वैयक्तित प्रस्ताव को मान्यता न दे कर 'वेद समर्थित आचार' को स्मृति के रूप में प्रमाण माना है।

3.4.3 श्रुति–स्मृति में विरोध

जब स्मृतियाँ वेद की अपेक्षा सदाचार आदि पर आधारित हैं तब वेद और स्मृति में भेद एवं विरोध होना अवश्यम्भावी है। मीमांसकों तथा अन्य परम्परावादी आचार्यों ने विरोध के स्वरूप एंव आधार की अपेक्षा इस पर अधिक बल दिया है कि विरोध दूर कैसे किया जाय?

कुमारिल श्रुति और स्मृति की अपेक्षा श्रुति और श्रुति में भेद को अधिक महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार 'श्रुति में परस्पर विरोध' 'तुल्यकक्ष' की प्रामाणिकता का विरोध है। इसमें 'विकल्प' या 'विषय–व्यवस्था' से समाधान करना चाहिए। अतएव जिस परम्परा में जो श्रुति का अंश व्यवहार में आता हो, वहाँ उसे ही महत्त्व देना चाहिए। श्रुति के साथ स्मृति के विरोध होने पर श्रुति को प्रामाणिक मानने के आधार इस प्रकार है। साक्षात् श्रुति वचन के 'हेतु' रहने पर स्मृति अप्रमाण है। श्रुति का सम्बन्ध दैवी है और स्मृति का मानवीय। श्रुति का विषय धर्म है औश्र स्मृति का अर्थ एवं काम अर्थात् लौकिक। इन आधारों पर स्मृति को वेद की अपेक्षा अप्रमाणिक सिद्ध करने में एक तथ्य सामने आता है। कुमारिल ने कहा, "स्मृति का आधार श्रुति है। फलतः अत्यन्त तुल्यहीन होने पर भी अत्यन्त बाध्यता भी नहीं हो सकती।" कुमारिल के इस प्रकार के निष्कर्ष की पृष्ठभूमि पर विचार करने पर श्रुति एवं स्मृति में विरोध के स्वरूप पर प्रकाश पड़ेगा।

कुमारिल ने श्रुति और स्मृति का प्रमाण क्षेत्र भी अलग कर दिया। श्रुति को धर्म (अदृष्ट) और स्मृति को अर्थ एवं काम (दृष्ट) से सम्बद्ध कर दिया गया। वे अपने क्षेत्र में अधिक प्रमाण मानी जातीं। यह आधार स्वीकार करते हुए स्मृति को 5 भागों में विभक्त किया– दृष्ट, अदृष्ट, दृष्टादृष्ट न्याय और शिष्टाचारमूलक। इस विभाग से स्मृति का क्षेत्र व्यापक हो जाता है। और वे व्यक्ति एवं समाज के लौकिक विधि विधान में अन्यतम रूप से प्रमाण बन जाती हैं। मीमांसक धर्म शब्द का सम्बन्ध केवल यज्ञीय विधि तक रखना चाहते हैं। कृषि, व्यापार, कला आदि 'आर्य म्लेच्छ' से सम्बद्ध होने से धर्म के विषय नहीं माने जाते। इस प्रकार स्मतियों की व्यापकता और श्रुति का संकोच स्पष्ट हो जाता है। धर्म के व्यापक अर्थ को मीमांसकों ने अत्यन्त संकुचित कर दिया। स्मृति की व्यापकता होने से न्यायपालिका के समग्र अंश में उसे ही आधार मानना पड़ा। व्यवहार में स्मृति को ही आधार माना गया। उसमें श्रुति, से विरोध का प्रश्न ही नहीं रहा क्योंकि श्रुति की विध न्यायपालिका नहीं यज्ञ में व्यवहृत होने लगी। दोनों के कार्यक्षेत्र अलग कर विरोध का वास्तविक परिहार किया गया।

स्मृति की इस प्रकार की व्यापकता के मूलभूत आधार हैं। ऐसे आधार केवल श्रुति पर आधारित होने से नहीं हो सकते थे। तथ्य तो यह है कि स्मृतियों को संहिताबद्ध करने में ऋषियों ने श्रुति का विवरण प्रकार भी छोड़ दिया। श्रुतियाँ प्रायः विवरण के गर्भ में अप्रत्यक्ष रूप से विधि–निषेध का संचय करती है। स्मृतियाँ विधि और निषेध दोनों प्रस्तुत करती हैं। स्मृतियों की व्यापकता का मुख्य आधार है उसका समाज से साक्षात् सम्बन्ध रखना। यह सम्बन्ध श्रुति के माध्यम से भी व्यक्त होता रहा। परम्परा से चलनेवालह श्रुति की किसी लुप्त शाखा का 'अनुमान' शिष्टों के माध्यम से हुआ। फलतः उसमें शिष्टाों का आचारण और व्यक्तित्व भी 'अनुमान' में आ गया। स्मृति के संहिताबद्ध होने से में श्रुति के आधार के साथ शिष्टों के आचरण, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ और देश की समस्याओं का स्पष्ट प्रभाव रहा है। स्मृतियों में ऐसे अंश उपलब्ध हैं जो अलिखित विधि की प्रतिध्वनि प्रस्तुत करते हैं। स्पष्ट है कि स्मृतियाँ समाज की ओर व्यावहारिक रूप से उन्मुख रहीं और सामाजिक व्यवहार में उनका महत्त्व अधिक रहा। मेन के अनुसार 'श्रुति का कोई वैधानिक महत्त्व नहीं है। विधान में स्मृतियाँ ही मान्य हैं।' जाली भी मानते हैं कि 'श्रुतियाँ विधि की अपेक्षा आचार के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

समाज की परम्परा, रीति–रिवाज, व्यवहार, आचार एवं सदाचार को संहिताबद्ध करने में स्मृतियों ने श्रुति की परम्परा का समन्वय करने का प्रयास किया। इसमें अवैदिक आचारों को विधि का स्रोत नहीं होने दिया गया। वैदिक परम्परा को व्यवहार में लाने में देश एवं काल का प्रभाव टीकाकारों तक में अभिव्यक्त होता रहा। मिताक्षरा, भोजदेव, विश्वरूप और श्रीकर से और बंगाल में मिताक्षरा से दायभाग इसलिए अधिक प्रचलित हो गया कि वे वहाँ की सामाजिक समस्याओं के साथ अधिक सन्निकट थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रुति की परम्परा के साथ समाज की आचार आदि को भी स्मृतियाँ संहिताबद्ध करती रहीं। वे इस कार्य में जितनी सफलता पा सकीं, उतने अंश में व्यापक रूप से विधि के स्रोत बनी रहीं।

3.4.4 सदाचार

विधि के स्रोतों में श्रुति–स्मृति के बाद सदाचार का तृतीय स्थान है। सदाचार, आचार (Usage), परम्परा और समय (Convention) के माध्यम से जनशक्ति विधि का आधार बन जाती है।

कात्यायन ने आचार (Usage) को 'देशदृष्ट' कहते हुए उसकी व्याख्या इस प्रकार की है, 'वे क्षेत्र विशेष में व्यवहृत हों, उनकी दीर्घ परम्परा हो और वेद एवं स्मृति से उनका विरोध न हो।' 'सदाचार का आधार शिष्टों का आचरण माना गया है। शिष्ट समाज के जागरूक प्रतिनिधि होते हैं। भारतीय न्यायपालिका को एकरूप में विकसित करने वालों ने 'शिष्ट' शब्द की परिभाषा इस प्रकार की है, जिससे अवैदिक शिष्टों के आचार स्वीकृत नहीं हो सके। इसके साथ वैदिक आधार दृढ़ रखने से वैदिक परम्परा में ही नियमविरूद्ध कार्य करनेवाले शिष्टों के आचार अपवाद रहकर सार्वभौम नहीं हो पाये। इस प्रकार भारतीय न्यायपालिका में देश, काल एवं समाज के आचार को सदाचार माना गया और उसे वैदिक परम्परा पर स्थिर रखने का प्रयास किया गया।

3.4.5 स्थानीय सदाचार

मेन वैयक्तिक, धार्मिक, कौटुम्बिक, स्थानीय और दैशिक आचारों के विश्लेषण से इस निष्कर्ष पर आते हैं— (1) कुछ पहाड़ी जातियाँ हैं जिनसे स्मृतियों का कोई सम्बन्ध नहीं, (2) कुछ जातियाँ हैं जो स्मृतियों का प्रभाव तो स्वीकार करती हैं किन्तु उनका व्यवहार नहीं करतीं, (3) कुछ जातियाँ आंशिक रूप में स्मृतियों का व्यवहार करती हैं और (4) कुछ जातियों के लिए स्मृतियों का व्यवहार अवश्य रहा है।

3.4.6 सदाचार और स्मृतियों में विरोध

स्मृति एवं सदाचार दोनों स्वतन्त्र भी हो सकते हैं और वेद पर आधारित भी। दोनों में मतभेद हो जाने पर कुमारिल के अनुसार 'स्मृति का साक्षात् सम्बन्ध वेद से होने से वह आचार की अपेक्षा अधिक प्रमाणिक है।' सदाचार में क्षेत्रीयता, अस्थिरता और व्यक्ति के विचारों का प्रभाव रहता है। मातुलकन्या—विवाह को विधि का रूप देने वाले आपस्तम्ब को भी देश और कुल का आचार मानकर चलना पड़ा। फलतः वह विधान एकदेशीय हो गया। मनु परम्परा का आदर करते हैं। लेकिन वह आदर गौतम से अधिक स्पष्ट होता है "देश, जाति और कुल के धर्म वेद से विरुद्ध प्रमाण नहीं हो सकते।" कुमारिल ने आपस्तम्ब वचन को स्मृति विरुद्ध होने से ही प्रमाण नहीं माना।

मनु ने भी श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्मप्रिय को विधि—स्रोतों में गिनाया है। समाज की स्वीकृति और मान्यता में परिवर्तन होने के साथ ही सदाचार की परिभाषा भी बदलती रही है। प्रारम्भ में वेद—विद् ब्राह्मण शिष्टों का आचार ही सदाचार माना गया। परवर्ती काल में शिष्टों का आचार और अन्त में शूद्रों के लिए शूद्रों का भी आचार सदाचार मान लिया गया। अन्ततः क्षेत्रीय आचारों को भी श्रुति—स्मृति से विपरीत होते हुए भी स्वीकार कर लिया गया। मध्ययुगीन आचार्यों ने ऐसे किसी भी धर्म को मान्यता नहीं दी, जो लोक विद्वेषकारक हों। मनु औश्र याज्ञवल्क्य आदि ने भी 'लोकविद्विष्ट धर्म' का बहिष्कार किया है। मिताक्षरा ने पूर्व प्रचलित मधुपर्क में गोवध—निषेध तत्कालीन समाज मान्यता के आधार पर ही माना है।

देश, कुल और जाति के आचारों को वेद से अविरुद्ध प्रमाण मानने की भी परम्परा नहीं चल सकी। उनसे विपरीत उक्त आचारों को भी आचार्यों ने मान्यता दे दी। स्थानीय स्वतन्त्रता की स्वीकृति में ग्रामाचार को भी स्वीकार कर लिया गया। इसी प्रकार कुल और जातीय आचार को मान्यता दी गयी। विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों के ऐसे आचार थे जो श्रुति—विपरीत थे और वे सम्प्रदाय श्रुति में विश्वास भी नहीं करते थे, किन्तु उन्हें मान्यता दी गयी। श्रेणी, निगम एवं पाषण्डि—गणों में कुछ आचार ऐसे थे, जो वैदिक मान्यता में विश्वास न रखते हुए भी राज्य द्वारा संरक्षित थे। राज्य उनके आचार निर्णय में उन्हें ही प्रमाण मानता था। इनमें बौद्ध और जनसंघों का भी अस्तित्व था। इतना

होते हुए भी अभारतीयों के साथ सम्बन्ध न रखने का प्रयास किया गया। नास्तिक एवं पाषण्डियों के आचार को उनके विवाद में ही प्रमाण माना गया। समाज के सम्बन्ध से उन्हें दूर ही रखा गया। उनका साक्ष्य भी मान्य नहीं था। राज्य का सदा प्रयास सर्वधर्मसंरक्षण था। इस आधार पर ही सभी सम्प्रदायों की स्वतन्त्रता थी। उन्हें सार्वभौम रूप धारण करने के लिए सार्वभौम आचार स्वीकार करने पड़ते थे। लेकिन इतना तो स्पष्ट ही है कि स्मृति से स्वतन्त्र भी सदाचार विधि के स्रोत बने रहे।

3.4.7 विधि के अन्य स्रोत

इतिहास और पुराण को कुमारिल भट्ट अर्थवाद के स्तर पर लाते हैं। इतिहास एवं पुराण की विधि, सार्थवाद, अर्थवाद आदि शैलियाँ हैं। इनके कुछ आख्यान वेदों पर आधारित हैं और कुछ अपने देश एवं काल को स्थिति का चित्रण करते हैं। कुमारिल ने इतिहास को 'योगज–प्रज्ञा' से मुक्त कर उसे सापेक्षवादी आधार पर स्थिर किया। इतिहास में रामायण एवं महाभारत मुख्य हैं। मेकडॉनल के अनुसार '5 वीं शती के आसपास महाभारत का प्रमाण स्मृतियों के समान ही था।' जॉली के अनुसार दोनों महाकाव्य विशेषतया महाभारत विधि के स्रोत के रूप में उद्धृत किये जाते थे। बूलर ने प्रमाणित किया है कि तीसरी शती से 5 वीं शती तक महाभारत स्मृतियों के समान प्रमाण माना जाता था। विण्टरनित्ज भी मानते हैं कि 'साहित्यिक तथा शिलालेखों के आधार पर 5 वीं शती के आसपास महाभारत का प्रमाण स्मृतियों के समान था। शान्तिपर्व के राजधर्म एवं आपद्धर्म और अनुशासनपर्व विधि–संहिता के रूप में स्वीकार किये जाते थे। वस्तुतः वे अध्याय मनु के समानस्तरीय भाव व्यक्त करते हैं।' काणे महोदय की मान्यता है कि 'इन महाकाव्यों को निबन्धकारों ने धर्म के स्रोत के रूप में स्वीकार किया है।'

निबन्धों एवं टीकाग्रन्थों का भी उपयोग विधि के स्रोत में सहायक के रूप में किया जाता है। मेधातिथि, विश्वरूप, अपरार्क एवं विज्ञानेश्वर से लेकर लक्ष्मीघर प्रभृति टीकाकारों ने वैदिक परम्परा प्रस्तुत करने के लिए मीमांसा पद्धति स्वीकार की। उन्होंने न्याय, अतिदेश, अर्थवाद आदि पद्धति से स्मृति के वचनों में समन्वय किया। इसमें व्याख्याकारों ने साम्प्रदायिक (परम्परावादी) होने के साथ युग–समस्या का भी समाधान करना चाहा। इसमें स्मृति के स्थान पर सदाचार का प्रभाव स्वीकार किया गया। स्मृति एवं टीकाओं में परस्पर भेद भी हुआ। मेधातिथि ने सम्पत्ति विभाग सम्बन्धी कुछ नियमों को वर्तमान युग में अव्यावहारिक कहा है। अवैदिक सम्प्रदायों के साथ पाशुपत, शैव, लिगायत एवं योगियों जैसे सम्प्रदायों के आचारों की समस्या टीकाकारों के सामने थी। उनके आचार अवैदिक थे लेकिन वे स्वयं उन्हें वैदिक मानते थे। टीकाकारों ने उन्हें अवैदिक ही माना। टीकाकारों ने समाज की शक्ति पर अधिक जोर दिया। उन्होंने समाज एवं उसकी परम्परा जानने वालों के विपरीत (लोकविद्विष्ट और लोकविद्–द्विष्ट) विधि को प्रमाण नहीं माना। निष्कर्ष यह कि इन्होंने देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार ही वैदिक विधि का प्रयोग किया। विज्ञानेश्वर ने स्पष्ट लिखा कि समाज द्वारा स्वीकार की जानेवाली विधियाँ ही मान्य होंगी। अपरार्क के अनुसार विधि या वेद से विहित होने पर भी वे समाज में अस्वीकृत होने से प्रामाणिक नहीं मानी जायँगी।

विधि की व्याख्या एवं उसे दिशा देने में परिषद् का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। इसका मूल ऋग्वेद से ही प्रारम्भ हो जाता है किन्तु सूत्र एवं स्मृतियों तक विधि की व्याख्या एवं घोषणा में परिषद् सर्वमान्य संस्था हो जाती है। गौतम अनुसार 'जहाँ कोई विधि ज्ञात न हो उसमें 10 वेदज्ञ ब्राह्मणों की परिषद् ही प्रमाण मानी जायगी।' परिषद् की सदस्यता और उनकी योग्यता से स्पष्ट हो जाता है कि यह शुद्ध वैदिक संस्था थी।

इस प्रकार आदिम समाज से मध्य युग तक भारतीय न्यायपालिका में विधि के स्रोत का प्रवाह नियमबद्ध रूप में प्रवाहित होता रहा। वेदों से निबन्धों तक एक परम्परा चलती है। इतनी दीर्घकालीन परम्परा में भी विधि की एकरूपता सुस्थिर रही और उस पर पड़नेवाले प्रभाव भी स्वी कार किये गये। प्रभावों को एक आधार पर स्वीकार करने से विश्रृंखलता नहीं आयी। स्पष्ट है विधि का मुख्य स्रोत समाज रहा। वह उस पर श्रुति, स्मृति एवं सदाचार के रूप में अपनी स्वीकृति व्यक्त करता रहा। फलतः विधि समाज से विकसित होकर समाज के लिए विधान प्रस्तुत करने में सर्वोच्च हो जाती है। यही भारतीय न्यायपालिका में विधि–सम्प्रभुता की पृष्ठभूमि है।

3.4.8 राज्य और सदाचार

देश, जाति, संघ, निगम आदि के आचारों में परिवर्तन होने पर राज्य उन्हें वैसी ही मान्यता देता जैसे शिष्टों के आचार को। श्रुति–स्मृति के विपरीत किसी भी आचार को मान्यता न देनेवाले याज्ञवल्क्य ने स्थानीय आचारों को राज्यविधि द्वारा कार्यान्वयन की स्वीकृति दी। कौटल्य ने तो उत्तराधिकार में भी देश, जाति, संघ और ग्राम के आचार को प्रमाण माना है। शास्त्रकार यह मानते थे कि कोई भी आचार सार्वभौम नहीं हो सकता। अतएव विभिन्न प्रकार के आचार राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त थे।

जिन जातियों में पूर्वजों से आचार चला आ रहा है, संस्कारवश वे उसे अच्छा समझते हैं, सार्वभौम नैतिकता के विपरीत होते हुए भी उन्हें व्यवहार की स्वतन्त्रता राज्य की ओर से होनी चाहिए। इतना अवश्य है कि राज्य विधि में उसका समावेश नहीं हो सकता था अन्यथा अन्यों में उसके प्रसार की सम्भावना हो सकती थी। राज्य को सार्वभौम नैतिकता का प्रसार करना चाहिए। इससे सम्भव है कि अनैतिक आचारों को नैतिक माननेवाली जातियाँ अपने व्यवहारों में स्वयं संशोधन कर लें। लेकिन कौटल्य यह भाव नहीं स्वीकार करते। उनका विचार है कि राज्य कहीं भी सार्वभौम नैतिकता का विरोध न स्वीकार करे। बृहस्पति ने भी अनैतिक जातीय आचारों को इस आधार पर अवसर दिया है कि उनके विपरीत राज्य शक्ति के प्रयोग से क्रान्ति का भय है। इससे जनक्षय, कोश और वल का ही नाश होगा। इससे स्पष्ट है कि वे भी ऐसे आचारों को राज्य द्वारा मान्यता देने के पक्ष में नहीं हैं। व्यवहारप्रकाश ने ऐसे आचारों का प्रायश्चित्त माना है और यदि वे अपनी जाति, देश और कुटुम्ब से अन्यत्र भी इसका प्रयोग करें तो राज्य द्वारा दण्ड्य होंगे। देशाचार और कुलाचार की परिभाषा देते हुए कात्यायन ने निर्देश किया है कि इनके अनुसार राज्य व्यवहार निर्णय कर उसे राजमुद्रा से स्वीकृति प्रदान करे। इससे उन आचारों का प्रयोग भविष्य में उदाहरण के रूप में किया जा सकता है। कात्यायन ने इन आचारों में हेतु लगाया– परम्परा प्राप्त और श्रुति स्मृति से अविरुद्ध होना। ऐसे ही स्थानीय आचारों पर राज्यनिर्णय आधारित था।

3.4.9 आत्मतुष्टि

मनु के समय तक श्रुति, स्मृति और सदाचार के साथ आत्मतुष्टि (ैंज पे ।हतममंइसम जव वदमश`वनस) को प्रमाण माना गया। प्रमाण के लिए गौतम शिष्टाचार के साथ स्पष्ट देखते हैं कि शिष्ट धर्म के मार्ग से च्युत हुए हैं। इस प्रकार यदि परस्पर असंगतियाँ प्रस्तुत होती हैं तो उस समय 'आत्मतुष्टि' से निर्णय करना चाहिए। आत्मतुष्टि का प्रयोग उसी समय करना चाहिए जब श्रुति, स्मृति और सदाचार से निर्णय नहीं हो पाता। इसलिए उसे विधि के स्रोत के स्थान पर सन्देह निवारण का साधन मानना अधिक उपयुक्त होगा। व्याख्याकारों ने भी विकल्प में ही आत्मतुष्टि को

प्रमाण माना है। आत्मतुष्टि से भारतीय न्यायपालिका में विवेक एवं व्यक्तिगत निर्णय के सिद्धान्त (Justice, equity And good consci ousness) का विकास हुआ। याज्ञवल्क्य ने इसे 'न्याय' कहा है। इसका उपयोग भारतीय न्यायपालिका में सदा होता रहा और आधुनिक काल तक हिन्दू विधि (Hindu Law) में मान्य रहा। इससे व्यक्ति के न्याय पाने के अधिकार का विकास हुआ।

3.5 सन्देह के निर्धारण में प्रमाणों का प्रयोग

विधि–प्रक्रिया में पळचवयव–न्याय द्वारा सन्देह का निवारण किया जाता है। न्याय शब्द को तर्क के समानार्थी प्रयुक्त तो किया जाता है किन्तु यह तर्कशास्त्र के समरूप नहीं है। समाजिक ज्ञान व्यवहार के संज्ञानात्मक बोधों की पहचान और उसका उपयोग होता रहा है। उसमें संशय एवं विपर्यय प्रमुख हैं। संशय एवं विपर्यय को पहचान कर सत्य ज्ञान तक पहुंचा जाता है। विपर्यय – एक असत्य निर्णय है जो पहले तो सत्य के रूप में स्वीकार्य किया जाता है किन्तु वैध प्रमाणों के आधार पर इसकी असत्यता सिद्ध होने पर असत्य मान लिया जाता है।

कभी–कभी समाजिक जीवन में किसी घटना को लेकर जो संशय उत्पन्न होते हैं उसे लेकर कई निर्णय उत्पन्न होता है। जहां हम किसी एक निर्णय पर स्थिर नहीं हो पाते उस स्थिति को संशय कहते है। प्रमाण में अर्थविषयकत्त्व, असंदिग्धत्त्व और यथार्थत्त्व आवश्यक है।

विधिशास्त्र में संदेह प्रारम्भिक अवस्था नहीं है। भारतीय दर्शन में जिज्ञासा सन्देह का ही एक विकसित रूप है। जैन दर्शन में संशय को 'इह' के अन्तर्गत रखा गया है।

3.6 विधिशास्त्र में प्रमाण सिद्धान्त का प्रयोग

विधिशास्त्र में प्रमाण–सिद्धान्तों का मूलरूप से प्रयोग निम्नरूपों में होता है–

i. साक्ष्य में प्रत्यक्ष को श्रेष्ठ प्रमाण के रूप में उपयोग

ii. अर्थ निर्धारण तथा हेतु निर्धारण में अनुमान का प्रयोग खासकर घटना के अदृष्ट कारणों की मीमांसा में अनुमान के व्याप्ति सिद्धान्त का उपयोग

iii. कानून के वाक्यों को अर्थ निर्धारण में मीमांसा–दर्शन में प्रतिपादित न्यायों का उपयोग किया जाता है। मुख्यरूप से दो न्याय समन्वित होते हैं। पहला प्रकरण रूपी सन्दर्भ न्याय तथा दूसरा असळजात विरोधी न्याय का उपयोग होता है।

उदाहरण स्वरूपः– मनुस्मृति में स्त्रियों सम्बन्धि आचार का प्रावधान का उक्त न्याय का उपयोग नहीं करने विवादित अर्थ की प्राप्ति होती है। श्लोक के चतुर्थ चरण के रूप में विद्यमान इस वाक्य का पूर्ववर्ती तीनों वाक्यों के आलोक में आलोचना करने पर 'स्त्रियों को हमेशा सुरक्षित रहना चाहिए अर्थात् स्त्रियों की समुचित सुरक्षा की जानी चाहिए इस विवादित अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। पूरा श्लोक द्रष्टव्य है–

> पिता रक्षति कौमारे यौवने पतिः रक्षति।
> पुत्राः रक्षन्ति वार्द्धक्ये न स्त्री स्वातन्त्र्यर्महति।।

उपसंहारात्मक इस वाक्य में स्वतन्त्र्य रूपी अर्थ के अभावात्मक परतन्त्र अर्थ को छोड़कर वाक्य का रक्षित के अभावात्मक स्वरूप वाला "असुरक्षित नहीं रहना चाहिए" ऐसा क्यों माना जाय? इस प्रश्न के समाधान के लिए द्वितीय असळजात विरोधी न्याय

को मानना आवश्यक है।

असळजात विरोधी न्याय के अनुसार पूर्व पदार्थ उत्तरवर्ती पदार्थ से प्रबल होता है। इसलिए भूमिकात्मक वाक्यो के साथ विरोध होने पर उपसंहारात्मक वाक्य में स्वरूप परिवर्तन किया जाता है। इसीलिए यहीं पर पूर्ववर्ती तीनों वाक्यों में रक्षित शब्द होने से चतुर्थ वाक्य के स्वतन्त्र को 'गुणे त्वन्यायकल्पनात्' नियम से रक्षित शब्द में बदला जाता है तथा आगे विद्यमान नञर्थ के साथ समन्वय करके अरक्षित नहीं रहना चाहिए, अर्थात् सदा सुरक्षित रहना चाहिए।

मीमांसाशास्त्र के इस बर्हिन्याय के आधार पर ही सर्वत्र परतन्त्र वाक्यों के अर्थ निर्धारण में सन्दर्भरूपी प्रकरण के अवलोकन की अनिवार्यता मानी गयी है।

वाक्यार्थ निर्णय में सन्दर्भ रूपी प्रकरण की अवलोकन की अनिवार्यता सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय में भी मानी गयी है। सर्वोच्च न्यायालय ने उत्तर प्रदेश भूदान यज्ञ समिति तथा उद्योगपति बृजकिशोर के बाद में इसे स्पष्ट किया है। प्रकरण यह था कि बृजकिशोर नाम के उद्योगपति ने उसके पास भूमि न होने के आधार पर उत्तर प्रदेश भूदान यज्ञ समिति से भूमि की मांग की। उसकी मांग अस्वीकृत हो गयी। न्यायालय का तर्क था कि भूदान यज्ञ समिति का उपक्रम केवल भूमिहीनों के लिए नहीं है बल्कि भूमिहीन किसानों के लिए है। इस सन्दर्भ को बिना देखे भूमि की मांग की गयी है। अतः यह मांग सर्वथा अनुचित है। माननीय न्यायालय के इस निर्णय में मीमांसाशास्त्र का प्रयोग हुआ है।न्यायिक प्रशासन में दो मूलभूत सिद्धान्त क्रियाशील होते है– अपने वादे (Promises) के पूर्ण करना और किसी को क्षति न पहुँचाना। इनके उल्लंघन से विवाद प्रारम्भ होता है। बृहस्पति ने दो प्रकार का विवाद माना है– अर्थ और क्षति सम्बन्धी। याज्ञवल्क के अनुसार अर्थविवाद 14 प्रकार के है तथा हिंसावाद 4 प्रकार के है। बृहस्पति तथा नारद के अनुसार प्रत्येक न्यायिक प्रक्रिया में मुख्यतः चार पाद या अंग होते हैं–पूर्व, उत्तर, क्रिया और निर्णय। पाश्चात्य विचारक सामण्ड ने न्यायिक प्रक्रिया के 5 भेद बताये हैं– आह्वान (Summons), विचार (Puading), प्रमाण (Prof), निर्णय (Judgement) तथा कार्यान्वयन।

किसी भी विवाद में दो पक्ष होते हैं वादी तथा प्रतिवादी। प्रतिवादी के उत्तर जो वादी द्वारा प्रस्तुत आक्षेप में दिये जाय उनको चार भागों में विभक्त किया गया हैं नारद के अनुसार इसे मिथ्या, सम्प्रतिपत्ति, प्रत्यवस्कन्द और प्राङ्न्याय विधि या साध्य इन चार भागों में विभक्त किया गया है उसे हमे–परीक्षा (Traverse), कारण (Demurrer), सत्य (Confession) तथा पराङ् मुखता (Avoidance) कह सकते हैं।

आवेदन या प्रतिज्ञा से व्यवहार का प्रथम पद प्रारम्भ होता है यही व्यवहार का मूल है। आवेदन को प्रतीक्षा, भाषा, पक्ष, पूर्वपक्ष या वाद भी कहते हैं। इसमें काल, वर्ष, मास, पक्ष और तिथि लिखनी चाहिए। तथा वेला, प्रदेश, विषय, स्थान, जाति, आकृति, वय, साध्य द्रव्य, प्रमाण, संख्या तथा अपना नाम भी लिखना चाहिए। इसके साथ ही साध्य का नाम, निवास, पिता का नाम, पीड़ा देने वाले का नाम आदि बातें भी लिखनी चाहिए। नारद ने प्रतिज्ञा की शुद्धि का बल दिया है। उनके अनुसार कोई बिन्दु इधर–उधर हो जाय, कोई अक्षर घिसा पिटा हो, अर्थ घटा–बढ़ाकर दिया हो, प्रतीज्ञा पत्र किसी भी प्रकार से भ्रष्ट हो गया हो तो वह ग्रहण योग्य नहीं है।

पूर्वपक्ष तथा उत्तर पक्ष की कार्यवाही के वाद निर्णय के अवसर पर प्रमाणों की आवश्यकता होती थी। न्यायिक प्रक्रिया के प्रमाण चार हैं– 1. लिखित, 2. भुक्ति, 3. साक्षी, 4. दिव्य। इनमें क्रमशः प्रथम दूसरे से अधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रमाणिक है।

आचार, व्यवहार, प्रायश्चित में प्रमाणों का अनुप्रयोग व्यवहार के लिए होता है।

प्रश्न : क्या हिन्दू न्याय तन्त्र न्याय के मामले में पूर्णतः स्वायत्त है?

उत्तर : न्याय तन्त्र की स्वतन्त्रता हिन्दू प्रणाली की यह प्रमुख विशेषता है। न्याय तन्त्र संस्था तथा अपने विधि दोनों रूप में स्वतन्त्र था हिन्दू न्याय तन्त्र कार्यपालिका से न्यायपालिका को पृथक रखने वाला पहल न्याय व्यवस्था है। इसने इसे सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों रूप में लागू किया विनय पिटक के अनाथपिण्डक तथा जेतवन प्रकरण में इसका उज्जवल परिचय मिलता है। कथा में राजकुमार तथा सामान्य नागरिक अपनी फरियाद न्यायालय में ले जाते हैं तथा कोर्ट ने राजकुमार के विरूद्ध निर्णय दिया। राजकुमार ने इस अभियोग को स्वीकार किया क्योंकि राजकुमार भी कानून से बंधा हुआ है।

हिन्दू न्याय तन्त्र में जज/न्यायाधीश की नियुक्ति कानूनविद् करते थे। कानूनविद् जो धर्म की व्याख्या करते थे। कानूनविद् या विधि व्याख्याता ब्राह्मण होते थे। शतपथ ब्राह्मण तथा जातकों में यह तथ्य आया है कि ब्राह्मणों का विभाजन दो वर्गों में था– (1) पुरोहित–वर्ग तथा (2) मंत्री–वर्ग या बौद्धिक वर्ग।

3.7 न्यायिक प्रक्रिया

i. कोई विधिक प्रक्रिया बिना शिकायत के नहीं प्रारम्भ होती थी।

ii. केवल तथ्यगत समस्या पर विचार होता था।

साक्ष्य का नियम

लिखित

मौखिक एवं दृष्ट साक्ष्य का प्रभाव कम होता है। उसमें विस्मरण तथा उसके कारण अवान्तर असंगतियाँ प्रस्तुत होने लगती है। लेकिन लिखित प्रमाणों में इन भ्रान्तियों की अपेक्षा नहीं रहती। लेख्य प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं– राज्यलेख्य, स्थानकृत और स्वहस्तालिखित। राजा के सामने उसके द्वारा नियुक्त कायस्थ द्वारा लिखित, मध्यस्थ कर चिन्ह्ति लेख्य को राजसाक्षिक या राजलेख्य कहा जाता है। राजा द्वारा नियुक्त कायस्थ द्वारा किसी महत्त्वपूर्ण स्थान पर लिखा और साक्षियों द्वारा प्रमाणीभूत स्थानकृत लेख है। अपने हाथ से लिखे हुए में राजा की मुद्रा या साक्षी की अपेक्षा कम पड़ती है। देशाचार के विरूद्ध लिखा हुआ लेख्य प्रमाण नहीं माना जाता। उसमें लेख्य के सभी नियमों का पालन होना आवश्यक है। उस पर उभय पक्षों का हस्ताक्षर, तिथि, स्थान, पिता–नाम, साक्षी–नाम आदि का उल्लेख अवश्य हो।

भुक्ति या भोग

गौतम ने उत्तराधिकार, विक्रय, विभाग, कब्जा (जंगली भूमि आदि जिस पर किसी का अधिकार नहीं रहता) और प्राप्ति (किसी अज्ञात व्यक्ति की खोयी वस्तु की प्राप्ति) से स्वत्व की स्थापना माना है।

साक्षी

लिखित और भुक्ति के अभाव में साक्षी का प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है। दण्डापराधविधि में साक्षी अधिक उपयुक्त प्रमाण है। विवाद के निर्णरू का विशेष आधार साक्षी पर निर्भर करता है। वादी के पक्ष को पूर्व सिद्ध मान लेने पर प्रतिवादी को साक्षी प्रस्तुत करना पड़ता है। वादी प्रतिवादी के भी साक्षी से अपना पक्ष सिद्ध

करने का प्रयास करता है। साक्षी मर जाय या विदेश चला जाय तो उससे अभिहित साक्षी प्रमाण माना जा सकता है। यदि साक्षी उपस्थित होने की स्थिति में न हो तो 3 विद्वानों के सामने उसका साक्ष्य प्रमाणित कराया जा सकता है। स्वयं देखने एवं प्रामाणिक सूत्रों से सुनकर तथ्य प्रस्तुत करने वाले को प्रमाण माना जाता है। किंवदन्ति या अप्रामाणिक स्रोतों से प्राप्त तथ्य वाले साक्षी को न्यायालय नहीं स्वीकार करता। अयोग्य साक्षियों को नारद ने पाँच भागों में विभक्त किया है– 1. ब्राह्मण, वृद्ध, तपस्वी, आदि किन्तु उन्हें साक्षी न होने का हेतु नहीं दिया। 2. चारे, डाकू, जुआड़ी आदि, 3. भेद–वक्ता–परस्पर विरोधी वचन बोलने वाला, 4. स्वयं नियुक्त अर्थात् किसी पक्ष से नियुक्त नहीं किया गया है किन्तु स्वयं उपस्थित हो गया और 5. मृत–साक्षों के गुण तो है किन्तु मृत है। इसमें नारद ने अपवाद भी दिया है।

साक्षी–परीक्षा

साक्षी का उभय पक्ष सम्मत होना आवश्यक है। व्यास का कहना है कि 'खुले न्यायालय में साक्षी पर लिखित रूप से आक्षेप किया जा सकता है और साक्षी उसकी सफाई प्रस्तुत करें'। आक्षेप स्वीकार करने पर साक्षी को साक्ष्य का अवसर नहीं मिलता और अन्य साक्षी प्रस्तुत करना पड़ता। यदि आक्षेप असत्य होते तो साक्षी को साक्ष्य प्रस्तुत करने का अवसर मिलता।

साक्षीयों में परस्पर मतभेद

यदि साक्षियों के मौखिक बयान में मतभेद होता है तो बहुमत जिस पक्ष में हो उसी की प्रमाण मानना चाहिए। यदि संख्या समान है तो विद्वान् ब्राह्मण के वचन का प्रमाण मानना आवश्यक होता है। उनकी भी संख्या समान होने पर उनमें भी श्रेष्ठतम और उभय पक्ष के विश्वस्त व्यक्ति को ही प्रमाण मानना आवश्यक होता है। इस प्रकार संख्यात्मक बहुमत गुणपरक हो जाता है।

दिव्य साक्ष्य

दिव्य का तात्पर्य ही है कि 'जहाँ मानुष प्रमाण विवाद के निर्णय में असमर्थ हो जाये उनमें निर्णय का माध्यम'। जहाँ साक्षी उपलब्ध नहीं हों वहाँ दैवी क्रिया सर्वथा वर्जित है। यदि पक्षविशेष दैवी प्रमाण प्रस्तुत करता है और वह पूर्ण तथा सुव्यवस्थित है, तथापि उसे मानुषी प्रमाण के सामने त्याज्य माना जाता जायगा। जंगल, रात्रि, साहस, पारूष्य, एकान्त तथा ऐसे स्थान के प्रमाण के लिये दिव्य प्रमाण अपेक्षित हो जाता है, जहाँ मानुष प्रमाण सम्भव ही नहीं हो पाता।

अर्थशास्त्र में दिव्य प्रमाणों की व्यवस्था नहीं है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उस समय उनका अभाव हो गया था। ह्वेनसांग और फाह्यान के यात्रा संस्मरणों में दिव्य प्रमाणों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। यह भी कहा जाता है कि कौटिल्य दिव्य प्रमाण अस्वीकार कर उत्पीड़न स्वीकार किया।

निर्णय

न्यायिक प्रक्रिया का चतुर्थ पाद सिद्धि या निर्णय है। साक्षी सम्पन्न हो जाने पर राजा या प्राड्विवाक वादी प्रतिवादी के जय पराजय का निर्णय सभ्यों की सहायता से करता है। पूर्वपक्ष, उत्तर पक्ष, साक्षी, साक्षियों की कसौटी, बहस, तर्क आवश्यक स्मृति वचन, सभ्यों के विचार आदि जयपत्र में लिखना चाहिए और उस पर प्राड्विवाक का हस्ताक्षर एवं राजमुद्रा अंकित रहना आवश्यक है।

निर्णय का आधार

सत्य की प्राप्ति में 'तर्क' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनु 'शाश्वत धर्म' को प्रमाण मानते हैं। जाति, जनपद, श्रेणी और कुछ की व्यवस्था प्रस्तुत करते हुए याज्ञवल्क्य अन्तिम प्रमाण शास्त्रों को ही मानते है। किन्तु जहाँ स्मृति में विरोध हो, वहाँ न्याय का प्रमाण होता है। 'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्' इस वचन में विवेक एवं व्यक्तिगत निर्णय की मान्यता मिलती है। निर्णय पर पहुँचने के लिये, 'युक्ति' एवं 'तर्क' के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण गौतम ने प्रारम्भ में ही किया है। जब सत्य के साथ युक्ति का प्रयोग किया गया तो वहाँ उसका तात्पर्य अनुभव एवं सांसारिक ज्ञान रहा। बृहस्पति भी यही मानते हैं। उनके अनुसार 'केवल शास्त्र के आधार पर निर्णय नहीं करना चाहिए। युक्तिहीन विचार से धर्म हानि ही सम्भव है। कल्पसूत्र ने 'युक्तियुक्त' का अर्थ 'प्रमाणयुक्त' किया है। नारदीय मनु संहिता के भाष्य में ''दो शास्त्रीय वचनों में विरोध होने पर 'युक्ति' साक्षेप वच नही प्रमाण'' माना गया है।

पुनर्विचार

यदि न्यायालय, साक्षी या अन्य कारण, जो विचार पूर्ण है, से पराजय हो तो पुनर्विचार सम्भव है। यदि पराजित पक्ष यह समझता है कि निर्णय पक्षपात पूर्ण हुआ है तो वह दुगुनी अमानत जमा कर पुनर्विचार करा सकता है। प्रथम न्याय बल प्रयोग से किया गया है तो पुनर्विचार अपेक्षित है। नाबालिग आदि तथा आवश्यक कार्य में व्यस्त की अनुपस्थिति में हुआ निर्णय पुनर्विचारणीय है। राजा स्वयं कारण–विशेष से पुनर्विचार कर सकता है।

अपील

प्रबल प्रमाण होते हुए भी, उसे प्रस्तुत करने में असमर्थता के कारण निर्बल प्रमाण प्रस्तुत करने से यदि पक्ष पराजित हो जाय और पुनः प्रमाण उपलब्ध हो जाय तो पुनः विचार करना चाहिए। यदि कोई निर्णय श्रुति–स्मृति और समाज कल्याण के विपरीत हो गया है तो उस पर भी राजा पुनर्विचार कर सकता है। इस प्रकार राजा को पुनर्विचार के विशाल अधिकार प्राप्त थे। यदि झूठ गवाही प्रस्तुत कर पक्ष में निर्णय करा लिया गया है तो कूट साक्षी को दण्ड देकर पुनर्विचार करना चाहिए।

दण्ड निर्धारण

दण्ड दम् धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है रोकना या निवारण लिया जाता है। अपराध को पुनः रोका जा सके यह भावार्थ हैं। स्मृतियों में दण्ड के विधान पर विस्तृत सामग्री प्राप्त होती है तथा दण्ड सम्बन्धी विवाद अट्ठारह शीर्षकों में विभक्त है उसे अष्टादश व्यवहारपद कहते हैं। 'व्यवहार' शब्द का अर्थ यहाँ पर मुकदमा या कचहरी में गए हुए झगड़े और न्याय सम्बन्धी विधि से है। व्यवहार शब्द कहीं कहीं विवादास्पद के अर्थ में प्रयुक्त है।दण्ड हेतु निर्देश में प्रमाणों का अनुप्रयोग किया गया हैं– मनु के अनुसार–

1. जिस प्रकार शिकारी मृग के रक्त पद–चिन्हों से स्थान को ज्ञात कर लेता है उसी प्रकार राजा को अनुमान प्रमाण से धर्म के तत्त्व का निर्णय करना चाहिए।
2. राजा को दण्ड–विधि में सत्य व्यवहार, व्यक्ति, साक्षी, देश और काल को देखकर निर्णय करना चाहिए। इन निर्णयों में देश, कुल तथा जाति की मान्यताओं को ध्यान में रखना चाहिए।

3. स्त्रियों के मुकदमें में स्त्रियों को, इसी प्रकार द्विज, शूद्र के विवादों में क्रमशः द्विज तथा शूद्र को साक्षी बनाना चाहिए।
4. घर के अन्दर मारपीट में, वन में, घायल तथा हत्या के अभियोग में उस घटना के प्रत्यक्षदर्शी को साक्षी बनाना चाहिए।

न्यायिक प्रक्रिया ना स्पष्ट रूप से संकेत ब्राह्मण–ग्रंथों से प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण में प्रश्निन्, अभिप्रश्नि और प्रश्नविवाक का संकेत (3/4) में मिलता है। धर्मसूत्रों में व्यवहार के रूप में न्यायिक प्रक्रिया का विवरण मिलता है। व्यवहार वेद से सम्बद्ध हैं–

व्यवहारः स्म्रतो यश्च स वेदविषयत्मकः। –महाभारत 12/121/53

व्यवहार लौकिक विधि है–परिभाषा : 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग कार्य के अनुष्ठान Transaction on Dealing, न्यायिक प्रशासन, विधीय प्रक्रिया, विवाद, विधीय विवाद, किसी मामले में प्रवेश की विधिय क्षमता एवं विवाद निर्णय के साधना के अर्थ में पाया जाता है।

3.8 सारांश

हिन्दू विधि व्यवस्था का सैद्धान्तिक आधार वैदिक ज्ञान, उसकी व्याख्या, स्मृतियाँ तथा उसके पालन करने वाले लोगों तथा समूहों का आचार के माध्यम से होते हुए व्याख्यापद्धति, न्यायिक प्रक्रिया, न्यायिक प्रक्रिया में प्रमाणों के बलावल का विचार अर्थात् किसी समस्या के समधान में समस्या के स्वरूप के आधार पर उपयुक्त प्रमाण की वरीयता के द्वारा समर्ग विधि व्यवस्था पूर्ण होती है। चाहे विधि निर्माण की बात हो, चाहे विधि प्रक्रिया में वादी का पक्ष या प्रतिवादी का पक्ष या साक्ष्य की वैद्यता का प्रश्न हो, इनका उत्तर प्राप्त करने में भारतीय प्रमाण सिद्धान्त के व्यापक फलक का उपयोग किया जाता है। जिससे न्याय की सुनिश्चितता तय हो सके। व्यावहारिक धरातल पर प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रत्यक्ष के परिपूरक वे सभी प्रमाण जो साक्ष्य तथा निर्णय प्रक्रिया में सर्वाधिक सत्य के करीब है, उनका प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार से भारतीय प्रमाण सिद्धान्त केवल तात्त्विक विवेचना या प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में ही प्रयुक्त नहीं होता, बल्कि सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में सामाजिक या व्यक्तिगत न्याय की स्थापना और दण्ड निर्धारण के क्षेत्र में प्रमाण सिद्धान्त का उपयोग होता रहा है। इस रूप में कानूनविज्ञान में प्रमाणसिद्धान्त का व्यापक और महत्त्वपूर्ण अनुप्रयोग होता है। प्रमाणसिद्धान्त के माध्यम से हम कानूनी निर्णयों की प्रामाणिकता, वैधता, और सत्यता को सुनिश्चित कर सकते हैं। न्यायिक प्रक्रियाओं, नियमों, विधियों, गवाहों, साक्ष्य, और युक्तियों के माध्यम से प्रमाणसिद्धान्त का अनुप्रयोग हमें न्यायिक निर्णयों में सत्य के आधार पर न्याय का सिद्धांत लागू करने में मदद करता है।

3.9 पारिभाषिक शब्दावली

कानून विज्ञान : कानूनविज्ञान एक महत्त्वपूर्ण शाखा है जो समाज में न्याय और व्यवस्था को सुनिश्चित करने के लिए होती है।

भारतीय ज्ञानमीमांसा : ज्ञान का स्वरूप क्या है, ज्ञान हमें कैसे प्राप्त होता है, जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसकी वैधता क्या है इत्यादि प्रश्नों के समाधान में भारतीय विचारकों ने प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति इत्यादि प्रमाणों का और इन प्रमाणों के आधार

पर जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसकी प्रमाणिकता सम्बन्धी विवेचन किया है। इन सभी सम्मिलित बातों को भारतीय ज्ञानमीमांसा शब्द से जाना जाता है।

भुक्ति : जिस किसी वस्तु का उपयोग निर्बाध रूप से कोई उपयोग में ला रहा होता है। दूसरे शब्दों में यदि किसी सम्पत्ति पर कब्ज़ा लम्बे समय तक किसी व्यक्ति का होता है, तो इस क़ब्जे के आधार पर वह सम्पत्ति उसकी मान ली जाती है। सम्पत्ति के स्वामित्य निर्धारण में कब्ज़ा को प्रमाण मानना भुक्ति कहलाता है।

ऋत : ऋत एक वैदिक शब्द है, जिससे ब्रह्माण्डीय पिण्डों की निमयबद्धता का द्योतन होता है।

मीमांसक : भारतीय दर्शन का एक आस्तिक सम्प्रदाय जो मुख्य रूप से वेदवाक्यों के अर्थ निर्धारण और उनकी वैधता निर्धारण तथा विभिन्न वेदवाक्यों ने असंगति होने पर उनमें एक वाक्यता की स्थापना करने में संलग्न है।

नैयायिक : ज्ञान का स्वरूप क्या है, वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति किन प्रमाणों के आधार पर होती है, प्रमाण कितने है, प्रमाणों के आधार पर कोई ज्ञान कैसे प्राप्त होता है, कथनों की तार्किक संरचना कैसे निर्मित होती है तथा शब्द अपने अर्थ को कैसे सम्प्रेषित करते है इत्यादि प्रश्नों के विवेचन में मुख्य रूप से संलग्न रहने वाले भारतीय दार्शनिकों को नैयायिक कहा जाता है। नैयायिकों को भारतीय तर्कशास्त्र का जनक माना जाता है।

3.10 सन्दर्भग्रन्थ सूची

1. प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, हरिहरनाथ त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1965
2. शुक्रनीतिसार
3. Problems of Interpretation and Translation of Philosophical and Religious Texts, N.S.S. Raman, Indian Institute of Advanced Study Rashtrapati Nivas, Shimla
4. कौटिल्य अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

3.11 बोध प्रश्न

1. सभी विधिशास्त्रों ने प्रत्यक्ष प्रमाण को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है, इस कथन पर प्रकाश डालिए।
2. भारतीय विधिशास्त्र का आधार एक व्यापक प्रमाण मीमांसा है। इस कथन की परीक्षा करें।
3. साक्ष्य निर्धारण में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रमुखता पर प्रकाश डालिए।
4. केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही विधि व्यवस्था का निर्माण नहीं हो सकता, बल्कि अन्य प्रमाणों की भी सहायता आवश्यक है। इस कथन की परीक्षा कीजिए।
5. विधि व्यवस्था में प्रमाणों का सुचिंतित अनुप्रयोग विधि व्यवस्था को समृद्ध करता है। इस कथन पर प्रकाश डालें।

खण्ड 5
वाद-परम्परा

पञ्चम खण्ड का परिचय

एम. ए. हिन्दू अध्ययन के तृतीय पाठ्यक्रम के पञ्चम खण्ड में आपका स्वागत है। इस खण्ड का नाम है वाद-परम्परा। भारतीय ज्ञानपरम्परा में वाद-संवाद, अधिकरण और तात्पर्य-निर्णय के साथ-साथ कथा और श्रवणविधि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका भी भारत में ज्ञानपरम्परा को सुरक्षित रखने और समवर्धित करने में योगदान रहा है। प्रस्तुत खण्ड में इन्हीं विषयों को छः इकाइयों के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है। भारत में वाद-संवाद की परम्परा का क्या स्वरूप रहा है और भारतीय ज्ञानपरम्परा में इसका क्या स्थान एवं महत्त्व रहा है? इन प्रश्नों के उत्तर प्रथम इकाई में वर्णित हैं। अधिकरण की अवधारणा का उल्लेख द्वितीय इकाई में किया गया है। भारतीय ज्ञानपरम्परा में तात्पर्य-निर्णय को समझाते हुए इसके छः अङ्गों का वर्णन तृतीय इकाई में किया गया है। चतुर्थ इकाई में कथा के स्वरूप एवं प्रकार को निरूपित किया गया है। श्रवण विधि के द्वारा ज्ञान के तात्पर्य के विश्लेषण के विषय को पञ्चम इकाई में प्रतिपादित किया गया है। इस खण्ड की छठी और अन्तिम इकाई में भारत की ज्ञानपरम्परा में प्रचलित कुछ प्रमुख संवादों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस खण्ड का अध्ययन करने के पश्चात् आप वाद-संवाद, अधिकरण, तात्पर्य निर्णय, कथा, श्रवण विधि आदि विषयों को वर्णित कर सकेंगें।

इकाई 1 भारत में वाद परम्परा का स्वरूप एवं महत्त्व

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- वाद के अर्थ एवं स्वरूप को समझ पाने में सक्षम होंगे।
- भारत में वाद परम्परा के इतिहास तथा क्रमिक विकास को जान पायेंगे।
- वाद और संवाद के अंतःसम्बन्ध से परिचित होंगे।
- वाद परम्परा के कुछ उदाहरणों को जान पायेंगे।

1.1 प्रस्तावना

भारत में वाद परम्परा का स्वरूप अत्यंत प्राचीन है पूरा शास्त्र वाद परम्परा में ही समाहित है, हम किसी भी शास्त्र को जब पढ़ते है तो लगभग सभी शास्त्र एक संवादशैली (प्रश्न -उत्तर) के रूप में ही प्राप्त होते हैं जैसे वेद में यम -यमी संवाद,उपनिषद में अष्टावक्र और जनक संवाद,यम नचिकेता संवाद ,भगवद्गीता में श्रीकृष्ण -अर्जुन संवाद ,महाभारत में यक्ष -युधिष्ठिर संवाद, रामायण में लक्ष्मण -रावण संवाद ,पुराण में शिव -पार्वती संवाद एवं शंकराचार्य -मंडन मिश्र संवाद आदि अनेकोनेक संवाद पढने को मिलते है जिनका उद्देश्य यही है कि हम उनको जाने, समझे और उनकी नीतिपरक बातों को अपने जीवन में उतारे ,और एक सफल अध्यापक बने, अपने जीवन का निर्माण करे वाद प्रेम का प्रतीक है, संवाद स्नेह समर्पण का, विवाद मन की कलुषता एवं स्वार्थ का भगवद् गीता में बोधयंत: परस्परम् का संदर्भ है , " आपस में चर्चा करना "

"परस्पर भगवत् चर्चा करना,एक दूसरे को ज्ञान के मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करना, यही सत्संग कहलाता है।"

परमात्मा के विषय में, जब कहने की बात आती है तो व्यक्ति, बिना कहे रह नहीं सकता है। इसीलिए 'कथाओं' का प्रणयन हुआ। वाल्मीकि रोक न सके अपने आपको, उन्हें कहने की बहुत इच्छा जागी, इसलिए 'वाल्मीकि रामायण' का प्रादुर्भाव हुआ। व्यास अपने ज्ञान को अपने भीतर समेट कर नहीं रख सके, उन्हें कहने की बहुत इच्छा हुई तब जो भगवान की बातें उन्होंने कहीं वह 'श्रीमद्भागवत' बन गई।

(आपने अधिकरण वाले भाग में वाद एवं संवाद शैली का पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष के (पञ्चविध अधिकरण विषय,संशय,पूर्वपक्ष,उत्तर पक्ष तथा निर्णय) विषय को संवाद रूप में ही हैं। पूरा मीमांसा दर्शन ही पंचविध अधिकरण के अन्तर्गत संवादशैली में ही उसका स्वरूप निर्धारित हुआ है।)

1.2 वाद का अर्थ एवं स्वरूप

वाद का अर्थ -'वाद' शब्द वद् (कहना) धातु से बना है, जिसका सामान्य अर्थ बोलना या कहना है।'वाद' मुख्य रूप से आपसी विचार-विमर्श से उत्पन्न होता है फलतः उसकी परिणति 'संवाद' में होती है।

'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'

अर्थ –पवित्र विचारों के आदान – प्रदान से आपको तत्व की प्राप्ति होगी |

हमारी संस्कृति में वाद को स्थान दिया गया है, संवाद का भी स्थान है, परन्तु विवाद का स्थान नहीं है । जब से समाज में विवाद बढ़ गया है तभी से इस देश को कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। पिता-पुत्र का संवाद, मित्र-मित्र का संवाद लाभदायक हो सकता है । जानने की दृष्टि से जिज्ञासा पूर्ति के लिये भी आवश्यक है । 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधाः' । जब विचार करेंगे, प्रश्न करेंगे, जिज्ञासा करेंगे, तत्पश्चात वाद के द्वारा ही मानव को ज्ञान प्राप्त होगा। इसलिये वाद का निषेध नहीं है, विवाद का निषेध है।

जब हम वाद परंपरा के उद्देश्य की बात करते हैं तो हमे पता लगता है कि जिस प्रकार किसी ग्रंथ को जब पाठक पढ़ता है तो जब तक उसमें कौतुकता एवं रोचकता उत्पन्न कराने वाले तथ्य नहीं मिलेंगे वो नहीं पढ़ेगा इसीप्रकार किसी भी भारतीय ग्रंथ में चरित्र-चित्रण के द्वारा संवादो से सार्थकता पैदा करने के लिए हमारे ग्रंथ में कथोपकथन बहुत ज़रूरी है। इसे आकर्षक, सौद्देश्यपूर्ण तथा कथा प्रसार से पूर्णतया साभिप्राय बनाने के लिए ग्रंथकार को अन्य सभी तत्वों में सामंजस्य-पूर्ण प्रस्तुतीकरण पर बल देना परम आवश्यक है। अर्थात् उनके विचार एवं निर्णय शक्ति परिपक्व होनी चाहिए। उनके विचार एवं निर्णय- शक्ति जितनी परिपक्व होगी उतनी संवाद-योजना सफल निकलेगी। ग्रंथ की विश्वसनीयता और रोचकता बढ़ाने के लिए इस संवादतत्व पर विशेष बल देना चाहिए। संवाद-तत्व के बहुआयामी पक्ष के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है किभारतीय ग्रंथ के लेखन परंपरा में संवाद का उपयोग किया जाएगा, वहाँ अपने-अपने ढंग के परिणाम खिल उठेंगे, पर जहाँ इस तत्व का क्षिप्र ओर द्रुत प्रयोग ग्रंथ भाग को उत्कर्षोन्मुख करेगा, वहाँ एक प्रकार का विशेष चमत्कार दिखाई पडेगा। ग्रंथ के जिस अंश में संवाद-सौन्दर्य का गाम्भीर्य निखरा मिलेगा, उस ग्रंथ का वह अंश अपनी संपूर्ण शक्ति के साथ पाठकों के मन मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पडेगा एवं वह एक नये समाज

को जन्म देगा युवा पीढ़ी को नई दिशा देगा। यदि ग्रंथ का आरंभ ही उबाऊ लघु ,गतिहीन ,दिशाहीन होने पर एक भटके हुए साहित्य के समान होता है ।यदि ग्रंथ औचित्यपूर्ण संवादों से किया गया है तो सुधिजनों का ध्यान ग्रंथ के मौलिक विषय की ओर उसी प्रकार केन्द्रित हो उठता है जैसे रंगमंच पर होनेवाले किसी अभिनय की ओर।

हमारे भारतीय ग्रंथों के लेखन की प्राचीन परंपरा जो रही है वह संवाद-सौन्दर्य की ही है, सचमुच ग्रंथ को पढनीय एवं रोचक बना देता है। इसके बिना ग्रंथ में जान नहीं आती है। ग्रंथ में रोचकता ,विकास का संवर्धन करनें में संवाद पूर्ण सहयोग देता है। क्योंकि वर्णित घटना और कार्यों की स्पष्ट झलक कथोपकथनों के द्वारा ही पाठकों तक प्रतिफलित होता है। आगामी घटनाओं की ओर इशारा देने में संवाद-तत्व का हाथ सबसे बड़ा है।

वाद-संवादसे परिपूर्ण हमारा ग्रंथ वो चाहे वेद,पुराण, उपनिषद,स्मृति आदि हो उनके पात्र पाठकों के सामने बिजली की तरह प्रकाशित और चमत्कृत होते हुए एक मनोवैज्ञानिक प्रस्तुती देते हैं। संवाद जितने ही सरल, संक्षिप्त, सारपूर्ण एवं प्रभावशाली होंगे, ग्रंथ उतने ही श्रेष्ठ और ग्राह्य होंगे। क्योंकि संवाद लेखक और पाठक के संप्रेषण की कड़ी बनती है। ग्रंथ के सभी तत्त्वों के साथ संवाद-तत्त्व का अन्योन्याश्रित संबंध है। इसी वजह से संवाद रहित ग्रंथ नीरस और लम्बे वर्णनों की अधिकता के कारण रस एवं प्रभावहीन होकर पाठकों को आकर्षित करने में असफल रह जाते हैं।

नाटक के संवाद हो या किसी भी ग्रंथ में उपलब्ध संवादात्मक विषय को वह अभिनय केलिए संरचित होते ही है साथ ही साथ ग्रंथ के संवाद पढ़ने केलिए आत्मसात करने के लिए लिखे जाते हैं।परंतु नाटक के संवाद सुगठित, चुटीला, संक्षिप्त एवं प्रेष्यत्वपूर्ण होते हैं। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि संवाद नाटक का प्राण है।

भगवद्गीता में कृष्ण और अर्जुनका संवाद जब हम पढते हैं तो लगता है कि यह परम्परा अनन्तकाल से जबसे सृष्टि की रचना हुई तब से चली आ रही है। पूरे संवाद में अर्जुन भक्त थे और मैत्री भाव में भगवान के सम्पर्क में थे।

गीता का संवाद "मनुष्य को भौतिक संसार के अज्ञान से उबारना है। प्रत्येक व्यक्ति अनेक प्रकार की कठिनाइयों में फंसा रहता है, जिस प्रकार अर्जुन कुरुक्षेत्र में युद्ध करते के लिए कठिनाई में थे। अर्जुन ने श्री कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली फलस्वरूप इस भगवद् गीता का प्रवचन हुआ।

प्रश्न यहाँ यह नही कि यह शास्त्र क्यों लिखे गये,उसमें क्या लिखे गये। सीखने और ग्रहण करने की बात यह है कि हमने उस शास्त्र से क्या सीखा, उससे हमारे जीवन मे क्या परिवर्तन आया।

निष्कर्ष यही कि संवाद हमारे जीवन जीने की शैली का मानदण्ड तय करती है संवाद से न्यायालय में निर्णय होता है। पूरा विधि शास्त्र को इसी वाद परम्परा के द्वारा ही अपनी बातों को मनुष्य को समझाता है और निर्णय लेने की क्षमता को बढाता है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्रवाद,संवाद की शैली में विरचित ऐसा ग्रन्थ है, जिसने शास्त्ररचना का एक मानदंड भी स्थापित किया। अर्थशास्त्रकार अनेक आचार्यों के मत बताते हैं, उनके तर्क प्रस्तुत करते हैं। तत्पश्चात् उन मतों की न्यूनताएँ बताते हुए वे अपना मत प्रस्तुत करते हैं। इस

तरह वे अपने से पहले की अनेक आचार्य परम्पराओं से वाद और संवाद करते चलते हैं।

वाद या विवाद दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच हो सकता है। वे किसी एक ग्रन्थ के भीतर हो सकते हैं। वे एक व्यक्ति के भीतर भी हो सकते हैं। वे किसी एक समाज के भीतर हो सकते हैं, कई समाजों के बीच परस्पर हो सकते हैं, वे दो देशों, दो या अधिक संस्कृतियों के बीच हो सकते हैं। कोई दार्शनिक विमर्श इतर दर्शन- परम्पराओं से सतही स्तर पर असहमत होकर गहनतर स्तरों पर संवाद कर सकता है।

राजनीतिक वाद- महाभारत के सभा पर्व में एक उदाहरण हमलोग पढ़ते हैं कि किस प्रकार राज्य में वाद - विवाद का संवाद होता था।

"युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि सबसे प्रथम किसका पूजन किया जाय और युधिष्ठिरने ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध और पराक्रमवृद्ध समझकर भीष्मपितामहसे इसका निर्णय करनेकी बात कही, तब वे थोड़ी देरतक चुप रहे और फिर सोचकर बोले कि 'यह जो सब राजाओंके तेज, बल और पराक्रमका अभिभव करते हुए नक्षत्रोंमें सूर्यके समान विराजमान हैं, वही भगवान् सबसे प्रथम पूजनीय हैं। जिस प्रकार सूर्य और वायुके कारण संसार प्रकाशित तथा आनन्दित रहता है, उसी प्रकार यह सभा भगवान् श्रीकृष्णके कारण भासित और आह्लादित है। इनके बिना इस सभा की वही दशा हो जायगी, जो सूर्य और वायु से हीन जगत् की हो सकती है।"

एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः ।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः ॥

असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना ।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः ॥

(सभापर्व ३६।२८-२९)

अब हम ईश्वरवाद पर चर्चा करते हैं

ईश्वरवाद-हमारी भारतीय ज्ञान परंपरा में ईश्वरवाद कण कण में समाहित है।ईश्वरवाद ही एकमात्र सत्य है।उस सत्य का प्रकाश चाहे जब भी सकता है और चाहे जिस उद्दीपन-विभाव से हो सकता है उसके लिए समय नहीं निर्धारित किया जा सकता

तुलसीदास जी रामचरित मानस में कहते हैं

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई ।जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई ॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन ।जानहिं भगत भगत उर चंदन ॥

हमारे 'ईश्वरवाद' की सत्यताका अनुभव कर जर्मन दार्शनिक शोपेनहर (Schopenhaur) पुकार उठा- 'In the whole world there is no study so beneficial and elevating as that of the Upanisads. It has been the solace of my life, it will be the solace of my death.' 'उपनिषदोंके उच्चातिउच्च कल्याणमय ज्ञानसे बढ़कर सारे संसारमें अध्ययनके लिये और कुछ है ही नहीं। मेरे जीवन एवं मृत्यु दोनोंका यही अवलम्बन है।'

अब हम महात्मा बुद्ध के वाद पर चर्चा करते हैं

1.3 भारत में वाद परम्परा का इतिहास

भारतीय बौद्धिक विमर्श में वाद और संवाद की परम्परा वेदों से अंकुरित होकर उपनिषदों में पल्लवित होती हुई शास्त्रार्थ सभाओं में फलती फूलती रही है। एक परम्परा में सृष्टि का जन्म ही वाद और संवाद की प्रक्रिया से माना गया। याज्ञवल्क्य, धर्मकीर्ति, शंकराचार्य, उदयन, वाचस्पति मिश्र, अभिनवगुप्त, वल्लभाचार्य, कबीर, नानक, तुलसी, दयानन्द और महात्मा गाँधी जैसे मनीषियों ने इसे सवंर्धित किया।

वाद परम्परा के इतिहास को मुख्यतः चार चरणों में विभाजित किया जा सकता है।

प्रथम चरण : वैदिक काल (लगभग 5000 ई0पू0 से 1000 ई0पू0 तक)

प्रागैतिहासिक काल से लगभग 1000 ई0पू0 तक सृष्टि के रहस्यों और जीवन की पहेलियों पर चर्चा के रूप में वाद विकसित हुआ। प्रश्न और शंका उठाने की प्रवृत्ति के सबसे प्राचीन उदाहरण वैदिक सूक्तों में देखे जा सकते हैं। अनेक सूक्तों में सृष्टि के मूलभूत तत्त्व के विषय में जिज्ञासा और प्रश्न उठाए गये हैं।

ऋग्वेद के सूक्तों में अनेक सूक्त संवादात्मक है, इनमें कुछ सूक्तों में संवाद बहस के रूप में भी है। यम यमी उपनिषद् में राजा जनक की सभा में हुए अनेक संवादों का वर्णन मिलता है।

वैदिक काल में प्रशासन व सामाजिक समस्याओं पर विमर्श और निर्णय के लिये 'सभा' तथा 'समिति' ये दो संस्थाऐं सक्रिय थे। यजुर्वेद में सभा का उल्लेख हुआ है, दोनों में निश्चित संख्या में विचारशील लोग एकत्र होकर विचार विमर्श करते थे।

द्वितीय चरण : तर्क काल (लगभग 1000 ई0पू0 से 1000 ई0पू0 तक)

इस चरण में वाद की सैद्धान्तिकी पूरी तरह से व्यवस्थित कर दी गई तथा वाद में प्रखरता आधिक आ गई। आरम्भ में ब्रह्म या ज्ञान की जो चर्चा इनमें होती, उसमें तर्क कम और प्रज्ञा से तत्त्वदर्शन की अभिव्यक्ति अधिक रहती। पर इस चरण की समाप्ति होते होते अर्न्तदृष्टि के स्थान पर तर्क की प्रखरता और धार इन ब्रह्मसभाओं में आने लगी। इस काल तक वाद शब्द एक दार्शनिक अवधारणा के रूप में नहीं आया है, पर उपनिषदों में वाद की विभिन्न प्रणालियों के जो प्रयोग किये गये हैं, उन्हीं से न्यायदर्शन में वाद की विविध कोटियों का विकास हुआ है।

वस्तुतः ईसा की पहली सहत्राब्दी शास्त्र परम्पराओं के विकास की दृष्टि से सबसे सम्पन्न काल है। यह भर्तृहरि, नागार्जुन, धर्मकीर्ति, कुमारिल, शंकर, मण्डन मिश्र, उदयन और मुरारी जैसे दिग्गज विचारकों और दार्शनिकों का समय है।

तृतीय चरण : विस्तार काल (लगभग 5000 ई0पू0 से 1800 ई0पू0 तक)

वाद और संवाद की परम्पराओं का यह चरण ईसा की दसवीं शताब्दी के बाद से उन्नीसवीं शती के पूर्व तक प्रसृत है। रामानुज, माधव, मधुसूदन, वल्लभाचार्य आदि दार्शनिकों, बसवण्णा, कबीर, तुलसी जैसे संतों और कवियों ने वाद और संवाद की परम्पराओं को इस काल में अभूतपूर्व विस्तार किया। गंगेशोपाध्याय, रघुनाथ शिरोमणि जैसे विचारकों ने उसे पराकाष्ठा पर पहुंचाया।

चतुर्थ चरण : आधुनिक काल (लगभग 5000 ई0पू0 से 1000ई0पू0 तक)

उन्नीसवीं और बींसवीं शताब्दी तो वाद और संवाद परम्पराओं की अभूतपूर्व सम्भावनाएँ और समस्याएँ लेकर आई। जितना वाद और संवाद इन दो शताब्दियों में हुआ और

अब इक्कीसवीं शताब्दी में हो रहा है, उतना पहले कभी नहीं हुआ। जितनी बड़ी संख्या में वाद पुरूष और संवाद पुरूष इन दो शताब्दियों में हुए उतने विश्व इतिहास में पहले नहीं हुए। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, एनीबेसेन्ट, स्वामी दयानन्द, राजाराम मोहन राय, महात्मा गांधी, विनोबा भावे, जे कृष्णमूर्ति, रजनीश 'ओशो', राहुल संस्कृत्यायन, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि कुछ महत्त्वपूर्ण नाम है।

1.4 वाद और संवाद का अंतःसम्बन्ध

वाद और विवाद में मूलभूत तात्त्विक अन्तर समझा जाना चाहिए। विवाद की परिणति संवाद में नहीं हो सकती, वाद की परिणति अनिवार्यतः संवाद में होती है। यह सत्य है कि वाद रहेगा, तो विवाद कहीं न कहीं से उसका सहयात्री हो जाता है। विवाद से कटुता उत्पन्न होती है, सागर को मथने पर हलाहल भी उत्पन्न हुआ और अमृत भी। विचार सागर को मन्थन से वाद और विवाद दोनों जन्म लेते है।

न्यायदर्शन में सूत्रकार गौतम ज्ञानियों के साथ संवाद को अपवर्ग या मोक्ष का साधन मानते हैं। संवाद वाद का मानदण्ड है। किसी भी वाद की सार्थकता इसी में है कि वह किस सीमा तक संवाद में परिणत हो सका। संवाद के बिना न तो सही वाद हो सकता है, न जल्प, न वितण्डा। अतः कथा अपने आप में संवाद की तैयारी है। कथा आगे चलकर आख्यान या कहानी के लिये प्रसिद्ध हो गया। वाद, जल्प और वितण्डासे गुजरकर पण्डितजन संवाद के धरातल पर पहुंचते है इसलिये कथा के त्रिविध प्रकारों के वाद, जल्प और वितण्डा का निरूपण विस्तार से करने के बाद गौतम ने संवाद का निरूपण किया है। संवाद कथा का वह रूप है, जो तत्त्वबोध के लिये आरम्भ किया जाता है। वाद, जल्प और वितण्डा का उपयोग भी इसी दृष्टि से किया जाना चाहिए। जैसे अंकुर को बचाने के लिये कांटों की बाड़ लगाई जाती है, वैसे ही तत्त्वबोध की रक्षा के लिये जल्प और वितण्डा का उपयोग किया जाना चाहिए।

संवाद के लिये ही योगवासिष्ठ में सत्सङ्ग शब्द का प्रयोग हुआ है। वसिष्ठ कहते हैं, जब विद्वान जनों का समागम होता है तो सूनापन भर जाता है, मृत्यु उत्सव हो जाती है। आपत् सम्पत् लगती है।

1.5 महात्मा बुद्ध का वाद

बुद्ध प्रत्येक वाद की परिणति सहज संवाद में देखना चाहते थे। जो वाद, विवाद बन कर रह जाये वह उन्हें स्वीकार नहीं है। न्याय दर्शन के सूत्रकार गौतम की दृष्टि से ही वही वाद स्वीकार्य है जिसमें संवाद रचा जा सके। वे ज्ञानियों के साथ संवाद को अपवर्ग या मोक्ष का साधन मानते हैं(न्यायसूत्र ४.४७)

बुद्ध ने विवाद या निरर्थक बहस करने का निषेध किया था, उनके अनुयायियों ने वाद को धम्मदेसना या धर्मोपदेश के लिये आवश्यक माना। उपायहृदय, जो भ्रान्तिवश नागार्जुन का लिखा बताता जाता है, में वाद के स्वरूप व उपादेयता पर विस्तृत विचार किया गया। उपायहृदयकार यह भी कहते हैं कि वाद से केवल कटुता और कलह जन्म लेते हैं, यह मानना उचित नहीं है। (Solomon E. A. (1976): 10)

बुद्ध अपनी संवादप्रणाली में आत्मसंवाद से लगा कर वैश्विकसंवाद तक की यात्रा करते हैं, वे संवाद का नैरन्तर्य बनाये रखते हैं।चूलव्यूहसुत्त(सुत्तनिपात)में बुद्ध कहते हैं

विनिच्छये ठत्वा सयं पमाय उद्धं सो लोकस्सिं विवादमेति।
हित्वान सब्बानि विनिच्छयानि न मेधकं कुरुते जंतु लोकेति ।।1 7 ।।

जो किसी धारणा पर स्थित हो कर अन्य धारणाओं से उसकी तुलना करता रहता है, वह संसार में विवाद को जन्म देता है। जो समस्त धारणाओं को त्याग देता है, वह मनुष्य संसार में कलह नहीं करता।

महावियूहसुत्त में बुद्ध कहते हैं-

न ब्राह्मणस्य परनेय्यमत्थि धम्मेसु निच्छेय्य समुग्गहीतं।
तस्मा विवादानि उपातिवत्तो न हि सेच्छतो पस्सति धम्ममत्रं॥

(महावियूहसुत्त 1 3)

ब्राह्मण सत्य के लिये किसी अन्य पर निर्भर नहीं रहता। वह स्वयं विचार करता है और अलग-अलग मतों में से किसी को भी ग्रहण नहीं करता। इसलिये वह विवादों से परे हैं और सत्य को छोड़ कर किसी दूसरे धर्म को श्रेष्ठ नहीं मानता।

1.6 शङ्कराचार्य का वाद

शंकराचार्य भी संवाद पुरुष हैं, और अभिनवगुप्त भी। दोनों ही अपने समय के श्रेष्ठ गुरुओं के पास ज्ञानार्जन के लिये गये। फिर भी दोनों की वादशैली और संवादशैली में कितना अन्तर है। शंकराचार्य घर छोड़कर वैराग्य धारण करते हैं, फिर वे वाद या शास्त्रार्थ करते हुए केरल से काश्मीर तक व कदाचित् सुदूर पश्चिम से सुदूर उत्तर तक सारे देश की यात्रा करते हैं। वाद में उनसे पराजित मण्डन मिश्र, सुरेश्वर आदि उनकी शिष्यता स्वीकार करते हैं। अभिनवगुप्त इस तरह का कोई वाद नहीं करते, वे इस शर्त पर किसी के साथ शास्त्रार्थसभा में नहीं बैठते कि वह हार जायेगा, तो उसे उनकी शिष्यता स्वीकार करनी होगी। फिर भी शंकराचार्य की भाँति अभिनवगुप्त की एक बड़ी शिष्यमण्डली है। उन्हीं के द्वारा उद्धृत शिवपार्वतीसंवाद की शब्दावली लेकर हम कह सकते हैं कि जैसे आमोदार्थी भृङ्ग किसी उत्तम पुष्पगुच्छ पर मँडराते हैं और उससे रसग्रहण करते हैं, वैसे ही नानाज्ञानशाखाओं के पुष्पों से समन्वित अभिनवगुप्तरूपी स्तबक के पास शिष्यभृङ्ग चल चल कर आते रहे। शंकराचार्य तो केरल से अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिये काश्मीर तक गये थे, अभिनवगुप्त के पास केरल से चल कर मधुराज योगी ज्ञानसाधना के लिये आये। अभिनवगुप्त अन्य प्रस्थानों के खण्डन पर उतना बल नहीं देते, वे उनके साथ अपने मत का समन्वय करते हैं। उनके जीवनवृत्त व गुरुशिष्यपरम्परा की अभी जो चर्चा हमने की, उससे अभिनवगुप्त की वाद शैली व संवादशैली की अभिनवता भी सामने आती है। उनकी पद्धति तर्क व वाद में ही सीमित नहीं, वे संवाद का राग उसके साथ रचते हैं।

(संवादोपनिषद् राधावल्लभ त्रिपाठी से उदधृत)

आदि शंकराचार्य ने अहिंसक संवाद के जरिए विरोधियों पर विजय प्राप्त की थी।

शंकराचार्य की जो जीवनियाँ संस्कृत में मिलती हैं, उनमें स्थूल जगत् में उनके द्वारा किये गये संवादों का वर्णन है-मण्डन मिश्र से, पद्मपाद से, उम्बेक से और बौद्ध विचारकों से उनके

शास्त्रार्थ हुए। किस तरह शंकराचार्य ने उन्हें अपने अद्वैत मत की प्रामाणिकता का विश्वास दिलाया। पर शंकराचार्य जो अन्तर्जगत् में शास्त्रार्थ करते हैं, अपने आप से संवाद करते हैं उसका विवरण तो उनके जीवनीकार नहीं दे सकते थे। उसका आभास हम उनके ग्रन्थों से पा सकते हैं।

बाह्य जगत् में शास्त्रार्थ करते हुए शंकराचार्य ने अपने वादों व संवादों के द्वारा केवल बाह्य जगत् को ही परिवर्तित किया हो, ऐसा नहीं है। बाल्यावस्था में ही संन्यास ग्रहण कर लेने के कारण उनमें व्यावहारिक ज्ञान की कमी थी, अपने गहन अध्ययन और सैद्धान्तिक बोध को जीवन में कैसे उतारना है, यह भी उन्हें जानना था। मण्डन मिश्र के घर भामती से हुए वाद तथा वाराणसी में चाण्डाल से हुई झड़प ने शंकराचार्य को आत्मसंवाद के द्वारा अपनी न्यूनताओं को दूर करने का भी अवसर दिया। राजा अमरुक की काया में प्रवेश की कथा वस्तुतः शंकराचार्य के आत्संवाद की ही प्रतीक है।

आचार्य ने जिन श्लोको से चांडाल वेशधारी भगवान् विश्वनाथ की स्तुति वे श्लोक मनीषा पंचक के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस स्त्रोत्र के प्रत्येक स्तुति के अन्त में कहा गया है- " इस सृष्टि को जिस किसी ने भी अद्वैत-दृष्टि से देखना सीख लिया है, वह चाहे कोई ब्राह्मण हो चण्डाल हो; वही मेरा सच्चा गुरु है। "इन श्लोको कि संख्या पांच है और प्रत्येक के अंत में 'मनीषा' शब्द आता है इसीलिए इन्हें "मनीषा पंचक कहा गया है। जो इस प्रकार हैं-

चाण्डाल (वेश धारी भगवान शिव) ने श्री आद्य शंकराचार्य जी से पूछा -

अन्नामयादान्नमयम्थ्वा चैतन्यमेव चैतान्यात ।
द्विजवर दूरीकर्तु वाञछसि किं ब्रूहि गच्छ गच्छेति ॥

(हे द्विज श्रेष्ठ !" दूर हटो, दूर हटो" इन शब्दों के द्वारा आप किसे दूर करना चाहते हैं? क्या आप (मेरे) इस अन्नमय शरीर को अपने शरीर से जो कि वह भी अन्नमय है अथवा शरीर के अंतर्गत स्थित उस चैतन्य (चेतना) को जो हमारे सभी क्रिया कलापों का दृष्टा और साक्षी है ? कृपया बताएं !)

आदि शंकराचार्य देशभर के साधु-संतों और विद्वानों से शास्त्रार्थ करते करते अंत में प्रसिद्ध विद्वान मंडन मिश्र के गांव पहुंचे थे। यहां उन्होंने 42 दिनों तक लगातार हुए शास्त्रार्थ किया जिसकी निर्णायक थीं मंडन मिश्र की पत्नी भारती।

आदि शंकराचार्य और मंडन मिश्र के बीच जो संवाद हुआ उस संवाद की बहुत चर्चा होती है। हालांकि आदि शंकराचार्य ने मंडन को पराजित कर तो दिया, पर उनकी पत्नी के एक सवाल का जवाब नहीं दे पाए और अपनी हार मान ली।

प्राचीनतम संवाद का साक्ष्य ऋग्वेद है। ऋग्वेद के अंतिम सूक्त (10.191.2) कहते हैं, 'परस्पर साथ-साथ चलें। परस्पर स्नेहपूर्ण संवाद करें। सबके मन साथ-साथ ज्ञान प्राप्त करें।' संवाद अनिष्ट दूर करने का मंत्र है। संवाद का कोई विकल्प नहीं।

सं ग॑च्छध्वं सं व॑दध्वं सं वो मनां॑सि जानताम् ।
दे॒वा भा॒गं यथा॒ पूर्वे॑ संजाना॒ना उ॒पास॑ते ॥

(ऋग्वेद /मण्डल:10/सूक्त:191/ मन्त्र:2)

पदार्थान्वयभाषाः -(सं गच्छध्वम्) हे मनुष्यों तुम लोग परस्पर संगत हो जाओ, समाज के रूप में मिल जाओ, इसलिए कि (सं वदध्वम्) तुम संवाद कर सको, विवाद नहीं, इसलिए कि (वः-मनांसि) तुम्हारे मन (सं जानताम्) संगत हो जावें-एक हो जावें, इसलिए कि (सञ्जानानाः पूर्वे देवाः) एक मन हुए पूर्व के विद्वान् (यथा) जैसे (भागम्-उपासते) भाग अपने अधिकार या लाभ को सेवन करते थे, वैसे तुम भी कर सको ।अर्थात् मनुष्यों में अलग-अलग दल न होने चाहिए, किन्तु सब मिलकर एक सूत्र में बँधें, मिलकर रहें, इसलिए मिलें कि परस्पर संवाद कर सकें, एक-दूसरे के सुख-दुःख और अभिप्राय को सुन सकें और इसलिए संवाद करें कि मन सब का एक बने-एक ही लक्ष्य बने और एक लक्ष्य इसलिये बनना चाहिये कि जैसे श्रेष्ठ विद्वान् एक मन बनाकर मानव का सच्चा सुख प्राप्त करते रहे, ऐसे तुम भी करते रहो ।

संवाद का घनत्व(ठोसपन) अपनत्व है। भारत का संपूर्ण इतिहास वाद-विवाद संवाद से भरा है, लेकिन आज देश में उद्देश्यपरक संवाद का अभाव है।

समाज का जन्म संवाद से हुआ है। शिशु के जन्म लेते ही शिशु से संवाद प्रारम्भ हो जाता है ,निरंतर चलता रहता है।सामाजिक जीवन में वाद- विवाद -संवाद न हो तो मनुष्य का अस्तित्व ही नहीं होगा।

यह एक ऐसा नैसर्गिक सत्य है जिसमें सभी जीव -जन्तु अपने बोली- भाषा के माध्यम से अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं।एक समय ऐसा भी आता है कि मनुष्य अपने आप से भी बातें करता है।

महाकवि निराला की प्रसिद्ध कविता में स्वार्थपरता स्वसंवाद प्रियता का उदाहरण -

गहन है यह अंधकारा;
स्वार्थ के अवगुंठनों से,
हुआ है लुंठन हमारा !
खड़ी है दीवार जड़ को घेरकर,
बोलते हैं ज्यों लोग मुंह फेरकर

कविता में निराला जी ने संसार के स्वार्थपरता और नैराश्य पूर्ण स्थिति का सजीव चित्रण करते हुए कहा है कि चारों और गहरा अंधकार छाया हुआ है और यह संसार स्वार्थ के गहरे अंधेरेपूर्ण कारावास की तरह बन गया है संसार की स्वार्थपरता ने हमारी चेतना का नाश कर दिया है स्वार्थ में हमारे ऊपर पर्दा डालकर हमें ही लूट लिया है जड़ता की दीवारें हमें घेरकर खड़ी हैं इसमें हमारा मार्ग अवरुद्ध कर दिया है स्वार्थ के कारण लोग सीधे मुंह बात भी नहीं करते, दुनिया के सभी समाजों का गठन और पुनर्गठन सतत् संवाद से ही संभव हुआ है। सभ्यता, संस्कृति और दर्शन के विकास में भी वाद- संवाद की मुख्य भूमिका है। संवादहीनता में तनाव हैं युद्ध हैं। इतिहास इसका प्रमाण है ।वाद , संवाद और विवाद तीनों ही गीता में दृष्ट होते है । संवाद के परिणाम हमेशा सुखद होते हैं, लेकिन इसके पहले वाद-विवाद भी होते हैं। भारत संवादप्रिय भूमि है। पुराकथाओं में पशु-पक्षी भी संवादरत हैं। वेद, उपनिषद्, गीता सहित भारत का संपूर्ण ज्ञान दर्शन संवाद में ही उगा है, लेकिन पीछे लगभग दो-तीन दशक से संवाद घटा है। वाद-विवाद कलहपूर्ण हो गए हैं।

भारत का संपूर्ण इतिहास वाद-विवाद संवाद से भरा है, लेकिन आज देश में उद्देश्यपरक संवाद का अभाव है। संविधान निर्माताओं ने वाद-विवाद संवाद की तमाम संस्थाएं बनाई हैं। संवाद से चलने वाले अनेक बहुसदस्यीय आयोग हैं। मंत्रिपरिषदें हैं। न्यायालय वाद-प्रतिवाद और संवाद के केंद्र हैं।

अपना पक्ष सबको सही प्रतीत होता है, लेकिन लोकमंगलकारी सत्य एकपक्षीय नहीं होता। प्रत्येक वाद का प्रतिवाद भी होता है। दोनों की प्रीति का परिणाम संवाद में खिलता है।

1.7 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों आपने पढ़ा कि भाषा संवाद का माध्यम है ,उद्देश्यपरक संवाद का महत्व बहुत है जैसे हमारे शास्त्र ,ग्रन्थ ,उपनिषद आदि | स्मृतियां अभिमुखीकरण अर्थात् अपनी ओर प्रवृत्त करती है मनुस्मृति ,व्यास स्मृति ,विष्णु स्मृति ,यम स्मृति आदि |

अभिमुखीकरण हम कैसे करेंगे जैसे कोई पाठक जब पुस्तक पढ़ता है तो पढ़ते पढ़ते अपने आप को पुस्तक के साथ संवादात्मक शैली में पढ़ता है।पुनश्च हम स्मृतियों को पढ़ने देखने का, आत्मसात करने का दृष्टिकोण, भारत की सामासिक संस्कृति को किस रूप में गृहण कर रहे हैं, फिर सामासिक संस्कृति की यह विशेषता है कि वह जो कुछ भी जहां अच्छा है उसको अपने भीतर समावेश करने में सक्षम होती है।

जब हम महापुराणों की बात करते हैं तो महापुराण क्या है, कितने हैं, उनकी रचना के ऋषि - मुनियों का क्या उद्देश्य रहा है क्या-क्या विषय है तो हम उसे संवादात्मक शैली में पढ़ते हैं तो उसे सुधीजन, सामान्य जन अधिक से अधिक ग्रहण कर लेता है और सुलभता से आत्मसात करते हैं उनके उद्देश्यों को पूरा करने में लग जाते हैं ये सब कब सम्भव है जब उसे हम संवादात्मक रूप से अपने आपको मन मस्तिष्क को डुबोकर आत्मसात करते हैं।हम वेदों को पढ़ते हैं लेकिन यह सभी के द्वारा पढ़ने और समझने में सुलभ नहीं है तो वेदों का उपबृंहण हुआ।

हमारे शास्त्र की संवाद शैली ही आध्यात्मिक, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक विकास के पथ पर अग्रसर करती है।इसीप्रकार वेद को श्रुति कहा गया।श्रुति अर्थात् श्रवण पद्धति अर्थात् संवाद के द्वारा अध्ययन अध्यापन।

संस्कृति का संवाहक है। संवाद भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के पुनर्बोध का एकमेव उपकरण है। भारत का संपूर्ण इतिहास सभा, समिति, गोष्ठी, शास्त्रार्थ, प्रश्नोत्तर और वाद-विवाद संवाद से भरा पूरा है, लेकिन आधुनिक भारत में राष्ट्रीय चुनौतियों एवं व्यापक लोकहित के प्रश्नों पर भी उद्देश्यपरक संवाद का अभाव है। राष्ट्रीय एकता के प्रश्न भी उपेक्षित हैं।

ऋग्वैदिक काल की सभा एवं समिति के उद्धरण थे। प्राचीन ज्ञान का विकास वाद-विवाद संवाद से हुआ था। स्वयं से असहमत होकर सर्वमान्य को स्वीकार करने का साहस संवाद है। ऐसा संवाद द्वंद्ववाद नहीं भारत का अद्वैतवाद है। संवाद में संपूर्ण मानवता का लोकमंगल है।

1.8 पारिभाषिक शब्दावली

वाद : बौद्धिक विमर्श के साथ बातचीत

जल्प : बहस

वितण्डा : एकपक्षीय बहस

संवाद : तत्त्वबोध के लिये किया गया वाद

व्याख्या : किसी सिद्धान्त को समझाना

दृष्टान्त : सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये प्रस्तुत उदाहरण

1.9 सन्दर्भग्रन्थ

*संवादोपनिषद, राधावल्लभ त्रिपाठी, भारत अध्ययन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

*भगवद्गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर

*मनीषा पञ्चक

* चूलव्यूहसुत्त

*कौटिल्य अर्थशास्त्र, चौखम्भा सुभारती प्रकाशन, वाराणसी

*महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर

* वृहदारण्यक उपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर

*रामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर

1.10 बोध प्रश्न

1. वाद का शाब्दिक अर्थ क्या है ? समझाइए।
2. 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' का अर्थ समझाइये ?
3. मनीषा पञ्चक में कितने श्लोक हैं ?
4. हमारे ग्रन्थ किस शैली में लिखे गये है ? सोदाहरण समझाइए।
5. स्वसंवाद क्या है ?
6. महात्मा बुद्ध का वाद अपने शब्दों में लिखे ?
7. भारत में वाद परम्परा के क्रमिक विकास पर एक संक्षिप्त लेख लिखें
8. वाद तथा संवाद के अंतःसम्बन्ध का अपनेक शब्दो में व्याख्या करें।

इकाई 2 अधिकरण की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- अधिकरण के अर्थ तथा अवधारणा को समझ सकेंगे।
- विभिन्न दर्शनों तथा शास्त्रों में वर्णित अधिकरण के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शनों के आर्ष-सूत्र- वाङ्मय पर दृष्टि डाली जाए तो हमें उनमें तीन प्रकार की जिज्ञासाएँ दृष्टिगोचर होती हैं 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्म सूत्र) : (बादरायण)। 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (मीमांसा सूत्र) : ऋषि जैमिनि,'अथातो धर्मव्यख्यास्याम:' (वैशेषिक सूत्र) : ऋषि कणाद इसीप्रकार 'अथातो शक्तिजिज्ञासा',अथातो भक्तिजिज्ञासा',अथातो घुमक्कड़ जिज्ञासा' आदि - आदि जिज्ञासा होती है।

ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि एक ओर जहाँ शंकराचार्य की जिज्ञासा का केंद्र 'ब्रह्म' था तो दूसरी ओर ऋषि जैमिनि की जिज्ञासा का केंद्र ब्रह्म न होकर 'धर्म' था। एक के ध्यान एवं उपासना का विषय निर्गुण, निराकार, निरंजन परात्पर सत्ता थी तो दूसरे के ध्यान एवं उपासना का विषय वेद एवं यज्ञ था। शंकराचार्य जी का 'वेदान्त दर्शन' यद्यपि निर्गुण परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करके उसके स्वरूप की मीमांसा करता रहा; किन्तु जैमिनि का 'मीमांसा दर्शन' परमात्मा की सत्ता को अस्वीकार करते हुए स्वर्ग के साधनभूत वेद, धर्म, यज्ञ एवं यज्ञीय कर्म आदि की मीमांसा में रत रहा।

2.2 अधिकरण का अर्थ

अधिकरण (अधि +कृ +ल्युट)अर्थ विचार की पद्धति, जिससे वाक्यार्थ का निर्धारण होता है। इसके पाँच अवयव होते हैं- विचारणीय विषय, इस विषय में संशय, जो जिज्ञासा होने पर होता है, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष अर्थात् सिद्धान्त तथा सङ्गति अर्थात् प्रसङ्ग की अनुकूलता

माधव सरस्वती ने सर्वदर्शन कौमुदी में ऐसा कहा है-

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्ग शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥

अधिकरण के इन अंगों के विषय में कहीं-कहीं भिन्नता है- विषय, संशय, विचार, निर्णय तथा प्रयोजन को इसका अङ्ग माना गया है।

प्रकरणपञ्चिका के सम्पादक सुप्रसिद्ध मीमांसक ए. सुब्रह्मण्य शास्त्री ने अधिकरण के छह अंगों का उल्लेख किया है। उपर्युक्त विषय, संशय, विचार, निर्णय, प्रयोजन के साथ सङ्गति - इनकी दृष्टि में अधिकरण के अंग हैं।

अधिकरणों तथा सूत्रों के नियम

अनेक सूत्रों से एक अधिकरण बनता है, जिसमें एक प्रधान सूत्र तथा अन्य गुण सूत्र होते हैं। प्रधान सूत्र पूर्व पक्ष का प्रतिपादन करता है और अन्य सूत्र सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। कहीं कहीं पर दो सूत्रों के द्वारा पूर्वोत्तर पक्ष का प्रतिपादन किया गया है। ऐसे ही कहीं कहीं पर बिना सूत्र के ही पूर्व पक्ष का उत्थापन करके सूत्र से सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। कहीं कहीं सिद्धांत रूप से उपक्रम द्वारा पूर्व पक्ष कर सिद्धांत काप्रतिपादन किया है। एक पाद में कतिपय अधिकरण होते हैं। उदाहरणार्थ प्रथम पाद में आठ अधिकरण हैं।

अधिकरण में छः पदार्थ होते हैं - विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धांत प्रयोजन और संगति। संगति तीन प्रकार की होती है - शास्त्र संगति, अध्याय संगति और पाद संगति।

2.2.1 मीमांसाशास्त्र में अधिकरण

मीमांसा शास्त्र को ‘‘संकर्षण काण्ड’’ एवं ‘‘देवता काण्ड" भी कहते है। मनुष्य जब इस संसार में अवतरित हुआ उसकी प्रथम जिज्ञासा यही रही थी कि वह क्या करें? अतएव इस दर्शनशास्त्र का प्रथम सूत्र मनुष्य की इस इच्छा का प्रतीक है। इसका प्रथम सूत्र ‘‘अथातो धर्म जिज्ञासा" अब धर्म (करने योग्य कर्म) के जानने की लालसा।

मीमांसा सूत्र में लगभग एक सहस्र विषयों पर विचार किया गया है, इसलिए यह दार्शनिक सूत्रों से कहीं बड़ा है। "मीमांसा सूत्र" सम्भवतः दर्शन जगत् में सबसे पहली सूत्रबद्ध रचना है। मीमांसा सूत्रों की विशाल संख्या अन्य सभी दर्शनों की सम्मिलित संख्या के बराबर है। मीमांसा दर्शन के दो भाग हैं- 'पूर्व मीमांसा' तथा 'उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसा को 'मीमांसा' और उत्तर मीमांसा को 'वेदान्त' कहा जाता है। पूर्व मीमांसा कर्म का विचार करती है और उत्तर मीमांसा ज्ञान का विचार करती है। कर्म अर्थात् यज्ञ (याग) करना ही धर्म है और उसके अनुष्ठान से तत्त्व ज्ञान होता है। भाव यह है कि मीमांसा कर्मकाण्ड से सम्बन्धित है और वेदान्त ज्ञानकाण्ड से। इस प्रकार पूर्व मीमांसा तार्किक क्रम की दृष्टि से उत्तर मीमांसा से पहले आती है। मीमांसा का

प्रथम सूत्र है- 'अथातो धर्म जिज्ञासा' अर्थात् इसीलिए धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। यह वाक्य वेदान्त के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' अर्थात् इसीलिए ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए का पूरक है, इससे स्पष्ट है वेद के दो पक्ष हैं कर्मकाण्ड, जिनका उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में है तथा ज्ञानकाण्ड जिनका उल्लेख उपनिषदों में है।

प्रत्येक प्राणी के हृदय में जन्म से ही असंख्य वृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं किन्तु उनमें 'जिज्ञासा' नामक वृत्ति को बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस वृत्ति के बिना प्राणी का जीवन निरर्थक ही रहता है। इसी वृत्ति के कारण प्राणी 'सर्वज्ञ' बनना चाहता है। वह संसार के सभी पदार्थों के ज्ञान के लिए सदैव प्रयत्नशील बना रहता है।

मीमांसासूत्र , भारतीय दर्शन के सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थों में से एक है। इसके रचयिता महर्षि जैमिनि हैं। इसे पूर्वमीमांसासूत्र भी कहते हैं। इसका रचनाकाल ३०० ईसापूर्व से २०० ईसापूर्व माना जाता है। मीमांसासूत्र, मीमांसा दर्शन का आधारभूत ग्रन्थ है। परम्परानुसार ऋषि जैमिनि को महर्षि वेद व्यास का शिष्य माना जाता है।

मीमांसासूत्र को 'पूर्वमीमांसा' तथा वेदान्त को 'उत्तरमीमांसा' कहा जाता है। पूर्ममीमांसा में धर्म का विचार है और उत्तरमीमांसा में ब्रह्म का। अतः पूर्वमीमांसा को धर्ममीमांसा और उत्तर मीमांसा को ब्रह्ममीमांसा भी कहा जाता है। जैमिनि मुनि द्वारा रचित सूत्र होने से मीमांसा को 'जैमिनीय धर्ममीमांसा' कहा जाता है। पूर्वमीमांसा में वेद के यज्ञपरक वचनों की व्याख्या बड़े विचार के साथ की गयी है। मीमांसा शास्त्र में यज्ञों का विस्तृत विवेचन है, इससे इसे 'यज्ञविद्या' भी कहते हैं। बारह अध्यायों में विभक्त होने के कारण यह मीमांसा 'द्वादशलक्षणी' भी कहलाती है। इस शास्त्र का 'पूर्वमीमांसा' नाम इस अभिप्राय से नहीं रखा गया है कि यह उत्तरमीमांसा से पहले बना। 'पूर्व' कहने का तात्पर्य यह है कि कर्मकाण्ड मनुष्य का प्रथम धर्म है, ज्ञानकाण्ड का अधिकार उसके उपरान्त आता है।

'मीमांसा' शब्द का अर्थ (पाणिनि के अनुसार) 'जिज्ञासा' है। जिज्ञासा, अर्थात् जानने की लालसा। मनुष्य जब इस संसार में अवतरित हुआ उसकी प्रथम जिज्ञासा यही रही थी कि वह क्या करे? ग्रन्थ का आरम्भ ही महर्षि जैमिनि इस प्रकार करते हैं- अथातो धर्मजिज्ञासा॥ (अब धर्म (करने योग्य कर्म) के जानने की लालसा है।)

अतएव इस दर्शनशास्त्र का प्रथम सूत्र मनुष्य की इस इच्छा का प्रतीक है।इस ग्रन्थ में ज्ञान-उपलब्धि के जिन छह साधनों की चर्चा की गई है, वे है- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। मीमांसा दर्शन के अनुसार वेद अपौरूषेय, नित्य एवं सर्वोपरि है और वेद-प्रतिपादित अर्थ को ही धर्म कहा गया है।

मीमांसासूत्र की संरचना

मीमांसा दर्शन १६ अध्यायों का है, जिसमें १२ अध्याय क्रमबद्ध हैं। शास्त्रसंगति, अध्यायसंगति, पादसंगति और अधिकारसंगतियों से सुसंबद्ध है। इन बारह अध्यायों में जो छूट गया है, उसका निरूपण शेष चार अध्यायों में किया गया है जो 'संकर्षकाण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें देवता के अधिकार का विवेचन किया गया है, अत: उसे 'देवता काण्ड' भी कहते हैं अथवा द्वादश अध्यायों का परिशिष्ट भी कह सकते हैं। भास्कर राय दीक्षित ने संकर्षण काण्ड की व्याख्या के अंत में लिखा है कि षोडषाध्यायी मीमांसा के रहते हुए भी मध्य काल में द्वादशाध्याय का ही पठनपाठन होता था।

१) इस दर्शन के प्रथमाध्याय में धर्मप्रमाणों का निरूपण किया गया है और विधि, अर्थवाद मंत्र, स्मृति, शिष्टाचार, नामधेय, संदिग्धार्थ निर्णायक वाक्यशेष और सामर्थ्य का निरूपण किया गया है।

२) द्वितीयाध्याय में शब्दांतर, अभ्यास, संख्या, संज्ञा, गुण और प्रकरणांतर, ये छह कर्म भेद के प्रमाण हैं।

३) तृतीयाध्याय में श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या ये छ: विनियोजक (अंगता बोधक) प्रमाण हैं।

४) चतुर्थाध्याय में, श्रुति अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य और प्रवृत्ति में छह बोधक प्रमाण हैं।

५) पंचमाध्याय में अतिदेश, प्रत्यक्षवचनातिदेश, नामातिदेश, कल्पित वचनातिदेश, आश्रयातिदेश और स्थानापत्ति अतिदेश ये सात प्रकार के अतिदेश हैं। अंत के दो भेद सप्तमअध्याय में वर्णित नहीं हैं। ये इंद्रिय कामाधिकरण तथा स्थानापत्ति अतिदेश में निरूपित हैं।

६) छठे अध्याय में यज्ञों के करने और करानेवालों के अधिकार का निर्णय है।

७) सातवें और आठवें में एक यज्ञ की विधि को दूसरे यज्ञ में करने का वर्णन है।

८) आठवें अध्याय में एक यज्ञ की विधि को दूसरे यज्ञ में करने का वर्णन है।

९) नवम अध्याय में तीन प्रकार के "ऊह" का निरूपण है (मंत्रोह, सामोह, संस्कारोह)।

१०) दशमाध्याय में तीन प्रकार के 'बाध' (अर्थलोप, प्रत्याम्नाय, प्रतिषेध) का निरूपण है।

११) एकादशाध्याय में तंत्र और आवाय का निरूपण है।

१२) द्वादशाध्याय में "प्रसंग" का निरूपण है।

इस प्रकार एक-एक विषय का प्रतिपादन द्वादशाध्यायात्मक मीमांसा दर्शन में किया गया है जिसे "द्वादशलक्षणी" भी कहा गया है। यहाँ 'लक्षण' शब्द अध्यायवाचक है। इसको दो प्रकार से विभक्त किया गया है जिसे उपदेश और अतिदेश कहते हैं। प्रथम (पूर्वषट्क) अध्यायों में उपदेश का विवेचन है। द्वितीय (उत्तरषट्क) के छह अध्यायों में अतिदेश का विवेचन है। उक्त उपदेश अतिदेश द्वय विचारात्मक शास्त्र है। शास्त्र दीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र के अनुसार उपदेश विचार के अनंतर अतिदेश विचार का आरंभ होता है।

वर्तमान काल में उपलब्ध मीमांसा दर्शन में द्वादश अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद होते हैं, किंतु तृतीय, षष्ठ और दशम अध्यायों में आठ आठ पाद हैं, जिसे "शबरा" अध्याय भी कहते हैं। इस तरह संपूर्ण ग्रंथ में साठ पाद हैं।

इस दर्शन की सूत्रसंख्या में विवाद है। किसी के मत में दो सहस्र छह सौ बावन (2652), किसी के मत में दो सहस्र सात सौ बयालीस (2742) सूत्र हैं। आनंद आश्रम पूना से प्रकाशित "न्यायमाला" में दो सहस्र सात सौ पैंतालीस (2745) सूत्रों का प्रतिपादन है।

इसी प्रकार कुछ व्यक्तियों के मत से अधिकरण संख्या नौ सौ सात (907) प्राप्त होती है। कुछ के मत से नौ सौ पंद्रह (915) अधिकरण हैं। किंतु "मीमांसासार संग्रह" के कर्ता शंकर भट्ट के अनुसार "पूर्वषट्क" में पाँच सौ तीस, (530) उत्तरषट्क में चार सौ सत्तर (470) अधिकरण हैं। इस प्रकार संपूर्ण अधिकरण एक सहस्र संख्या में विभाजित है।

नत्वागणेश-वाग्राम-गुर्वड्.श्रीन् भट्टशंकर:।
सहस्रं वक्ति सिद्धांतान् सार्धश्लोक शतद्वयान्॥

उपर्युक्त श्लोक के अनुसार अधिकरणों की संख्या एक सहस्र दो सौ पचास (1250) है।

मीमांसा में प्रत्येक अधिकरण के पाँच भाग हैं— विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और सिद्धान्त। अतः सूत्रों को समझने के के लिये यह जानना आवश्यक होता है कि कोई सूत्र इन पाँचों में से किसका प्रतिपादक है।

प्रथम सूत्र - प्रथम अधिकरण का नाम जिज्ञासा अधिकरण है। विचार शास्त्र विषय है। विचार शास्त्र (विषय) आरंभ करने योग्य है या नहीं, यह संशय है। आरंभ करने योग्य नहीं है, यह पूर्व पक्ष है। सिद्धांत है कि विचार शास्त्र आरंभ करना चाहिए। इस विषय का मूल है कुमारिल भट्ट के मत में अध्ययन विधि और "प्रभाकर" (गुरु) मत में अध्यापन विधि। पूर्वपक्ष में अध्ययन का अदृश्य प्रयोजन है और सिद्धांत पक्ष में अर्थ-ज्ञान-रूप दृष्ट प्रयोजन है।

धर्म के विचार शास्त्र संबंधी होने के कारण इस विचार शास्त्र में इसका विवेचन संगत है। इस (प्रथम) अधिकरण में अध्ययन दृष्टार्थ होता है, यही सिद्ध किया गया है। अतएव विचार शास्त्र का मूल अध्ययन विधि है। अर्थज्ञान का साधन (विचार) अध्ययन विधि से आक्षिप्त होता है। इसीलिए विचार शास्त्र का आरंभ वैध है।

द्वितीय सूत्र – द्वितीय अधिकरण में धर्म का लक्षण और प्रमाण है, जिसकी कर्तव्यता विधिवाक्य से प्रतीत होती है। वह श्रेय का साधन है। यहाँ श्रेय शब्द से ऐहिक और आमुष्मिक दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं। गम्य धर्म में गमक विधिवाक्य प्रमाण होता है। जो निषेध द्वारा प्रतिपादित होता है वह अनर्थ का साधन होता है, उसे ही अधर्म कहते हैं।

तृतीय सूत्र - तृतीय अधिकरण में विधि वाक्य ही प्रमाण है। यहाँ प्रतिज्ञा मात्र की गई है। वे दो प्रकार कही हैं - "चोदनैव लक्षणं यस्य, चोदना लक्षणमेव यस्य" अर्थात् यहाँ प्रत्यक्ष आदि प्रमाण धर्म से प्रमाण नहीं होते, किंतु विधिवाक्य ही धर्म में प्रमाण माना गया है।

चतुर्थ सूत्र - इस सूत्र में प्रथम प्रतिज्ञा के समर्थन के लिए चतुर्थ अधिकरण है। इस अधिकरण में लोक सिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण - "इंद्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्"। अर्थात् प्रत्यक्ष वर्तमान सन्निकृष्ट को ही ग्रहण करता है और धर्म उत्पद्यमान है, अतएव प्रत्यक्ष धर्म में प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म भविष्यत् कालिक है। इन वचनों से मीमांसाकार ने प्रत्यक्षोपजीवी अनुमान उष्मान और अर्थापत्ति को भी प्रमाण नहीं माना है।

पंचम सूत्र - चतुर्थ सूत्र में चतुर्थ अधिकरण की प्रथम जिज्ञासा का समर्थन करके पंचम सूत्र के पंचम अधिकरण में द्वितीय प्रतिज्ञा का समर्थन किया गया है। इस अधिकरण में विधिवाक्य ही प्रमाण है, इसी प्रतिज्ञा का समर्थन किया गया है। इसी प्रसंग में प्रमाणों का प्रामाण्य स्वत: उत्पन्न और स्वत: गृहीत होता है। अर्थात् ज्ञानजनक सामग्री से प्रामाण्य उत्पन्न होता है और उसी सामग्री से प्रामाण्य गृहीत भी होता है।

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वताफलम् ।
अर्थवादोपपत्ति च लिङ्ग तात्पर्यनिर्णये ॥

किसी ग्रंथ या प्रकरण के तात्पर्य निर्णय के लिये सात बातों पर ध्यान देना चाहिए—

1. उपक्रम (आरंभ),
2. उपसंहार (अंत),
3. अभ्यास (बार-बार कथन),
4. अपूर्वता (नवीनता),
5. फल (ग्रंथ का परिणाम वा लाभ जो बताया गया हो),
6. अर्थवाद (किसी बात को मन में जमाने के लिये दृष्टांत, उपमा,गुणकथन आदि के रूप में जो कुछ कहा जाय और जो मुख्य बात के रूप में न हो), और
7. उपपत्ति (साधक प्रमाणों द्वारा सिद्धि) । मीमांसक ऐसे ही नियमों के द्वारा वेद के वचनों का तात्पर्य निकालते हैं।

अर्थात - "किसी भी ग्रंथ का तात्पर्य निकालना हो तो उसका आरंभ, अंत, अभ्यास का नावीन्य, फल, अर्थवाद और उपपत्ति – इन सात बातों को साधन बनाकर निर्णय करना चाहिए ।"(इस विषय पर चर्चा अगले अनुबंध चतुष्टय प्रकरण में करेंगे) इसी प्रकार अन्य ग्रंथों में अधिकरण का क्या तात्पर्य है हम समझेंगे-

2.2.2 न्यायदर्शन में अधिकरण

अधिकरण को न्याय भी कहते हैं।- विवक्षित अर्थ की प्राप्ति जिससे हो वह न्याय है। इसी के आधार पर न्यायकणिका, न्यायरत्नाकर तथा मीमांसान्यायप्रकाश आदि मीमांसाग्रन्थों के नाम उपलब्ध हैं।

जानने योग्य बात यह है कि यह न्यायदर्शन के पञ्चावयव (प्रतिज्ञा ,हेतु ,उदाहरण ,उपनय और निगमन)वाक्यरूप न्याय से भिन्न है। न्यायदर्शन के न्याय के पाँचों अवयव इनके अंगों से सर्वथा भिन्न होते हैं।

2.2.3 आयुर्वेद में अधिकरण

आयुर्वेद में चरक के अनुसार 36 तन्त्रयुक्तियों में अधिकरण प्रथम स्थान पर आता है

'तत्राधिकरणं योगो हेत्वर्थोऽय पदस्य च ।
प्रदेशोद्देश निर्देशवाक्यशेषाः प्रयोजनम् ॥

(चरक संहिता 12/41)

अधिकरण –"तत्र यमर्थमधिकृत्योच्यते तदधिकरणम्। यथा रसं दोषं वा अधिकरणं प्रस्ताव, सामान्योक्तमप्यर्थ जातं बलाद्विशेषे ऽवस्थाप्यते"

अर्थात् जिस विषय को अधिकाररूप में कहा जाता है, उसे अधिकरण कहा जाता है। जैसे रसाधिकार या दोषाधिकार अर्थात् जिस विषय का अधिकार करके जो कोई विषय विवेचित किया जाता है, उसे अधिकरण कहा जाता है। पाणिदत्त ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस विषय का अधिकार करके अर्थात् 'जिस विषय के वर्णन करने का लक्ष्य करके कर्ता प्रयुक्त होता है, उसे अधिकरण कहते हैं। जैसे—'विघ्न भूता यदा रोगाः' आयुर्वेद के इस प्रकरण में रोगादि को अधिकरण बना कर आयुर्वेद का प्रकाशन किया गया है। अतः रोगादि यहाँ अधिकरण है।

'अधिकरणं नाम यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते कर्त्ता यथा विघ्नभूता यदा रोगाः । इत्यादि । अत्र रोगादिकमधिकृत्याऽऽयुर्वेदो महर्षिभिः कृत इति रोगा इत्यधिकरणम् '(आचार्य चक्रपाणिदत्त के अनुसार)

इस अधिकरण को कतिपय स्थान पर शीर्षक रूप में रखा जाता है। यया- दीर्घजीवन का अधिकार आयु का वर्णन तथा उसके हिताहिततः सुखासुखतः वर्णन होने के कारण यहाँ दीर्घ जीवनोपलब्धि ही अधिकार है; दीर्घ जीवितमन्विच्छन् भरद्वाजमुपागमत् । अतः इस अधिकार के कारण इस अध्याय का नाम दीर्घजीवितम् अध्याय रखा गया है। सु० सू० १ में आयुर्वेद का अधिकरण कर्मपुरुष को कहा गया है- स पुमानं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्' । इसी प्रकार कतिधापुरुषीयाध्याय का अधिकरण पुरुष को कहा जाता है |

2.2.4 ब्रह्मसूत्र में अधिकरण

महर्षि बादरायण द्वारा रचित ग्रंथ को चार अध्यायों में विभाजित करके , प्रत्येक अध्याय को चार-चार पादों में विभक्त किया गया है। पादों में विभाजन के अतिरिक्त एक और छोटा विभाग है जिसका नाम अधिकरण है। अधिकरण का अर्थ है प्रकरण या विषय ,एक प्रकरण या विषय के प्रतिपादन करने वाले सूत्रों की समष्टि को अधिकरण कहते हैं। ये अधिकरण कहीं एकसूत्रात्मक हैं तो कहीं अनेक सूत्रात्मक ,उदाहरण के लिए अध्याय के प्रारंम्भ के चार अधिकरण एकसूत्रात्मक है और शेष अधिकरण अनेक सूत्रात्मक हैं।

प्रत्येक पाद के भीतर विषय- भेद के अनुसार कई अधिकरण हैं, और प्रत्येक अधिकरण की रचना एक या अनेक सूत्रों को मिलाकर की गई है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र में चार (4) अध्याय, सोलह (16) पाद, एक सौ नवासी (189) अधिकरण और पाँच सौ चौवन (554) सूत्र हैं।

इन अधिकरणों की एक सामान्य विशेषता यह है कि इनमें प्रत्येक के भीतर पाँच अवयव पाये जाते हैं।

विषय,संशय ,पूर्वपक्ष ,उत्तरपक्ष एवं निर्णय

प्रथम अवयव विषय है जो हमारे विचार का लक्ष्य होता है। दूसरे अवयव को संशय कहते हैं । संशय का सम्बन्ध उस संदेह या संशय से है जो विषय वाक्य के सम्बन्ध में हमारे मन में उत्पन्न होता है। तृतीय अवयव संशय उत्पन्न होने पर पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए चतुर्थ उत्तरपक्षमें पूर्व पक्ष का खंडन करते हैं। इन चार अवयवों के बाद इस सम्पूर्ण विवेचन का फल बताया जाता है जो पंचम एवं अन्तिम अवयव है। इस प्रकार प्रत्येक अधिकरण पंचावयव रूप है। कुछ स्थानों में चार ही अवयव का उल्लेख मिलता है |

प्रथम अधिकरण : जिज्ञासा अधिकरण (ब्रह्मसूत्र1 /1)

प्रथम सूत्र : अथातो ब्रह्म जिज्ञासा (ब्रह्मसूत्र1 /1/1)

2.2.5 संस्कृत व्याकरण में अधिकरण

संस्कृत व्याकरण में (आधारोऽधिकरणम् १२४।४५) सूत्र द्वारा आधार को अधिकरण का लक्षण माना गया है

'कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणं स्यात् '

अर्थ- कर्ता और कर्म के द्वारा उनमें रहने वाली क्रिया का आधार की अधिकरण संज्ञा हो।

अधिकरण सीधे तौर पर क्रिया का आधार नहीं होता किन्तु कर्ता या कर्म द्वारा रहती है। जैसे देवदतः कटे आस्ते में आसन (रहना) क्रिया देवदत्त कर्ता के द्वारा कट में है और स्थाल्यां तण्डुलं पचति में पाक क्रिया तण्डुल कर्म के द्वारा स्थाली (पात्र) में है।

कुमरिल भट्ट के अनुसार- अधिकरण का विवेचन यह प्रथम अधिकरण पूर्वमीमांसा के आरम्भ का उपादानपरक है। अवान्तर प्रकरण का नाम अधिकरण है। अधिकरण के होते है---विषय संभाग, पूर्वपद सिद्धान्त और सङ्गति। जिस उद्देश्य से विचार किया जाय यही विषय है। जिस ज्ञान का विषय दो कोटी में आन्दोलित रहे, उसको संशय कहते हैं। यह कोटीद्वय कहीं भावरूप और कहीं अभावरूप रहता है। जैस, यह स्थाणु है अथवा पुरुष ? यहाँ स्थाणु या पुरुष दोनों भाव रूप ही हैं। मनुष्य है या नहीं? यहाँ है से भावरूप और न से अभावरूप कोटी का विषय समझना चाहिए। यहाँ कोटीद्वय अनेक कोटी का भी उपलक्षण है। वादी जिस मत का उपपादन करता है, वह पूर्वपक्ष है। निर्णय का नाम सिद्धान्त है। सङ्गति तीन प्रकार की है-अधिकरण-सङ्गति, पाद सङ्गति और अध्याय सङ्गति। इसका स्वरूप यह है कि यह विचार इसी अधिकरण, इसी पाद और इसी अध्याय में करना समुचित है, इस प्रकार के विचार को सङ्गति कहते हैं। भट्ट लोग सङ्गतिको अधिकरण का अंग नहीं मानते वे सङ्गति के स्थान पर उत्तर को अङ्ग मानते हैं।

उत्तर और निर्णय में ही भेद है कि उत्तर वादी के मत का खण्डन मात्र करता है, परन्तु वह सिद्धान्त नहीं होता, जैसे जात्युत्तर और निर्णय सिद्धान्त है,यही दोनों में भेद है ,इसीलिए उत्तर की अपेक्षा निर्णय की गणना पृथक की गई है तात्पर्य यह है कि विषय, विंषय अर्थात् संशय, पूर्वपक्ष, उत्तर और निर्णय ये ही पांच अधिकरण के अवयव है| **"स्वाध्यायोऽध्येत्वय:"** अर्थात् वेद पढ़ना चाहिए| यही वाक्य प्रथम अधिकरण का विषय है|

2.3 सारांश

इस इकाई में अधिकरण के अभिप्राय और इससे सम्बन्धित विभिन्न मतों की विस्तृत चर्चा की। अधिकरण विचार की पद्धति है, जिससे वाक्यार्थ का निर्धारण होता है। इसके पाँच अवयव होते हैं, विषय, संशय, विचार, निर्णय तथा प्रयोजन। अनेक सूत्रों से एक अधिकरण बनता है जिसमें एक प्रधान सूत्र तथा अन्य गुण सूत्र होते हैं। प्रधान सूत्र पूर्व पक्ष का प्रतिपादन करता है और गुण सूत्र सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। मीमांसा सूत्र भारतीय दर्शन के सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में से एक है। इसके रचयिता महर्षि जैमिनि है। मीमांसासूत्र को पूर्व मीमांस तथा वेदान्त को उत्तरमीमांसा कहा जाता है। पूर्व मीमांसा मे धर्म का विचार है और उत्तरमीमांसा में ब्रह्म का। अधिकरण को न्याय भी कहा जाता है। न्यायदर्शन के पंचावयव (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन) वाक्यरूप न्याय से भिन्न है।

आयुर्वेद में चरक के अनुसार 36 तंत्रयुक्तियों में अधिकरण प्रथम स्थान पर आता है जिस विषया को अधिकार रूप में कहा जाता है, उसे अधिकरण कहते हैं। महर्षि वादरायण द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र में भी पादों के अतिरिक्त अधिकरण नामक विभाग है। इसमें अधिकरण का अर्थ प्रकरण या विषय है। ब्रह्मसूत्र का प्रथम अधिकरण जिज्ञासा अधिकरण है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार आधार को अधिकरण का लक्षण माना गया है।

2.4 पारिभाषिक शब्दावली

विशेषण विशेष्य भाव : विशेषण जिसकी विशेषता, संख्या, परिमाण आदि बताता है, विशेष्य होता है। इस प्रकार विशेषण विशेष्य भाव का अर्थ होता है।

धर्मराध्वरीन्द्र : वेदान्त दर्शन का प्रसिद्ध ग्रन्थ वेदान्त परिभाष के लेखक

ज्ञानकारणजन्यत्व : ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होना वाला

व्यतिरेकी अनुमान : अनुमान प्रकृया में दो प्रकार की विधि अपनायी जाती है अन्वय और व्यतिरेक। अन्वय में एक एक वाक्य को प्रमाणरूप निषेध द्वारा अनुमान को पुष्ट करते हैं। इसमें एक एक वाक्य को निषेध के उदाहरण के रूप में प्रयुक्त करते हैं।

कुमाारिल : मीमांसा दर्शन के प्रमुख दार्शनिक इनको प्रमुख ग्रन्थ है श्लोक वार्तिक, प्रमाणवार्तिक इन्होंने यह दार्शनिक सम्प्रदाय चलाया।

2.5 सन्दर्भग्रन्थ

1. वेदान्तसार, श्रीसदानन्द, मोतीलाल बनारसीदास, प्रकाशन।
2. ब्रह्मसूत्र, शंकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर।

2.6 बोध प्रश्न

1. अधिकरण शब्द की शाब्दिक व्युत्पत्ति क्या है? व्याख्या करें।
2. मीमांसा शास्त्र में "जिज्ञासा" क्या है?
3. अधिकरण किसे कहते हैं?
4. व्याकरण और आयुर्वेद के अधिकरण में अंतर स्पष्ट कीजिए?
5. अधिकरण के पाँच अवयव कौन-कौन से है? समझाइये।

इकाई 4 कथा का स्वरूप एवं प्रकार

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस इकाई में कथा के स्वरूप और प्रकार का अध्ययन कर लेने के बाद आप सभी-

- भारतीय-दर्शन के सम्प्रदाय पर संक्षिप्त परिचय दे सकेंगे।
- कथा का अर्थ और उसको परिभाषित कर सकेंगे।
- दार्शनिक स्रोतों में कथा का उल्लेख करने में समर्थ हो सकेंगे।
- साहित्यिक स्रोतों में कथा का विवेचन करने में समर्थ हो सकेंगे।
- कथा के प्रकार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखने में समर्थ हो सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम भारतीय ज्ञानपरम्परा में ज्ञान प्राप्ति के साधनों विशेषतः श्रवण विधि की प्रणाली पर चर्चा करेंगे। जैसा कि हम जानते है भारतीय ज्ञानपरम्परा लिखित ज्ञान परम्परा से अधिक वाचिक परम्परा है। इसलिये भारतीय ज्ञान परम्परा की श्रुति परम्परा भी कहा जाता है। भारतीय ज्ञान सृष्टि के आदि से वर्तमान तक इसी प्रणाली से निरन्तर प्रवाहमान है।

किसी भी सभ्यता का विकास करके परम्पराओं के ऊपर आश्रित होता है इसी तरह हमारी भारतीय हिन्दू सभ्यता विभिन्न परम्पराओं के द्वारा विकसित होती आयी है लेकिन इन परम्पराओं में सबसे प्रमुख ज्ञानपरम्परा है, इसमे आत्मा, ईश्वर, सृष्टि, आदि के विषय में बहुत ही गहनरूप से तात्त्विक विचार किया गया है।

भारतीय ज्ञानपरम्परा गुरूशिष्य परम्परा के द्वारा प्रवाहित होती है। गुरूशिष्य परम्परा एक अत्यन्त महत्वपूर्ण परम्परा है जिसके अन्तर्गत शिष्य कए गुरू के सानिध्य में रहकर ज्ञान प्राप्त करता है। भारतीय समाज में पुरूषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) के आधार पर एक व्यक्ति का जीवन संचालित होता है तथा जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष बताया गया है। एक व्यक्ति के मानव योनि में जन्म लेने से उसे यह अवसर प्राप्त होता है कि वह मोक्ष पाने के लिये प्रयत्न करें।

वेदान्त दर्शन में जीवन के परम पुरूषार्थ मोक्ष को पाने के लिये आत्मज्ञान यानि ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक बताया गया है। ज्ञान की प्राप्ति हेतु साधन चतुष्टय से युक्त होकर शुरू के सानिध्य में रहकर वेदान्त की शिक्षा लेता है। ज्ञान प्राप्ति की 3 प्रणाली श्रवण, मनन, निविध्यासन का अनुसरण करता है। श्रवण प्रणाली के अन्तर्गत 6 लिंगों के माध्यम से साधक कैसे मौक्ष की ओर अग्रसर होता है, उसकी चर्चा हम इस इकाई में करेंगे।

4.2 कथा का अर्थ, परिभाषा

कथा के स्वरूप का प्रारम्भ वैदिक-काल से होता है। वेद जिनके अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आते हैं। इनमें कथाओं का विस्तृत स्वरूप देखने को मिलता है। वेदों में प्रथम वेद ऋग्वेद में अनेक संवाद-सूक्त देखने को मिलते हैं। जिनमें प्रमुख रूप से सूक्त हैं- पुरूरवा-उर्वशी संवादसूक्त, नदी-विश्वामित्र संवादसूक्त, सरमा-पणि संवादसूक्त, यम-यमी संवादसूक्त। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी संवाद की विस्तृत परम्परा दिखायी देती है।

कथा का अर्थ, परिभाषा-

कथा का अर्थ 'शास्त्रार्थ' है। शास्त्रार्थ शब्द का प्रयोग शास्त्र-चर्चा अर्थ में रूढ हो गया है। कथा को तीन रूपों- वाद, जल्प, वितण्डा, इन तीनों का प्रयोजन शास्त्रों के अर्थ को स्पष्ट करना है। इसलिये तत्त्वनिर्णयकारियों द्वारा इन तीनों कथाओं का सम्मिलित रूप 'शास्त्रार्थ' समझा जाने लगा।

आचार्य उदयन कहते हैं-

'ननु शास्त्रार्थ प्रयोजनव्युत्पादनावसरे प्रमाणम् अर्थवदिति कुछ:? न हि प्रमाणं शास्त्रार्थ: अपितु न्याय:।' (न्यायवार्तिक परिभाषा 1/1/1)

अर्थात् प्रमाण तत्त्वनिर्णय पर जब तक नहीं पहुंचता तब तक वह शास्त्रार्थ नहीं है, अपितु न्याय है तत्त्वनिर्णय करने वाला शब्द प्रमाण शास्त्रार्थ का साधन है। खण्डन-मण्डन परम्परा में तत्त्वनिर्णय कराने वाला शब्द प्रमाण शास्त्रार्थ निर्णय का साधन है। खण्डन-मण्डन की परम्परा में तत्त्वनिर्णय रूप शास्त्रार्थ की स्थापना होती है। इसलिये लक्षण से शास्त्रार्थ शब्द का प्रयोगशास्त्र के साधन (युक्ति प्रत्युक्ति प्रदर्शन) में होने लगा।

वाद, जल्प, वितण्डा जिनकी चर्चा अभी की गयी है। उन तीनों का सामान्य नाम है- कथा। कथा का लक्षण है पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का प्रतिपादन करने के लिये अनेक वक्तत्यों के द्वारा प्रयुक्त होने वाला वाक्यसमूह।

4.2.1 दार्शनिक स्रोतों में कथा की अवधारणा

भारतीय दार्शनिक परम्परा का मूल स्रोत उपनिषदों में भी कथा का स्वरूप देखने को मिलता है-

1) **छान्दोग्य-उपनिषद्** में आत्म-जिज्ञासा की भावना जब उत्पन्न होती है। तब वहां पर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्योपनिषद् 3/14/1) विषय को लेकर के आत्म-जिज्ञासा की भावना उत्पन्न होती है और इसी आत्म-जिज्ञासा की शांति के लिए तत्त्वज्ञान के लिये शास्त्रार्थ प्रणाली का जन्म होता है न्याय-दर्शन में इसकी विस्तृत परम्परा देखने को मिलती है।

   तत्त्व-ज्ञान रूप महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्राच्य मनीषियों ने तीन उपाय बतलायें हैं- (1)प्रस्तुत विषय का स्वाध्याय अर्थात् श्रवण (2) चुने गये विषयों का मनन और (3) मनन के बाद उन विषयों का निरन्तर चिन्तन करते रहना।

2) **बृहदारण्यक-उपनिषद्** में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को परमतत्त्व आत्मा की अपरोक्षानुभूति के लिये संवाद द्वारा प्रोत्साहित किया-

   आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि!(बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/5)

   बृहदारण्यक-उपनिषद के तृतीय अध्याय में जनक की सभा में याज्ञवल्क्य-अश्वल-संवाद, याज्ञवल्क्य-आर्तभाग-संवाद, याज्ञवल्क्य-लाह्यायनि- भुज्यु-संवाद, याज्ञवल्क्य-चाक्रायण-उषस्त-संवाद, याज्ञवल्क्य-कहोल-संवाद, याज्ञवल्क्य-गार्गी-संवाद, याज्ञवल्क्य-आरुणि-उद्दालक-संवाद,याज्ञवल्क्य-शाकल्य-संवाद, शास्त्रार्थ की प्रश्न-प्रतिप्रश्न परम्परा के दर्शन होते हैं। याज्ञवल्क्य के द्वारा गार्गी को सचेत करना स्पष्ट दिखाई देता है-

   'स होवाच गार्गि मातिप्राक्षी:! मा ते मूर्धा व्यपप्तद् अनतिप्रश्न्यां वै देवताम् अतिपृच्छति गार्गि माति प्राक्षीरिति।' (बृहदारण्यक -उपनिषद् 3/6/1)

   अर्थात् हे गार्गि!अतिप्रश्न मत कर तेरा मस्तक न गिर जाये। तूझे जिसके विषय में अतिप्रश्न नहीं करना चाहिये उस देवता के विषय में प्रश्न कर रही है।

   याज्ञवल्क्य के द्वारा इस प्रकार सावधान किये जाने पर गार्गी का मौन होना वाद कथा को तत्त्वनिर्णय तक ले जा रहा है।

   इसी प्रकार याज्ञवल्क्य-शाक्ल्य-संवाद में याज्ञवल्क्य ने शाक्ल्य के प्रश्नों के सही उत्तर दे दिये किन्तु जब उन्होंने शाक्ल्य से शर्त के साथ एक प्रश्न किया तो वह उत्तर न दे सका। उसके बाद अन्य ब्राह्मणों से भी उन्होंने प्रश्न किये ब्राह्मणों का साहस न उनसे प्रश्न करने का हुआ न उत्तर देने का। तब उपसंहार करते हुये याज्ञवल्क्य इस तत्त्वनिर्णय पर पहुंचे-

   'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातु: परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति।' (बृहदारण्यक-उपनिषद् 3/9/28)

   अर्थात् विज्ञान आनन्द ब्रह्म है। वह धनदाता (कर्म करने वाले यजमान) की परम गति है और ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता का भी परम आश्रय है।

3) **कठोपनिषद्-** यजुर्वेद की कठ-शाखा से सम्बन्धित यह उपनिषद् कथा का अच्छा संकेत करता है। वाजश्रवा 'विश्वजित्' नामक यज्ञ करते हैं और अपना सबकुछ दान करने का संकल्प लेते हैं यह यज्ञ ही ऐसा होता है कि इसमें सर्वस्व दान कर दिया जाता है। परन्तु दान करते समय राजा वाजश्रवा को अपने पुत्र नचिकेता के प्रति मोह उत्पन्न हो जाता है कि मैं सब दान कर दूंगा तो मेरा पुत्र क्या करेगा और वह ऋषियों को दूध देने में असमर्थ गायों का दान करने लगते हैं, अनुपयोगी वस्तुओं का दान करने लगते हैं। तब पिता को अधर्म से बचाने के लिये नचिकेता पिता पूछते हैं, पिताजी आप मुझे किसे दान में देंगे ? इस प्रकार कई बार प्रश्न पूछने पर क्रोध से उन्होंने कहा- जाओ मैं तुम्हें यमराज को देता हूं। इसके बाद नचिकेता यमराज की खोज में निकल पड़ते हैं और तीन दिन, तीन रात्रि तक वह यमराज की प्रतीक्षा करते हैं। यमराज अपने द्वार पर बालक नचिकेता को देखकर के प्रसन्न होते हैं और उनसे तीन वरदान मांगने को कहते हैं। इस प्रकार पहले वर के रूप- में तो नाचकेता कहते हैं कि मेरे पिता शांत संकल्प वाले हों, मेरे वापस जाने पर मुझे पहचान ले, मुझसे पूर्व सामान बातचीत करें, मुझे प्रेत न समझे। दूसरे वरदान में- स्वर्ग को गये हुये मनुष्य किस प्रकार अमृततत्त्व को प्राप्त करते हैं ? और यह अग्नि तत्त्व क्या है? तीसरे वरदान में- वह आत्मा के विषय में जानना चाहते हैं। यमराज एक-एक प्रश्न का समाधान करते हैं। इस प्रकार से सम्पूर्ण कठोपनिषद् में कथा का स्वरूप दिखाई देता है।

भारत के दार्शनिक सम्प्रदायों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है। वह है- आस्तिक और नास्तिक दर्शन। भारतीय विचारधारा में आस्तिक उसे कहा जाता है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करता है और नास्तिक उसे कहा जाता है जो वेद को प्रमाण नहीं मानता है। इस दृष्टिकोण से भारतीय दर्शन में 6 दर्शनों को आस्तिक दर्शन कहा जाता है। ये 6 दर्शन हैं- न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त। इन्हें षड्दर्शन भी कहते हैं। नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत चार्वाक, जैन और बौद्ध को रखा जाता है। इस प्रकार नास्तिक दर्शन 3 हैं। इनके नास्तिक कहलाने का मूल कारण है कि यह वेद को प्रमाण नहीं मानते हैं।

नास्तिक और आस्तिक शब्दों का प्रयोग एक दूसरे अर्थ में भी होता है। नास्तिक उसे कहा जाता है जो ईश्वर का निषेध करता है और आस्तिक उसे कहा जाता है जो ईश्वर में आस्था रखता है। इस प्रकार से आस्तिक दर्शन ईश्वरवादी और नास्तिक दर्शन अनीश्वरवादी है।

आयुर्वेद के महान् ग्रन्थ चरक संहिता में कथा को 'सम्भाषा' कहा गया है और उसके दो भेद बताये गये हैं- 'सन्धाय सम्भाषा' और 'विगृह्य सम्भाषा'। 'सन्धाय सम्भाषा' का अर्थ है सन्धि से- सौमनस्य से किया जाने वाला विचार-विनिमय। यह न्यायशास्त्र की 'वाद' कथा है। 'विगृह्य सम्भाषा' का अर्थ है विग्रह-संघर्ष-जय-पराजय की भावना से किया जाने वाला विचार-विनिमय। इसमें न्यायशास्त्र में वर्णित जल्प और वितण्डा का समावेश होता है।

जैन-दर्शन में कथा का एक ही प्रकार स्वीकृत है और वह है 'वाद'। जल्प और वितण्डा को कथा न कहकर कथाभास कहा गया है और उसे त्याज्य माना गया है। जैनों की अनेक कथायें हैं। सिद्धार्थ की **उपमितिभवप्रपञ्च** कथा में आत्मा का वर्णन है। मेरुतुंग ने **प्रबन्धचिन्तामणि** की रचना की जिसमें पांच प्रकाश हैं। इसमें प्राचीन राजाओं, विद्वानों, कवियों का वृतान्त हैं। जैन कवि राजशेखर ने **प्रबन्धकोश** लिखा। जिसमें 24 प्रसिद्ध व्यक्तियों की जीवनी है।

बौद्ध-दर्शन के पूर्ववर्ती अनेक तार्किकों ने तो कथा के उपर्युक्त तीनों भेद माने थे पर पश्चाद्वर्ती विद्वानों ने जल्प, वितण्डा को कथा के क्षेत्र से पृथक् कर जैन-आचार्यों के समान 'वाद' मात्र को

ही कथा के रूप में मान्यता प्रदान की है। बौद्ध लोक कथाओं में प्राचीनतम ग्रन्थ **अवदान-शतक** है। जिसमें अशोक के पुत्र कुणाल की करुण कथा का वर्णन है। इसमें उसकी विमाता उसके आंख निकालवा लेती है। आर्यसूर रचित **जातकमाला** में बोधिसत्त्व की 34 कथायें हैं।

भारतीय-दर्शन के अतिरिक्त यूरोपीय दर्शन की भी एक परम्परा हमारे सामने दिखायी देती है। वहां एक दर्शन के नष्ट हो जाने के बाद प्रायः दूसरे दर्शन का विकास होता हुआ दिखायी देता है। सुकरात के बाद प्लेटो का आगमन हुआ, डेकार्ट के दर्शन के बाद स्पिनोजा का दर्शन विकसित हुआ। बाद के दर्शन ने अपने पूर्व के दर्शन की आलोचना की है। स्पिनोजा का दर्शन डेकार्ट की कमियों को दूर करने का प्रयास है। बर्कले का दर्शन लॉक की कमियों को दूर करने का प्रयास कहा जाता है। स्पिनोजा का दर्शन विकसित हुआ नहीं कि डेकार्ट का दर्शन लुप्त हो गया ऐसे ही बर्कले का दर्शन जब विकसित हुआ तो धीरे-धीरे लॉक का दर्शन समाप्त होता गया। इस प्रकार हम यूरोप में देखते हैं कि वहां एक दर्शन के समाप्त होने पर ही दूसरा दर्शन प्रारम्भ होता है जबकि भारतीय दर्शन में ऐसी परम्परा नहीं दिखायी देती। भारतीय दर्शन कई दर्शनों को एक साथ लेकर के चलता है यहां सभी दर्शन एक साथ जीवित रहते हैं और भारत में दर्शन को जीवन का एक अंग माना गया है। यहां पीढ़ी दर पीढ़ी प्रत्येक दर्शन का विकास होता चला आ रहा है या उसका संरक्षण होता रहता है।

भारतीय दर्शन के आस्तिक सम्प्रदायों का विकास सूत्र-साहित्य के द्वारा हुआ है। प्राचीनकाल में लिखने की परिपाटी नहीं थी दार्शनिक विचारों को अधिकांश तथा मौखिक रूप से ही जाना जाता था। समय के विकास के साथ दार्शनिक समस्याओं का संक्षिप्त रूप सूत्रों में बांधा गया। इस प्रकार दर्शन के प्रणेता ने सूत्र-साहित्य की रचना की, जैसे- न्याय-दर्शन का ज्ञान गौतम के न्यायसूत्र से, वैशेषिक का ज्ञान कणाद के वैशेषिकसूत्र से, शंकर का ज्ञान कपिल के सांख्यसूत्र से तथा योग का ज्ञान पतञ्जलि के योगसूत्र से मीमांसा का ज्ञान जैमिनी के मीमांसासूत्र से और वेदान्त का ज्ञान बादरायण के ब्रह्मसूत्र द्वारा प्राप्त होता है।

न्याय-दर्शन में विस्तार के साथ 16 पदार्थों का वर्णन किया गया है। आइये हम सब इन 16 पदार्थों का अध्ययन करते हैं। वात्स्यायन ने परमन्याय कहकर वाद, जल्प, वितण्डारूप विचारों का मूल एवं तत्त्वनिर्णय का आधार बतलाया है, जैसे-

साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते, तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते। तेषु प्रमाणसमवायः। आगमः प्रतिज्ञा, हेतुरनुमानम्, उदाहरणं प्रत्यक्षम्, उपमानमुपमानम्, सर्वषामेकार्थसमवाये सामथ्-र्यप्रदर्शनं निगमनमिति। सोऽयं परमो न्याय इति। एतेन वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते, नातोऽन्यथेति। तदाश्रया च तत्त्वव्यवस्था।(न्यायभाष्य 1सूत्र)

जिस अर्थ का साधन करना अभीष्ट है उसकी सिद्धि जिस वाक्यसमूह का प्रयोग करने पर सम्पन्न होती है, प्रतिज्ञा आदि पांच वाक्य उस वाक्यसमूह- न्यायवाक्य के अवयव कहे जाते हैं। उन वाक्य में सभी प्रमाणों का समावेश होता है। जैसे 'प्रतिज्ञा' में शब्द प्रमाण का, 'हेतु' में अनुमान प्रमाण का, 'उदाहरण' में प्रत्यक्ष प्रमाण का और 'उपनयन' में उपमान प्रमाण का। 'निगमन' से एक अर्थ के साधन में सभी प्रमाणों के योगदान का प्रदर्शन होता है। यह शब्दसमूह 'परमन्याय' है। इसी के द्वारा वाद, जल्प, वितण्डात्मक कथायें की जाती हैं। इसके बिना वाद आदि कथायें सम्भव ही नहीं हो सकतीं। तत्त्वनिर्णय भी इसी पर आश्रित होता है।

न्यायशास्त्र के प्रवर्तक गौतम मुनि ने 'नि:श्रेयस-मोक्ष' को ही उस शास्त्र का प्रयोजन माना है और उसे प्रमाण, प्रमेय आदि 16 पदार्थों के तत्त्वज्ञान से साध्य बताया है-

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभासच्छल, जाति, निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसाधिगम:।

(न्यायदर्शन 1/1/1)

आइये अब हम इन 16 पदार्थों के विषय में संक्षिप्त रूप से ज्ञान प्राप्त करते हैं-

1) प्रमाण-ज्ञान के साधन को प्रमाण कहा जाता है। न्याय के मातानुसार प्रमाण चार हैं, वह है-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान।
2) प्रमेय-ज्ञान के विषय को प्रमेय कहा जाता है। प्रमेय के अन्दर ऐसे विषयों का उल्लेख है जिनका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।
3) संशय- मन की अनिश्चित अवस्था को जिसमें मन के सामने दो या दो से अधिक विकल्प उपस्थित होते हैं, संशय कहा जाता है। इस अवस्था में विषय का विशेष ज्ञान नहीं होता है।
4) प्रयोजन-जिस वस्तु की प्राप्ति के लिये जो कार्य किया जाता है उसे प्रयोजन कहा जाता है।
5) दृष्टान्त-ज्ञान के लिये अनुभव किये हुये उदाहरण को दृष्टान्त कहा जाता है। उदाहरण-हमारे तर्क को सबल बनाता है।
6) सिद्धान्त- सिद्ध स्थापित सिद्धान्त को मानकर ज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ना सिद्धान्त कहा जाता है।
7) अवयव- अनुमान के अवयव को अवयव कहा जाता है अवयव के अनुमान के अवयव पांच हैं-प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन।
8) तर्क-यदि किसी बात को प्रमाणित करना है तब उसके विपरीत शब्द को सही मानकर उसकी प्रामाणिकता को दिखलाना तर्क कहा जाता है।
9) निर्णय-निश्चित ज्ञान को निर्णय कहा जाता है। निर्णय को अपनाने के लिये संशय का त्याग करना आवश्यक हो जाता है।
10) वाद-वाद उस विचार को कहा जाता है जिसमें सभी परमाणु और तर्कों की सहायता से विपक्षी के निष्कर्ष को काटने का प्रयास किया जाता है।
11) जल्प-जीतने की अभिलाषा से तर्क करना जल्प कहा जाता है। इसमें वादी और प्रतिवादी का उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करने के बजाय विजय को शिरोधार्य करना होता है।
12) वितण्डा-यह भी केवल जीतने के उद्देश्य से अपनाया जाता है। इसमें प्रतिवादी के विचारों को काटने की चेष्टा की जाती है। इसमें वादी, प्रतिवादी की बात सुनता है और न ही अपनी बात कहता है, यह अलग ही विषय को प्रस्तुत करता है उसे भी वितण्डा कहते हैं।
13) हेत्वाभास- प्रत्येक अनुमान हेतु पर निर्भर रहता है। यदि हेतु में कोई दोष हो तो अनुमान भी दूषित हो जाता है। हेतु के दोष को हेत्वाभास कहा जाता है। साधारणतया अनुमान के दोष को हेत्वाभास कहते हैं।
14) छल-किसी व्यक्ति की कही हुयी बात का अर्थ बदलकर उसमें दोष संकेत करना छल कहा जाता है। उदाहरण के रूप में यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि रमेश के पास नव

कंबल है, उस व्यक्ति के कहने का अर्थ है कि रमेश के पास एक नया कंबल है अब प्रतिवादी इसके विपरीत 'नव' शब्द का अर्थ नया न लेकर नौ संख्या समझ लेता है। तब यह छल कहा जायेगा। छल तीन प्रकार के होते हैं- (1) वाक् छल (2) सामान्य छल (3) उपचार छल।

15) जाति-जाति भी छल की तरह एक प्रकार का दुष्ट उत्तर है। समानता और असमानता के आधार पर दोष दिखलाया जाता है, वह जाति है। यह एक प्रकार का विपरीत उत्तर है।

16) निग्रह स्थान- वाद-विवाद के मध्य में जब वादी ऐसे स्थान पर पहुंच जाता है जहां उसे हार माननी पड़ती है तो वह निग्रह स्थान कहलाता है। दूसरे शब्दों में पराजय के स्थान को निग्रह स्थान कहा जाता है। निग्रह स्थान के दो कारण हैं। ये है- गलत ज्ञान और अज्ञान।

इन 16 पदार्थों के तत्त्वज्ञान से नि:श्रेयस-मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह न्याय-दर्शन का पहला सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि प्रमाण आदि 16 पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रमाण आदि पदार्थों का तत्त्वज्ञान सम्यक्ज्ञान यथार्थज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि इनका प्रमाण आदि समस्त पदार्थों का उद्देश्य लक्षण और परीक्षा न कर ली जाये। जैसा कि भाष्यकार न्यायदर्शन के भाष्यकर्ता वात्स्यायन ने कहा है कि इस शास्त्र की न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति, रचना, उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा इन तीनों रूपों में है अर्थात् शास्त्र के तीन कार्य हैं- उद्देश्य करना लक्षण बताना लक्षण के युक्ततत्त्व, अयुक्ततत्त्व की परीक्षा करना।

यहां तक आप सभी ने न्याय-दर्शन के स्वरूप और न्याय-दर्शन में प्रतिपादित 16 पदार्थ का विस्तृत अध्ययन किया है। आइये अब हम अपने पढ़े हुये विषयों को अभ्यास-प्रश्नों के माध्यम से जांचने का प्रयास करते हैं।

4.2.2 साहित्यिक स्रोतों में कथा की संकल्पना

संस्कृत-साहित्य में देखते हैं तो लोक कथाओं में पञ्चतन्त्र की बहुत सारी कथायें लोक-कथाओं के रूप में दिखायी देती हैं। हितोपदेश, बृहद्श्लोक संग्रह, बृहत्कथामंजरी, बेताल पंचविंशति कथा आदि, कथाओं का उद्गम स्थान हैं।

1) पञ्चतन्त्र-विष्णु शर्मा द्वारा रचित पञ्चतन्त्र में पशु-पक्षियों तथा मनुष्यों को पात्र रूप में रखकर कथायें कहीं गयीं हैं। इन कथाओं द्वारा नीतिगत, धर्मगत अनेक उपदेश दिये गये हैं। आचार और कौशल का मुख्य स्रोत पञ्चतन्त्र है। शिक्षा से दूर भगाने वाले राजकुमारों को कथा के द्वारा उपदेश देते हुये शिक्षा के प्रति उन्मुख किया जाता है। यहां कथा गद्य रूप में और नीतिगत शिक्षा श्लोक रूप में दिखायी देती है। पञ्चतन्त्र में पांच खण्ड हैं। इन खण्डों को तन्त्र कहते हैं। पांच खण्ड हैं- (1)मित्रभेद (2)मित्रसम्प्राप्ति (3)काकोलूकीय (4)लब्धप्रणाश (5)अपरीक्षितकारक। इनमें कुल 70 कथायें हैं। कुछ कथाओं के नाम- सियार और ढोल कथा, बगुला भगत और केकड़ा, हाथी गौरैया, गौरैया और बंदर, जैसे को तैसा, मूर्ख बगुला और नेवला, साधु और चूहा आदि कथायें हैं।

2) हितोपदेश-यह नारायण पण्डित द्वारा रचित है। इसमें 43 कथायें हैं। जिनमें 25 कथायें पञ्चतन्त्र से ली गयीं हैं। हितोपदेश में चार परिच्छेद हैं- (1)मित्रलाभ (2) सुहृदभेद (3)विग्रह (4)सन्धि। इनमें अनेक रोचक और शिक्षाप्रद श्लोक आयें हैं, जैसे मूर्ख को उपदेश देने से उनका क्रोध बढ़ता है शान्त नहीं होता है-

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।

3) **बृहत्कथा-** यह गुणाढ्य द्वारा रचित है। गुणाढ्य द्वारा पैशाची-भाषा में लिखी गयी कथा थी। मूल ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। गुणाढ्य ने लोक-जीवन में प्रचलित कथाओं का संकलन करके बृहत्कथा की रचना की। यह लोककथा नायक उदयन का पुत्र नरवाहनदत्त है और इसकी नायिका मदनमंजूषा पर आधारित है। बृहत्कथा को जानने के लिये बृहत्कथामञ्जरी और कथासरित्सागर पढ़ना चाहिये।

4) **बृहत्कथामञ्जरी-**यह क्षेमेन्द्र द्वारा रचित है। इसमें 700 श्लोक हैं। इन्होंने महाभारत और रामायण के आधार पर बृहत्कथामञ्जरी लिखी। इस काव्यात्मक कथा में अनेक उपकथायें भी दी गयीं हैं।

5) **कथासरित्सागर-**इसमें 24000 श्लोक हैं। इसके लेखक पंडित सोमदेव थे। इस ग्रन्थ का विभाजन लम्बको और तरंगों में किया गया है। इसमें कश्मीर के विदूषकों और सामान्य जनों की कहानी भी जोड़ी गयी हैं। अन्धविश्वास, जादूगरी, शैवमत, बौद्धमत, कर्मवाद, शिवपूजा, मातृपूजा आदि कथायें हैं।

6) **वेतालपञ्चविंशतिका-**इसमें 25 कहानियां दी गयीं हैं। इसमें विक्रमसेन (विक्रमादित्य) की कथायें हैं। कोई सिद्ध पुरुष राजा को रत्नगर्भित फल देता है और उसकी सिद्धि में सहायता के लिये राजा को एक वृक्ष पर लटकते हुये शव को लाने के लिये कहता है। वह शव किसी वेताल के वश में है जो शव ले जाते समय राजा को चुप रहने को कहता है किन्तु वेताल विचित्र कथायें सुनाता है कि राजा को बोलना ही पड़ता है। वेताल के कठिन प्रश्नों का उत्तर राजा बुद्धिमत्ता से देता है इस प्रकार से इस कथा में बुद्धि की परीक्षा होती है।

7) **सिंहासनद्वात्रिंशिका (द्वात्रिंशत्पुतलिका)-** यह एक रोचक कथा संग्रह है। इस कथा संग्रह में 32 पुतलियां राजा भोज को 32 कहानियां सुनाती हैं। पृष्ठभूमि इस प्रकार है- राजा भोज भूमि में गड़े हुये विक्रमादित्य के सिंहासन को उखाड़ता है और उसे पर बैठना चाहता। किन्तु उसे सिंहासन में जड़ी हुयीं 32 पुतलियां एक-एक करके विक्रमादित्य के पराक्रम को सुनाती हैं और राजा भोज को आयोग के सिद्ध करके उस पर बैठने से रोकते हैं।

8) **शुकसप्तति-**इसमें 70 कहानियां हैं। इस कहानी को खाने वाला एक तोता होता है। मदनसेना नामक व्यापारी को कार्यवश विदेश जाना पड़ता है तो वह पत्नी के पास एक तोता छोड़ जाता है। इस प्रकार नववधू के सती धर्म से पथभ्रष्ट न हो तो तोता प्रत्येक रात्रि को एक-एक कहानी सुनाता है। इससे उस स्त्री का मन लगा रहता है जब 70वीं कथा सुनने की रात आने वाली रहती है तभी उसका पति आ जाता है। इस प्रकार इसमें वर्णित सभी कहानियां उपदेशप्रद, रोचक और सरल हैं।

इस प्रकार संस्कृत-साहित्य में अनेक कथायें प्रचलित हैं जो कथा के स्रोत के रूप में हमारे सामने दिखाई देती हैं।

4.2.3 कथा का प्रकार एवं अधिकारी।

क) कथा के प्रकार-

कथा के तीन प्रकार होते हैं- (1) वाद (2) जल्प (3) वितण्डा। अभी तक आप सभी ने कथा के स्वरूप के विषय में अध्ययन किया है। आइये हम सब कथाओं के इन तीनों प्रकारों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करते हैं।

1) **वाद-** वाद उसको कहते हैं जहां वादी-प्रतिवादी किसी विषय पर वाद प्रतिवाद इसलिये करते हैं जिससे तत्त्वज्ञान हो जाये। यहां वाद का उद्देश्य तत्त्वनिर्णय करना है। वाद का लक्षण करते हुये न्यायसूत्र कहते हैं-

'प्रमाण-तर्क-साधनोपालम्भ: सिद्धान्ताविरुद्ध: पञ्चावयवोपपन्न: पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रहो वाद:।' (न्यायसूत्र 1/2/1)

जहां प्रमाण और तर्क से स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष का निराकरण किया जाता है - ऐसा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन इन अनुमान वाक्य के पांच अवयवों से युक्त सिद्धान्त से बिना विरोध का वाक्यसमूह 'वाद' है।

भाष्याकार वात्स्यायन के अनुसार-

'वाद: खलु नानाप्रवक्तृक: प्रत्यधिकरणसाधनोऽन्यतराधिकरणनिर्णयावसानो वाक्यसमूह:।' (न्यायसूत्र 1/1/1)

अर्थात् जिनमें अनेक वक्ता हों तथा उनके अपने-अपने विषय के साधक हेतु हों और दोनों में से किसी एक पक्ष में ही अन्त में निर्णय हो। ऐसे वाक्यसमूह वाद कोटि के अन्तर्गत आते हैं।

न्यायवार्तिककार उद्योतकर के अनुसार-

'नायं कथा नियम:, अपितु विचारवस्तुनियम:।

यद् वस्तु विचार्यते तत् त्रेधा विचार्यते-वादो जल्पो वितण्डा।' (न्यायसूत्र 1/2/1)

इसी की व्याख्या करते हुये तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र कहते हैं-

नानाप्रववक्तृक-विचारविषया वाक्यसंदृब्धि: कथा। (न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका 1/2/1)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नाना वक्ताओं के वाक्य का विस्तार वाद कथा है जहां विचारणीय विषय का विवेचन किया जाता है-

> विचारविषयो नाना प्रवक्तृको वाक्यविस्तर:।
> (तार्किक रक्षा-न्याय परिभाषा, पृष्ठ 239)।

2) **जल्प-** जहां वादी और प्रतिवादी विजय की इच्छा रख कर न्याय अनुकूल उक्ति-प्रत्युक्तिरूप वाक्य-समूह को प्रस्तुत करते हैं वह जल्प है-

यथोक्तोपपन्न: छलजाति-निग्रहस्थान-साधनोपालम्भो जल्प:। (न्यायसूत्र 1/2/3)

जल्प कथा में कुछ नियम होते हैं। उसमें वादी, प्रतिवादी और मध्यस्थ तीनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। मध्यस्थ निर्णायक का दायित्व निभाता है। इसलिये उसको सम्पूर्ण शास्त्रविद् होना चाहिये। पहले मध्यस्थ वादी और प्रतिवादी की

परीक्षा करता है कि दोनों प्रस्तावित विषय पर शास्त्रार्थ कर सकते हैं। प्रतिवादी का कर्तव्य वादी के पक्ष में प्रमाणपूर्वक दोष दिखाना है। वह तर्क की कसौटी पर उसे उतारेगा। वादी यदि अनुमान प्रस्तुत करेगा तो प्रतिवादी उसमें हेत्वाभास दिखायेगा। वादी के हेतु में हेत्वाभास लक्षण घटा देगा। तब वादी की पराजय हो जायेगी। किन्तु यदि प्रतिवादी, वादी के पक्ष को दूषित नहीं कर पायेगा तो उसकी पराजय होगी। वादी और प्रतिवादी का यह क्रम पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में चलता रहेगा। तब निर्णायक निष्पक्ष रूप में पराजय की घोषणा करेगा। इस प्रकार जल्प कथा विजिगीषा से अनुप्राणित है। इसमें जय लाभ के लिये वादी और प्रतिवादी तर्क प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार यहां पर स्पष्ट है कि एक विषयवस्तु को लेकर पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष में परस्पर चर्चा होती है और यह चर्चा वाद-विवाद के रूप में होती है और इसमें मुख्य उद्देश्य किसी तत्त्वनिर्णय पर न पहुंच करके बल्कि जीतने की इच्छा होती है। इसमें एक की पराजय और दूसरे की विजय इसका भाव निहित होता है।

3) **वितण्डा**-जहां अपने पक्ष की स्थापना न होकर केवल पूर्वपक्ष का खण्डन होता है। उसे भी वितण्डा कहा जाता है-

'स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा'

(न्यायसूत्र 1/2/3)।

यहां भी जल्प की ही भांति जय-पराजय की कामना होती है। अतः प्रतिज्ञा-हानि आदि निग्रहस्थान को अवकाश मिलता है। यद्यपि वितण्डा को निकृष्ट कोटि की कथा माना गया है। तथापि कहीं-कहीं इसका विशेष महत्त्व है, जैसे-खण्डनखण्डखाद्य में निर्विशेष ब्रह्म का बोध कराने के लिये वितण्डा का आश्रय लिया जाता है। क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन निषेधात्मक रीति से ही सम्भव है।

वाद कथा में यदि कहीं हेत्वाभास अथवा अपसिद्धान्त हो जाये अर्थात् तत्त्वनिर्णय करता। यदि भ्रांतिवशात् अपसिद्धान्त कर दे तो बुभुत्सु उस पर प्रश्न कर सकता है। अन्यथा तत्त्वनिर्णय का उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा।

यहां वितण्डा का एक सामान्य अर्थ यह हम समझ सकते हैं कि यदि किसी वस्तु पर वादी और प्रतिवादी परस्पर वाद-विवाद करने के लिये होते हैं तो वहां जहां तत्त्वनिर्णय की भावना हो उसके अनुसार विषयवस्तु का वादी और प्रतिवादी उपस्थापना करें। तब वहां पर वादरूपी कथा होती है। लेकिन जहां पर विषयवस्तु को लेकर वादी और प्रतिवादी में परस्पर जीतने की इच्छा हो और दूसरे पक्ष को हराने की इच्छा हो वहां पर जल्परूपी कथा होती है। लेकिन जहां पर विषयवस्तु पर न तो वादी बात करे न प्रतिवादी बात करे कहने का तात्पर्य है कि उत्तरपक्ष पूर्वपक्ष की बात को सुने और न ही अपनी ही बात करे। वहां पर जब एक-दूसरे की बात को न सुनते हुये न अपनी बात कहता है, एक अन्य ही विषय का विवेचन प्रारम्भ कर देता है तो उसको कहते हैं कि यह तो वितण्डा कर रहा है। यदि हम 'ब्रह्म' विषयवस्तु को ले तो ब्रह्म विषयवस्तु को न तो पूर्वपक्ष की बात को सुनकर के उत्तरपक्ष अपने सिद्धान्त को दे रहा हो और ब्रह्म की विषय की चर्चा न करते हुये वह उत्तरपक्ष अन्य

ही किसी विषय की चर्चा करने लग जाये और वहां पर उच्च स्वर में बोलने लग जाये तब उसको कहते हैं कि यह अलग ही विषय पर चर्चा कर रहा है। यह अब वितण्डा कर रहा है। यह वितण्डारूपी कथा है।

ख) कथा के अधिकारी-

वाद, जल्प, वितण्डा इन तीनों कथाओं के अधिकारी कैसे होने चाहिये, यह भी एक विचारणीय विषय है। कथा का अधिकारी ऐसा होना चाहिये जो श्रवणपटु हो, बहरा या प्रमत्त न हो, सर्वजनसिद्ध वस्तु का अपलाप न करता हो, कथा के सभी व्यापारों में निपुण हो, कलह प्रिय न हो, जो तत्त्वनिर्णय की कामना रखता हो, जानबूझकर सत्य का अपलाप न करे, प्रकृत विषय में ही वाक्य का उपयोग करे, अवसर पर उत्तर करे, युक्तिसिद्ध तत्त्व को ग्रहण करे, वही वाद का अधिकारी है।

वादकथा गुरु और शिष्य के बीच होती है। जैसा कि न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने कहा है-

तत्र गुर्वादिभिः सह वादः। (न्यायवार्तिक 1/2/1)

किन्तु जल्प और वितण्डा के अंग के रूप में वादी नियम, प्रतिवादी नियम, सभापति नियम और मध्यस्थ नियम बताये गये हैं। वादी और प्रतिवादी कौन हो सकता है ? इसका निर्णय करना आवश्यक है। सभापति इसका निर्णय करता है। वादी और प्रतिवादी अपने वक्तव्य को मध्यस्थ के सामने रखते हैं।

जल्प और वितण्डा में नियमों का पालन करना आवश्यक होना चाहिये। इससे क्रोध व कलह की सम्भावना कम हो जाती है। महर्षि गौतम ने जल्प, वितण्डा को तत्त्वनिर्णय के संरक्षण में उपयोगी माना है-

तत्वाध्यवसाय-संरक्षणार्थं जल्पवितण्डे, बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्।

(न्यायसूत्र 4/2/50)

अर्थात् जैसे कृषक खेत में बीज बोता है उसके अंकुरित होने पर गाय, भैंस आदि से उसको बचाने के लिये कांटे वाली डाल से खेत को घेरकर उन अंकुरों की रक्षा करता है, उसी प्रकार मुमुक्षु को अपने तत्त्वनिर्णय की संरक्षा के लिये जल्प, वितण्डा का सहारा लेना पड़ता है।

भाष्यकार वात्स्यायन ने वाद, जल्प, वितण्डा की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुये कहा- शास्त्रों के तत्त्वों का श्रवण करने के उपरान्त जिसको तत्त्वज्ञान परिपक्व एवं दृढ़ नहीं हुआ है, वह व्यक्ति उसकी दृढ़ता के लिये गुरु के उपदेश में प्रवृत्त होता है। उसके समीप नास्तिक प्रतिपक्षी उसके विपरीत पक्ष का समर्थन करते हैं जिससे तक तो निश्चय में हानि होती है। अतः उस तत्त्व निश्चय की रक्षा के लिये मुमुक्षु को जल्प, वितण्डा को अपनाना पड़ता है। जिससे नास्तिकों का मत निराकृत हो जाता है। किन्तु यह कार्य धन लाभ और लोकप्रसिद्धि के लिये नहीं होना चाहिये-

तदेतद् विद्या परिपालनार्थं न लाभपूजाख्यात्पर्थम्।

(न्यायभाष्यकार 4/2/51)

यहां पर न्याय-दर्शन में कथा के स्वरूप का अध्ययन करने के लिये अधिकारी के विशेष नियम जो बताये गये हैं वह मात्र केवल कथा के स्वरूप का ही अध्ययन करने के लिये ही नहीं है, बल्कि किसी भी गम्भीर शास्त्र का अध्ययन करने के लिये गुरु की आवश्यकता होती है और उस शास्त्र के अध्ययन हेतु जो भी नियम अनुशासन होते हैं उसका पालन अधिकारी को अवश्य ही करना चाहिये। क्योंकि बिना नियमों और अनुशासन के अनुसार शास्त्र का अध्ययन या शास्त्र को ग्रहण कर पाना शास्त्र ज्ञान की अभिलाषा रखने वाले के लिये यह सम्भव नहीं हो सकता है कि वह विशुद्ध रूप से शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर सके।

इस प्रकार आप सभी यहां पर कथा के स्वरूप, कथा के प्रकार और कथा को ग्रहण करने का अधिकारी कौन हो सकता है, इस विषय पर विस्तृत अध्ययन कर लिया है। आइये अब हम अपने पढ़े हुये विषय को अभ्यास-प्रश्नों के माध्यम से जांचने का प्रयास करते हैं।

4.3 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत आप सभी कथा के स्वरूप एवं प्रकार का विस्तारपूर्वक अध्ययन कर लिया है। इस प्रकार यहां आप सभी ने देखा कि न्यायशास्त्र में कथा का विस्तार रूप से वर्णन प्राप्त होता है। वैदिक-काल से ही कथा का प्रारम्भ हो चुका था। जिसका स्वरूप हमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों में स्पष्ट रूप से दिखायी देता है और इसी कथा का विस्तार आगे चलकर के दर्शन के क्षेत्र में न्याय-दर्शन में विस्तार से हुआ।

न्याय-दर्शन में कथा के तीन रूप जिस प्रकार बताये गये हैं उनमें वाद को उच्चकोटि की कथा, जल्प को मध्यकोटि की और वितण्डा को निकृष्टकोटि की कथा बतलाया गया है। लेकिन वर्तमान समय में यदि हम देखें तो हमें अपनी बात को या अपने मत को कभी-कभी सिद्ध करने के लिये वितण्डा का आश्रय लेना ही होता है। यह भाव हमें तब दिखायी देता है जब अन्य दर्शन विकसित होने लगे तब अपने धर्म और दर्शन को स्थापित रखने के लिये नास्तिकों के समक्ष वितण्डा का आश्रय लेते हुये विद्वानों ने वितण्डा का भी आश्रय लिया।

जैन-दर्शन ने इन तीनों में से केवल वादरूपी कथा को ही स्वीकार किया और जल्प और वितण्डा कथा को कथाभास माना है। इसी तरह से बाद के विद्वानों ने भी विशुद्धरूप से वाद कथा को ही मुख्य रूप से अपनाया और शेष कथाओं का समयानुसार विशेष परिस्थिति में प्रयोग किया है।

साहित्य में विस्तार के साथ कथा के स्रोत प्राप्त होते हैं।

कथा को ग्रहण करने के अधिकारी के विषय में भी विस्तारपूर्वक न्याय-दर्शन में बतलाया गया है कि कथा को ग्रहण करने वाला जो अधिकारी है, वह प्रमत्त न हो, श्रवणपटु हो, नियमबद्ध हो और निरन्तर गुरु के समीप बैठ करके अध्ययन में संलग्न हो विचार करके ही विषयवस्तु का उपस्थापना करे।

इस इकाई में कथा के स्वरूप और प्रकार का विस्तृत अध्ययन करने के उपरान्त इससे सम्बन्धित आगे दिये गये बोध-प्रश्नों के उत्तर दे पाने में आप समर्थ हो सकेंगे।

4.4 पारिभाषिक शब्दावली

1. **उपस्थापना-** प्रस्तुतीकरण।
2. **मुमुक्षु-**मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाला।
3. **अपलाप -** व्यर्थ की बातें बोलना।
4. **प्रमत्त-** पागल भांति व्यवहार करना।
5. **अपसिद्धान्त-** सिद्धान्त के विपरीत कथन कर देना।
6. **ब्रह्मवेत्ता-** ब्रह्म को जानने वाला।
7. **ब्रह्मनिष्ठ-** ब्रह्मप्राप्ति में लगा हुआ।
8. **सर्वशास्त्रविद्-** सम्पूर्ण शास्त्रों को जानने वाला।

4.5 सन्दर्भग्रन्थ

1. पुस्तक- भारतीय दर्शन का इतिहास लेखक- आचार्य बलदेव उपाध्यक्ष, प्रकाशन- चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, प्रथम संस्करण।
2. पुस्तक- छान्दोग्योपनिषद्, प्रकाशन- गीता प्रेस, गोरखपुर।
3. श्रीकेशवमिश्र की तर्कभाषा, सम्पादक- बदरीनाथ शुक्ल, प्रकाशन- मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1968 ई0।
4. गौतमकृत न्यायदर्शनम्, लेखक- प्रो. अनन्तलाल ठाकुर, प्रकाशन-मिथिलाविद्यापीठ, संस्करण 1967 ई0
5. पुस्तक- न्याय-दर्शन, सम्पादक- पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रकाशन- संस्कृति संस्थान, बरेली उत्तर-प्रदेश, प्रथम संस्करण, 1964 ई.

4.7 बोध-प्रश्न

1. भारतीय-दर्शन के सम्प्रदाय का संक्षेप में उल्लेख करिये।
2. कथा का अर्थ और परिभाषा का उल्लेख करिये।
3. दार्शनिक स्रोतों में कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन करिये।
4. साहित्यिक स्रोतों में कथा की संकल्पना पर टिप्पणी लिखिये।
5. कथा के प्रकार का विस्तारपूर्वक वर्णन करिये।
6. कथा को जानने वाले अधिकारी की योग्यता क्या-क्या होनी चाहिये ? स्पष्ट करिये।

इकाई 5 तात्पर्य निर्णय के छः अंग

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

इस इकाई में तात्पर्य निर्णय के छः अंगों का अध्ययन कर लेने के बाद आप सभी-

- तात्पर्य-निर्णय के अर्थ एवं अवधारणा पर संक्षिप्त परिचय दे सकेंगे।
- शंकर के अद्वैत वेदान्त के स्वरूप का विश्लेषण कर सकेंगे।
- वेदान्तसार का प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख करने में समर्थ हो सकेंगे।
- तात्पर्य-निर्णय के छः अंगों का विवेचन करने में समर्थ हो सकेंगे।
- तात्पर्य-निर्णय के दार्शनिक आधार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखने में समर्थ हो सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अन्तर्गत आप सभी वाद-परम्परा के अन्तर्गत तात्पर्य निर्णय के छः अंगों का अध्ययन करेंगे। तात्पर्य निर्णय के छः अंगों के विषय में जानने के लिये सर्वप्रथम हमें सर्वप्रथम दर्शन से परिचित होना आवश्यक है।

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है, विचार करना मनुष्य का एक विशिष्ट गुण है। विवेकशील मनुष्य विश्व की विभिन्न वस्तुओं को देखकर उनके स्वरूप को जानने का प्रयास करता रहता है और मनुष्य की बौद्धिकता उसे अनेक प्रश्नों का उत्तर जानने के लिये बाध्य करती है। ये प्रश्न विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं, जैसे- विश्व का स्वरूप क्या है ? इसकी उत्पत्ति किस प्रकार और क्यों हुयी ? विश्व का कोई प्रयोजन है अथवा यह प्रयोजनहीन है ? आत्मा क्या है ? जीव क्या है ? ईश्वर है या नहीं ? ईश्वर का स्वरूप क्या है ? ईश्वर के अस्तित्व का क्या प्रमाण है ? जीवन का चरम लक्ष्य क्या है ? सत्ता का स्वरूप क्या है ? ज्ञान का साधन क्या है ? नैतिक निर्णय का विषय क्या है ? आदि।

दर्शन शब्द 'दृश' धातु से बना है जिसका अर्थ है जिसके द्वारा देखा जाये। भारत में दर्शन उस विद्या को कहा जाता है जिसके द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार हो सके। भारत का दार्शनिक केवल तत्त्व की बौद्धिक व्याख्या से ही सन्तुष्ट नहीं होता बल्कि वह तत्त्व की अनुभूति प्राप्त करना चाहता है। भारतीय-दर्शन तत्त्व के साक्षात्कार में आस्था रखता है इसलिये इसे तत्त्व-दर्शन भी कहा जाता है। भारतीय-दर्शन को मोक्ष-दर्शन भी कहा जाता है। मोक्ष का अर्थ है दु:ख से निवृत्ति। मोक्ष को परम लक्ष्य मानने के कारण ही यह मोक्ष-दर्शन कहलाता है। मोक्ष, जीव, ब्रह्म आदि तत्त्वों को तात्पर्य निर्णय द्वारा भली-भांति समझा जा सकता है।

इस इकाई में वाद-परम्परा के अन्तर्गत तात्पर्य निर्णय के छः अंगों का अध्ययन आप सभी को करना है। आइये हम इस विषय को क्रमपूर्वक अध्ययन करते हैं।

5.1 तात्पर्य निर्णय का अर्थ एवं अवधारणा

भारतीय चिन्तन-परम्परा सदैव से ही परमतत्त्व की व्याख्या में निरन्तर प्रयासरत रही है। दार्शनिक क्षेत्र में किसी भी सत्वतत्त्व ज्ञान के लिये युक्तियुक्त चिन्तन करने का कार्य सदैव होता रहा है। इसके लिये वह शास्त्रों का अध्ययन करता है अथवा गुरु के सानिध्य में बैठकर तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करता है, तात्पर्य-निर्णय इस कार्य में सहायक होता है।

तात्पर्य-निर्णय-यह तात्पर्य क्या है ? इसका उत्तर है कि किसी विषयवस्तु को भली-भांति जानने के लिये शास्त्रों का अध्ययन करना अथवा गुरु के समीप बैठकर एकाग्र होकर उस तत्त्व के गूढ़ अर्थ को सुनना, 'श्रवण' है। श्रवण का तात्पर्य श्रुति परम्परा से है। ब्रह्म या जीव अथवा किसी सत्व पदार्थ के प्रति जिज्ञासा होने पर गुरु के द्वारा उपदेशों का भली-भांति श्रवण करना, श्रवण के उपरान्त विभिन्न सहायक अंगों के माध्यम से उस तत्त्व या सत्व का सही निर्णय करना ही तात्पर्य-निर्णय है। उस अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना ही तात्पर्य है और लिंगों द्वारा निश्चय करना निर्णय है। इसका अर्थ यह हुआ कि अद्वितीय ब्रह्म के स्वरूप के प्रतिपादन में 6 लिंग- 1.उपक्रम और उपसंहार 2.अभ्यास 3.अपूर्वता 4.फल 5.अर्थवाद 6.उपपत्ति। इन छः लिंगों की सहायता से जब **साधक तात्पर्य ग्रहण करता है और अध्ययन को सफल बनाता है।**

भारतीय ज्ञान-मीमांसा, तत्त्व-मीमांसा साथ-साथ चलने वाली है। ज्ञान-मीमांसा का मूल व्यापार ज्ञान के स्वरूप एवं प्रमाणिकता का प्रतिपादन करना है। यह तात्पर्य-निर्णय द्वारा ही सम्भव है। समस्त जागतिक कार्य-व्यापार का मूल 'ज्ञान' ही है तथा वही 'ज्ञेय' का प्रकाशक भी है। 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय' के बिना 'ज्ञान' सम्भव नहीं है। जीव, जगत् और ब्रह्म के वास्तविक स्वरूपों का ज्ञान तात्पर्य-निर्णय से प्रतिपादित हो सकता है।

5.2.1 तात्पर्य-निर्णय के दार्शनिक आधार

तात्पर्य-निर्णय के लिये जिन दर्शनों का अध्ययन किया जा सकता है। आइये हम उन्हें क्रम से सामान्य परिचय प्राप्त करते हैं। भारत में जितने दर्शनों का विकास हुआ है उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण दर्शन वेदान्त-दर्शन भी है। इसके महत्त्व को इस प्रकार देखा जा सकता है कि यूरोप के विद्वान् बहुत काल तक भारतीय दर्शन का अर्थ वेदान्त-दर्शन ही समझते थे। वेदान्त-दर्शन का आधार उपनिषद् कहा जाता है। पहले वेदान्त शब्द का प्रयोग उपनिषद् के लिये होता था। क्योंकि उपनिषद् वेद के अंन्तिम भाग थे। वेद का अन्त होने के कारण उपनिषदों को ही वेदान्त कहा

जाता था। आगे चलकर उपनिषदों से जितने दर्शनों का विकास हुआ उन सभी को वेदान्त के नाम से जाना गया। वेदान्त-दर्शन को इसी अर्थ में वेदान्त-दर्शन कहा जाता है।

वेदान्त-दर्शन का आधार बादरायण का ब्रह्मसूत्र माना जाता है। ब्रह्मसूत्र उपनिषदों के विचारों में सामंजस्य लाने के उद्देश्य से लिखा गया था। उपनिषदों की संख्या अनेक थी। उपनिषदों की शिक्षा को लेकर के विद्वानों में मतभेद था। कुछ लोगों का कहना था कि उपनिषद् की शिक्षाओं में संगति नहीं है। जिस बात की शिक्षा एक उपनिषद् में दी गयी है, वहीं दूसरे उपनिषद् में उसी बात को अन्य प्रकार से कहा गया। कुछ विद्वानों का मत था कि उपनिषद् में एकमत की शिक्षा है तो कुछ लोगों का कहना था कि उपनिषद् में द्वैतवाद की शिक्षा है। बादरायण ने कुछ लोगों के दृष्टिकोण में जो विरोध था उसे दूर करने के लिये ब्रह्मसूत्र की रचना की। उन्होंने स्पष्ट किया कि सम्पूर्ण उपनिषद् विचारों में एकमतता है। उपनिषद् की उक्तियों में जो विषमता दिखायी पड़ती है। वह दोष उपनिषदों का नहीं बल्कि जो उसका अध्ययन कर रहा है और उसको ठीक प्रकार से समझ नहीं पा रहा है, उसमें दोष है। शास्त्र को यदि भली-भांति हम समझ नहीं पाते तो इसमें शास्त्र का दोष नहीं होता अपितु शास्त्र का अध्ययन करने वाले अल्पज्ञानी का दोष होता है। ब्रह्मसूत्र को 'ब्रह्मसूत्र' कहा जाता है क्योंकि इसमें ब्रह्मसिद्धान्त की व्याख्या हुयी है। ब्रह्मसूत्र को वेदान्तसूत्र भी कहा जाता है। क्योंकि वेदान्त-दर्शन ब्रह्मसूत्र से ही प्रतिफलित हुआ है। इन दोनों नामों के अतिरिक्त से शारीरिकसूत्र शारीरिकमीमांसा उत्तरमीमांसा भी कहा जाता है।

वेदान्तसार का प्रतिपाद्य विषय-

वेदान्तसार के रचयिता सदानन्द 17वीं के उत्तरार्ध के काश्मीरक सदानन्द से स्पष्टरूप से भिन्न हैं। काश्मीरक सदानन्द प्रसिद्ध "अद्वैतब्रह्मसिद्धि" के रचयिता हैं। स्वरूपप्रकाश और ईश्वरवाद उनकी अन्य दो रचनायें हैं। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन पुस्तकालय में स्वरूपप्रकाश की पाण्डुलिपि उपलब्ध है। यह 30 पन्नों की हस्तप्रति है। काश्मीरक सदानन्द के गुरु 17वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के ब्रह्मानन्द थे। जिन्होंने मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि पर गुरुचन्द्रिका तथा लघुचन्द्रिका टीकायें लिखी थी, जबकि वेदान्तसार के रचयिता सदानन्द योगीन्द्र के गुरु वेदान्तसार के द्वितीय श्लोक के अनुसार आनन्द थे और इस प्रकार दोनों कभी एक नहीं हो सकते। इस प्रकार सदानन्द जिन्होंने जो वेदान्तसार के रचयिता हैं वह काश्मीरक सदानन्द से अलग हैं।

अद्वैत-वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्त-प्रतिपादक और प्रकरण-ग्रन्थ में सबसे संक्षिप्त एवं लघुकाय, साथ ही स्पष्ट और सुबोध वेदान्तसार ही है। यही गुण इसकी लोकप्रियता का कारण है। अद्वैतवेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों को संक्षेप में जानने-समझने के लिये इससे अधिक अच्छा अन्य कोई ग्रन्थ नहीं, इसमें अद्वैत-दर्शन की दोनों धाराओं- प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद का समन्वय करते हुये अध्यारोपापवाद की प्रक्रिया द्वारा सच्चिदानन्द, अनन्त, अद्वय ब्रह्मवस्तु में अज्ञानादि सकल जड़समूह रूप जगत्प्रपञ्च का आरोप तथा उसके ज्ञान द्वारा इस अज्ञान आदि जड़समूह का अपवाद, उसे वस्तु अर्थात् ब्रह्म के ज्ञान के बहिरंग 'साधन-चतुष्टय' तथा अतरंग 'श्रवण-मनन-निदिध्यासन' से उत्पन्न होने वाली सविकल्प अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि तथा उसकी परिपक्वतावस्था रूप निर्विकल्पक या असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि, एवं उसकी भी फलभूत जीवन्मुक्ति एवं अन्ततः विदेहमुक्ति इत्यादि सारे प्रमुख सिद्धान्तों का ग्रन्थकार ने बड़ी ही कुशलता के साथ संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत किया है। वेदान्तसार की इस महनीयता से प्रभावित होकर इसकी रचना के सौ-पचास वर्षों के भीतर ही सदानन्द योगीन्द्र के

प्रशिष्य नृसिंह सरस्वती एवं उसके थोड़े ही अन्तराल के बाद रामतीर्थ यति ने अपनी-अपनी व्याख्यायें प्रस्तुत कीं। रामतीर्थ की 'विद्वान्मनोरञ्जनी' व्याख्या के अध्ययन-चिन्तन-मनन से ही वेदान्तसार की गहनता और गम्भीरता का सही अनुमान लगाया जा सकता है। उपनिषद् श्रुतियों के कितने सन्दर्भ एवं महामहनीय आदि शंकराचार्य के भाष्यों से लेकर माधवाचार्य विद्यारण्य की पञ्चदशी तक के कितने प्रामाणिक वचन और कथन इस छोटे से प्रकरण ग्रन्थ में दिखायी देते हैं। (वेदान्तसार, भूमिका, पृष्ठ 19,20)।

वेदान्तसार के प्रमुख विषयों का संक्षेप में वर्णन इस प्रकार आप लोगों के सामने है-

1) **जगतविचार-** अद्वैत-वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। जगत् मिथ्या है तथा जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं। जगत् को रस्सी में दिखायी देने वाले सांप के समान माना है। यद्यपि जगत् मिथ्या है फिर भी जगत् का कुछ न कुछ आधार है। जिस प्रकार रस्सी में दिखायी देने वाला सांप का आधार रस्सी है इसी तरह विश्व का आधार ब्रह्म है। अतः ब्रह्म विश्व का अधिष्ठान है। जिस प्रकार सांप रस्सी के वास्तविक स्वरूप पर आवरण डाल देता है उसी प्रकार जगत् ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप पर आवरण डाल देता है। उसके रूप का विक्षेप जगत् यथार्थ प्रतीत होने लगता है। शंकर के मतानुसार सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का विवर्त मात्र है। जिस प्रकार सांप रस्सी का विवर्त है उसी प्रकार विश्व भी ब्रह्म का विवर्त है। देखने में ऐसा मालूम होता है कि विश्व ब्रह्म का रूपान्तरित रूप है परन्तु यह केवल प्रतीति मात्र है। ब्रह्म सत्य है विश्व असत्य है। अतः सत्य ब्रह्म का रूपान्तरण असत्य वस्तु में कैसे हो सकता है ? ब्रह्म एक है विश्व नाना रूपात्मक है। इस तरह के अनेक प्रश्न भी उपस्थित होते हैं। आचार्य शंकर विवर्तवाद के समर्थक हैं।

2) **माया और अविद्या सम्बन्धी विचार-**

दर्शन में माया और अविद्या का प्रयोग एक ही अर्थ में हुआ है। जिस प्रकार आत्मा और ब्रह्म में तादात्म्य है उसी प्रकार माया और अविद्या अभिन्न हैं। शंकर ने माया, अविद्या, अध्यास, अध्यारोप, भ्रान्ति, विवर्त, भ्रम, नामरूप अव्यक्त, मूल प्रकृति आदि शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। परन्तु बाद के वेदान्तियों ने माया और अविद्या में भेद किया है। उनका कहना है कि माया भावात्मक है जबकि अविद्या निषेधात्मक है। माया को भावात्मक इसलिये कहा जाता है कि माया के द्वारा ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व का प्रदर्शन करता है। माया विश्व को प्रस्थापित करती है। अविद्या इसके विपरीत ज्ञान के अभाव को संकेत करने के कारण निषेधात्मक है। माया और अविद्या में दूसरा अन्तर यह है कि माया ईश्वर को प्रभावित करती जबकि अविद्या जीव को प्रभावित करती है। माया और अविद्या में तीसरा अन्तर यह है कि माया का निर्माण मूलत: सत्वगुण से हुआ है जबकि विद्या का निर्माण सत्व, रज और तम तीनों गुणों से हुआ है। माया का स्वरूप सात्विक है परन्तु अविद्या का स्वरूप त्रिगुणात्मक है।

3) **आत्मा विचार-** चैतन्य आत्मा का स्वरूप है। यह दूसरे ढंग से प्रमाणित किया जा सकता है आत्मा को हम तीन रूपों में दैनिक जीवन में देखते हैं-

क) जागृत अवस्था- जागृत अवस्था में एक व्यक्ति को बाह्य जगत् की चेतना रहती है। जागृत् अवस्था में हमें टेबल, पुस्तक, पंखा आदि वस्तुओं की चेतना रहती है।

ख) स्वप्न अवस्था- स्वप्न अवस्था में भीतरी विषयों को स्वप्न रूप में चेतना रहती है।

ग) **सुषुप्ति अवस्था-** सुषुप्त अवस्था में यद्यपि बाहरी और भीतरी विषयों की चेतना नहीं रहती है फिर भी किसी न किसी रूप में चेतना अवश्य रहती है, तभी तो कहा जाता है मैं खूब आराम से सोया। इस प्रकार तीनों अवस्थाओं में चैतन्य सामान्य है। चैतन्य ही स्थाई तत्त्व है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार से अद्वैत-वेदान्त यह स्पष्ट करता है कि चैतन्य आत्मा का स्वरूप लक्षण है। चैतन्य आत्मा का गुण नहीं बल्कि स्वभाव है। यहां पर चैतन्य का अर्थ किसी विषय का चैतन्य नहीं बल्कि शुद्ध चैतन्य है। चैतन्य के साथ आत्मा में सत्ता भी है। इसका कारण यह है कि सत्ता चैतन्य में सर्वथा वर्तमान रहती है। चैतन्य के साथ-साथ आत्मा में आनन्द भी है। साधारण वस्तु में जो आनन्द रहता है वह क्षणिक रहता है। परन्तु आत्मा का आनन्द शुद्ध और स्थाई है। इसीलिये इसे सच्चिदानन्द कहा है। ब्रह्म की व्याख्या करते हुये हम इस ब्रह्म को सच्चिदानन्द रूप में देखते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि अद्वैत-वेदान्त का जो आत्मा का स्वरूप है वह सत्-चित-आनन्द= सच्चिदानन्द रूप में एक है।

यद्यपि आत्मा एक है फिर भी अज्ञान के फलस्वरूप वह अनेक प्रतीत होती है। जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल की विभिन्न सतहों पर पड़ने से यह अनेक प्रतीत होता है उसी प्रकार एक आत्मा का प्रतिबिम्ब अविद्या पर पड़ने से वह अनेक प्रतीत होता है।

4) **जीव विचार-** जीव संसार के कर्मों में भाग लेता है। इसलिये उसे कर्ता कहा जाता है। वह विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। इसलिये उसे ज्ञाता कहा जाता है। सुख-दुख की अनुभूति जीव को होती है। वह कर्म-नियम के अधीन है। अपने कर्मों का फल प्रत्येक जीव को भोगना पड़ता है। शुभ और अशुभ कर्मों के कारण ही वह पाप और पुण्य का भागी भी होता है।

आत्मा को मुक्त माना है। परन्तु जीव इसके विपरीत बन्धन ग्रस्त है। अपने प्रयासों से जीव मोक्ष को अपना सकता है। जीव को अमर माना गया है। शरीर के नष्ट हो जाने के बाद जीवात्मा में लीन हो जाता है।

जीव, आत्मा का वह रूप है जो देह से युक्त है। उसके तीन शरीर हैं, वह है- स्थूलशरीर, लिंगशरीर और कारणशरीर। जीव, शरीर और प्राण का आधार स्वरूप है।

जब आत्मा का- अज्ञान के वशीभूत होकर बुद्धि से सम्बन्ध होता है तब आत्मा जीव का स्थान ग्रहण करती है। जब तक जीव में ज्ञान का उदय नहीं होगा, वह अपने को बुद्धि से भिन्न नहीं समझ सकती। इसलिये अद्वैत-वेदान्त ने इस सम्बन्ध का नाश करने के लिये ज्ञान पर बल दिया है।

5) **बन्धन और मोक्ष विचार-** ज्ञान की प्राप्ति वेदान्त-दर्शन के अध्ययन से ही प्राप्त हो सकती। परन्तु वेदान्त को अध्ययन करने के लिये साधक को साधना की आवश्यकता होती है। उसे भिन्न-भिन्न नियमों का पालन करना होता है तभी वह वेदान्त का सच्चा अधिकारी बनता है। साधन-चतुष्टय यहां पर इसके लिये बतलाये गये हैं-

क) नित्यानित्यवस्तुविवेक- साधक को नित्य और अनित्य वस्तुओं में भेद करने का विवेक होना चाहिये।

ख) इहामुत्रार्थ-भोग-विराग- साधक को अलौकिक और पारलौकिक भोगों की कामना का परित्याग करना चाहिये।

ग) शमदमादि-साधन-सम्पन्न-

साधक को शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा इन छः साधनों को अपनाना चाहिये। शम का मतलब है- 'मन का संयम'। दम का तात्पर्य है 'इंद्रियों का नियन्त्रण'। शास्त्र के प्रति निष्ठा का होना श्रद्धा कहा जाता है। समाधान, चित्त का ज्ञान के साधन में लगाने को कहा जाता है। उपरति विक्षेपकारी कार्यों से विरत होने को कहा जाता है। सर्दी, गर्मी सहन करने के अभ्यास को तितिक्षा कहा जाता है।

घ) मुक्षुत्वम्- साधक को मोक्ष प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प होना चाहिये।

जो साधक इन चार साधनों से युक्त होता है उसे वेदान्त की शिक्षा लेने के लिये ऐसे गुरु के चरणों में उपस्थित होना चाहिये जिन्हें ब्रह्मज्ञान की अनुभूति प्राप्त हो गयी हो। साधक को श्रवण, मनन, निदिध्यासन का आश्रय लेना चाहिये। गुरु के उपदेशों को सुनने को श्रवण कहा जाता है। उपदेशों पर तार्किक दृष्टि से विचार करने को मनन कहा जाता है और निरन्तर ध्यान रखना निदिध्यासन कहलाता है।

इन चार साधनों को साधने से पूर्व संचित संस्कार नष्ट हो जाते हैं। जिसके फलस्वरूप ब्रह्म की सत्यता प्राप्त हो जाती है। तब साधक को गुरु 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'तू ही ब्रह्म है' की दीक्षा देते हैं। जब साधक इस तथ्य की अनुभूति करने लगता है तब वह ब्रह्म का साक्षात्कार कर पाता है। जिसके फलस्वरूप वह कहता है 'अहम् ब्रह्मास्मि' जीव और ब्रह्म का भेद हट जाता है। बन्धन का अन्त हो जाता है और मोक्ष की अनुभूति हो जाती है। (भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो0 हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, पृष्ठ 296, 300, 309-311, 3013-14)।

5.2.2 तात्पर्य-निर्णय के छः अंगों का विस्तृत परिचय।

अभी तक आप सभी ने अद्वैत वेदान्त-दर्शन के परिचय और अद्वैत सिद्धान्तों का संक्षेप रूप से प्रतिपादन करने वाले वेदान्तकार सदानन्द योगीन्द्र द्वारा रचित वेदान्तसार का अध्ययन और उसके प्रतिपादित विषयों का आपने अध्ययन किया। आपके इस इकाई में तात्पर्य के छः अंग हैं। जिसे हम सभी को अध्ययन करना है यह तात्पर्य के छ: अंग ब्रह्मज्ञान के लिये गुरु के समीप जाकर के गुरु के उपदेशों को सुनना और श्रवण, मनन, निदिध्यासन इस तीन प्रणाली का आश्रय लेना है। श्रवण का तात्पर्य गुरु के उपदेश को भली-भांति सुनना और फिर सुन करके उस पर भली-भांति विचार करना मनन है तथा बार-बार उसका निरन्तर अभ्यास करते रहना निदिध्यासन है। इन श्रवण, मनन और निदिध्यासन में श्रवण के अन्तर्गत छः प्रकार के अंगों का वर्णन आता है-

एवंभूतस्वस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यन्तं
श्रवणमनननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदश्-र्यन्ते।
श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्।
लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि।। (वेदान्तसार 64)

इस प्रकार आप सभी देख सकते हैं कि अपने स्वरूपभूत चैतन्य का इस प्रकार साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि का अनुष्ठान अभ्यास अपेक्षित होने के कारण उन्हें सम्पूर्ण वेदान्तवाक्य का अद्वितीय ब्रह्म रूप वस्तु के प्रतिपादन में तात्पर्य है और इस प्रकार से प्रकार के लिंगों से निश्चय करना श्रवण है। यह छः लिंग हैं- 1.उपक्रम और उपसंहार 2. अभ्यास 3. अपूर्वता 4. फल 5. अर्थवाद 6. उपपत्ति।

1) उपक्रमोपसंहार-

तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादौ 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यन्ते च प्रतिपादनम्। (वेदान्तसार- 65)

अर्थात् इनमें से उपक्रम और उपसंहार यह है कि किसी प्रकरण के प्रतिपाद्य अर्थ का उसके आरम्भ और अन्त में उत्पादन करना, जैसे छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में प्रकरण के प्रतिपाद्य आदित्य ब्रह्मरूप वस्तु का 'एकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् 'एकमात्र अद्वितीय सत्य ही था' इन शब्दों के द्वारा प्रारम्भ में और 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' अर्थात् यह सारा संसार जगत्प्रपञ्च सत्संज्ञक आत्मा स्वरूप वाला है, इन शब्दों द्वारा अन्त में प्रतिपादन किया गया है।

2) अभ्यास -

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादन मद्रासः।

(वेदान्तसार- 65)

अर्थात् प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का उसके मध्य में पुनः-पुनः प्रतिपादन करना अभ्यास है, जैसे वहीं प्रकरण प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्मवस्तु का उस प्रकरण के मध्य में 'तत्त्वमसि' इस प्रकार से नौ बार प्रतिपादन किया गया है।

3) अपूर्वता-

प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम्। (वेदान्तसार- 65)

अर्थात् प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का श्रुति के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण द्वारा विषय न बनाया जाना अर्थात् किसी अन्य प्रमाण से बोध या ज्ञान न होना अपूर्वता है, जैसे- उसी प्रकरण में अद्वितीय वस्तु का किसी अन्य प्रमाण से न जान पाना, जैसे- 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि कथन से सूचित होता है।

'अज्ञातज्ञापकं शास्त्रम्' अर्थात् शास्त्र केवल अज्ञात वस्तु का ज्ञापक होता है, यह सिद्धान्त है मीमांसाशास्त्र का, जिसे वेदान्त भी मानता है। उनके अनुसार श्रुति में केवल उन्हीं विषयों का कथन है जो तर्क और प्रत्यक्ष से अगम्य हैं। श्रुति लोकसिद्ध वस्तु का प्रतिपादन नहीं करती। उपनिषदों का प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्म लोकसिद्ध भी नहीं है और तर्कादि से स्वतन्त्र रूप से ज्ञातव्य भी नहीं है। इस प्रकार श्रुति या आगम के अतिरिक्त किसी भी प्रमाण, तर्क और युक्ति का स्वतन्त्र या पृथक् रूप से विषय न होने के कारण ही अद्वितीय ब्रह्म की 'अपूर्वता' सिद्ध होती है। ऐसे तो ब्रह्म स्वयंप्रकाश होने से सामान्यतः शास्त्र का भी विषय नहीं बन सकता है, फिर भी उसे 'औपनिषद्' अर्थात् केवल उपनिषदों के द्वारा जाने गये इस कारण से कहा जाता है, क्योंकि उपनिषदों के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन विषय रूप से नहीं अपितु प्रत्यगात्माऽभिन्न होने के कारण अविषय रूप से ही किया जाता है। प्रत्यगात्मा तो विषय नहीं अपितु विषयी है, तब उससे अभिन्न ब्रह्म भी अविषय ही है। अपूर्वता का तात्पर्य है कि ब्रह्म को किसी शास्त्र के द्वारा, तर्क के द्वारा या विभिन्न प्रकार के प्रमाणों के द्वारा नहीं जाना जा सकता है क्योंकि ब्रह्म स्वयं अपूर्व है, प्रकाशित है। सरल शब्दों में वह ज्ञान जो आपको पूर्व ज्ञात नहीं हुआ है तथा अन्य साधन से नहीं हो सकता है वह अपूर्व है।

4) **फल-फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य' इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्ति: प्रयोजनं श्रूयते।**

(वेदान्तसार- 65)

किसी प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य आत्मज्ञान का अथवा आत्मज्ञान के लिये किये जाने वाले साधनानुष्ठान का जो प्रयोजन उस-उस प्रकरण में प्रतिपादित होता है, वही 'फल' कहलाता है। जैसे-**'तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये'** (छान्दोग्योपनिषद् 6/14/8)

अर्थात् 'आचार्यवान् पुरुष ही आत्मा को जानता है। उसके लिये तभी तक देर है जब तक वह शरीर के बन्धन से मुक्त नहीं होता, तदनन्तर तो वह सत्सम्पन्न अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है', आदि के द्वारा अद्वितीय वस्तु के ज्ञान का प्रयोजन उसकी प्राप्ति बताया गया है और इसी को फल कहते हैं।

5) **अर्थवाद-**

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवाद:। यथा तत्रैव "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इत्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम्।

(वेदान्तसार- 65)

प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय की उसमें स्थान-स्थान पर प्रशंसा 'अर्थवाद' है। जैसे-

"उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्"

(छान्दोग्योपनिषद् 6/1/3)

अर्थात् क्या तुमने आचार्य से उस आदेश के विषय में पूछा जिससे न सुना हुआ भी सुना हुआ, न विचारा गया भी विचारा हुआ तथा जाना हुआ जाना हुआ हो जाता है अर्थात् वह आदेश है कि ब्रह्म को जानना, क्या तुमने आचार्य से उसे आदेश के विषय में पूछा है ? इन शब्दों के द्वारा अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु की प्रशंसा की गयी है।

6) **उपपत्ति- प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपति:। यथा तत्र "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवं सत्यम्" इत्यादावद्वितीयवस्तु-साधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्ति: श्रूयते।** (वेदान्तसार- 65)

अर्थात् प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को सिद्ध या प्रमाणित करने के लिये स्थान-स्थान पर वर्णन युक्ति ही उपपत्ति है, जैसे-**"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवं सत्यम्"** (छान्दोग्योपनिषद् 6/1/4) अर्थात् हे सौम्य! जिस प्रकार मृतिका (मिट्टी) के एक पिण्ड को जान लेने मात्र से उसके विकार या कार्य बहुत सारे पदार्थ का ज्ञान हो जाता है, विकार कार्य तो वाणी से उत्पन्न होने वाला नाम मात्र है। सत्य तो केवल कारण भूत मृतिका या मिट्टी ही है इत्यादि शब्दों के द्वारा अद्वितीय वस्तु को सत्य सिद्ध या प्रमाणित करने के लिये समस्त विकारों और कार्यों के केवल वाणी का विकार तदाश्रित होने में युक्ति प्रस्तुत की गयी है।

उपपत्ति इसका अर्थ है युक्ति या तर्क अद्वितीय ब्रह्म की सत्ता की सिद्धि में जो पंक्ति या युक्ति के आधार पर दी है वह इस प्रकार है- मिट्टी के बने हुये घड़े, सकोरे आदि जितने भी

कार्य हैं, वे सब मिट्टी ही है। उससे अलग कुछ भी नहीं है। घड़ा, सकोरा आदि नाम केवल वाणी के कार्य हैं। इस प्रकार कार्यों की वस्तुतः कोई सत्ता नहीं वे नाममात्र हैं, मिथ्या हैं। सत्य तो केवल मिट्टी रूप उनका कारण ही है इस प्रकार ब्रह्म रूप कारण से उत्पन्न यह सारा चराचर जगत् रूप कार्य परमार्थ है। इससे पृथक् जगत् की कोई सत्ता नहीं है। इस प्रकार कार्य के स्व कारण से अभिन्न होने पर ही एक के विज्ञान से सर्वविज्ञान की उक्ति प्रतिज्ञा सिद्ध होती है। जगत् का ब्रह्म से सम्बन्ध सिद्ध होने से ही ब्रह्म का अद्वितीय होना भी सिद्ध होता है।

प्रकार आप सभी ने यह देखा कि उस ब्रह्म स्वरूप को जानने के लिये जो साधन कहे गये हैं। श्रवण, मनन और निदिध्यासन। उनमें से श्रवण के द्वारा कैसे ब्रह्म को जाना जाता है, उस श्रवण के अन्तर्गत यह छः लिंग आते हैं जिनको क्रमश: आप सभी ने अध्ययन किया है।

5.3 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत आप सभी कथा के स्वरूप एवं प्रकार का विस्तारपूर्वक अध्ययन कर लिया है। इस प्रकार यहां आप सभी ने तात्पर्य के छः अंगों का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया।

तात्पर्य के छः अंगों का विस्तारपूर्वक वर्णन सदानन्द योगीन्द्र के वेदान्तसार नामक ग्रन्थ में देखने को मिलता है। आपने यह अध्ययन किया कि श्रवण के अन्तर्गत तात्पर्य के छः अंगों के द्वारा ब्रह्म को जानने के लिये क्रमशः एक-एक करके अद्वितीय ब्रह्म को जान पाते हैं। आप सभी ने यहां स्पष्ट रूप से यह देखा कि वेदान्त में विभिन्न श्रुति उक्तियों के द्वारा ब्रह्म की सिद्धि को प्रमाणित किया गया है। अद्वैतवेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों को संक्षेप में जानने-समझने के लिये इससे अधिक अच्छा अन्य कोई ग्रन्थ नहीं। वेदान्तसार पूर्णरूप से आचार्य शंकर के अद्वैतवाद पर आश्रित है। इसमें ब्रह्म ही एकमात्र ऐसा तत्त्व है जिसको साधन जानने के लिये साधन-चतुष्ट्य का आश्रय लेता है। इन साधन-चतुष्ट्य को अध्ययन कर चुके हैं। आपने देखा कि पहले साधक को 'तत्त्वमसि' द्वारा ब्रह्मज्ञान के लिये श्रुतियों, उक्तियों द्वारा प्रतिपादन किया गया है। तत्पश्चात् 'अहं ब्रह्मास्मि' जीव और ब्रह्म का ज्ञान के द्वारा साधक ब्रह्मरूप हो जाता है। ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वरूप है। यह स्वयंसिद्ध है, अपूर्व है इसको किसी प्रमाण या उक्ति द्वारा नहीं जा सकता है। इस ब्रह्म का ज्ञान मात्र श्रुतियों से ही सम्भव है। श्रुति उक्ति द्वारा जिस ब्रह्म को जानने की बात कही गयी है वह गुरु उपदेश से ही सम्भव है। गुरु द्वारा ब्रह्म उपदेश होने पर श्रवण माध्यम से साधक ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है। आपने यह अध्ययन किया है कि श्रवण में छः अंगों द्वारा क्रम से ब्रह्मप्राप्ति की ओर गमन करता है। आपने यह अध्ययन किया कि यह सम्पूर्ण चराचर जगत् उस ब्रह्म का कार्य है। इसके लिये एक दृष्टान्त उपस्थित है कि मिट्टी से बने घड़े, सकोरे होते हैं। मिट्टी मूल है और घड़ा, सकोरा आदि उसके कार्य हैं।

इस इकाई में तात्पर्य के छः अंगों का विस्तृत अध्ययन करने के उपरान्त इससे सम्बन्धित आगे दिये गये बोध-प्रश्नों के उत्तर दे पाने में आप समर्थ हो सकेंगे।

5.4 पारिभाषिक शब्दावली

1) **उपस्थापना-** प्रस्तुतीकरण।

2) **कानीन-** कन्या का पुत्र।

3) **श्रवण-** शास्त्र उपदेश को गुरुमुख से सुनना।

4) **मनन-** गुरु द्वारा दिये गये उपदेश को भली-भांति विचार करना।

5) **निदिध्यासन-** गुरु द्वारा दिये गये उपदेश का बार-बार अभ्यास करना।

6) **उपक्रम-** किसी विषय के प्रारम्भ का कथन करना।

7) **उपसंहार-** किसी विषय के अन्तिम भाग का कथन करना।

8) **अभ्यास-** प्रतिपाद्य विषयवस्तु का मध्य-मध्य में प्रतिपादन करना।

9) **अपूर्वता-** जिसकी सिद्धि अन्य प्रमाणों द्वारा न हो, जो स्वयंसिद्ध हो, जैसे-ब्रह्म।

10) **फल-** आत्मज्ञान के लिये किते जाने वाले प्रयास।

11) **अर्थवाद-** किसी प्रकरण के प्रतिपाद्य में स्थान-स्थान पर की जाने वाली प्रशंसा।

12) **उपपत्ति-** ब्रह्म की सिद्धि में प्रस्तुत की जाने वाली युक्ति या तर्क।

13) **लिंग-** चिह्न

5.5 सन्दर्भग्रन्थ

1. भारतीय दर्शन का इतिहास लेखक- आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रकाशन- चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, प्रथम संस्करण।
2. छान्दोग्योपनिषद्, प्रकाशन- गीता प्रेस, गोरखपुर।
3. सदानन्द योगीन्द्र का वेदान्तसार, व्याख्याकार- डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र, प्रकाशन- अक्षयवट, 26, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद-211002। द्वितीय संस्करण, 2002 ई0।
4. वेदान्तपरिभाषा- श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र द्वारा रचित, सम्पादक- पं. श्रीत्रयम्बकराम शास्त्री, भाषानुवाद- स्वामी प्रज्ञानभिक्षु, प्रकाशन- चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी संस्करण 2019 ई0
5. वेदान्त भास्कर, ब्रह्म श्री स्वामी सुरेश्वराचार्य, प्रकाशन- हंसरुद आश्रम ट्रस्ट, गुजरात।
6. वेदान्त दर्शन, महर्षि वेदव्यास का ब्रह्मसूत्र, सम्पादक- श्री नन्दलाल दशोरा, प्रकाशन- रणधीर प्रकाशन हरिद्वार, संस्करण 2016 ई0

5.6 बोध-प्रश्न

1. तात्पर्य-निर्णय के अर्थ एवं अवधारणा का संक्षेप में उल्लेख करिये।
2. शंकर के अद्वैत वेदान्त के स्वरूप का विश्लेषण करिये।
3. वेदान्त दर्शन के विविध सम्प्रदाय पर का विस्तारपूर्वक वर्णन करिये।
4. तात्पर्य-निर्णय के दार्शनिक आधार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
5. तात्पर्य-निर्णय के छः अंग कौन -कौन हैं ? स्पष्ट करिये।

इकाई 6 कुछ महत्त्वपूर्ण संवादों का परिचय

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई को पढ़ने के बाद आप–

- कुछ प्रमुख संवादों से परिचित हो सकेंगे।
- उन संवादों में निहित भारतीय वादपरम्परा के तत्त्वों को जान सकेगे।
- संवादों में निहित नितितत्त्व को ग्रहण कर सकेंगे।
- भारत में संवादपरम्परा के व्यापक और प्राचीन स्रोतों से परिचित हो सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

पूर्व की ईकाईयों में आप भारत में वादपरम्परा के स्वरूप और महत्व तथा वाद–संवाद के नियमों और उन नियमों की संरचना से आप परिचित हो चुके हैं। अब हम आपको भारत में प्राचीन कुछ महत्वपूर्ण संवादों से परिचित कराने जा रहे हैं।

वैदिक परम्परा के अधिकांश संवाद जिज्ञासा पर आधारित है। यह जिज्ञासा भी तीन प्रकार की होती है–

1. साधारण जिज्ञासा : उषस्ति एवं महावत संवाद, हंसों के संवाद, जानश्रुति पौत्रायण तथा सेवक संवाद इत्यादि।
2. विशेष जिज्ञासा : नारद सनत्कुमार संवाद, श्वेतकेतु तथा आरूणि संवाद, जनक याज्ञवल्क्य तथा याज्ञवल्क्यमैत्रयी संवाद इत्यादि।

3. पूर्वाग्रह पूर्वक जिज्ञासा : याज्ञवल्क्य से अश्वल, आर्तभाग, भुज्यु लाह्यायनि, उषस्त, कहोल, गार्गी, आरूणि एवं विदग्ध शाकल्य संवाद इत्यादि।

   इस प्रकार भारतीय परम्परा में कतिपय संवाद विशेष है, जहाँ किसी सत्य का अन्वेषण अथवा किसी देवता विशेष का निर्देश किया जाता है।

6.2 संवाद का अर्थ

सवांद को स्पष्ट करने के लिये इसके सामान्य अर्थ पर विचार करना अनिवार्य प्रतीत होता है। लोक व्यवहार से प्रतीत होता है कि कथन चार प्रकार का है–

1. विशेष कथन
2. साधारण कथन
3. निकृष्ट कथन
4. संवाद एवं वार्तालाप के मध्यवर्ती कथन

इन कथनों का गहन अध्ययन करने पर विशेष कथन को 'संवाद', साधारण कथन को 'वार्तालाप' अथवा 'वार्ता' और निष्कृट कथन अथवा अनुचित कथन को 'विवाद' नाम से अभिहित किया जा सकता है। इन तीनों की अपनी–अपनी सीमाएँ है।

संवाद शब्द 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'वद्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है। सम का अर्थ के साथ मिलकर, वाद का अर्थ बोलना अथवा विचार विमर्श करना। इस प्रकार संवाद का अथ हुआ किसी के साथ मिलकर बोलना अथवा विचार विमर्श करना।

संवाद से अभिप्राय एक विशेष प्रकार की बातचीत से है जिसके अन्तर्गत किसी विशेष विषय पर विचार विमर्श किया जाता है। यह विचार विमर्श धार्मिक, राजनैतिक, दार्शनिक अथवा आर्थिक किसी भी विषय पर हो सकता है। इसमें विषय के किसी निष्कर्ष पर्यन्त पहुँचना भी अनिवार्य है।

वार्तालाप में विषय गम्भीर नहीं होता और न ही प्रसंग से स्थिरता होती है। इसमें किसी विषय के निष्कर्ष पर्यन्त पहुँचना भी अनिवार्य नहीं है। इसमें विषय बिखराव होता है और भावुकता भी होती है।

विवाद संवाद से पूर्णत विपरीत है। यह वाद् से 'वि' उपसर्ग लगने पर बनता है। 'वि' उपसर्ग पृथक् करना अर्थ को देता है। इसमें विषय का उचित निष्कर्ष निकलने के स्थान पर विषय प्रायः विस्मृत सा हो जाता है।

संवाद एवं वार्तालाप के मध्यवर्ती कथन में एक विषय पर अनेक पात्र अपने–अपने अभिमत प्रकट करते हैं परन्तु निष्कर्ष निकलने के स्थान पर विषय प्रायः विस्मृत सा हो जाता है।

संवाद एवं वार्तालाप के मध्यवर्ती कथन में एक विषय पर अनेक पात्र अपने–अपने अभिमत प्रकट करते हैं परन्तु निष्कर्ष नहीं, न ही इसमें कोई विवाद की स्थिति उत्पन्न होती है।

संवाद के भी तीन प्रकार है–

1. प्रत्यक्ष संवाद

2. परोक्ष संवाद
3. आङ्गिक अभिनय द्वारा संवाद

1. **प्रत्यक्ष संवाद**

   इसमें पात्रों की प्रत्यक्ष उपस्थिति होती है। प्रत्यक्ष संवाद दो प्रकार का होता है–

   I. पूर्व निर्धारित (विषय, समय एवं स्थानानुसार संवाद)

   II. परिस्थिति के अनुसार स्वतः संवाद

2. **परोक्ष संवाद**

   इसमें पात्र मूर्त रूप में प्रत्यक्ष नहीं होते हैं परन्तु वक्ता किसी न किसी रूप में अन्य पात्र की कल्पना कर लेता है। इसमें बैखरी वाक् की अपेक्षा मध्यमा वाक् अधिक कार्य करती है। यह संवाद भी दो प्रकार का होता है–

   I. स्वगत संवाद

   II. मौनगत संवाद

   स्वगत भाषण में व्यक्ति अपने साथ ही बोलता है। इसमें वह सुख दुःख इत्यादि का स्वंय ही अनुभव करता है। सब कुछ उस तक ही सीमित रहता है परन्तु मौनगत संवाद में व्यक्ति जिसका चिन्तन करता है वह व्यक्ति उसका उत्तर भी देती है जो मौनरूप में ही होता है। इसे दो पात्रों का आन्तरिक संवाद कहा जा सकता है।

3. **आङ्गिक अभिनय द्वारा संवाद**

   आङ्गिक अभिनय कई बार संवाद से भी अधिक प्रभावशाली होता है। व्यक्ति जो बात बोल करके नहीं कह पाता है वह आङ्गिक अभिनय द्वारा शीघ्रता से अभिव्यक्त कर देता है।

6.3 संवाद में प्रमुख तत्त्व तथा सीमाएँ

संवाद के अर्थ एवं स्वरूप को जानने के बाद यह जानना आवश्यक है कि संवाद के वे कौन–कौन से तत्त्व हैं जो संवाद को अपनी सीमा में बांध करके उसके वास्तविक स्वरूप का निर्धारण करते हैं।

चूंकि संवाद मैत्रीपूर्ण एवं शांतिपूर्ण वातावरण में विचार विनिमय है। संवाद की पहली कड़ी है–वक्ता, श्रोता एवं विषय। संवाद में इन तीनों का ही महत्त्वपूर्ण योगदान है। दूसरी महत्त्वपूर्ण पक्ष में संवाद में शिष्टतापूर्ण व्यवहार की अपेक्षा है। अमर्यादित तथा अभद्र व्यवहार वर्जित है। उक्ताहट, पाखण्ड एवं अभिमान दोरंगी चाल वर्जित है। ईर्ष्या, अहंकार एवं क्रोध भाव अनपेक्षित है। संवाद के लिये संवाद कर्त्ताओं के मध्य स्नेह, मैत्रीभाव, सहनशील, दयुाल, विश्वास एवं आशायुक्त भाव अपेक्षित है। संवाद के प्रमुख तत्त्व निम्नवत है इनका भी अवलोकन करिये–

उदारता : उदारता से अभिप्राय संकुचित तथा सन्देहपूर्ण विचारों का अभाव है। संवाद कभी भी सन्देह की स्थिति में नहीं होनी चाहिए। संवाद में प्रत्येक पात्र अन्य पात्र के विचारों का उदारता एवं सहानुभूतिपूर्वक श्रवण करें एवं अपने विचारों का कथन करे परन्तु विचारों की उदारता की भी सीमा है। यह नही मान्य है कि जो भी किसी के मन में आये वह बोलता रहे।

जिज्ञासा : उचित संवाद जिज्ञासा पर आधारित होता है यदि पात्रों में कुछ नया जानने की इच्छा होगी तभी वे अपने सन्देहों का निराकरण करके कुछ नया सीख सकते हैं। जिज्ञासा तीन प्रकार की हो सकती है– साधारण जिज्ञासा, विशेष जिज्ञासा और पूर्वाग्रहपूर्वक जिज्ञासा। साधारण तथा विशेष जिज्ञासा प्रायः प्रश्न के रूप में होता है तथा जिज्ञासु विनम्रता एवं आश्चर्यपूर्वक विषय के बारे में जिज्ञासा करता है।

सम्मानपूर्वक विचार विनिमय : संवाद का प्रत्येक पात्र अपने विचारों से अन्य को अवगत कराये तथा अन्य पात्रों का विचार ग्रहण करें।

संवादात्मक उत्तरदायित्व : संवादात्मक उत्तरदायित्व से यहां अभिप्राय है– प्रश्नोत्तर करने की योग्यता। यह योग्यता वास्तविक होनी चाहिए।

भाषा ज्ञान तथा भाषा साम्य : संवाद में भाग ले रहे पात्रों को भाषा का ज्ञान तथा भाषा की समता का ज्ञान आवश्यक है। कई बार व्यक्ति विद्वान् होते हुए भी भाषा की असमता के कारण अन्य पात्रों की बात को समझने में असमर्थ होता है। फलतः वह अपने विचारों का प्रकटीकरण नहीं कर पाता। इनके अतिरिक्त विषय का ज्ञान, पात्रों में अकृत्रिमता, पक्षपातहीनता, सहयोग आदि अनिवार्य तत्त्व है।

6.4 महत्त्वपूर्ण संवाद

संवादों का बीजतत्त्व वेद में प्राप्त होते हैं। यदि संवादात्मक दृष्टि से वेद का अध्ययन किया जाय तो ऋग्वेद में 88, यजुर्वेद में एक, अथर्ववेद में एक, ऐतरेय ब्राह्मण में 21, शांखायण ब्राह्मण में 4, तैत्तिरीय ब्राह्मण में 6, शतपथ ब्राह्मण में 130, षड्विंश ब्राह्मण में 4, जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में 18, गोपथ ब्राह्मण में 24 हैं। इनमें से 265 संवाद सफल हैं और 32 संवाद विफल है। इस प्रकार संहित तथा ब्राह्मण में लगभग 297 संवाद उपलब्ध है तथा यदि हम उपनिषदों का संवादात्मक दृष्टि से परीक्षण करें तो ऐतरीय उपनिषद् में 3 संवाद, कौषीतकि उपनिषद् में 5, ईशावास्योपनिषद् में 6, बृहदारण्यकोपनिषद् में 31 संवाद, तैत्तिरीयोपनिषद् में 1, कठोपनिषद् में 6 संवाद, श्वेताश्वतरोपनिषद् में 1, मैत्रायिणी उपनिषद् में 2, केनोपनिषद् में 10, छान्दोग्योपनिषद् में 48, प्रश्नोपनिषद् में 8 एवं मुण्डोपनिषद् में 1 संवाद दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार से इन उपनिषदों में हमें लगभग 129 संवाद प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य में ही हमें संवादों की एक विशाल राशि प्राप्त होती है। समग्र भारतीय वाङ्मय में अनगिनत संवाद उपलब्ध है।

पात्रों के आधार पर संवादों का संक्षिप्त परिचय

क्रम सं.	संवाद	उदाहरण
1	देवताओं के पारस्परिक संवाद	वैदिक सूक्तों में ही लगभग पच्चीस संवाद प्राप्त होते हैं। जैसे– ऋभुगण–अग्निदेव संवाद, इन्द्र–प्रजापति संवाद आदि।
2	देवों के ऋषियों एवं स्तोतागणों के मध्य संवाद	इन्द्र तथा ऋषि गौतम संवाद, इन्द्र का वसिष्ठ से संवाद।
3	देवों के गन्धर्वों और असुरों के मध्य संवाद	शतपथ ब्राह्मण में इस संवाद का वर्णन है।

4	देवों के मनुष्यों के साथ संवाद	आप्त्यों का प्रजा से संवाद, प्रजापति–प्रज्ञा संवाद, रात्रि का राजा रथवीति से संवाद।
5	देवों के पशुओं एवं पशुओं के साथ संवाद	इन्द्र का सरमा शुनि से संवाद।
6	ऋषियों का स्तोतागण से संवाद	ऋषि काबन्धि का ऋत्विजों से संवाद।
7	ऋषियों का मनुष्यों से संवाद	ऋषि श्यावाश्व का रथवीति से संवाद, अत्रि पुत्र अर्चानानस् एवं रथवीति संवाद, भृगु का मनुष्यों से संवाद।
8	ऋषियों का ब्राह्मणों के साथ संवाद	याज्ञवल्क्य का ब्राह्ममणों के साथ संवाद, स्वैदायन का ब्राह्मणों के साथ संवाद।
9	आचार्य–शिष्य संवाद	मौद्‌गल्य का मैत्रेय शिष्य से संवाद, मौद्‌गल्य का अपने शिष्य से संवाद, अगस्त्य एवं लोपामुद्रा का आगस्त्य शिष्य से संवाद।
10	मनुष्यों के देवों के साथ संवाद	रोहित–इन्द्र संवाद, ममता के गर्भस्थ शिशु से बृहस्पति का संवाद।

संवादों के स्वरूप से परिचित कराने के प्रयास में आपको कुछ चुने हुए संवादों से अवगत कराया जा रहा हैं। ये चुने हुए संवाद निम्नवत् हैं–

6.4.1 सरमा–पाणि–संवाद

ऋन्वेद में जो कुछ संवाद प्राप्त होते हैं उनमें नीतिकथा को दृष्टि से सरमा–पणि–संवाद का बड़ा ही महत्व है। इस सूक्त में सरमा नाम की कुतिया और पणि नामक असुरों के बीच हुआ संवाद सुरक्षित है। सरमा की पूरी कहानी ऋग्वेद में नहीं मिलतो । वैदिक ग्रंथों के अनुसार कहानी इस प्रकार है पणि लोग इंद्र को गाएं चुरा ले गये थे। वे रसा नदी के पार रहा करते थे । वहाँ उन्होंने गायों को पर्वतों में छिपा रक्खा था। इंद्र ने गायों की खोज करने के लिए सरमा नाम को देवता की कुतिया को पणियों की ओर भेज दिया । वहाँ जब सरमा पहुँची तब पणियों ने उसके आने का कारण पूछा। सरमा ने अपना परिचय दिया, ''मैं इंद्र की दूती हूँ। गाएँ लौटा दो। केंद्र से झगड़ा मोल न लो। इंद्र और उसके साथो अपनी गायें ले जावेंगे। तब तुम कुछ कर न पावोगे ।'' इस पर पणियों ने सरमा को लालच देकर उसके साथ भाई–बहन का नाता जोड़ने को इच्छा प्रकट की। किन्तु सरमा उनके पक्ष को नहीं हुई। उसने इन्कार कर दिया। उसने लौटकर इंद्र को सब हाल सुनाया। तब इंद्र ने वहाँ जाकर पणियों को हराया और अपनो गायें प्राप्त कीं ।

इस प्राचीन कथा का आधार ऋग्वेद का यह संवाद सूक्त है।

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यष्वा जगुरिः पराचौः ।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत् कथं रसायाः अतरः पयांसि ।।1।।

इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन् वः ।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत् तथा रसाया अतरं पयांसि ।।2।।

कोदृङ्ङिन्द्रः सरमे का दृशोका यस्येदं दूतीरसरः पराकात् ।
आ च गच्छामि मेना दधामाथा गवां गोपतिर्नो भवाति ।।3।।

नाहं तं वेद दभ्यं दभत् स यस्येदं दूतीरसरै पराकात् ।
न तं गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे ।।4।।

इमा गावः सरमे या ऐच्छः परि दिवो अन्तान् सुभगे पतन्ती ।
कस्त एना अव सृजादयुव्युतास्माकमायुषा सन्ति तिग्मा ।।5।।

असेन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः ।
अघृष्टो व एतवा श्रस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृळात् ।।6।।

अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्मुष्टः ।
रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा रेकु पदमलकमा जगन्य ।।7।।

एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अंगिरसो नवग्वाः ।
त एतपूर्व वि भजन्त गोनामर्थतत्रचः पणयो वमन्नित् ।।8।।

एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रत्राधिता सहसा दैव्येन ।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम ।।9।।

नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसुत्वमिन्द्रो विदुरंगिरसश्च घोराः ।
गोकामा में भ्रच्छदयन् यदायमपात इत पणयो वरीयः ।।10।।

दूरमित पणयो वरीय उदङ्गावो यन्तु मिनतोऋतेन ।
बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्व विप्राः ।।11।।
—ऋ. सं. 10.108

भावार्थ

1) पणि :— किस इच्छा से सरमा इधर आई ? कितना लम्बा यह रास्ता है ? सरमे, तुम्हारा हमारे पास क्या काम है? तुम रात्रि को कहां थी और रसा नदी को तैर कर इस और कैसे आ सकी ?

2) सरमा :— हे पणियों, मैं इंद्र की दूतो, इंद्र द्वारा भेजी गई है।

   तुम्हारे बड़े—बड़े खजानों की इच्छा रखने वाली मैं सुरक्षित रूप से घूम रही हूँ। इसीलिए पानी को लांघकर (यहां तक) आने में मुझे डर नहीं लगता। अतः में रसा नदी को तैर कर आ गई ।

3) पाणि : — इतनी दूर से तुम जिसको दूती बनकर आई हो वह इंद्र कैसा है और उसकी दृष्टि कैसी है? वह हमारे पास आवे और हमसे मित्रता करे । वह हमारे गोधन का मालिक बने ।

4) सरमा :– जिसकी दूती बनकर मैं यहां आई हूँ वह सबको मार सकता है, किंतु उसे कोई मार नहीं सकता । (रसा का) यह गहरा प्रवाह भो उसे निगल नहीं सकता। इंद्र के द्वारा मारे जाने पर तुम्हारी मृत्यु होगी ।

5) पणि :– हे सुभगे, स्वर्ग के इर्द गिर्द घूमने वाली तुम जिन गायों की इच्छा करती हो, उन्हें युद्ध किये बिना कौन भला छोड़ेगा? हमारे शस्त्र भी तीखे हैं।

6) सरमा :– तुम्हारी यह भाषा सेना के लिए प्रेरक न हो। तुम्हारे शरीर बाण छोड़ने में असमर्थ हों। क्योंकि वे पापी हैं। तुम्हारा मार्ग चलकर जाने के लिए अयोग्य सिद्ध हो। बृहस्पति तुम्हें सुख न दें।

7) पणि :– सरमे, गाय, बैल, घोड़े और धन से भरा हुआ यह खजाना पत्थर के बने हुए दुर्ग में है। अच्छे संरक्षक पणी उसकी रक्षा कर रहे है। शंका लेकर तुम यहां व्यर्थ आई हो।

8) सरमा :– पणियों, सोम पोकर नवग्व अंगिरस श्रयास्थ गायों को बांट लेंगे। तभी तुम अपनी जिद छोड़ दोगे।

9) पणि :– सरमे, तुम्हें देवताओं ने कष्ट दिया इसीलिए यदि तुम इधर बाई हो तो हम तुम्हें बहन मान लेते हैं। तुम लौटकर न जाओ। सुभगे, तुम्हारो गायों का बटवारा हमलोग आपस में कर लेंगे।

10) सरमा :– पणियों, मैं न तो बहन का नाता जानतो हूँ और न भाई का ही। यह नाता तो इंद्र एवं भयंकर अंगिरस जानते हैं। गायों को चाहने वाले मेरे इंद्रादि देवता तुम्हारे (शिबिर के) ऊपर हमला कर देंगे। (इसलिए) पणियों दूर भाग जाओ।

11) बृहस्पति, सोम, मेधावी ऋषि एवं सोम कूटने के पत्थरों को जिन गुप्त गायों का पता लगा, उन्हें अब प्रकृति–नियम के अनुसार मुक्ति मिले। पणियों, तुम कहीं दूर चले जाओ।''

ऋग्वेद में प्राप्त कुछ सम्बादों से हो प्राचीन कहानी को कल्पना की जा सकती है। बाख्यान–सूक्तों में प्राप्त संवाद प्राचीनतम वेदिक कहानो के हो भंश हैं। फिर भी इस संवाद मात्र को पूरी कहानी नहीं कह सकते ।एक तथ्य अवश्य है। एक कृतिया मनुष्य के समान प्रौढ़ता से इंद्र को दूतो बन कार्य करे इसे महत्व है। इस प्रकार की घटना ऋग्वेद में इस सम्वाद में वर्णित है। हम देख चुके है कि, नीतिकथा में पशु–पक्षी मनुष्यवत् व्यवहार करते हैं। उनकी उस गतिविधि से मनुष्य को क्रिया (action) व्यक्त होती रहती है। वहीं तत्व (element) इस सरमा–पणि–संबाद में पाया जाता है।

किन्तु इस संवाद में सरमा को देवशुनी (Divinebitch) मानने पर ही नीतिकथा का प्राणि संबंधी पूर्व रूप देया जा सकता है। तो क्या वास्तव में सरमा देवशुनी थी ? ऋग्वेद में कहीं पर भी सरमा को कुतिया नहीं कहा गया। इस संवाद के अतिरिक्त ऋग्वेद में अन्य छः मंत्रों में सरम का उल्लेख आ चुका है । किन्तु सरमा को इंद्रदूती ही कहा है, देवशुनी नहीं ।

इन मंत्रों के भिन्न–भिन्न ऋषि और देवता है। इनसे भो सरमा को कहानी स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती है। इन मंत्रों में सरमा को कहीं पर भी देत्रधुनी नहीं कहा गया है।[1]

शौनक ने बृहद्देवता में उसे ''इंद्र की दूती'' कहा है, वहाँ कुतिया के रूप में उसका उल्लेख नहीं है, प्रत्युत उसे ब्रह्मवादिनों में से एक माना है। किन्तु यास्क ने उसे स्पष्ट शब्दों में देवशुनी कहा है।शौनक को छोड़कर अन्य भाष्यकारों ने यास्क का ही अनुकरण किया है और उसे देवताश्रों की कुतिया माना है। सर्वानुक्रर्माण में भो उसे देवशुनो कहा है। सायण ने उसे देवशुनी कहा है और उसकी कहानी प्रस्तुत की है।

6.4.2 यम–यमी संवाद

यह संवाद ऋग्वेद के दसवें मण्डल के दसवें सूक्त में वर्णित है। विवस्वान् सूर्य की दो सहोदर सन्तानें– यम तथा यमी हैं। एक बार कामातुर यमी अपने भ्राता यम से कहती है– मैं इस निर्जन प्रदेश में तुम्हारा मिलन चाहती हूँ क्योंकि तुम गर्भावस्था से ही मेरे साथी रहे हो। विधाता को यही अभीष्ट है कि तुम्हारे द्वारा मेरी गर्भ से सन्तान उत्पन्न हो।

यम कहता है– यमी तुम्हारा भ्राता यम तुम्हारे साथ ऐसा सम्पर्क नहीं चाहता है तुम अगन्तव्या हो और यह स्थान निर्जन प्रदेश नहीं है क्योंकि प्रजापति के पुत्र सब देखते हैं।

यमी कहती है– ऐसा मैं मानती हूँ कि भगिनी तथा भ्राता का ऐसा संसर्ग मनुष्यों में त्याज्य है परन्तु देवता लोग इच्छा पूर्वक ऐसा संसर्ग ही करते हैं। अतः जैसा मैं कहती हूँ तुम वैसा ही करो। तुम मेरा पतिरूप में ग्रहण करो।

यम उत्तर देता हुआ कहता है– हमस त्य वक्ता हैं, मिथ्या कभी नहीं बोलता हूँ। अन्तरिक्ष में रहने वाले सूर्य और सरण्यू हमारे माता–पिता है। हम सहोदर भ्राता–भगिनी हैं अतः हमें ऐसा नहीं करना चाहिए।

यमी कहती है– हमें प्रजापति ने गर्भावस्था में ही दम्पत्ति बना दिया है। प्रजापति के कर्म को कोई लुप्त नहीं कर सकता है। द्यावा पृथिवी हमारे इस सम्बन्ध को जानते हैं। हमारे सम्पर्क को कौन जानता है? कौन देखता है? अतः तुम मेरी अभिलाषा पूर्ण करो।

यम कहता है– हे दुःखदायिनी यमी देवों के जो गुप्तचर हैं, वे दिन–रात विचरण करते हैं। उनके नेत्र कभी बन्द नहीं होते हैं। तुम शीघ्र ही किसी अन्य व्यक्ति के पास चली जाओ तथा रथ के चक्के की भाँति किसी अन्य के साथ मिलकर रहो। दिन रात के कल्पित भाग को यजमान यम के लिये दें। सूर्य का तेज यम के लिये सदा प्रकाश करता रहे। यमी भ्राता यम को छोड़ कर अन्यत्र चली जाये।

यम यमी से कहते हैं– हे यमी भविष्य में ऐसा भी समय आयेग जब बहिनें भ्राताओं को पतिरूप में कामना करेंगी। तुम मुझे छोड़कर किसी अन्य को अपना पति बनाओ।

यमी कहती है– वह भाई बहन भी क्या हैं जिन के होते हुए दोनों दुःख दूर न हों। मैं काम पीड़ित हूँ। तू मेरा उपभोग कर।

यम कहता है– हे यमी! मैं तुम्हारा सम्पर्क नहीं चाहता हूँ, जो भाई बहन से ऐसा सम्पर्क करता है लोग उसे लोग पापी कहते हैं।

यमी कहती है– यम तुम मुझे नहीं चाहते हो कोई अन्य स्त्री तुम्हारा आलिंग्न वैसे अनायास ही करेगी जैसे रज्जू अश्व का तथा लता वृक्ष का आलिंग्न करती है।

अन्त में यम कहता है– यमी तुम भी अन्य पुरूष का वैसे ही आलिंग्न करो जैसे लता वृक्ष का आलिंग्न करती है। तुम उसी का मन हरण करो तथा वह भी तुम्हारा मन हरण करे। ऐसी अनुचित बात मुझसे न कहो। इसी में हमारा कल्याण है।

इस संवाद का संवादात्मक दृष्टि से अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि यह संवाद दो पात्रों– यम एवं यमी के मध्य में होता है। इस संवाद का विषय है– यमी का यम से पति बनने का आग्रह करना।

यह संवाद यमी द्वारा प्रारम्भ होता है और यम द्वारा समाप्त होता है।

इस संवाद में दोनों पात्रों के विचार प्रारम्भ से लेकर अन्त पर्यन्त भिन्न–भिन्न रहते हैं। दूसरी ओर संवाद की सीमा में प्रारम्भ में भिन्नताा होने पर अन्त में ऐक्य होना अनिवार्य है। अतः इस कथनोपकथन को संवाद न कहकर के विवाद कहा जा सकता है।

परन्तु यम के इस कथन से– यमी ऐसी अनुचित बात मुझे न कहो। इसी में हमारा कल्याण है। यमी मौन हो जाती है। यहाँ किसी प्रकार का विवाद लक्षित नहीं होता है। अनुचित कथन का खण्डन एवं सिद्धान्तानुकूल उचित कथन का ग्रहण ही लक्षित होता है। यह संवाद मत भिन्नता पर समाप्त होता है परन्तु सिद्धान्तानुकूल होने के कारण इसके संवाद कोटी में रखा जाता है क्योंकि संवाद कभी भी अमर्यादित व्यवहार को अनुमति नहीं देता है।

दूसरी ओर इसमें सिद्धान्त अनुकूल कथन करने वाले पात्र यम की विजय की इच्छा न होते हुए भी विजय होती है। अतः इसे न्यायदर्शन में वर्णित 'वाद' कोटी में मान्यता देते हुए संवाद स्वीकार किया जा सकता है।

6.4.3 यम–नचिकेता संवाद

कठोपनिषद् के द्वितीयवल्ली में यह संवाद वर्णित है। जब उद्यालयक ऋषि के पुत्र नचिकेता अपने पिता से विद्रोह करके यमराज के पास जाते हैं, तो यमराज के अनुपस्थिति में यमराज के घर तीन दिन और रात बिना खाये–पिये यमराज की प्रतीक्षा करते है, तब इस बात की सूचना यमराज के आने पर यमराज की पत्नी यह कहते हुए देती है कि जिसके घर में बिना भोजन किये हुए अतिथि निवास करता है, उस व्यक्ति की ज्ञात और अज्ञात वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छाएँ तथा समृद्धि के सुअवसर, सारे पुण्य, सन्तान तथा पशु सहित धन वैभव नष्ट हो जाता है। अपनी पत्नी के इस प्रकार की बातें सुनकर यमराज अपने अतिथि नचिकेता के पास जाकर वार्तालाप करते हैं, यह वार्तालाप अर्थात् संवाद भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। हम यहां यम नचिकेता संवाद का हिन्दी भार्वाथ आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं–

यमराज नचिकेता से कहते हैं– हे ब्रह्मन! नमस्कार के योग्य अतिथि होते हुए भी तुमने जो मेरे घर में तीन रात्रि तक बिना खाये–पिये निवास किया, तुम्हें नमस्कार। मेरा कल्याण हो। इसलिए एक–एक रात्रि के लिए एक–एक करके मुझसे तीन वर माँग लो।

नचिकेता : हे मृत्यो! जिस प्रकार मेर पिता गौतम मेरे प्रति शांतसंकल्प, प्रसन्नचित और क्रोधरहित हो जायें और आपके द्वारा विदा किये जाने पर मुझको पहचान कर बातचीत करें, मैं तीनों वरों में से पहला वर माँगता हूँ।

यम : मेरे द्वारा प्रेरित होकर अरूणपुत्र उद्दालक तुम्हें पहले की तरह पहचान लेंगे, रात्रियों में सुखपूर्वक सोयेंगे और क्रोधरहित हो जायेंगे, क्योंकि तुम्हें मृत्यु के मुख से मुक्त देखेंगे।

नचिकेता : स्वर्गलोक में कोई भय नहीं है। वहाँ मृत्यु भी नहीं हो। वहाँ कोई वृद्धावस्था से नहीं डरता है। वहाँ पुरूष भूख और प्यास दोनों को पार करके शोक से ऊपर उठकर आनन्दित होता है।

यम : मैं उस स्वर्ग के साधनभूत अग्नि को विधिवत् जानता हूँ। सम्प्रति मैं तुम्हें उसका उपदेश दे रहा हूँ। उस उपदेश को सावधान मन होकर सुनो। यह अग्नि अनन्त लोकों की प्राप्ति अर्थात् स्वर्गलोक रूप फल की प्राप्ति का साधन तथा विराट् रूप से जगत् की प्रतिष्ठा का आश्रय है। इस अग्नि को तुम विवेकी पुरूषों की बुद्धि में स्थित समझों। गुहा शब्द का प्रयोग ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थों में अनेक स्थान पर हुआ है।

नचिकेता : तब यमराज ने उन लोकों के आदिकारण अग्नि का और चयन करने में जो जितनी प्रकार ईंटें होती है उसके विषय में नचिकेता को विधिवत् उपदेश दिया। उसने भी यम के द्वारा दिये गये उपदेश को यथावत् कह सुनाया। तब यम उससे संतुष्ट होकर कहते हैं।

यम : प्रसन्न होते हुए यम ने नचिकेता से कहा– अब मैं तुम्हें यहाँ एक और वर देता हूँ। यह अग्नि तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगा और तुम इस अनेक रूपों वाली रत्नामयी माला को लो।

नचिकेता : नचिकेता अग्नि को तीन बार चयन करने वाला माता, पिता और आचार्य अथवा वेद, स्मृति और शिष्ट अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम अथवा ऋक्, यजुष् और साम इन तीनों से सम्बन्ध को प्राप्त करके यज्ञ, अध्ययन और दान इन तीन कर्मों को करने वाला जन्म और मृत्यु को पार कर जाता है। ब्रह्म से उत्पन्न सर्वज्ञ स्तुत्य अग्निदेव को शास्त्रानुसार जानकर अनुभव करके इस अत्यन्त शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

यम : जो त्रिणाचिकेत विद्वान् इन तीन ईंटो का स्वरूप, उनकी संख्या और चयनविधि को जानकर इस प्रकार शास्त्रोक्त रीति से नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, वह पूर्व ही मृत्यु के बन्धनों को काटकर, शोक से पार होकर स्वर्गलोक में आनन्दित होता है। हे नचिकेता! यह तुम्हें स्वर्ग देने वाली अग्नि है जिसे तुमने द्वितीय वर से माँगा था। लोक इस अग्नि को तुम्हारे ही नाम से पुकारेंगे। हे नचिकेता! तीसरा वर माँगो।

नचिकेता : मृत मनुष्य के विषय में जो यह सन्देह है– कुछ लोग यह आत्मा है ऐसा कहते है और कुछ लोग यह आत्मा नहीं है, ऐसा कहते है। तुम्हारे द्वारा उपदिष्ट मैं आत्मतत्व को जान लूँ। यह वरों में से तीसरा वर है।

यम : प्राचीन काल में देवताओं ने भी इस विषय में सन्देह किया था। निश्चय ही यह धर्म आत्मज्ञान का विषय सूक्ष्म है, अतएव सरलता से जानने योग्य नही है। हे नचिकेता! दूसरा वर माँग लो। मुझे उपरूद्ध मत करो अर्थात् मुझे विवश मत करो। इस वर को मेरे लिये छोड़ दो अथवा इसे यहीं छोड़ दो, अब और आगे मत बढ़ाओ। आत्मविषयक वर के समान यदि अन्य कोई वर समझते हो तो उसे तुम माँग लो। धन और स्थायी जीविका माँग लो। हे नचिकेता! तुम इस विस्तृत पृथ्वी पर वृद्धि प्राप्त

करो। मैं तुम्हें कामनाओं का इच्छानुसार भोगने वाला बना देता हूँ।

नचिकेता : हे महाराज! ये क्षणिक भोग मनुष्य की सभी इन्द्रियों के तेज को जीर्ण कर देते हैं। सम्पूर्ण जीवन भी थोड़ा ही है अतएव वाहन आपके ही पास रहे और नाचगाना भी आपका ही रहे अर्थात् ये सब मुझे नहीं चाहिए। मनुष्य धन से तृप्त नहीं किया जा सकता। यदि आपको देख लिया है तो धन को हम प्राप्त कर लेंगे। जब तक आप शासन करेंगे, हम जीवित रहेंगे। मेरा प्रार्थनीय वर तो वही है। नचिकेता निवेदन करते हैं कि जराग्रस्त न होने वाले अर्थात् वृद्धावस्थारहित अमरों के समीप पहुँचकर नीचे पृथ्वीलोक में रहने वाला कौन वृद्ध विवेकी मनुष्य होगा जो स्वर्ण सौन्दर्यादि के राग से होने वाले सुखों को अनित्य रूप में देखता हुआ भी अतिदीर्घ जीवन में रमण करेगा। हे यमराज! जिस महान् परलोक के विषय में लोग यह शंका करते हैं कि शरीर त्याग के पश्चात् आत्मा रहता है या नहीं, उस विषय में हमें यथार्थ बतलाइये। जो यह गहनता में अनुप्रविष्ट रहस्यात्मक वर है, इससे अन्य वर नचिकेता नहीं माँगता।

6.4.4 व्याघ्र–गोमायु संवाद

महाभारत के राजधर्म पर्व में यह संवाद वर्णित है। व्याघ्र और सियार के इस संवाद में राजधर्म पर्व की नीतिकथा है। इसमें दिखाया गया है कि राजा के पास रहने वाले लोगों का स्वभाव किस प्रकार का होता है।

म्हाराज युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा, 'कई लोग सौम्य दिखाई देते है, किन्तु वास्तव में वे सौम्य नहीं होते। कई सच्चे सौम्य व्यक्ति क्रूर दिखाई देते हैं। इसलिए पितामह, मुझे बताइये कि आदमी को कैसे पहचानना चाहिए।

इस पर भीष्म ने व्याघ्र एवं सियार का एक दृष्टान्त सुनाया है। कहानी संक्षेप में इस प्रकार है :–

पौरिक नामक राजा को क्रूर कर्म के कारण दुर्गति प्राप्त हुई और दूसरे जन्म में वह सियार पैदा हुआ। उसे पूर्व जन्म के ऐश्वर्य का स्मरण हो जाता था और खेद के कारण किसी प्राणि की हिंसा न करता था। वह सत्यभाषी, स्मशान–वासी एवं फलभक्षी बन गया था। अन्य जानवरों ने उसे समझाया कि जिस कुल में तुम पैदा हुए हो वह मांसभक्षी का कुल है। तुम्हें हमारे जैसा ही आचरण करना चाहिए। सियार ने शान्त भाव से कहा, 'आचरण को देखकर ही कुछ निर्धारित होता है। जिससे कीर्ति बढ़ेगी वही कर्म मुझे करना है। धर्म के लिये आश्रम कारण नही है। स्वभाव के अनुसार ही धर्मक्रिया सम्पन्न होती है। तुम लोग स्वयं एवं मोह में आसक्त हो। तुम्हें उनके परिणाम की कोई कल्पना नहीं। मुझे इहलोक एवं परलोक में जो श्रेयस्कर होगा उसी का आचरण करने की इच्छा है।'

उसके इस विशुद्धाचरण एवं पांडित्य को देखकर पराक्रमशील व्याघ्र ने उसे मंत्री नियुक्त किया। व्याघ्र ने उसे अपने पास रहने और अभीष्ठ वस्तु ग्रहण करने को कहा। व्याघ्र ने कहा, 'मैं कड़े स्वभाव का अवश्य हूँ किन्तु सरल स्वभाव से व्यवहार कर मुझसे तुम लाभ उठा सकोगे।'

सियार ने कहा, 'मृगराज, मेरे बारे में आपने जो कुछ कहा वह आपको उचित दिखाई देता है। धर्म और अर्थमें निपुण तथा पवित्र चरित्र के मंत्री की खोज में आप हो। अमात्य के बिना रजा की क्या सुरक्ष? अमात्य भी दुष्ट एवं अत्याचारी होगा तो सुरक्षा असंभव है। आपसे प्रेम करने वाले, नीति के जानकरार, सहयोग करने वाले, जिनके

आपस में आप्तसंबंध न हो, शत्रु को जीतने की इच्छा रखने वाले, लोभ न रखने वाले तथा अनेक गुणों से युक्त व्यक्ति को अमात्य बनाकर सम्मानित कीजिए। महाराज, सन्तोष मुझे अच्छा लगता है। धन सम्पत्ति की मुझे आवश्यकता नही। मेरा स्वभाव अन्य सहयोगियों से मेल नही खायेगा। वे लोग नहीं चाहेंगे कि मैं आपका मंत्री बना रहूं। मैं युद्ध आचरण से चलने वाला हूँ, मैंने कभी सेवा नहीं की। लोग राजा के साथ रहने वालों की बुराई राजा के पास जाकर किया करते है। किन्तु स्वतन्त्र रहने वाले लोग निर्भय होते है। राजा जिसे बुलाता है वह डर जाता है। किन्तु यह डर अरण्य में फल—मूल खाकर रहने वाले प्राणी में नही होता। वही सच्ची शान्ति है। अपराधियों की अपेक्षा राजा के सेवकों की ही अधिक मृत्यु हुई है। इसलिए यह निश्चय कर लो कि मेरे लोगों का सम्मान हो, मेरी सलाह आपकी ग्राह्य होगी। मैं अन्य अमात्यों से मंत्रणा नहीं करूंगा। अपने जातिबांधव के विषय में मुझे न पूछो। अमात्यों को पीड़ा न हो और मेरे जो लोग होंगे उन्हे क्रोध में आकर सजा न दी जावे।'

व्याघ्र ने यह सब मंजूर कर लिया, तब सियार अमात्य हुआ। यह देख अन्य अमात्य इस पर जलने लगे। वे चाहने लगे कि यह सियार भी उनके ही जैसा दुष्ट व्यवहार करे। अब उन्हें पूर्ववत् स्वतंत्रता नहीं रही थी। कुछ प्राणियों ने एक षड्यन्त्र रचा। व्याघ्र को मांस प्रिय था। उसे उन्होंने सियार के घर में लाकर रख दिया। सियार सब समझ रहा था, किन्तु उसने सब सह लिया। क्योंकि व्याघ्र के वचन का उसे स्मरण था।

जब व्याघ्र को भूख लगी तब उसे इच्छित मांस नही मिला। उसके पूछने पर धूर्त प्राणियों ने उसे कहा, अपने आपको सदाचारी समझने वाले मंत्री सियार ने ही वह मांस चुराया है। यह सुनते ही व्याघ्र क्रोध से लाल पड़ गया। प्राणियों ने मंत्री सियार की काफी निंदा की और व्याघ्र का ले जाकर सियार के घर पर पड़ा मांस दिखला दिया। क्रोध मे आकर व्याघ्र ने उसका वध करने का आदेश दिया।

इस पर व्याघ्र की माता ने उसे समझाया कि यह सब षड्यन्त्र है। बुरे लोग अच्छे लोगों का द्वेष करते हैं। मंत्री सियार निर्दोष है। इसके बाद सियार के शत्रु—समुदाय में से एक व्यक्ति आगे आया और उसने उस षड्यंत्र की जानकारी दे दी। तब व्याघ्र ने सियार को गले लगा लिया और प्राणदण्ड से मुक्त कर दिया।

इस अपमान से दुखी होकर सियार ने अनशन करना चाहा। व्याघ्र ने उसका सम्मान किया और अनशन न करने की प्रार्थना की। तब सियार ने उसे उपदेश दिया और कहा, मुझे अब आपके पास नही रहना चाहिए। उसने धर्म, अर्थ और काम से युक्त भाषण किया और वह अरण्य में चला गया। व्याघ्र के अनुरोध की ध्यान न देकर उस बुद्धिमान सियार ने अनशन किया और वह स्वर्ग पहुंच गया।

सियार और व्याघ्र की मूलकथा लोगों में प्रचलित रही होगी। मूल कथा के अनुसार बुद्धिमान एवं निर्दोष सियार को कपट से उसके साथियों ने मौत के घाट उतारा होगा। किन्तु यहां सियार पूर्व जन्म में राजा था। इस जन्म में वह सियार होते हुए भी सदाचरणों और अमांसभक्षी है। संतोष उसके मन में है। बौद्धों ने सियारों को कपटी और लोभी बतलाया है और पंचतंत्र में भी सियार का स्वभाव धूर्त, स्वार्थ—परायण और धोखेबाज दिखाया गया है। किन्तु व्याघ्र और सियार की इस कथा में सियार का आचरण सदाचरणों ऋषि कान्सा है। स्पष्ट है कि सदाचरण और त्याग का महत्व बढ़ाने के लिये सियार के उदात्त चरित्र को ब्राह्मणों ने प्रस्तुत किया है।

इसलिए यह नीतिकथा स्वाभाविक नहीं लगती। व्याघ्र और सियार के स्वभाव में कुछ कृत्रिमता का आभास हमें होताहै। बीच बीच में सियार के मुख से उच्च गुणों का आदर्शवाद व्यक्त हो रहा है। व्याघ्र से अपमानित होने पर उसने अपना देहत्याग कर दिया। इसमें सियार की परम्परागत चतुरता एवं नीतिनिपुणता की अपेक्षा, उसके शान्त दान्त स्वभाव का ही परिचय हमें अधिक मिलता है। असत्य, हिंसा, स्तेय तथा छल कपट से दूर रहने वाला सियार अन्त में तपस्वी की तरह अपना देहत्याग करता है। यद्यपि वह नीतिशास्त्र का ज्ञाता है, फिर भी कपटी के साथ कपट करने की बुद्धि उसे नही होती। शठं प्रति शाठयम् यह नीतिवाक्य उसे सम्मत नहीं है। इस अर्थ में, वह बौद्ध विचारों से प्रभावित है। पूर्वजन्म के कर्म के कारण दूसरे जन्म में उसे सियार का जन्म प्राप्त हुआ। इस घटना के पीछे जातक का प्रभाव परिलक्षित होता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार कर्म सिद्धान्त और पुनर्जन्म होने पर उसका संस्कार आदि तत्व इस श्रृगालकथा में भी दिखाई देता है। क्षुद्र प्राणी होते हुए भी उसका चरित्र उदात्त दिखाने का जो भरसक प्रयास किया गया है। वह भी संभवतः जातकीय नीतिकथा के प्रभाव से। क्योंकि बन्दर आदि क्षुद्र प्राणियों में जन्म लेकर भी बोधिसत्व परोपकार दया, क्षान्ति, अहिंसा आदि गुणों के आदर्श का परिपालन करते हुए दिखाई देते हैं। यहां भी सियार होते हुए भी वह फल–मूल भक्षी है अमात्य है किन्तु धूर्त नहीं है, अतः बौद्ध नीतिकथा से यह सियार की कथा बहुत काफी समानता रखती है। किन्तु यह प्रभाव अनजाने ही इस कथा पर पड़ा होगा। ब्राह्मणों ने उस नीतिकथा को अपनाया होगा जो पहले ही बौद्ध प्रभाव से जनता का लोकप्रिय हो चुकी हो।

महाभारत में अन्यत्र सियार धूर्त एवं कपटी बनकर विचरण कर रहे है। किन्तु इसी कथा में वह उदात्त चरित्र का तपस्वी है। इससे स्पष्ट है कि लोककथा से मूल रूप में यह कथा महाभारत में नहीं आ सकी। संभव है, नीतिशास्त्र के प्रतिपादन के लिये किसी आचार्य ने ही इस प्रकार की कहानी गढ़ ली जो महाभारत में प्रवेश कर गयी है।

6.4.5 याज्ञवल्क्य मैत्रयी संवाद

याज्ञवल्क्यमैत्रयी संवाद बृहदारण्यकोपनिषद् के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में वर्णित है। यह संवाद एक पति द्वारा अपने पत्नी को धन सम्पत्ति देने के अपील के समय हुई वार्तालाप पर आधारित है।

याज्ञवल्क्य : 'अरी मैत्रेयी'! मैं इस स्थान गार्हस्थ्य आश्रम से ऊपर जाने वाला हूँ। अतः तेरी अनुमति लेता हूँ और चाहता हूँ इस कात्यायनी के साथ तेरा बँटवारा कर दूँ।

मैत्रेयी : 'भगवन्! यदि यह धन से सम्पन्न सारी पृथिवी मेरी हो जाय जो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमर हो सकती हूँ?'

याज्ञवल्क्य : नहीं, भोग सामग्रियों से सम्पन्न मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन हो जायेगा। धन से अमृतत्व की तो आशा है नहीं।

मैत्रेयी : जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? श्रीमान् जो कुछ अमृतत्व का साधन जानते हों, वही मुझे बतलावें।

याज्ञवल्क्य : धन्य! अरी मैत्रेयी, तू पहले भी हमारी प्रिया रही है और इस समय भी प्रिय लगने वाली ही बात कह रही है। अच्छा आ, बैठ जा, मैं तेरे प्रति उसकी व्याख्या करूँगा, तू व्याख्यान किये हुए मेरे वाक्यों के अर्थ का चिन्तन करना।

अरी मैत्रेयी! यह निश्चय है कि पति के प्रयोजन के लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये पति प्रिय होता है, स्त्री के प्रयोजन के लिये स्त्री प्रिया नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री प्रिया होती है, पुत्रों के प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय होते हैं, धन के प्रयोजन के लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लये धन प्रिय होता है, ब्राह्मण के प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय होता है, क्षत्रिय के प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय होता है, लोकों के प्रयोजन के लिये लोक प्रयि नहीं होते अपने ही प्रयोजन के लिये लोक प्रिय होते है, देवताओं के प्रयोजन के लिये देवता प्रिय नहीं होते, अपने की प्रयोजन के लिये देवता प्रिय होते है। प्राणियों के प्रयोजन के लिये प्राणी प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये प्राणी प्रिय होते है तथा सबके प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं, अरी मैत्रेयि! यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रेयि! इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से इस सबका ज्ञान हो जाता है।

ब्राह्मणजाति उसे परास्त कर देती है जो ब्राह्मण जाति को आत्मा से भिन्न जानता है। क्षत्रिय जाति उसे परास्त कर देती है जो क्षत्रिय जाति को आत्मा से भिन्न देखता है। लोक उसे परास्त कर देते हैं जो लोकों से आत्मा से भिन्न देखता है। देवगण उसे परास्त कर देते हैं जो देवताओं को आत्मा से भिन्न देखता है। भूतगण उसे परास्त कर देते हैं जो भूतों को आत्मा से भिन्न देखता है। सभी उसे परास्त कर देते हैं जो सबको आत्मा से भिन्न देखता है। यह ब्राह्मण जाति, यह क्षत्रिय जाति, ये लोक, ये देवगण, ये भूतगण और ये सब जो कुछ भी है, यह सब आत्मा ही है।

वह दृष्टान्त ऐसा है कि जिस प्रकार ताडन किये जाते हुए दुन्दुभि के बाह्य शब्दों को कोई ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु दुन्दुभि या दुन्दुभि क आघात को ग्रहण करने से उसका शब्द भी ग्रहण कर लिया जाता है।

वह दूसरा दृष्टान्त ऐसा है— जैसे कोई बजाये जाते हुए शङ्ख के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता, किन्तु शङ्ख के अथवा शङ्स के बजाने को ग्रहण करने से उस शब्द का भी ग्रहण हो जाता है।

वह तीसरा दृष्टान्त ऐसा है— जैसे कोई बजायी जाती हुई वीणा के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता, किन्तु वीणा या वीणा के स्वर का ग्रहण होने पर उस शब्द का भी ग्रहण हो जाता है।

वह चौथा दृष्टान्त ऐसा है— जिस प्रकार ईंधन गीला है, ऐसे आधान किये हुए अग्नि से पृथक् धूआँ निकलता है, हे मैत्रेयि! इसी प्रकार ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण और अर्थवाद हैं, वे इस महद्भूत के ही निःश्वास हैं।

वह दृष्टान्त— जिस प्रकार समस्त जलों का समुद्र एक अयन है, इसी प्रकार समस्त स्पर्शों का त्वचा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त गन्धों का दोनों नासिकाएँ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रसों का जिह्वा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रूपों का चक्षु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त शब्दों का श्रोत्र एक अयन है, इसी प्रकार समस्त संकल्पों का मन एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विद्याओं का हृदय एक अयन है, इसी प्रकार समस्त कर्मों का हस्त एक अयन है, इसी प्रकार समस्त आनन्दों का उपस्थ एक अयन है और इसी प्रकार समस्त विसर्गों का पायु एक अयन है, इसी

प्रकार समस्त मार्गों का चरण एक अयन है और इसी प्रकार समस्त वेदों का वाक् एक अयन है।

6.4.6 नागसेन मीनांडर संवाद

अपने उत्तर में नागसेन ने बुद्ध के दर्शन के अनात्मवाद, कर्म या पुनर्जन्म, नाम–रूप (मन और भौतिक तत्त्व), निर्वाण आदि को ज्यादा विशद करने का प्रयत्न किया।

1) अनात्मवाद– मिनान्दर ने पहले बौद्ध के अनात्मवाद की ही परीक्षा करनी चाही। उसने पूछा –

   क) ''भन्ते (स्वामिन) ! आप किस नाम से जाने जाते हैं ?

   ''नागसेन नाम से (मुझे) पुकारते हैं? किन्तु यह केवल व्यवहार के लिए संज्ञा भर है, क्योंकि यथार्थ में ऐसा कोई एक पुरुष (आत्मा) नहीं है।''

   ''भन्ते! यदि एक पुरुष नहीं है तो कौन आपको वस्त्र भोजन देता है? कौन उसको भोग करता है? कौन शील (सदाचार) की रक्षा करता है? कौन ध्यान ...... का अभ्यास करता है? कौन आर्यमार्ग के फल निर्वाण का साक्षात्कार करता है? यदि ऐसी बात है तो न पाप है और न पुण्य, न पाप और पुण्य का कोई करने वाला है... कराने वाला है। ......न पाप और पुण्य के फल होते हैं?...... यदि आपको कोई मार डाले तो किसी का मारना नहीं हुआ।...... नागसेन क्या है? .... क्या ये केश नागसेन हैं?'' ''नहीं महाराज !'' (फिर)

   ''ये रोयें नागसेन हैं ?''

   ''नहीं महाराज !''

   ''ये नख, दाँत, चमड़ा, मांस, स्नायु, हड्डी, मज्जा, बुक्क, ह्रदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुफ्फुस, आँत पतली आँत, पेट, पाखाना, पित्त, कफ, पीव, लोहू, पसीना, मेद, आँसू, चर्बी, राल, नासामल, कर्णमल, मस्तिष्क नागसेन हैं?''

   ''नहीं महाराज ।'' ''तब क्या आप का रूप (भौतिक तत्त्व) वेदना संज्ञा संस्कार या विज्ञान नागसेन हैं ?''

   ''नहीं महाराज !''

   ''...............तो क्या नागसेन हैं ?'' रूप विज्ञान (= पाँचों स्कंध) सभी एकसाथ नहीं महाराज !''

   ''.........तो क्या–रूप आदि से भिन्न कोई नागसेन है ?''

   ''नहीं महाराज !''

   ''भन्ते ! मैं आपसे पूछते–पूछते थक गया, किन्तु श्नागसेनश क्या है, इसका पता नहीं लग सका। तो क्या नागसेन केवल शब्दमात्र है ? आखिर नागसेन है कौन?''

   '''महाराज !......क्या आप पैदल चलकर यहाँ आये या किसी सवारी पर ?''

   ''भन्ते !... मैं...... रथ पर आया।''

   ''महाराज ! ...तो मुझे बतायें कि आपका 'रथ' कहाँ है ? क्या हरीस (=ईषा) रथ है ?''

   ''नहीं भन्ते !''

''क्या अक्ष रथ है ?''

''नहीं भन्ते !''

''क्या चक्के रथ हैं ?''

''नहीं भन्ते !''

''क्या रथ का पंजर रस्सियाँ लगाम चाबुक ...... रथ है ?''

''नहीं भन्ते !''

''महाराज ! क्या हरीस आदि सभी एकसाथ रथ हैं ?''

''नहीं भन्ते !''

''महाराज ! क्या हरीस आदि के परे कहीं रथ है ?''

''नहीं भन्ते !''

''महाराज !;; मैं आपसे पूछते–पूछते थक गया, किन्तु यह पता नहीं लगा कि रथ कहाँ है ? क्या रथ केवल एक शब्दमात्र है ? आखिर यह रथ है क्या ? आप झूठ बोलते हैं कि रथ नहीं है ! महाराज ! सारे जम्बूद्वीप (भारत) के आप सबसे बड़े राजा हैं भला किससे डरकर आप झूठ बोलते हैं ?''

''भन्ते नागसेन ! मैं झूठ नहीं बोलता। हरीस आदि रथ के अवयवों के आधार पर केवल व्यवहार के लिए श्रथश ऐसा एक नाम बोला जाता है।''

''महाराज ! बहुत ठीक, आपने जान लिया कि रथ क्या है। इसी तरह मेरे केश आदि के आधार पर केवल व्यवहार के लिए 'नागसेन' ऐसा एक नाम बोला जाता है। परन्तु परमार्थ में श्नागसेनश कोई एक पुरुष विद्यमान नहीं है। भिक्षुणी वज्रा ने भगवान् के सामने इसीलिए कहा था–

''जैसे अवयवों के आधर पर 'रथ' संज्ञा होती है, इसी तरह (रूप आदि) स्कंधों के होने से एक सत्त्व (जीव) समझा जाता है।''

ख) ''महाराज 'जान लेना' विज्ञान की पहचान है, 'ठीक से समझ लेना' प्रज्ञा की पहचान है ! और 'जीव' ऐसी कोई चीज नहीं है।''

''भन्ते ! यदि जीव कोई चीज ही नहीं है, तो हम लोगों में वह क्या है जो आँख से रूपों को देखता है, कान से शब्दों को सुनता है, नाक से गंधों को सूँघता है, शरीर से स्पर्श करता है और मन से धर्मों को जानता है !''

''महाराज ! यदि शरीर से भिन्न कोई जीव है जो हम लोगों के भीतर रह आँख से रूप को देखता है, तो आँख निकाल लेने पर बड़े छेद से उसे और भी अच्छी तरह देखना चाहिए। कान काट देने पर बड़े छेद से उसे और भी अच्छी तरह सुनना चाहिए ! नाक काट देने पर उसे और भी अच्छी तरह सूँघना चाहिए। जीभ काट देने पर उसे और भी अच्छी तरह स्वाद लेना चाहिए और शरीर को काट देने पर उसे और भी अच्छी तरह स्पर्श करना चाहिए।''

''नहीं भन्ते ! ऐसी बात नहीं है।''

''महाराज ! तो हम लोगों के भीतर कोई जीव भी नहीं है।''

2) कर्म या पुनर्जन्म– आत्मा के न मानने पर किये गये भले–बुरे कर्मों की जिम्मेदारी तथा उसके अनुसार पः नोक में दुःख–सुख भोगना कैसे होगा, मिनान्दर ने इसी चर्चा चलाते हुए कहा– ''भंते ! कौन जन्म ग्रहण करता है ?''

''महाराज ! नाम (विज्ञान) और रूप.....

''क्या यही नाम–रूप जन्म ग्रहण करता है ?''

''महाराज ! यही नाम और रूप जन्म नहीं ग्रहण करता। मनुष्य इस नाम और रूप से पाप या पुण्य करता है, उस कर्म के करने से दूसरा नाम–रूप जन्म ग्रहण करता है ।''

''भन्ते ! तब तो पहला नाम और रूप अपने कर्मों से मुक्त हो गया ?''

''महाराज ! यदि फिर भी जन्म नहीं ग्रहण करे, तो मुक्त हो गया, किन्तु चूँकि वह फिर भी जन्म ग्रहण करता है, इसलिए (मुक्त) नहीं हुआ।''

''.....उपमा देकर समझायें।''

i) आम की चोरी– कोई आदमी किसी का आम चुरा ले। उसे आम का मालिक पकड़ कर राजा के पास ले जाये– 'राजन ! इसने मेरा आम चुराया है।' इस पर वह (चोर) ऐसा कहे– 'नहीं, मैंने इसके आमों को नहीं चुराया है। इसने (जो आम लगाया था) वह दूसरा था और मैंने जो आम लिये, वे दूसरे हैं।' ....महाराज ! अब बतावें कि उसे सजा मिलनी चाहिए या नहीं ?''

''.......सजा मिलनी चाहिए।''

''सो क्यों ?''

''भन्ते ? वह ऐसा भले ही कहे, किन्तु पहले आम को छोड़ दूसरे ही को चुराने के लिए उसे जरूर सजा मिली चाहिए।''

''महाराज ! इसी तरह मनुष्य इस नाम और रूप से पाप या पुण्य ... ... करता है। उन कर्मों से दूसरा नाम और रूप जन्मता है। इसलिए वह अपने कर्मों से मुक्त नहीं हुआ......''

ii) ''आग का प्रवास– महाराज ! कोई आदमी जाड़े में आग जलाकर तापे और उसे बिना बुझाए छोड़कर चला जाये। वह आग किसी दूसरे आदमी के खेत को जला दे (पकड़ कर राजा के पास ले जाने पर वह आदमी बोले–) ''मैंने इस खेत को नहीं जलाया ।।...... वह दूसरी ही आग थी जिसे मैंने जलाया था और वह दूसरी है जिससे .... खेत जला। मुझे सजा नहीं मिलनी चाहिए।' .....महाराज ! उसे सजा मिलनी चाहिए या नहीं ?''

''............मिलनी चाहिए। खेत को भी जला दिया।'' उसी की जलाई हुई आग ने बढ़ते–बढ़ते खेत को भी जला दिया।

iii) ''दीपक से आग लगना – महाराज ! कोई आदमी दीया लेकर अपने घर के उपरले छत पर जाये और भोजन करे। वह दीया जलता हुआ कुछ तिनकों में लग जाये। वह तिनके घर को (आग) लगा दें और वह घर सारे गाँव को लगा दे। गाँव वाले उस आदमी को पकड़ कर कहें– तुमने गाँव में क्यों आग लगाई ? इस पर वह कहे– श्मैंने गाँव में आग नहीं लगाई। उस दीये

की आग दूसरी ही थी जिसकी रोशनी में मैंने भोजन किया था ष्और वह आग दूसरी ही थी जिसने गाँव जलाया। इस तरह आपस में झगड़ा करते (यदि) वे आपके पास आये, ता आप किघर फैसला देंगे ?''

''भन्ते ! गाँव वालों की ओर..... ।''

''महाराज । इसी तरह यद्यपि मृत्यु के साथ एक नाम और रूप का लय होता है और जन्म के साथ दूसरा नाम और रूप उठ खड़ा होता है, किन्तु यह भी उसी से होता है। इसलिए वह अपने कर्मों से मुक्त नहीं हुआ।''

ग) ''विवाहित कन्या–महाराज ! कोई आदमी ....रुपया दे एक छोटी–सी लड़की से विवाह कर कहीं दूर चला जाये। कुछ दिनों के बाद वह बढकर जवान हो जाये। तब कोई दूसरा आदमी रुपया देकर उससे विवाह कर ले। इसके बाद पहला आदमी आकर कहे– श्तुमने मेरी स्त्री को क्यों निकाल लिया ?'' इस पर वह ऐसा जवाब दे– मैंने तुम्हारी स्त्री को नहीं निकाला। वह छोटी लड़की दूसरी ही थी जिसके साथ तुमने विवाह किया था और जिसके लिए रुपये दिये थे। यह सयानी, जवान औरत दूसरी ही है जिसके साथ कि मैंने विवाह किया है और जिसके लिए रुपये दिये हैं। अब, यदि दोनों इस तरह झगड़ते हुए आपके पास आयें तो आप किधर फैसला देंगेश ?''

''.........पहल आदमी की ओर। (क्योंकि) वही लड़की तो बढ़कर सयानी हुई।

घ) 10. ''भन्ते ! जो उत्पन्न है, वह वही व्यक्ति है या दूसरा ?''

''न वही और न दूसरा ही। (1) जब आप बहुत बच्चे थे और खाट पर चित्त ही लेट सकते थे, क्या आप अब इतने बड़े होकर भी वही हैं ?''

''नहीं भन्ते ! अब मैं दूसरा हो गया हूँ।''

''महाराज ! यदि आप वही बच्चा नहीं हैं, तो अब आपकी कोई माँ भी नहीं है, कोई पिता भी नहीं है, कोई गुरु भी नहीं।... क्योंकि तब तो गर्भ की भिन्न–भिन्न अवस्थाओं की भी भिन्न–भिन्न माताएँ होंगी। बड़े होने पर माता भी भिन्न हो जायेगी। शिल्प सीखने वाला (विद्यार्थी) दूसरा और सीख कर तैयार (हो जाने पर) दूसरा होगा। अपराध करने वाला दूसरा होगा और (उसके लिए) हाथ–पैर किसी दूसरे का काटा जायेगा ।''

''भन्ते !......आप इससे क्या दिखाना चाहते हैं ?''

''महाराज ! मैं बचपन में दूसरा था और इस समय बड़ा होकर दूसरा हो गया हूँय किन्तु वह सभी भिन्न–भिन्न अवस्थाएँ इस शरीर पर ही घटने से एक ही में ले ली जाती हैं।.......

''(2) यदि कोई आदमी दीया जलाये, तो वह रात भर जलता रहेगा न?''

''.....रात भर जलता रहेगा।''

''महाराज ! रात के पहले पहर में जो दीये की टेम थी, क्या वही दूसरे या तीसरे पहर में भी बनी रहती है ?''

''नहीं, भन्ते !''

''महाराज ! तो क्या वह दीया पहले पहर में दूसरा, दूसरे और तीसरे पहर में

और हो जाता है ?''

''नहीं भन्ते ! वह दीया सारी रात जलता रहता है ।''

''महाराज ! ठीक इसी तरह किसी वस्तु के अस्तित्व के सिलसिले में एक अवस्था उत्पन्न होती है, एक लय होती है–और इस तरह प्रवाह जारी रहता है। एक प्रवाह की दो अवस्थाओं में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होताय क्योंकि एक के लय होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण न (वह) वही जीव है और न दूसरा ही हो जाता है।

एक जन्म के अन्तिम विज्ञान (चेतना) के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ होता है।

ङ) ''भन्ते ! जब एक नाम–रूप से अच्छे या बुरे कर्म किये जाते हैं, तो वे कर्म कहाँ ठहरते हैं ?''

''महाराज ! कभी भी पीछा नहीं छोड़ने वाली छाया की भाँति वे कर्म उसका पीछा करते हैं।''

''भन्ते ! क्या वे कर्म दिखाये जा सकते हैं, (कि) वह यहाँ ठहरे हैं ?''

''महाराज ! वे इस तरह नहीं दिखाये जा सकते।....क्या कोई वृक्ष के उन फलों के दिखा सकता है जो अभी लगे ही नहीं ......?''

3) नाम और रूप–बुद्ध ने विश्व के मूल तत्त्वों को विज्ञान (नाम) और भौतिक–तत्त्व (=रूप) में बाँटा है, इनके बारे में मिनान्दर ने पूछा– ''भन्ते !..... नाम क्या चीज है और रूप क्या चीज ?''

''महाराज ! जितनी स्थूल चीजें हैं, सभी रूप हैंय और जितने सूक्ष्म मानसिक धर्म हैं, सभी नाम हैं।.....दोनों एक–दूसरे के आश्रित हैं, एक–दूसरे के बिना ठहर नहीं सकते। दोनों (सदा) साथ ही होते हैं। ...यदि मुर्गी के पेट में (बीज रूप में) बच्चा नहीं हो तो अंडा भी नहीं हो सकता, क्योंकि बच्चा और अंडा दोनों एक–दूसरे पर आश्रित हैं। दोनो एक ही साथ होते हैं। यह (सदा से) होता चला आया है।.....

4) निर्वाण–मिनान्दर के निर्वाण के बारे में पूछते हुए कहा –

''भन्ते ! क्या निरोध हो जाना ही निर्वाण है ?''

''हाँ, महाराज ! निरोध (= बन्द) हो जाना ही निर्वाण है।.......सभी....... अज्ञानी विषयों के उपभोग में लगे रहते हैं, उसी में आनन्द लेते हैं, उसी में डूबे रहते हैं। वे उसी की धारा में पड़े रहते हैंय बार–बार जन्म लेते, बूढ़े होते, मरते, शोक करते, रोते–पीटते, दुःख, बेचौनी और परेशानी से नहीं छूटते । (वह) दुःख ही दुःख में रहते है। महाराज ! किन्तु, ज्ञानी.....विषयों के भोग (= उपादान) में नहीं लगे रहते। इससे उनकी तृष्णा का निरोध हो जाता है। उपादान के निरोध से जव (=आवागमन) का निरोध हो जाता है। भव के निरोध से जन्मना बन्द हो जाता है।......फिर) बूढ़ा होना, मरना सभी दुःख बन्द = (निरुद्ध) हो जाते हैं। महाराज ! इस तरह निरोध हो जाना ही निर्वाण है।''

''.....(बुद्ध) कहाँ हैं ?''

''महाराज ! भगवान् परम निर्वाण को प्राप्त हो गये हैं जिसके बाद उनके व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए कुछ भी रह नहीं जाता .....''

"भन्ते ! उपमा देकर समझायें।"

"महाराज ! क्या होकर–बुझ गई जलती आग की लपट दिखाई जा सकती है.....?"

"नहीं भन्ते ! वह लपट तो बुझ गई।"

नागसेन ने अपने प्रश्नोत्तरों से बुद्ध के दर्शन में कोई नई बात नहीं जोड़ी, किन्तु उन्होंने उसे कितना साफ किया, यह ऊपर से उद्धरणों से स्पष्ट है। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि नागसेन का अपना जन्म हिन्दी–यूनानी साम्राज्य और सभ्यता के केन्द्र स्यालकोट (=सागल) के पास हुआ था और भारतीय ज्ञान के साथ–साथ यूनानी ज्ञान का भी परिचय रखने के कारण ही वह मिनान्दर जैसे तार्किक का समाधान कर सके थे। मिनान्दर और नागसेन का यह संवाद इतिहास की उस विस्तृत घटना का एक नमूना है जिसमें कि हिन्दी और यूनानी प्रतिमाएँ मिल कर भारत में नई विचार–धाराओं का आरम्भ कर रही थीं।

6.4.7 आदिगुरू शंकराचार्य तथा उभयभारती संवाद

एक पण्डित का पण्डित से शास्त्रार्थ तो साधारण सी बात लगती है, परन्तु एक महिला का एक अल्पवयस् सन्यासी से किया गया शास्त्रार्थ, वह भी अत्यन्त विशिष्ट विषय को लेकर, किसी भी चिन्तनशील व्यक्ति को बहुत से सोचने के लिये बाध्य करता है। भारत की स्त्री पुरूष की सहधर्मचारिणी है, यज्ञ में वामाङ्ग में बैठकर धर्म कार्य सम्पादन का अधिकार प्राप्त होने के कारण वह पत्नी कहलाती है। मण्डन मिश्र की अर्धाङ्गिनी उभयभारती भारतीय संस्कृति की प्रतिनिधित्वकर्त्री है। वह कोई साधारण स्त्री नहीं थी, सभी शास्त्रों में उनका अप्रतिम अधिकार था। वे शास्त्रमर्मज्ञा थी और शास्त्रार्थमर्यादा से सुपरिचित थीं। इसीलिए जैमिनि और व्यासदेव ने श्रेष्ठ मीमांसक मण्डन मिश्र के साथ आयोजित शास्त्रार्थ सभा में उनको निर्णायिका बनाने का प्रस्ताव रखा। उभयभारती ने जय और पराजय के निर्णय का आधार पुष्पमाला को बनाया और स्वयं स्त्री धर्म का निर्वाह करने हेतु पाकशाला का निरीक्षण करने लगीं। वाद गोष्ठी की समाप्ति के उपरान्त वे अपने पति याज्ञिकप्रवर के लिये चरू पायस तथा यतिप्रवर शंकराचार्य के लिये भिक्षा लेकर उपस्थित होती थी।

विमर्श

आचार्य शंकर को उभयभारती की यह चुनौती पति पर विजय प्राप्ति के लिये नहीं, दम्पती पर विजय के लिये है, जो एक ओर भारत के सामाजिक फलक में परिवार को प्रतिष्ठित कर रहा है दूसरी ओर अद्वैत की अन्तर्दृष्टि को जीवनमूल्यों में पिरो रहा है। वैदिक मनीषा ने गृहस्थाश्रम के दो महान् स्तम्भों की ओर समाज का ध्यान खींचा है। उनके अनोखे तादत्म्य पर चिन्तन–अनुचिन्तन सतत प्रवाहित है। यद्यपि वे मूलतः अभिन्न है तथापि भिन्न बनकर एक दूसरे के पूरक है। इसलिये वेदों ने पति–पत्नी की उपमा द्यावा पृथ्वी के रूप में की है।

उभयभारती हार मानने वाली नहीं थीं। उन्होंने ज्ञानसमुद्र शंकर को चुप कराने का नया उपाय ढूंढ निकाला। उन्होंने विचार किया– चूंकि इन्होंने बाल्यकाल में आठ वर्ष की अवस्था में ही संन्यास ले लिया है, इसलिए निश्चय ही ये कामदेव की ललित लीलाओं से अपरिचित है। अतएव इस अजेय संन्यासी को जीतने के लिये कामशास्त्रविषयक प्रश्न पूछना होगा। इस गम्भीर विचारणा के फलस्वरूप उभयभारती ने इस प्रकार प्रश्न किया– संसार के सभी प्राणियों में जो काम–कला का स्पन्दन

होता है, उनकी संख्या कितनी बतलाई गई है? उसका स्वरूप क्या है? नारी के किन–किन अंगों में शुक्ल पक्ष में काम का वास होता है और किन–किन अंगों में कृष्णपक्ष में काम का वास होता है? पुरूष के किस अंग में मनोज से उत्पन्न उल्लास अभिव्यक्त होता है?

शास्त्रार्थ की मर्यादा का पालन करने के लिये यदि मैं शास्त्रीय अध्ययन को ही आधार बनाऊँ तो वह ज्ञान सूचना–मात्र–पर्यावसायी होगा। लोक में रचे–बसे काम का तब तक प्रत्यक्ष नही होगा जब तक अभानापादक अज्ञान बना रहेगा, तब तक इन प्रश्नों का ठीक–ठीक उत्तर नहीं हो पायेगा। अतएव शास्त्रार्थ में विजयी होने के लिये तटस्थावेन अनङ्गतत्त्व का साक्षात्कार करना आवश्यक है। शरीरान्तर द्वारा किये गये संभोग से जो काम का अनुभव होगा, उससे मेरा ब्रह्मचर्य खण्डित नही होगा।

आचार्य शंकर ने उभयभारती से कहा– हे विदुषी! तुमने सृष्टि के अनुकूल जो कुछ पूछा, उसे मैं राजा के शरीर के माध्यम से साक्षात् अनुभव करके पुनः इस वाद सभा में पहुंचा हूँ। संसार में व्याप्त प्राणियों को अतिशय आनन्द प्रदान करने वाला काम निश्चय ही दुर्जय है, उसको जीतना कठिन है– यह तत्त्वज्ञ विद्वानों ने भी समझा है।

यह आत्मा जैसी कामना से युक्त होता है उसी प्रकार का निश्चय करता है। जैसा निश्चय करता है वैसा कर्म करता है, जैसा कर्म करता है उसी का फल प्राप्त करता है। काम में ब्रह्म का आनन्दांश प्रतिबिम्बित है। भगवती श्रुति कह रही है वह वीर्य जिस स्त्री में जाता है उसके साथ आत्मभूत अर्थात् अभिन्न हो जाता है।

अविद्या से प्रेरित संसारी जीव का पिता से वीर्यरूप से पहला जन्म, उसी का कुमार रूप से माता से दूसरा जन्म तथा पिता के समान पुत्र का अपने अपने पुत्र का भार छोड़ कर पिता रूप दूसरा आत्मा कर्तव्य सम्पादन करके मृत्यु को प्राप्त होता है, पुनः अन्य देह को प्राप्त कर उत्पन्न होता है, यह तीसरा जन्म है।

पुरूषों के शरीर में सञ्चित अन्नजनित रस सर्वाङ्ग में संचार करता हुआ, क्रमशः रक्त, मांस, मज्जा, वीर्य और अन्त में ओजः स्वरूप होकर आभामण्डल के रूप में प्रकाशित होता है। काम से प्रेरित होकर विधिपूर्वक हवि के समान पुरूषों के द्वारा उस सौम्य का आग्नेय (स्त्री योनि) में प्राणियों के संसरण के लिये यत्नपूर्वक आधार किया जाता है।

कामशास्त्र का अध्ययन कर लोक चतुर पुरूष उत्तम गृहस्थभाव को प्राप्त करते है। वे आजीवन वैषयिक सुख के पीछे उसी प्रकार भागते रहते है जिस प्रकार मरूभूमि में मृग अपनी प्यास बुझाने का व्यर्थ प्रयत्न करता है। कामदेव के समस्त लीला व्यापा संकल्प की पृष्ठभूमि में थिरकते है जिसे प्राज्ञजनों ने अविद्या का विलास और जगत्प्रपंच के जनक के रूप में पहचाना है।

अविद्या–भ्रम के कारण सत्य और अनृत में मिथुनीभाव होता है। 'अतस्मिन् तदबुद्धिः' अध्यास है, वस्तुतः जो नहीं है, उसका वहां दिखाई देना– यही भ्रम का स्वरूप है। इससे प्रेरित होकर सत्य और अनृत का मिथुनीभाव चर और अचर की सृष्टि कर रहा है। उके राग में रंगकर अनेक कठिनाइयां झेलकर रातदिन परिश्रम करता है। उनमसे बढ़कर उसके लिए और कोई नहीं होता।

यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक प्रकृष्ट ज्ञान रूपी सूर्य का उदय नहीं होता। अविद्या के अंधकार से घिरा हुआ जीव पुत्र और पत्नी का स्मरण करते हुए व्याकुल रहता है। यह तादात्म्याध्यास इतना दृढ़ है कि एक के नष्ट होने पर वह

अपने को ही नष्ट समझता है और एक की उपलब्धि होने पर अपने को ही कृतार्थ समझता है। मोक्ष के इच्छुक जीवों के लिये ज्ञानरूप चतुर्थपुरुषार्थ मोक्ष ही प्राप्तव्य है। यह कामकला बन्धन में डालती है जबकि अद्वैत के इच्छुक साधक मुक्ति चाहते है, उनके लिये यह त्याज्य है।

अपने प्रश्नों का समुचित समाधान पाकर उभयभारती अभिभूत हो गई। उन्होंने शंकराचार्य को प्रमाण करते हुए कहा– हम दोनों पति–पत्नी आप के द्वार जीत लिये गये हैं। सर्वज्ञ, प्रतिभा के विलास से सुशोभित, सत्–चित् स्वरूप ज्ञान समुद्र शंकरावतार शंकराचार्य को जीते में कौन समर्थ है?

अन्त में यह कहा जा सकता है कि आदिशंकर का मण्डनमिश्र से जो शास्त्रार्थ हुआ वह धर्मपरक किंवा धर्मार्थपरक था, क्योंकि यागादिरूपधर्म के निष्पादन में जिस सामग्री की अपेक्षा है, उनमें अर्थ नाम पुरुषाथ गतार्थ है। उभयभारती के साथ आचार्य का कामपरक शास्त्रार्थ हुआ। लौकिक काम तो अर्थ रूपी पुरूषार्थ में गतार्थ है। उभयभारती का शास्त्रार्थ सृष्टि के ललित विलास का प्रतिपादन करते हुए तन्त्रशास्त्र की मूल अवधारणा के साथ प्रवर्तमान है। अतः इस शास्त्रार्थ को तृतीय पुरूषार्थ की कोटि में रखना उचित है। इस शास्त्रार्थ का निहितार्थ आगमनिगम उभयविध धाराओं की सहज समन्वयात्मक संगति में है।

6.5 सारांश

अभी तक आपने कुछ चुने हुए संवादों को पढ़ा। संवाद की परम्परा प्राचीन है और हमारे ऋषियों, तत्वेत्ताओं ने विषयों की स्पष्टता हेतु संवाद का ही आश्रय लिया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद, सात संवाद का ही आश्रय लिया है। ऋग्वेद, शांखायन, तैत्तिरीय, शतपथ, षड्विंश, जैमिनीयोपनिषद् एवं गोपथ ब्राह्मण में जो संवाद उपलब्ध हुए है।

संवाद का उद्देश्य अद्वैत एवं शान्ति स्थापित करना है। इसमें सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और आत्मिक उन्नति का विकास है। यह उन्नति तभी सम्भव है जब पात्र संवाद के नियमों एवं सीमाओं का पालन करें। संवाद के लिए अनिवार्य सीमाएँ हैं– उदारता, जिज्ञासा, विश्वास, सम्मान सहनशीलता, पक्षपात हीनता, पहचान तथा अस्तित्व, सहयोग, मैत्रीभाव, शिष्टता सम्बन्ध, संवादात्मक उत्तरादायित्व, भाषा साम्य, विषय का ज्ञान एवं अकृत्रिमता है।

परन्तु यह आवश्यक नहीं कि एक ही संवाद में ये सभी तत्त्व पूर्णतः घटित हों। जहाँ पर विषय एक है और उसका निष्कर्ष है, पात्रों में मतैक्य है, संवाद वैमत्य से प्रारम्भ हो करके मतैक्य पर्यन्त पहुँचता है, पात्र जिस उद्देश्य को लेकर के संवाद करना चाहते हैं वह उद्देश्य पूर्ण हो रहा है और साथ ही संवादात्मक तत्त्वों का निर्वाह भी हो रहा है। ऐसे संवाद संवाद की सीमा में आते हैं।

आप कुछ महत्त्वपूर्ण संवादों को पढ़ चुके हैं। यहां उनके विषय में संक्षेप में अध्ययन करेंगे। संवाद दो व्यक्तियों, पात्रों, पक्षों, के मध्य किसी जिज्ञासा को लेकर एक बौद्धिक क्रियाकलाप है। संवाद सहानुभूतिपूर्ण परिवेश में दो पक्षकारों के मध्य ज्ञान–विनिमय का एक प्रक्रम है। भारतीय साहित्य तथा संस्थाओं के इतिहास संवादों से भरे पड़े हैं। ऋग्वेद से ही संवादों का प्राप्त होना प्रारम्भ होता है तथा उपनिषद्, महाकाव्य, पुराण एवं अन्य साहित्य में हमें प्राप्त होते हैं। संवाद के प्रमुख रूप से तीन विषय होते हैं। साधारण जिज्ञासा, विशेष जिज्ञासा तथा पूर्वाग्रहपूर्वक जिज्ञासा। उपलब्ध

संवादों का अध्ययन करने पर हमें प्रमुख रूप से देवताओं के मध्य पारस्परिक संवाद देवता तथा स्त्रोतागणों के मध्य संवाद देवों और मनुष्यों के मध्य संवाद, देवता–मनुष्यों तथा पशुओं के मध्य संवाद आचार्य तथा शिष्यों के मध्य संवाद आदि प्राप्त होते है। इन सभी संवादों में हमें किसी विशेष विषय पर विचार विमर्श प्राप्त होता है। यह विमर्श, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक अथवा आर्थिक किसी भी विषय पर होता है। कुछ संवाद प्रत्यक्ष रूप से परोक्ष है तथ्ज्ञा आहिक अभिनय द्वारा संवाद प्राप्त है। संवाद में जिज्ञासा, संवाद के प्रति उत्तरदायित्व, भाषाज्ञान, सहानुभूति प्रमुख तत्त्व है। सरमा–पाणि संवाद से हमें अज्ञात वस्तु के खोज की विधि का ज्ञान प्राप्त होता है। साथ ही यह भी ज्ञात होता है क दूत के क्या गुण होने चाहिए। यम–यमी संवाद एक पक्ष के कामातुर होने पर दूसरे पक्ष द्वारा मर्यादा पालन पर आधारित है। यह संवाद किसी भी स्थिति में अमर्यादित व्यवहार की अनुमति नहीं देता। यम–नचिकेता संवाद एक साथ ही सामाजिक उत्तरदायित्व तथा आध्यात्मिक उपलब्धि की प्राप्ति के प्रति दृढ़ता का सन्देश देता है। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद एक दम्पत्ति के मध्य संवाद है जिससे हमें यह ज्ञात होता है कि पति–पत्नी का सम्बन्ध लौकिक होते हुए भी परलौलिक उपलब्धि को प्राप्त करने के लिये ही विकसित होता है।

6.6 पारिभाषिक शब्दावली

सदर्भ : वैदिक साहित्य मे संवाद:सैद्धांतिक एव प्रायोगिक विश्लेषण, डा उषा किरण नाग पब्लिशर्स 2005

वैदिक आख्यान: डा गंगासागर राय, चौतरफा,वाराणासी2017

6.6 सन्दर्भग्रन्थ

1. कठोपनिषद्, प्रथम अध्याय, डॉ. राजदेव मिश्र तथा डॉ. शिवबालक द्विवेदी, घनश्याम दास एण्ड सन्स, चौक, फैजाबाद
2. बृहदारण्यकोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर
3. संस्कृत साहित्य में नीतिकथा का उद्‌गम एवं विकास, डॉ. प्रभाकर नारायण कवठेकर, चौखम्बा प्रकाशन, दिल्ली
4. वैदिक साहित्य में संवाद : सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक विश्लेषण, डॉ. उषा किरण, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली

6.7 बोध प्रश्न

1. ऋग्वेद में वर्णित शर्मापाणी को अपने शब्दों में लिखिए।
2. यम–नचिकेता संवाद में निहित सांस्कृतिक तत्त्व पर प्रकाश डालिए।
3. नागसेन मीनांडर संवाद दो संस्कृतियों के मध्य प्रथम संवाद है, इस कथन पर प्रकाश डालिए।
4. याज्ञवल्क्य मैत्रयी संवाद को स्त्री गरिमा और स्त्री स्वातन्त्रय को सशक्त उदाहरण के रूप में विवेचित कीजिए।

खण्ड 6
आख्यान परम्परा

षष्ठ खण्ड का परिचय

आख्यान-परम्परा नामक षष्ठ खण्ड में आपका स्वागत है। भारत में ज्ञान की व्याख्या, रक्षा, सरलीकरण, लोक में प्रचार तथा ज्ञानपरम्परा को सातत बनाए रखने में आख्यान एवम् आख्यानों की परम्परा का विशिष्ट योगदान रहा है। इस खण्ड में चार इकाइयों में भारत की आख्यान-परम्परा को वर्णित किया गया है। प्रथम इकाई में आख्यान के अर्थ को स्पष्ट करते हुए आख्यान के स्वरूप का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। भारत में आख्यान की परम्परा वैदों से ही प्रारम्भ हो जाती है तथा वही परम्परा निरन्तरता के साथ और विस्तृत रूप में पुराणों में प्राप्त है। यही विषय दूसरी इकाई में वर्णित है। आख्यान की परम्परा लोक में भी प्रचलित रही है और यह लोक की परम्परा सतत रूप में भारत की प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध रहते हुए साथ-साथ प्रवाहित हुई है। तीसरी इकाई में इसी का वर्णन प्रस्तुत है। इस खाण्ड की अन्तिम इकाई में कुछ आख्यानों का चयन कर उनके प्रतिपाद्य का उल्लेख किया गया है। इस खण्ड का अद्ययन कर लेने के बाद आप भारत की आख्यान-परम्परा को एक समग्र दृष्टि के साथ व्याख्यायित कर सकेंगे।

इकाई 1 आख्यान का अर्थ एवं स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- आख्यान के अर्थ एवं आवधारणा को समझ सकेंगे।
- भारतीय ज्ञानपरम्परा के प्रमुख अंग के रूप में आख्यान के महत्त्व को समझ सकेंगे।
- आख्यान और माईथोलॉजी दोनों एक ही प्रकार की अवधारणा नही है, इस तथ्य को समझ सकेंगे।
- आख्यान के स्वरूप एवं अवधारणा से जुड़े हुए प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

आप यह पढ़ चुके है कि ज्ञान सम्प्रेषण के कई साधन प्रचलित है। वाद परम्परा में दो पक्षों के संवाद के माध्यम से नये ज्ञान की उद्भावना होती है। जब एक परिपक्व ज्ञाता किसी व्यापक एवं गूढ़ ज्ञान को सामान्य ज्ञानी या अपेक्षाकृत अल्पज्ञानी में ज्ञान को संक्रमित करना चाहता है। तो उसे कई परोक्ष विधियों का प्रयोग करना पड़ता है। ज्ञान सम्प्रेषण को परोक्ष विधियों में एक बहुप्रचलित एवं प्राचीन प्रणाली है आख्यान परम्परा। विश्व के सभी संस्कृतियों में किसी न किसी प्रकार आख्यान परम्परा प्राप्त होती है। पश्चिम में आख्यान परम्परा की कोटि में माइथॉलाजी को स्वीकार किया गया है किन्तु माइथॉलाजी में आख्यान की तुलना में कल्पना के तत्व अत्यधिक मात्रा में सम्मिलित रहता है अतः वहां माइथॉलाजी को काल्पनिक कथाओं के रूप में माना जाने लगा है। किन्तु आख्यान परम्परा की स्थिति ऐसी नहीं है। 'आख्यान' में 'ज्ञानात्मक तत्त्व' प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। आख्यानों के बीजतत्व संहिताओं में मिलने लगते हैं जो वेद के अन्य प्रारूपों में उपलब्ध होते हुए पुराणों तथा महाकाव्यों में प्रचुर मात्रा में मिलने लगते है। आख्यान का अध्ययन करने को प्रारम्भ मे ंही आख्यान का अर्थ एवं अवधारणा को जानना आवश्यक है। अतः इस इकाई में आप आख्यान का अर्थ, अवधारणा एवं वैशिष्टय का अध्ययन करने जा रहे है।

1.2 आख्यान का अर्थ

'आख्यान' शब्द आड्ंपूर्वक 'ख्या' धातु से ल्युट् प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न होता है। कुछ आचार्यों ने इसका अर्थ – वर्णन, वृतान्त, विवरण तथा कथा माना है (शब्द परिवष्ट कोष पृ. 28)। संस्कृत-हिन्दी कोश (पृ. 139) एवं शब्दकल्पद्रुम (प्रथम भाग) में 'आख्यान' का अर्थ – बोलना, किसी पुरानी कहानी की ओर संकेत करना, कथा, कहानी (विशेषरूप से पौराणिक या काल्पनिक) आदि किया गया है। साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने "आख्यानं पूर्ववृत्तोक्ति:" कहकर इसका अर्थ 'पूर्ववृत्त कथन' माना है। **"आख्यायते इति आख्यानम्'** इस निरूकित के अनुसार भी जो कुछ कहा जाये उसे आख्यान कहा जा सकता है, किन्तु यह शब्द प्राय: इतिहासादिके लिए प्रयुक्त होता है। वाचस्पत्यम् (भाग-2, पृ. 1347) में भी इस शब्दका अर्थ 'पूर्ववृत्त–कथन' बताया गया है। कथा के विभिन्न रूपों को स्वयंमें समाहित कर अपेक्षित अर्थवत्ता को प्रतिपादित करने वाले शब्दों में 'आख्यान' के अतिरिक्त' उपाख्यान' शब्द भी प्रयुक्त होता है। यह शब्द उप तथा आड्.पूर्वक 'ख्या' धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से बनता है। यद्यपि 'आख्यान' तथा 'उपख्यान' दोनों समानार्थक हैं तथापि अनके पुराणों में ये शब्द पृथक्-पृथक् अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, तद्यथा-

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभि: कल्पशुद्धिभि:।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थ निशारदा:।।

उपर्युक्त श्लोक की टीका करते हुए श्रीधर स्वामी ने एक श्लोक उद्धृत किया है, जो दोनों शब्दों के पार्थक्य की ओर संकेत करता है, यथा –

स्वयं दृष्टार्थकथनं प्राहुराख्यानं बुधा:।
श्रुतस्यार्थस्य कथनभुपाख्यानं प्रचक्षते।।

इस श्लोक के अनुसार स्वयं दृष्ट अर्थ का कथन आख्यान है और श्रुत अर्थ का कथन उपाख्यान माना गया है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने तो कौटिल्य का मत उद्धृत करते हुए अपने ग्रन्थ वैदिक साहित्य एवं संस्कृति में ऐसा उल्लेख किया है कि कौटिल्य ने इतिहास के अन्तर्गत पुराण (प्राचीन आख्यान), इतिवृत (इतिहास) तथा आख्यायिका (कहानियाँ) तीनों की गणना की है। इस प्रकार इस शब्द के विषय में उपलब्ध विभिन्न आचार्यो के मत से ऐसा प्रतीत होता है कि शाब्दिक दृष्टि से इसका तात्पर्य – कथन, पूर्ववृक्त्रोक्ति, वृतान्त आदि है, परन्तु सम्प्रति यह शब्द पूर्ववृतान्त अथवा पोराणिक या काल्पनिक कहानियों के लिए रूढ हो चुका है; अत: पूर्ववृतान्तों को ही आख्यान मानना चाहिए।

हिन्दी साहित्य में सम्प्रति 'अख्यान' शब्द के लिए 'मिथ्क' श्ब्द का व्यवहार किया जा रहा है। वस्तुत: वैदिक एवं पौराणिक आख्यानों के लिए 'मिथक' शब्द का प्रयोग हिन्दी साहित्य में अधिक प्रचलित हो चुका है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस शब्द को अंग्रेजी में 'माइथोलॉजी' (Mythology) कहा है। सम्भवत: इसी के ध्वनि साम्य के कारण इस प्रयोग को बल मिला है। 'मिथ' मूलत: ग्रीक भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है – 'वाणी का विषय'। इसका तात्पर्यहै – एक कहानी, एक आख्यान, जो प्राचीन काल में सत्य माने जाते थे और जो कुछ रहस्यमय तथा गोपनीय अर्थ भी देते थे। उन्हीं पौराणिक कथाओं के लिए योरप में 'मिथ' शब्द का प्रयोग हुआ, परन्तु यह वास्तव में धार्मिक शब्द है, जिसका

अर्थ – कोई पुरानी कहानी अथवा लोक विश्वास, धार्मिक विश्वासों एवं प्रकृति के रहस्यों के विश्लेषण से युक्त वृत्त, देवताओं और वीर-पुरूषों की पारम्परिक गाथा, पारम्परिक किंवदन्तियों से भरी कहान आदि माना गया है। अंग्रेजी में 'मिथ' कोरी कल्पना पर आधारित माना जाता है, जबकि मिथक का अभिप्राय अलौकिक्ता का पुट लिए हुए लोकानुभूति बताने वाली कथा से है। इसमें लौकिक तथा अलौकिक दोनों तत्वों का सम्मिश्रण होता है। अलौकिकता का सम्मिश्रण होने के कारण ही आख्यान लैला-मजनूँ, शीरी-फरहाद आदि लोककथाओं से सर्वथा भिन्न होता है।

1.3 आख्यान का स्वरूप

वैदिक साहित्य के परिशीलन से यह संकेत प्राप्त होता है कि प्राचीनकाल से ही मनुष्य अपनी भावनाओं और चेष्टाओं को अतिवृत्तात्मक रूप से अभिव्यक्त करने का अभ्यस्त रहा है। यद्यपि कहानी सुनता-सुनता तत्कालीन युग के सता-पूर्वनोद के साधनों में प्रमुख साधन था, परन्तुवेदों में आकत पद का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है। केवल 'चस्ड्. धातु के 'आख्यात्', 'अख्यत्' तथा 'चख्यथुः' आदि क्रिया रूपां (पदों) का अपने मूलार्थ में प्रयोग दृष्टिगोचर होता है (ऋ. 4.2.18, 7.60.3, 8.25.17, 4.14.1, 7.70.4)। वेदों में अनेक आख्यानों का वर्णन करते हुए भी उन्हें 'आख्यान संज्ञा से कहीं अभिहित नहीं किया गया है। इसी प्रकार 'आख्यायिका' पद का भी प्रयोग नहीं मिलत, परन्तु कथा पद का प्रयोग अवश्य हुआ है, परन्तु 'कहानी' अर्थ में नहीं,प्रत्युत क्यों, कैसे, किस तरह आदि प्रश्नावाचक अर्थो में हुआ है यथा ऋ. 4.2.18, 7.60.3, 8.257 में किस प्रका; ऋ. 1.54.1, 8.8.4 में क्यों तथा ऋ. 1.185.1, 4.5.5; यजु. 2.32, 17.18 में कैसे अर्थ में प्रयुक्त है। आचार्य यास्क ने भी निरूवत में (9.30) कथा शब्द का कैसे अर्थ किया है। ऋग्वेद (1.167.6; 1.75) में 'गाथा' शब्द का प्रयोग निश्चियेन अनेक हुआ है, परन्तु इसका अर्थ भी 'कथा-कहानी' न होकर धात्वर्धक स्तुति प्रसंग है।

सर्वप्रथम ऐतरेय (3.25), शतपथ (13.4.3.2) आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा ऐतरेयारण्यक (2.3.4) और तैरिहीयारण्यक (1.6.3) ने ही वैदिक संवाद सूबतों में उपलब्ध वर्णनों को आख्यान संज्ञा प्रदान की है। उनमें अनेक प्रसंगों में 'आख्यानम्' (ऐत. उा. 2.3.4, शत. ब्रा. (13.4.3.2), 'आख्यान' वेद् (ऐत. ब्रा. 3.251) तथा आख्यायिका (तैत्ति. आ. 1.6.3) शब्दों का प्रयोग हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण के 33वें अध्याय में शुनशोर के वणर्न के प्रसंग में स्पष्टत: 'शौन:शेषम् आख्यानम्' नानय द्वारा इसे 'आख्यान' संज्ञा दी है। इसी प्रकार शांखायेन श्रौतसूत्र (15.29) में भी 'तदेतत् शैन: शैषम् आख्यानम्' कहते हुए इन्हें आख्यान माना गया है। आचार्य मारक ने भी निरूवत में (5.21.9.4) वेद-शाखा की एक शैली के रूप में ऐतिहासिको के मत या आख्यान-विषयक मत का उल्लेख किया है जिनसे इन आख्यानों के स्वरूप का बोध होता है। ऐतरेय ब्राह्मण का 'शुन:शेप' आख्यान होता नामक कृत्विक द्वारा राजसूय यज्ञ के प्रसंग में कहा गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों से यह भी ज्ञात होता है कि अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में अश्व को स्वेच्छता भ्रमणार्थ छोड़ देने पर आख्यानों की जो श्रृंखला चलती है, उसे 'परिप्लव' कहा जाता था (शत्. ब्रा. 13.4.3)। इससे ऐसा पता चलता है कि सर्वप्रथम ब्राह्मण ग्रन्थों में आख्यान की सत्ता का प्रमाण उपलब्ध होता है।

वस्तुत: वेदव्याख्या को प्राथमिक रूप ब्राह्मण ग्र्रनथों में देखा जा सकता है। इन ग्रन्थों में याज्ञिक परिवेश अथवा यज्ञ में विनियुक्त मन्त्रों की व्याख्यान कई शैलियों में किया गया है। यहां '**विधि**' प्रथम शैली है और '**अर्थवाद**' दूसरी शैली है। इन दोनों से ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय

प्रति पादित होते हैं तथा उनके स्वरूप का भी निर्माण होता है। जैसा कि इस विषय में आपस्तम्ब ने स्पष्ट कहा है – "कर्मवोदना ब्राह्मणानि ब्राह्मणशेषोडर्थवाद"। ऋग्वेदभाष्य भूमिकर में आचार्य सायण ने भी सही माना हैं – "द्विविद्या ब्राह्मणं विधिरर्थवदश्चेति"। इन्हीं दोनों शैलियों से ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञपरक मन्त्रों की व्याख्या की गयी है। विधि शैली में याणिक कर्मों में मन्त्रों के विशिष्ट विनियोग की प्रक्रिया के साथ-साथ यज्ञ में किन-किन देवताओं को किस-किस द्रव्य की आहुति दी जायेगी, किसके द्वारा आहुति प्रदान की जाएगी, किस दिशा और किस क्रम से आहुति दी जायेगी आदि अनेक कार्यों का विधान बताया जाता है। यथा ऐतरेय-ब्राह्मण स्पष्टत: यह बताता है कि जो कर्म किया जाता है, उसी कम्र की बोध कराने वालो ऋक्, यजुष् मन्त्र उस कर्म में विनियुक्त होगा। यही कर्म रूप–समृद्धि है और रूप समृद्धि ही यज्ञ की समृद्धि है – "**एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यदरूपसमृद्धं यत्कर्मक्रियमाणम्र गभिर्वदति** (ऐ. ब्रा. 3.5)। इसकी पुष्टि आचार्य यास्क ने भी निरूक्त में यह कहते हुए की है कि – **"पुरूषविद्या अनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे"** (1.2)। रूपसमृद्धि के लिए ब्राह्मणों में यज्ञ में मन्त्रविनियोग के कई आधार बताए गये हैं – यथा-देवता, छन्द, ऋषि, मन्त्रगतपद, संख्या आदि। मन्त्रों के विनियोग में रूपसमृद्धि ब्राह्मण ग्रन्थों की मन्त्रव्याख्या की एक प्रक्रिया है, जो उसकी अर्थवाद शैली का अभिन्न अंग है। अर्थवाद के माध्यम से विधि की प्रशंसा और निषेधपरक कार्यों की निन्दा की जाती है। इन्हीं अर्थवादों आख्यानों का विकास हुआ है। ये अर्थवाद ब्राह्मणग्रन्थों के विषय के रूप में 20 प्रकम् के माने गए हैं, जैसा कि शबरस्वामी ने मीमांसाभाष्य (3.1.8) में इस प्रकम् अभिव्यक्त करते है –

हेतुर्निवचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधि:।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य हि।।

इन्हीं अर्थवादों के माध्यम से वेदों के अध्यात्म तथा अधिदेवपरक व्याख्यान की परम्परा भी ब्राह्मण-ग्रन्थों से विकसित हुई है। अत: ब्राह्मण के अर्थवाद शैली से आख्यान-परम्परा का उद्भव माना जाना चाहिए।

ब्राह्मण-ग्रन्थों की भान्ति आचार्य याहक ने भी उषा, सूर्य, सरमा-पणि, यम-यमी, विश्वमित्र-नदी आदि संवादात्मक अथवा आख्यानात्मक सूक्तों के मन्त्रों को उद्धृत करते हुए उन्हें 'आख्यान' संज्ञा से अभिहित किया है (नि. 5.21, 11.25, 11.34)। कतिपय सूत्र-ग्रन्थों में भी इसी अर्थ में इस शब्द के प्रयोग मिलता है। एतदर्थ (वैश्वा. श्रौत. 36.24, आश्वा. श्रौत., 9.3.13, शांखा. श्रौत. 15.27.1) द्रस्टव्य हैं। आचार्य रौनक ने वर्णन शैली के आधार पर मन्त्रों के अनेक विभाग किये हैं, तद्यथा-सतुति, निन्दा, प्रशंसा, उपदेश, विलाप आदि। उनमें 'पुरूखा-उर्वशी मूक्त (आ. 10.95) को उन्होंने आख्यान की संज्ञा दी है (द्रस्टव्य-बृहदेवता, 1.53: आख्यानं तु ....) बृहदेवता (1.36) में ही उन्होंने इसे एक पवित्र आख्यान बताया है। इसी ग्रन्थ में अन्यत्र उन्होंने परस्पर आहवानात्मक होने के कारण इसे 'आख्यानद्ध माना है, जबकि आचार्य यास्क इसे संवाद और शौनक इतिहास की संज्ञा देते हैं, यथा –

आहवानं प्रति चाख्यानम् इतरेत रयोरिदम्।
संवादं मन्यते यास्क इतिहासं तु शौनक:।। (7.153)

ऋग्वेद के कुछ संवाद सूत्रों में कतिपय पश्चात्य विद्वान प्राचीन कथाओं के अवशेष होने की

आशंका करते हैं, परन्तु बलदेव उपाध्याय के मत में इन सूक्तों के स्वरूप के विषय में विदवानों में गहरा मतभेद है। डॉ ओल्डेन वर्ग की दृष्टि में ये सूत्र प्राचीन आख्यानों के अवशिष्ट रूप हैं। इनका मत हैं कि ऋग्वेदकालीन 'आख्यान' गधपधात्मक थे। पधा अधिक रोचक होने के कारण अवशिष्ट रह गया, जब तक गद्य भाग केवल कथात्मक होने से धीरे-धीरे लुप्त हो गया। उनकी इस मान्यता का आधार संस्कृत-साहित्य के पिछले युग में वर्तमान चम्पूशैली का साहित्य है। उन्हीं के आधार पर इन्होंने संवाद सूत्रों को 'आख्यान' के नाम से अभिहित किया है। इनके अतिरिक्त डॉ. सिल्वॉ लेवी, डॉ. श्रोदर, डॉ. हर्टज आदि पाश्चात्य सिद्धांतों ने संवाद सूत्रे को नाटक का अवशिष्ट माना है, जिनको संगीत तथा पात्र के उचित सन्निवेश कर देने पर यज्ञों के अवसरों पर अभिनय होता था। डॉ. विन्टरनित्स इन आख्यानात्मक सूक्तों को प्राचीन लोकगीत काव्य का नमूना मानते हैं। ये अर्धकथात्मक तथा अर्धरूपकात्मक होने से कथानक तथा नाटक के सम्मिश्रण माने गये हैं। वे इन्हीं से नाटकों की उत्पत्ति मानते हैं।

इस प्रसंग में ध्यातव्य तथ्य यह है कि यदि सूक्तगन इन मन्त्रों में पूर्ववृतान्त, काल्पनिक कहानियों आदि की सत्ता मानकर इन्हें आख्यान या उपाख्यान पर प्रश्न चिह्न लग जाएगा; अत: श्रीधर स्वामी द्वारा संकेतित आख्यान रूप 'दृष्टार्थ' क्या है? इस पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। आचार्य यास्क वेद मन्त्रों में अनेकत्र इतिहास तथा स्तुति का मिश्रण मानते हैं, तथया – "त्रितं कूपेडवहितमेतत् सूकूतं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृड्.मश्रं भवति (नि. 4.6)। पुन: वे मन्त्रगत इतिहासों अथवा आख्यानों के रहस्य को प्रकाशित करते हुए यह मानते हैं कि मन्त्रगत अर्थ (तत्व) का सम्यक् दर्शन करने वाले ऋषि की भी इस आख्यानांश के संयोग के लिए प्रीति होती है, अर्थात् वह आख्यान के माध्यम से उसे अभिव्यक्त करना चाहता है, तथथा – "**ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति-आख्यान संयुक्ता"** (नि. 10.10) मन्त्र, में इस इतिहासात्मक अथवा आख्यानात्मक अंश का उद्देश्य सम्प्रेषणीय अर्थ के सम्प्रेषणार्थ मनोहारिता या अलंकारिता की सृष्टि है। आचार्य यास्क के उपर्युक्त वचन से यह सुस्पष्ट है कि ऋषि द्वारा दृष्ट अर्थ (मन्त्रगत प्रतिपाद्य) अन्य होता है तथा उसके साथ मनोरम सम्प्रेषणार्थ संयुक्त इतिहास अथवा आख्यान या आख्यायिका आदि मुख्यार्थ के रूप में उससे सर्वथा भिन्न होता है। इतिहास अथवा आख्यान मूलमन्त्र का अंग है पर उसे ऋषि कत्तृर्क स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इतिहास अथवा आख्यान तत्व से संयुक्त मन्त्र का ऋषिदर्शन से पूर्व प्राग्भाव होता है। आचार्य यास्क ने '**धर्म**' अर्थात् 'सत्यतत्व' का साक्षात्कार करने वाले व्यक्तियों को ऋषि माना है, तधथा "**साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु:। ते वदेभ्यो डसाक्षात्कृत धर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादु"** (नि. 1.20)। स्कन्दस्वामी ने अकेन्द्रित तथा असंवेद्य '**धर्म**' के साक्षात्कार के असंम्भव लेने के कारण इस प्रसंग में 'धर्म' शब्द का तात्पर्य मन्त्र तथा ब्राह्मण ग्रहण किया है, यथा – "**धर्मस्यातीन्द्रियत्वात् साक्षात्करणस्या सम्भवलात धर्मश्ब्देनात्र तदर्थ मन्त्रब्राहमणमुच्यते"। तत्साक्षात्कृतो धर्मों यैस्ते साक्षात्कृत धर्माण ऋषयअ"।** इस प्रसंग में आचार्य यास्क एक ब्राह्मण वचन उद्धृत करते हुए 'ऋषि' शब्द को गत्यर्थक 'कृष' धातु से निष्पन्न मानते हैं जिसमें यह कहा गया है कि ऋषियों का ऋषित्व इसमें है कि तपस्यमान (समाधिस्थ) अवस्था में इनके पास स्वयम्भू ब्रह्म (अकृत्क स्वरूपत: नित्य मन्त्र) आया था, यथा – "**तद्यदेनां-स्तपस्य मानान् ब्रह्म स्वयम्भू अभ्यानर्षत् ऋषयो डभवंस्त दृषीणाऋषित्वमिति विज्ञायते"** (नि. 2.11) शतपथ-ब्राह्मणा (6.1.1.1) से भी यह बात सिद्ध होती है। इस प्रकार उपर्युक्त वचनों के अनुसार मन्त्रगत इतिहास अथवा आख्यान आदि भी मूलमन्त्र का भाग है, पर यह मन्त्रगत इतिहास अथवा आख्यान औपचारिक, अर्थवादात्मक, आलंकारिक तथा प्रतीकात्मक होता है, वास्तविक

व्यक्ति विशेषों से सम्बद्ध विवरण नहीं होता। आचार्यों का मत भी द्रष्टव्य है। सर्वप्रथम इस प्रसंग में कुछ अत्यन्त आचार्य दुर्ग (निरूक्त के वृत्तिकार) का मत जानना आवश्यक है। वेद के प्रसंग में 'इतिहास' का लक्षण् करते हुए उन्होंने यह माना है कि जब भाग्यवश उदित अर्थ के अवभासनार्थ किसी आध्यात्मिक, आछित दैनिक अथवा आधिभौतिक अर्थ का आख्यान (कथन) किया जाता है तो उसे इतिहास कहते हैं, वह सब प्रकार का इतिहास नित्य होता है। उसका स्वार्थ (मुख्यार्थ, वाच्यार्थ, साक्षात्संकेतितार्थ) विवक्षा का विषय नहीं होता, प्रत्युत उसका तात्पर्य तो उस अर्थ के प्रतिपत्ताओं अर्थात् बोद्धाओं के प्रति उपदेश में होता है, जैसाकि निरूवते, 10.26 पर दुर्गवृत्ति से स्वत: स्पष्ट है –

"**य: कश्चिछाध्यात्मिकाधि दैविकधिभौतिको कार्य आख्यायते दिष्ट्युदितार्थावभासनार्यं स इतिहास इल्युच्यतो से पुररितितस: सर्वप्रकारो नित्यमविव क्षिनस्वार्थस्वद र्थप्रतिपत्तृणाभुपदेशपरटवातु।**" इस विषय में आचार्य वररूचि भी मन्त्रागत आख्यानों को औपचारिक ही मानते हैं, क्योंकि वैसा न करने से वेद के नित्यत्व का विरोध होता है, तद्यथा – **"औपचारिकोडयं मन्त्रेस्वाख्यानसमय:। नित्यत्वविरोधातु। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैयक्ताना सिद्धान्त:।"** इसी लिए निरूक्त के भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने भी यह स्वीकार किया है कि नित्य वेद में अनित्य पदार्थो व्यक्ति विशेषों आदि का वर्णन कैसे हो सकता है?, अत: आख्यानस्वरूप मन्त्रों की योजना यजमान तथा नित्यपदार्थों में कर लेनी चाहिए; क्योंकि मन्त्रों में आख्यानसमय औपचारिक है, परमार्थत: नित्यपक्ष ही सत्य है, यथा – **"एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेशु योजना कर्त्तव्या। एष:शास्त्रे सिद्धान्त:। औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यान समय:। परमार्थ नित्यपक्ष** इतिसिद्धम्" (नि. 2.12 पर टीका)। शबरस्वामी का भी यही मत है कि असत् (अघटित या कल्पित) वृतान्त का अन्वाख्यान स्तुति द्वारा उसकी प्रशंसा व्यक्त करने के लिए किया जाता है। वह वृतान्त ज्ञापन के निमित न होकर प्रोचनामात्र के लिए होता है, तधथा – **"असद्वृतृतान्तान्वाख्यानं स्तुत्यर्थेन प्रशंसाया गम्यमानत्वात् (जैमिनी सूत्र 1.2.10 पर भाष्य); वृतान्तान्वाख्यानं न वृतान्तज्ञापनीय। किं तर्हि? प्रोचनायैव"** (जैमिनी. 1.2.30 पर भाष्य)।

अत: मन्त्रगत इतिहास अथवा आख्यान प्रतिपत्ताओं अर्थात् बौद्धाओं के प्रति किसी आध्यात्मिक, आधिदैविक अथवा आधिभौतिक नित्य अर्थ के उपदेश के निमित प्रतीकमात्र हैं, मन्त्रगत प्राप्य आपातत: व्यक्तिगत नाम प्रतीत होने वाले शब्द भी उस नित्य अर्थ के प्रतीक हैं, किन्हीं व्यक्तियों के वाचन नहीं हैं।

वैदिक वाड्मय एवं वेदाड़ओ के पश्चात् लौकिक-संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत सर्वप्रथम रामायण' (वाल्मीकिरामायण) तथा 'महाभारत' में कथा-तत्व प्रधान ऐतिहासिक घटनाओं और इतिवृत्तात्मक वर्णनों को 'आख्यान' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। रामायण में सम्पूर्ण रामकथा, अन्तर्कथाओं वृतान्तों और सन्देश के लिए 'आख्यान' पद का प्रयोग हुआ है (वा. रा. युद्ध. 128.121, 131.122, 113.28 इत्यादि)। महाभारत में नलोपाख्यान, रामोपाख्यान आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं (महाभा., वन, अ. 53, 279)। इसी प्रकार उद्योगपर्व में 'इन्द्रविजय' नामक प्रसिद्ध आख्यान है तथा आरण्यक पर्व में 'यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद' को आख्यान कहा गया है। इतना ही नहीं वायु पुराण के अनुसार पुराण-संहिता की रचना अनेक आख्यानों, उपाख्यानों और गाथाओं के संग्रह से की गयी है, तद्यथा (वायु. पु. अ. 60) –

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभि. कुलकर्मभिः।
पुराणसंहिता चक्रे पुराणार्थ विशारदः।

जैन आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में एक व्यक्ति द्वारा एक समय में कही जाने वाली कथा को 'आख्यान' माना है, यथा:

आख्यानकसज्ञां तल्लभते यदाभिनयन पठन् गायन्।
ग्रंन्धिकः एकः कथयति गोवन्दवद् अवहिते सदसि।।

अत: वाल्मीकिरामायण में सम्पूर्ण रामकथा को 'आख्यान' संज्ञा से कहा गया है, यथा –

आश्चर्यमिदमाख्यानं मुनिना संप्रकीर्तितम्। (बाल. 4.26)
एवमेतत् पुरावृत्तम् आख्यानं भद्रमस्तुवः (युद्ध, 131-122)

कतिपय साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने भी इस सन्दर्भ में अपने-अपने अभिभत प्रस्तुत किये हैं। आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार में कथा, आंख्यायिका और गाथा के पृथक् लक्षण दिए हैं।

उन्होंने गद्य में युनत संस्कृत की रचना को आख्यायिका माना है जिसमें शब्द अर्थ एवं समस्त अविकार द्वारा श्रेय हो, दो तीन लाईन मिसिंग है

परन्तु उनके मत में संस्कृत, असंस्कृत (प्राकृत) या अपभ्रंश की रचना, जिसमें न तो ववत्र-अपववत्र द्वन्द हों और न उच्छवास हो, कथा कहलाती है, यथा –

न ववत्रापरवकत्राभ्यां युक्ता नोच्क्रवास वत्यपि।
संस्कृतासंस्कृता चेष्टा कथाडपभ्रांशभाक्तथा।। 1.28।।

आचार्य निश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में तत्कालीन समस्त में उपलब्ध रचनाओं के आधार पर 'कथा' तथा आख्यायिका विद्या में कुछ भिन्नता प्रदर्शित करते हुए आख्यानों को कथा और आख्यायिका के अन्तर्गत ही माना है, यथा, (सा. द. 6.335) : **"आख्यानादयश्च कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ताः" आचार्य दण्डी की भी यही मान्यता है, यथा अत्रेवान्तर्भविषन्ति शेषश्चाख्यान जातय' (काव्यदर्श, 1.23, 28)।** साहित्य दर्पण में प्राचीन आख्यानों के उदाहरण नहीं दिये गये हैं, परन्तु कथा के प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में 'कादम्बरी' और 'आख्यायिका' के लिए हर्षचरित को उद्धृत किया गया है। जब कि स्वयं कादम्बरी में आख्यानक को आख्यायिका से भिन्न रूप में परिगणित किया गया है तथा 'कंसवध' आदि के उदाहरण देकर आख्यान को ऐतिहासिक वृतान्त माना गया है, यथा **"आख्यानक आख्यायिका इतिहास पुराणा कर्णनेन"** (काद. 7)।

मनुस्मृति में 'आख्यान' का प्रयोग प्राचीन कथा के लिए हुआ है, यथा "आख्यानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च।। (मनु. 3.232)। इसी प्रकार मातंगलीता ग्रन्थ में 'उर्वशी अप्सरा और पुरूरवां की कथा को आख्यान के रूप में उद्धृत किया गया है, यथा – **"अप्सराः पुरूरसं चकमे, इत्याख्यानविद् आचक्षते"** (2)। इनके अतिरिक्त पुराणों में सर्वप्रथम स्पष्टतः पुरातन या अलौकिक कथाओं को 'आख्यान' कहा गया है और इनके .... को 'आख्यान कुशल' विशेषण से अभिहित किया गया है (विष्णु पु. 3.6.15)। पुराणों में कथा, आख्यान, पुरावृत्त शब्द पर्यायवाची शब्दके रूप में भी प्रयुक्त हैं (द्रष्टव्य विष्णु पु. 3.6.15, अग्नि पु., 16.17)।

अत: उपर्युक्त विवरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पुरातन वृत्तान्त, अथवा अलौकिक कथाओं को आख्यान कहा जाता रहा है, वस्तुत: इन आख्यानों के मूलरूप की अभिव्यक्ति प्रथमत: ऋग्वेद या वेदमन्त्रों में ही प्राप्त होती है। परवर्ती काल में ये आख्यान परिस्थितियों के परिवर्तन से अथवा नवीन युग की नवीन कल्पना के प्रभाव से परिवर्तित और परिवृंहित होकर विकसित होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

1.4 सारांश

इस प्रकार वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध ये इतिहास अथवा आख्यान परवर्ती वैदिक ग्रन्थों, यथा ब्राह्मणों आख्यकों, उपनिषदों, आचार्य या एक विरचित निरूक्त, शौनकीय वृहदेवता, कात्यायनकृत अक्स र्बानुक्रमणी षड्गुरू शिष्य रचित वेदार्थदीपिका, सायणकृत भाष्यों, या द्वि वेदकृत नीति मण्जरी आदि में पल्लवित एवं विकसित हुए हैं। सर्वप्रथम ब्राह्मण ग्रन्थों में अर्थवाद के रूप में इनका आरम्भ हुआ था। यह परम्परा लौकिक संस्कृत साहित्य के प्रमुख काव्यों में भी निरन्तर विकसित होती रही है। वैदिकोत्तर काल में यद्यपि इन इतिहासों अथवा आख्यानों को वास्तविक रहस्य भले ही लोक मानस में तिरोहित हो गया हो तथापि उनकी उपदेशात्मकता में कभी कमी नहीं आयी प्रत्युत कवित-प्रतिभा ने उन्हें उत्तरोत्तर हदयग्राही शैली में प्रस्तुतकिया है। ये वैदिक आख्यान, ऋषियों, देवाताओं, राजाओं अप्सराओं एवं अन्य प्राकृतिक तत्वों से सम्बद्ध हैं।

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

1.6 सन्दर्भग्रन्थ

1. वैदिक आख्यान, डॉ0 गंगासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

1.7 बोध प्रश्न

1. 'आख्यान' के अर्थ एवं अवधारणा को स्पष्ट कीजिए
2. भारतीय ज्ञानपरम्परा के अन्तर्गत आख्यान के महत्त्व को स्पष्ट करें।
3. 'आख्यान' तथा माइथॉलॉजी के मध्य अन्तर को स्पष्ट कीजिए
4. 'आख्यान केवल कल्पनात्मक कथा नहीं है।' इस कथन की समीक्षा कीजिए।

इकाई 2 वैदिक एवं पौराणिक आख्यान परम्परा

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- वैदिक आख्यान परम्परा से परिचित हो सकेंगे।
- कुछ महत्त्वपूर्ण आख्यानों का अध्ययन कर सकेंगे।
- पौराणिक आख्यान परम्परा से परिचित हो सकेंगे।
- वैदिक और पौराणिक आख्यान परम्परा के अन्तःसम्बन्ध को समझ सकेंगे।
- वैदिक एवं पौराणिक आख्यानों से जुड़े प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

वैदिक वाङ्मय में आख्यान शब्द का प्रयोग हुआ है। यास्क ने निरूक्त में कई बार इस पद का उल्लेख किया है। 'आ' उपसर्ग पूर्वक ख्या का अर्थ है– भलिभाँति प्रकट करना।

अभिनवगुप्त ने आख्यान को इष्टार्थ कथन कहा है। अर्थात् देखी गई घटनाओं या वस्तुओं की तथ्यता का कथन ही आख्यान है। वस्तुतः हम किसी भी वस्तु या घटना को लगभग आधा ही जान पाते हैं। जानने के साध ज्ञानेन्द्रियाँ अथवा मन हैं। और इनकी ज्ञेय के प्रति प्रवृत्ति अपूर्ण ही होती है। किसी भी वस्तु या घटना भी वास्तविकता का पूरा ज्ञान इन्द्रियों का मन द्वारा पूर्णतः नहीं हो सकता है। वे पदार्थ कभी–कभी बुद्धिगोचर भी नहीं हो पाते हैं। पूर्णतया ज्ञान तो चेतना के अन्तःप्रकाश द्वारा ही होती है। इसलिए 'आख्यान' द्वारा दृष्टार्थकथन का तात्पर्य है कि वे आभ्यन्तर

चक्षु से ऋषियों द्वारा ग्राह्या अनुभूतियों का विवरण हैं। मोटे तौर पर ये वैदिक आख्यान एक रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। जिनके अन्दर कोई देशातीत और कालातीत तथ्य अंकित होता है। जिसे प्रतीक सादृश्य रूपक या अन्योक्ति किसी भी विधा के द्वारा उसमें अंकित होता है। वैदिक आख्यानों की रहस्यमयता का प्रमाण है कालान्तर में भारतीय ग्रन्थों में हुआ उनका बहुविध विस्तार। फलतः भारतीय कला, नाट्य और साहित्य में वैदिक आख्यानों के सन्दर्भ बिखरे पड़े हैं।

वैदिक आख्यान कथा नहीं है। इसलिए उनसे मात्र सामाजिक ऐतिहासिक और भौतिक अर्थ ग्रहण करना उनके प्रतिपाद्य की गरिमा को खण्डित करता है। वे किसी व्यापक और संश्लिष्ट व्यापार के अंग है, इसलिए उनका वर्गीकरण सम्भव नहीं है। उसके भीतर कई गहरे अर्थ निहित हो सकते हैं। किसी वैदिक आख्यान के अनेक उद्देश्यों में से प्रधान उद्देश्य के आधार पर और उस उद्देश्य के वाचक उपादानों की प्रकृति के आधार पर वैदिक आख्यानों के विभाजन का केवल एक प्रयत्न किया जा सकता है। जैसे– सृष्टि के क्रम को समझाने वाले आख्यान, मनुष्य और देवता के सम्बन्ध को बताने वाले आख्यान, सृष्टि रहस्य की व्याख्या करने वाले आख्यान, प्राकृतिक परिवर्तनों की व्याख्या करने वाले आख्यान, देवताओं के परस्पर सामंजस्य पर प्रकाश डालने वाले आख्यान, नैतिक नियमों को स्पष्ट करने वाले आख्यान, कर्म की महत्ता बताने वाले आख्यान, ज्ञान की महिमा को द्योतित करने वाले आख्यान आदि। देव, दानव, ऋषि, मुनि, राजा, जड़–चेतन, प्रकृति, पशु, पक्षी, नदी, पर्वत, समुद्र आदि के माध्यम से वैदिक आख्यान सत्य तत्त्वों का संश्लिष्ट या आंशिक रूप में ख्यापन करते हैं।

वैदिक आख्यान की विषय–व्याप्ति का विश्लेषण उसके सघन आध्यात्मिक अर्थ के तल तक पहुँचकर ही हो सकता। अन्यथा कुछ अर्थों का अनुमान लगाया जा सकता है या फिर संकेत रूप में कुछ तात्पर्य ग्रहण किये जा सकते हैं। सरलता से कथात्मक शैली में रोचकता उत्पन्न करते हुए गहरे से गहरे रूप सत्य का प्रख्यापन वैदिक आख्यान का प्रमुख प्रतिपाद्य होता है।

वैदिक आख्यानों की रचनात्मक विशेषताएँ

कलात्मक दृष्टि से वैदिक आख्यान सुन्दर संरचनाओं के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमें नाटकीय उतार चढ़ाव प्राप्त होता है। आकार में ये प्रायः छोटे होते हैं। इनकी भाषा सरल होने पर भी पारदर्शी, गहरी और बहुस्तरीय होती हैं, जिसमें यदि बुद्धि की पैठ हो जाए तो अर्थ की परतें एक के बाद एक स्वयं खुल जाती हैं। इनमें शब्द का सन्तुलित और सीमित प्रयोग प्रभाव डालता है।

वैदिक आख्यानों में घटनाओं का विस्तार सीधा न होकर गोलाकार रूप में होता है। घटना धूमकर वहीं पर वापस आ सकती है। जैसे वृत्त के अन्दर इसके वृत्त घूम सकते हैं। उसी प्रकार एक घटना से कितनी ही घटना निकल सकती है। इसलिए वैदिक आख्यान फैल–फैल कर बड़े–बड़े रूपक बन गये हैं। दौष्यन्ति भरत का आख्यान अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक बना। पुरूरवा–उर्वशी संवाद विक्रर्मविशीयम् नाटक बना। वैदिक आख्यान संक्षिप्त और सूत्ररूप में घटनाओं का संकेत भर कर देते हैं।

इन आख्यनों के अन्तिम भाग में एक पूर्णता का भाव दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए ये कालातीत हैं। इतिहास से बाहर हैं और सनातन हैं। कभी–कभी आख्यानों की संरचना में शब्दों या वाक्यों की पुनरूक्ति दिखाई देती है। शैलीगत इस विशेषता का प्रयोजन बल अथवा प्रभाव उत्पन्न करता है।

कतिपय ऋग्वैदिक आख्यानों का स्वरूप

यहाँ उन प्रमुख ऋग्वैदिक आख्यानों का उल्लेख करना आवश्यक है जिनके कथानक का विकास बृहदेवता, नीतिमञ्जरी, ब्राह्मण या अन्याय उत्तरवर्ती ग्रन्थों में पर्याप्त मात्रा में हुआ है।

प्रायः सभी संवाद सूक्तों में आख्यानों के संकेतों का आभास मिलता है। विश्वामित्र नदी संवाद नदियों के अधिदेवत्व और उनके मातृतया स्वरूप का निर्देश करता है। यमयमी संवाद सूक्त भाई और बहिन के वैवाहिक सम्बन्ध के निषेध को रेखांकित करता है। राजा रथवीति और ऋषि श्यावाश्व का आख्यान ऋषिभाव की प्रतिष्ठा के निमित्त है। आर्जीगर्ति शुनःशेप और वरूण की कथा के द्वारा सदाचार के मार्ग पर चलने का शाश्वत संदेश दिया गया है। इन्द्र ने अगस्त्य ऋषि के साथ संवाद मे ंधर्म का गूढ़ रहस्य बताते हुए कहा है कि धार्मिक कार्य को करने में कभी भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। धर्म का निश्चय करने वाला चित्त दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाता है।

नूनमस्ति जो श्वः कस्तद् वेद यद्भदुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीतं विनश्यति।

इस उपदेश की पृष्ठभूमि के लिए इन्द्र का देर से पहुँचना और आगस्त्य का मरूतों को हवि दे देना आदि वृतांत माध्यम बनाया गया है। नाभानेदिष्ठ आख्यान में संकेतिक रूप से यह तथ्य समझाया गया है कि इस सृष्टि में चेतन अचेतन रूप जितने भी पदार्थ है, उनका स्वामित्व एवं उपयोग का सम्बन्ध मनुष्य तक ही सीमित नहीं है।

ऋग्वैदिक आख्यानों में अध्यात्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों और विचारों का निर्देश भी बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। बार–बार उल्लिखित किये जाने वाला देवों और असुरों का संघर्ष आदि भौतिक अर्थ में प्रकाश और अन्धकार का संघर्ष है। तो आध्यात्मिक दृष्टि में सुवृत्तियों और दुष्प्रवृत्तियों को द्वन्द्व का संसूचक कहा जा सकता है जो मानवीय अन्तःकण में नित्यप्रति चलता रहता है। दाशराज्ञ युद्ध का ऋग्वैदिक उपाख्यान लाक्षणिक रूप में बड़ी सरलता से इस ऋषि दृष्टि को प्रस्तुत करता है कि इन्द्र रूप जीवात्मा की सहायता से सुदास रूप सुन्दर संकल्प दस राजा रूप अनेक शक्तियों पर भी जय प्राप्त कर सकता है।

कुछ ऋग्वैदिक आख्यानों के अन्तर्निहित स्वरूप को संक्षेप में समझाने का यहाँ प्रयास किया गया है। प्रत्येक आख्यान में असीम अर्थ की सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं। ऊपरी तौर पर उनसे सामाजिक, नैतिक और व्यावहारिक शिक्षाओं का अधिग्रहण किया जा सकता है। पर उसी को आख्यान का वास्तविक स्वरूप मानकर सन्तोष कर लेना उचित नहीं। वेद के वेदत्व के अनुरूप आख्यानों से समन्तात् है आख्यापित् अर्थ अध्येताओं के लिए सदा ही गवेषणीय बने रहेंगे क्योंकि भाषा सीमित और अपर्याप्त है और ऋषि–दृष्टि अर्थ असीमित और पर्याप्त।

2.2 वैदिक आख्यान परम्परा

वैदिक आख्यान परम्परा का प्रारम्भ संहितागत मन्त्रों में आपतित इतिहासों अथवा आख्यानों से होता है; जैसा कि स्वयं आचार्य यास्क अपने निरूवत वेदाग्ड़ में इस बात का संकेत करते हैं कि वेद मन्त्रों में अनेकत्र इतिहास तथा स्तुति का मिश्रण दृष्टिगोचर होता है, यथा – ''**त्रितं कूपडेवहितमेतत् सूवतं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्ममेतिहमरामिश्रमुदि् मिश्रं भवति**'' (4.6)। वे मन्त्रगत इतिहासों अथवा आख्यानों के

रहस्य का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि मन्त्रगत अर्थ का सम्यक् दर्शन करने वाले ऋषि की भी इस आख्यानांश के मन्त्र के साथ संयोग करने के लिए प्रीति होती है, यथा – ''**ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति आख्यानसंयुक्ता**'' (नि. 10.46)। मन्त्र में संयुक्त इस इतिहासात्मक अथवा आख्यानात्मक अंश का उद्देश्य सम्प्रेषणीय अर्थ के सम्प्रेषण के लिए मनोहारिता की सृष्टि करना है। अतः आचार्य यास्क के वचन से यह सुस्पष्ट है कि ऋषि द्वारा दृष्ट अर्थ अर्थात् मन्त्रगत प्रसिपाद्य अन्य होता है तथा उसके साथ मनोरम सम्प्रेषण हेतु संयुक्त इतिहास अथवा आख्यायिका आदि मुख्यार्थ के रूप में उससे सर्वथा भिन्न होता है। इस प्रकार मन्त्रगत इतिहास अथवा आख्यान आदि भी मूलमन्त्र का भाग होता है और यह तत्त्वतः औपचारिक, अर्थवादात्मक आत्मकड़ारिक तथा प्रतीकात्मक होता है; वास्तविक व्यक्ति विशेषों से सम्बद्ध विवरण नहीं होता है। यह इतिहास या आख्यान वैदिक संहिताओं या वैदिक साहित्य में आध्यात्मिक, आधि दैविक अथवा आधि भौतिक अर्थ का आख्यान करने वाला होता है और नित्य होता है। इस विषय में पूर्व इकाई में सविस्तार विवेचन के साथ प्रभूत सामग्री दी जा चुकी है; अतः उसकी पुनरूक्ति यहाँ अपेक्षित नहीं है। मन्त्र भाग में उपलब्ध ये इतिहास अथवा आख्यान परवर्ती वैदिक ग्रन्थों, यथा – ब्राह्मण, उपनिषदों, आचार्य यास्ककृत निरूक्त, शौनकीय बृहद्देवता, कात्यायन–प्रणीत ऋवसर्वानुक्रमणी, षड्गुरूशिष्यरचित वेदार्थदीपिका, ... भाष्यों, छाद्विवेदकृत नीतिमण्जरी आदि में पल्लवित एवं विकसित हुए। तदनन्त्र आर्षकाव्यों (वाल्मीकि–रामायण तथा महाभारत), पुराणों और अश्वघोषरचित बुद्धचरित तथा सौन्दरनन्द, कविकुलगुरू कालिदास प्रणीत विक्रमोर्वशीय, कुमारसम्भव एवं रघुवंश, भारविकृत किरातार्जुनीयम्, माधविरचित शिशुपालबध, श्रीहर्ष प्रणीत नैषधीयचरित आदि लौकिक संस्कृत साहित्य के प्रमुख काव्यों में भी यह परम्परा निरन्तर विकसित होती रही है। यं वैदिक इतिहास अथवा आख्यान ऋषियों, देवताओं, राजाओं, असुरों एवम् अन्य प्राकृतिक अथवा अप्राकृतिक तत्त्वों से सम्बन्ध रखते हैं। वैदिक आख्यानों के क्रमिक विकास या उत्तरोत्तर पल्लवन के सम्यक् ज्ञान के लिए आर्ष काव्यों, पुराणों तथा लौकिक संस्कृत–साहित्य के काव्यों में आगत वैदिक आख्यानों का विश्लेषणात्मक एवं समीक्षात्मक परिशीलन आवश्यक है, तभी उनके मूल में होने वाले परिवर्तन और परिवर्धन का बोध हो सकता है।

वैदिक साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है; अतः आख्यान–परम्परा का आदि स्रोत भी वही है। इसलिए बहुत से आख्यान बीज रूप में ऋग्वेद में मिलते हैं। इस ग्रन्थ में उपलब्ध आख्यानों का वैशिष्ट्य यह है कि यहाँ कोई भी आख्यान वर्णनात्मक रूप में नहीं है, प्रत्युत देवों और ऋषियों की स्तुति के रूप हैं और आख्यानों का संकेत मात्र ही यहाँ मिलता है। इनमें कुछ आख्यान तो वैयक्तिक देवता के विषय में हैं और कुछ आख्यान सामूहिक घटना को लक्ष्य कर प्रवृत्त होते हैं। इन आख्यानों के मल रूप की अभिव्यक्ति वेद के मन्त्रों में ही मिलती है, परन्तु परवर्तिकाल में परिस्थितियों के परिवर्तन से अथवा नवीन युग की नवीन कल्पना के प्रभाव से परिवर्तित और परिवृंहित होकर विकसित रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। ऋग्वेद के अनेक आख्यान ब्राह्मणों, उपनिषदों, सूत्रग्रन्थों, वाल्मीकि – रामायण, महाभारत आदि में तथा विभिन्न पुराणों में अपनी घटनाओं की स्थिति के विषय में विशेषरूप से विकसित और परिवर्तित रूप में उपलब्ध होते हैं। इस विकास के 0पर तत्–तत् युग की धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। अपने मूल रूप में सरल आख्यान परवर्ती ग्रन्थों में अनेक विस्तृत घटनाओं से मण्डित या नवीन समावेश के कारण विषम तथा मिश्रित यप में उपलब्ध होते हैं। वेदों में प्रमुखतया ऋग्वेद में मिश्र, वरूण, सविता, पूषा, उषा, इन्द्र, आपाम्, पर्जन्य, रूद्र, मरूत् आदि देवों तथा पृथ्वी,

अग्नि, सोम आदि प्राकृतिक शक्तिपरक देवों से सम्बन्धित अनेक आख्यान सूत्र रूप में मिलते हैं। देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में राजा, ऋषि, पुरोहित तथा असुरों के भी आख्यान हैं। ऋषियों में विश्वामित्र, वसिष्ठ, गौतम तथा अगस्त्य आदि के आख्यान हैं और असुरों में वृत्र, पणि, बल तथा शम्बर आदि के आख्यान कहे जा सकते हैं। सबसे अधिक आख्यान इन्द्र के सम्बन्ध में हैं, यथा – इन्द्र अदिति (4.18), इन्द्र–इन्द्राणी (10. 86), इन्द्र–मरूत् (1.165–170), इन्द्र–सरमा–पणि (10.51.3) आदि कई आख्यान इन्द्र से सम्बन्धित हैं। ऋग्वेद में पाये जाने वाले अन्य आख्यान संवाद्–सूक्तों में विद्यमान हैं और प्रायः ये सूक्त ऋग्वेद के दशम–मण्डल में उपलब्ध होते हैं। इन सूक्तों में 'पुरूरवा–उर्वशी' (10.95); यम–यमी' (10.30), 'सरमा–पणि' (10.108) तथा विश्वमित्र–नदी–संवाद (3.33) अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्द्रादि देवताओं के व्यक्तिगत आख्यानों को छोड़कर ऋग्वेद में लगभग 30 आख्यानों का स्पष्ट निर्देश किया गया है, जिनमें प्रख्यात आख्यान हैं – शुनःशेप (1.24, 25), अगस्त्य तथा लोपामुद्रा (1.179), गृत्स्मद (2.12), वसिष्ठ और विश्वामित्र (3.53, 7.33), सोम का अवतरण (3.33), त्रयरूण और वृषजान (5.2), अग्नि का जन्म (5.11), श्यावाश्व (5.52), बृहस्पति का जन्म (6.71), राजासुदास (7.18), नहूष (7.95), अपाला (8.91), पुरूरवा–उर्वशी (10.95), सरमापणि (10.108), देवापि–शान्तनु (10.98) तथा नचिकेता (10.135) आदि। इनके अतिरिक्त कक्षिवत् तथा स्वनय (1.125), दीर्घतमस् (1.147), वामदेव (4.18), सप्तवध्रि (5.78), बभ्रु तथा भरद्वाज (6.45), ऋजिश्वन तथा अतियाज (6.52), सरस्वती तथा वध्रयश्व (6.61), कुत्स (10.38), वृषाकपि (10.86) आदि आख्यान भी मिलते हैं।

'वेद में अनित्य वस्तुओं अथवा प्राणियों का इतिहास नहीं है', इस बात को पुष्ट करने हेतु ऋग्वेद के कतिपय आख्यान यहाँ उदाहरण के रूप में द्रष्टव्य हैं, यथा – 'प्रजापति का दुदहितृगमन' (ऋ. 1.164.33, 3.31.1) आख्यान सर्वथा आलंकारिक वर्णन है, वास्तविक नहीं। ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में यह आख्यान संकेतित है, यथा –

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् उत्तानयोश्चम्वोउर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्।।

.... सूर्य का उपलक्षण है, वही सम्पूर्ण संसार को पैदा करता हैं, उसका पालन करता है और उसकी सहायता करता है, अतः संसार का केन्द्र सूर्य है। यही प्रजापतिनीम से भी जाना जाता है। इसकी पुत्री की भान्ति यहाँ उषा को माना गया है। रक्तवर्ण से युक्त निकलती हुई उषा को अपनी किरणों से सम्पृक्त करता है। ऐसा होने पर 'प्रकाश नामक आदित्य पुत्र रूप में जन्म ग्रहण करता है। यहाँ आदित्य रूप पुत्र की माता उषा है और पितृवत् सूर्य .... अलंकारिक वर्णन के कारण दुहिता रूपी उषा में किरणरूप सत्त्व (वीर्य) से दिवस रूपी पुत्र के उत्पन्न होने की बात रूपकालंकार के माध्यम से कही गयी है अतः यहाँ पिता सूर्य एवं उसकी पुत्री रूप उषा के समागम के कारण प्रकाश रूप पुत्र की उत्पत्ति की बात माता–पिता के द्वारा सन्तानोत्पत्ति की भान्ति आलंकारिक रूप से कही गयी है। इसी प्रकार पर्जन्य और पृथिवी की पिता–पुत्री की भान्ति रूपकालंकार के माध्यम से आलंकारिक वर्णन किया गया है, क्योंकि पर्जन्य के जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है; अतः वह पर्जन्य की पुत्रीवत् है तथा वही पर्जन्य वृष्टि द्वारा उस पृथ्वी में वीर्यवत् जलप्रक्षेण करता है और पृथ्वी गर्भधारण करके नाना प्रकार की औषधियों को जन्म देती है, जैसा कि "तत्र पिता दुहितु गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः" (नि. 4.21) तथा "प्रजापतिहतो ...... दुहितरमभिदध्यौ दिवं वोषसं वा मिथुन्येनया स्यामिता तां सम्बभूव" (शत. ब्रा. 1.7.4.1)। इन सन्दर्भों से प्रमाणित होता है। अतः इस मन्त्र में प्रजपति की अपनी पुत्री में

गर्भाधान करने का यह वर्णन आलंकारिक है, वास्तविक नहीं। यही तथ्य इस मन्त्र में आख्यान के रूप में उपस्थापित है और यही इस आख्यान का मर्म है तथा प्रयोजन भी। अन्यत्र ऋग्वेद (3.31.1) के मन्त्र में भी इसी आलंकारिक वर्णन की संगति देखनी चाहिए।

2.2.1 इन्द्र का गौतम की पत्नी अहिल्या का जारत्व

ऋग्वेद (10.10.6) एवं अथर्ववेद (18.1.23) के मन्त्रों में अहिल्या के प्रति इन्द्र का जारत्व अर्थात् अभिगमन का संकेत प्राप्त होता है (जोर आभगम)। इसका संकेत शतपथ ब्राह्मण में भी आया हुआ है, यथा – ''**इन्द्रागच्छेति। गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति। तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेनमेतत् प्रमुमोदयिषति**'' (3.3.4.18)। वस्तुतः यहाँ पर अहल्या 'रात्रि' का वाचक है और इन्द्र 'आदित्य' का, क्योंकि ''**अहरस्यां लीयत इति अहल्या रात्रि**'' अर्थात् दिन जिसमें लय को प्राप्त हो जाता है, वह अहल्या है तथा रात्रि को समाप्त करने के कारण आदित्य जार है (**रात्रेर्जरितृत्वादादित्यस्य जोरत्वम्**)। आचार्य यास्क ने भी निरूक्त में इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि ''**अहिल्योव जार उच्यते। रात्रिर्जरयिता। स एव भासाम्**'' (3.16)। अतः इन्द्र का अहिल्या के प्रति जारत्व आलंकारिक वर्णन है, वास्तविक जारत्व नहीं है। यही इस आख्यान का प्रयोजन है।

2.2.2 इन्द्र–वृत्र युद्ध एवं वृत्रन्वध

ऋग्वेद (1.32.1, 2, 5, 7, 10.13), मैत्रायणी संहिता (2.2.10) एवं काठय संहिता (10.9) में इन्द्र–वृत्र आख्यान प्राप्त होता है जिसमें इन्द्र और वृत्र के युद्ध और इन्द्र द्वारा वृत्र–वैध का संकेत प्रतीत होता है। वस्तुतः इस प्रसंग में इन्द्र सूर्य है और अहि अथवा वृत्र मेघ का वाचक है तथा वृष्टिकर्म ही यहाँ इन्द्र द्वारा वृत्र का .... समझना चाहिए। प्रमाण हेतु आचार्य यास्क का .... द्रष्ट का है – ''**तत्को वृत्रः मेघ इति नैरूवस्ताः। त्वाष्ट्रोडसुर इत्यैतिहासिकः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्माणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्येन युद्धवर्णा भवति। अहिवस्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मण वादश्चः**:'' (निरूयत्र, 2.16)। अतः यास्क के मत में मेघ ही वृत्र है और सूर्यरश्मिजन्य विद्युत्, दोनों के मिश्रण रूप कर्म से ही वृष्टि उत्पन्न होती है। यही मिश्रीभाव ही उपमा से मन्त्रों में इन्द्र–वृत्र–युद्ध .... वर्णित है। शतपथ–ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में भी इस प्रकार के युद्ध का वर्णन प्राप्त होता है, यथा – ''**वृत्रो ह वाइइदं सर्वं वृत्ता शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी, स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाग। तमिन्द्रो जघान**'' (शत. ब्रा., 1.1.3.4–5)। ऐसे ही इन्द्र वृत्र–संग्राम एवं वृत्र वध का वर्णन मैत्रायणी–संहिता में भी प्राप्त होता है, यथा – ''**वृत्रं खलु वाद एष हन्ति यः सङ्ग्रामं जयति**'' ....। अतः मन्त्रों में इन्द्र वृत्र युद्ध की चर्चा उमा .... किया गया है, जो आख्यानात्मक है।

इस प्रकार वैदिक संहिताओं से सूत्ररूप में संकेतित आख्यान ब्राह्मण–ग्रन्थों और वेदाग्ड़ो में विकसित एवं पल्लवित होते हुए वैदिक साहित्य तक तो अपने भूतरूप में किञ्चित् परिवर्तन के साथ दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु लौकिक साहित्य तक आते–आते उनकी मौलिकता में इतनी भिन्नता आ जाती है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे इनका स्रोत ही भिन्न हो। उदाहरण के लिए वैदिक शुनःशेपाख्यान को देखा जा सकता है:

2.2.3 शुनःशेपाख्यान

यह आख्यान ऋग्वेद–संहिता में सर्वप्रथम देखा गया है। इस आख्यान के सन्दर्भ में

इसी संहिता के ब्राह्मण–ग्रन्थ में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि ''तदेत्परम् ऋक्शतगाथं शौनः शेपआख्यानम्'' (ऐत. ब्रा. 7.18)। अर्थात् शुनःशेप से सम्बन्धित आख्यान ऋग्वेद की एक सौ से अधिक ऋचाओं में वर्णित हैं। इससे स्पष्ट है कि इस आख्यान की मूलस्रोत ऋग्वेद हैं। इस वेद में एक सौ सात (107) ऐसे मन्त्र उपलब्ध हैं, जिनके ऋषि शुनःशेप हैं। इन मन्त्रों के द्रष्टा के रूप में ''आजीगर्तिः शुनःशेपः सः कृत्रिमों वैश्वामित्रो देवरातः'' ऐसा उल्लेख मिलता है। इससे शुनःशेप के पूर्ण नाम एवं वंश का परिचय प्राप्त होता है। वे सूक्त और मन्त्र ऋग्वेद में 1.24 से 1.30 सूक्त पर्यन्त (97 मन्त्र) तथा 9.3 सूक्त के (10 मन्त्र) के रूप में प्राप्त होते हैं। इनमें 1.24 सूक्त है अर्थात् प्रस्तुत आख्यान को आधार स्वीकार किया जाता है। इन मन्त्रों में केवल दो बार 'शुनःशेप' (1.24.12,13) नाम पठित है और चार बार पाशबद्धता (ऋ. 1.24.12–13, 15; 1.25.21) की चर्चा प्राप्त होती है। इससे अधिक आख्यान–सन्दर्भ में ऋग्वेद में नहीं मिलता। इन सूक्तों के मन्त्रों और मन्त्रांशों को आधार मानकर ब्राह्मण–ग्रन्थों ने एक रोचक और विस्तृत आख्यान की कल्पना कर डाली और परवर्ती भाष्यकारों ने आख्यान के अंशों को आधार बनाकर सभी मन्त्रों की व्याख्याएं प्रस्तुत कर दी है। यहाँ ऋग्वेद का एक अन्य मन्त्र उदधृत अनुचित नहीं होगा, जिसमें पाश से आबद्ध शुनःशेप को सहस्र यूप से मुक्त करने का संकेत है, यथा –

> शुनश्चिच्छे पं निदितं सहस्राद्यूपादमुण्चो अशमिष्ट हि षः।
> स्वास्मदग्रे वि मुमुग्धि पाशान् होतश्चिकित्व इह तू निषद्य।। (ऋ. 5.2.7)

ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद (12.12) तथा अथर्ववेद में शुनःशेप ऋषि के मन्त्र प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद में शुनःषेप ऋषि के कुल 23 मन्त्र हैं, जिनमें 17 मन्त्र ऋग्वेद के होते हैं। शेष छः मन्त्र (6.25.13, 7.83.1–2,4) पृथक् हैं, परन्तु सायण के अनुसार यहाँ शुनःशेप की कथा न होकर सामान्य रोग–निवृस्त और कष्ट या बन्धन से मुक्ति की प्रार्थना है। इनके अतिरिक्त तैत्रिरीय संहिता (5.2.1.3–4), काठक–संहिता (19.11) कषिष्ठ संहिता (31.1), मैत्रायणी संहिता ..... में भी शुनःशेप की चर्चा है, किन्तु आख्यान .... है। परन्तु ऋग्वेद के मन्त्रों को आधार बनाकर सर्वप्रथ एक विस्तृत और स्पष्ट आख्यान की रचना इसी वेद से सम्बन्धित ऐतरेय ब्राह्मण (7.13–18 अथवा 33. 1–6) में प्राप्त होता है। यहाँ इस आख्यान को राजा के राज्याभिषेक के पश्चात् तथा सन्तान की कामना वाले को सुनाने का निर्देश किया जाता है। ऐसा करने से राजा को यश और निःसन्तान को सन्तान प्राप्ति की बात कही गयी है, यथा ''तदेतत्परऋक्शतगाथं शौनःशेपाख्यानम्। द्दोता राज्ञेडभिषिक्ताया चष्टे। ...... पुत्रकामाः हाप्याख्यापयेरल्लंभन्ते ह पुत्राल्लंभन्ते ह पुत्रान्'' (33.6)। अन्य किसी ब्राह्मण–ग्रन्थ में यह आख्यान उपलब्ध नहीं है, अतः परवर्ती समग्र साहित्य में वर्णित शुनःशेपाख्यान का आधार यही ब्राह्मणग्रन्थ है।

ऐतरेय ब्राह्मण के पश्चात् इस आख्यान का संकेत यस्कीय निरूक्त में प्राप्त होता है परन्तु निरूक्त में यह आख्यान वर्णित नहीं है। एक स्थल पर उदाहरण रूप में इसका संकेत है, जिससे यह प्रतीत होता है कि यास्क शुनःशेपाख्यान से भली–भान्ति परिचित थे। एकत्र स्त्रियों के ही दान–विक्रय त्याग होने के प्रसंग में उसका उत्तर देते हुए यास्क ने ऐसा उल्लेख किया है कि पुरूषों के भी दान–विक्रय और त्याग होते हैं और प्रमाण रूप में शुनःशेप के आख्यान में उसका विक्रय होना एवं विश्व मित्र द्वारा अपने पुत्रों के त्याग की घटना का .... किया है, यथा – ''स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विघन्ते न पुंसः। पुंसोडपीत्येके, शौनःशेपे दर्शनात्'' (नि. 3.4)। तत्पश्चात् शौनककृत बृहद्देवता (3.103) में आख्यानांश मात्र प्राप्त होता है। यहाँ ऋग्वेद (1.30.16) मन्त्र

उद्धृत करते हुए यह कहा गया है कि इस ऋचा द्वारा स्तुति किये जाने पर मन से प्रसन्न होकर इन्द्र ने शुनःशेप को एक स्वर्ण–निर्मित दिव्य–रथ प्रदान किया। तदनन्तर शांखायन श्रतिसूत्र (15.20.1; 16.11.2) में यह आख्यान सांकेतिक रूप में प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य के पाश्चात् इस आख्यान का उल्लेख वाल्मीकि–रामायण (बाल., 61–62 सर्ग) में प्राप्त होता है, परन्तु यहाँ इस आख्यान में इतनी मौलिक भिन्नता है, जिससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः इसके स्रोत ही भिन्न हो। यहाँ हरिश्चन्द्र के स्थान पर राजा अम्बरी का नाम है और पुत्र कामना तथा वरूण का कोई उल्लेख नहीं है।

इस शुनःशेप आख्यान का महत्त्व मानव जीवन हेतु प्रेरणा दायक रूप में माना जाता चाहिए। इसके माध्यम से आगे भी कष्ट पीड़ित व्यक्ति अथवा सांसारिक बन्धनां .... के लिए यह प्रेरणा प्रदान करता है कि वे इनसे स्वयं को मुक्त करने के लिए निरन्तर प्रयास करते रहें। इस आख्यान से ऐसे लोगों को सावधान किया गया है कि नैतिकता के अभिमानी देवता वरूण परमात्मा के रूप में सभी की प्रत्येक चेष्टा पर दृष्टि रखते हैं और शुभाशुभ कर्मों का फल देते हैं। अतः पाप कर्मों का परित्याग करते हुए श्रेष्ठ कर्म करना चाहिए, क्योंकि परमात्मा सर्व व्यापक .... और सब का द्रष्टा है।

2.3 पौराणिक आख्यान परम्परा

पुराणों का अध्ययन करने से हमें यह ज्ञात होता है कि साहित्य के रूप में नहीं, प्रत्युत लोकवार्ता के रूप में वेदों पर भी पौराणिक आख्यानों का अस्तित्व रहा होगा। मत्स्य पुराण से रीत होता है कि ब्रह्मा ने पहले पुराण को स्मरण किया, तत् पश्चात् वेदों का प्रकाश किया, यथा –

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्माणा स्मृतम्।
अन्नतरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिः सृताः।। (53.3)

पद्म पुराण में भी ऐसा माना गया है कि सभी शास्त्रों के निर्माण से पूर्व ब्रह्मा ने पुराण का स्मरण किया, यथा – ''पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्माणा स्मृतम्'' (सृष्टि खण्ड, 1. 45)। वायु पुराण (1.45) से भी .... संकेत प्राप्त होता है। विष्णु पुराण में पुराण की परिभाषा देते हुए ऐसा कहा गया है कि ''जो बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है'', वह पुराण है, यथा – ''यस्मात् पुरा हि अनति इदम् पुराणम्'' (1.203)। इन पौराणिक कथनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुछ पौराणिक आख्यान लोकानुश्रुति के रूप में वैदिक साहित्य की रचना से पूर्व भी उपस्थित रहे होंगे। उनमें से कुछ को सांकेतिक रूप से वेदों में ग्रहण कर लिया गया होगा। यह स्वाभाविक है कि प्राकृतिक शक्तियों के प्रति श्रृद्धा या भय की भावना को धार्मिक विश्वासों के रूप में वेदों में संग्रह करने के बाद उस काल की मनीषा ने प्राचीन लोक–सम्बन्धी कथाओं को पुराणों में संग्रह कर दिया होगा। भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा ने अपने पूर्व मुख से ऋग्वेद की, पश्चिम मुख यजुर्वेद की, दक्षिण मुख से सामवेद की और उत्तर मुख से अथर्ववेद की रचना की। इस प्रकार उन्होंने अपने पृथक्–पृथक् चार मुखों से चार वेदों की रचना के पश्चात् अपने चारों मुखों से इतिहास पुराण रूप पाँचवे वेद का सृजन किया, यथा –

ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः।
शस्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चितें व्यधात्क्रमात्।।

आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्व वेदामात्मनः।
स्थापत्यं चासृजद् वेदं क्रमांत्पूर्वादिभिर्मुखैः।।

इतिहास पुराणानि पण्चमं वेदमींश्वरः।
सर्वेभ्य एवं वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः।। (3.12.37–39)

पुराणसाहित्य की पण्चम वेद के रूप में प्रसिद्धि (अथर्व., 9.7.24) भी इस इस बात का द्योतक है कि साहित्य के रूप में पुराणों की रचना वेदों के बाद हुई है। परन्तु लोक वार्ता के रूप में सम्भवतः किसी न किसी रूप में पौराणिक आख्यानों की सत्ता वेदों की रचना से पूर्व रही होगी, ऐसा माना जा सकता है।

पौराणिक आख्यानों के लिए अंग्रेजी में 'मिथ' या 'माइथालॉजी' शब्द प्रचलित है। 'मिथ' शब्द का प्रयोग जहाँ एक ओर देवताओं एवं वीरों की प्राचीन परम्परागत गाथा के लिए किया जाता है, जो किसी तथ्य या प्राकृतिक सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत करती है, वहीं दूसरी ओर इसका प्रयोग मिथ्या अथवा कपोलकल्पित अर्थ के लिए भी होता है। किन्तु, 'मिथ' से बना 'माइथॉलाजी' शब्द उस भावना को अभिव्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ है, जो भारतीय मनीषा को व्यक्त करने वाले 'पुराण–गाथा' शब्द से अभिहित किया गया है। भारतीय दृष्टिकोण से 'पुराण' शब्द प्रामाणिकता कर द्योतक है। इस शब्द के साथ मिथ्या या कपोल–कल्पना का दूर–दूर तक भी सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः पुरूष प्रमाणभूत वैदिक चिन्तन को ही आख्यान उपाख्यान या कथा शैली में पुनः प्रस्तः करता है, जैसा कि भगवान वेदव्यास ने महाभारत में स्वयं अभिव्यक्त किया है, – ''इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुप बृहंयेत'' (महाभा.)। हिन्दू विचारधारा पौराणिक मान्यताओं पर आधृत है। उसका जो रूप आज हमें देखने को मिलता है, वह रामायण और महाभारत तथा अठारह (18) पुराणों में अभिव्यक्त अवधारणाओं एवं विश्वासों पर आधारित है। भारतीय पौराणिक आख्यान एक जीवित धर्म और विश्वास के रूप में हैं अतः 'मिथ' या 'माइयाथॉलाजी' शब्द भारतीयों के मानस में वह भावना नहीं जगा पाता या वह रूप–चित्र उपस्थित नहीं कर पाता जो पुराण शब्द करता है। इसलिए पौराणिक विश्वासों और आख्यानों के लिए भारतीय चिन्तर में 'धर्मगाथा' शब्द का व्यवहार होता है, क्योंकि इनका भारतीय धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

धर्मगाथा या पौराणिक आख्यान के विषय में मेरिया लीच की यह अवधारणा है कि ''मिथ वह कथा है जो किसी युग में घटित दिखायी गयी हो। इन कथाओं में किसी देश के धार्मिक विश्वास, प्राचीन वीरों, देवी–देवताओं, जनता की अलौकिक तथा अद्भुत परम्पराओं तथा सृष्टि .... का वर्णन होता है।[1] मेरिया लीच के कथन से 'धर्म गाथा' या मिथ के विषय में स्पष्टतः यह कहा जा सकता है कि (1) इसकी पृष्ठभूमि धार्मिक होनी चाहिए, (2) इसके प्रधान पात्र देवी–देवता होने चाहिए और (3) इसका प्रधान प्रतिपाद्य सृष्टि–रचना तथा प्राकृतिक शक्तियों (सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि) के सृष्टि–संचालन सम्बन्धी क्रिया–कलापों और उनके सम्बन्ध में आदिम मनुष्यों अर्थात् ऋषियों–महर्षि ..... की मान्यताओं को विज्ञान–पूर्व युग के विज्ञान के रूप में प्रकट करने वाला होना चाहिए। यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि केवल देवी–देवताओं के नामोल्लेख से कोई कहानी धर्म गाथा नहीं कही जा सकती, प्रस्तुत किसी तथ्य की व्याख्या करने वाली कहानियों में देवी–देवताओं के समावेश के साथ–साथ उन

[1] Dictionary of Folklora, Part-II, Page 778: Myth is a story presented as having actually accured in a previous age explaining the cosmological and superratural traditions of a people, their Gods, heroes, cultural traits, religious belisefs etc.

देवताओं में आस्था हो तथा उक्त दोनों बातों के साथ उसका धार्मिक महत्त्व भी हो। उसके कहने–सुनने में किसी धार्मिक लाभ की भी सम्भावना जुड़ी होनी चाहिए। इस विषय में इससे भी महत्त्वपूर्ण तत्व यह है कि धर्म गाथा में देवी–देवता का समावेश पारम्परिक कथा के अभिप्राय के रूप में नहीं होना बल्कि धर्मगाथा किसी न किसी देवी–देवता के वृत से गुंथी रही है। 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' नामक ग्रन्थ के सम्पादक डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार कोई कथा तभी तक 'मिथ' कही जा सकती है, जब तक उसके प्रमुख पात्र देवी और देवता हैं अथवा इन पात्रों में देवत्व की भावना रहती हो। परन्तु, जब ये पात्र देवत्व की कोटि से नीचे उतर कर मनुष्य की श्रेणी में आ जाते हैं तब वह कथा 'लीजेण्ड' अर्थात् सामान्य कथा कही जाती है। उपर्युक्त विचारों के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि पौराणिक कथा में देव–परिकर के समावेश के साथ–साथ उसमें धार्मिकता या धार्मिक माहात्म्य की भावना भी होनी चाहिए। इसके बिना वह देव कथा तो कही जा सकती है परन्तु 'धर्मगाथा' नहीं कही जा सकती।

2.4 पौराणिक साहित्य में आख्यानों का स्वरूप

'पौराणिक आख्यान' का तात्पर्य अठारह हिन्दू पुराणों में वर्णित आख्यानों से है, परन्तु 'पुराण' शब्द का व्यवहार प्राचीन आख्यानों के लिए भी होता रहा है। वैदिक साहित्य में प्रयुक्त 'पुराण' शब्द इसी अर्थ में आया है। वस्तुतः आख्यान परम्परा का आदि स्रोत ऋग्वेद है। बहुत से आख्यान बीज रूप में ऋग्वेद में मिलते हैं। बाद में उन्हीं का पल्लवन ब्राह्मणों, अग्नि वेदों, सूत्र ग्रन्थों, महाकाव्यों और पुराणों में उपलब्ध होता है। पुराण साहित्य में 'रामायण' और 'महाभारत' के आख्यानों का पल्लवन सर्वाधिक देखा जाता है, किन्तु पुराणों में आख्यानों को ऐतिहासिक और धार्मिक स्वरूप देने का जितना प्रयास हुआ, उतना उनके काव्यात्मक तथा शीलगत रूप को उभारने का प्रयत्न दृष्टिगोचर नहीं होता। केवल श्रीमद्भागवत पुराण ही एक ऐसा पुरण है, जो काव्य तत्व की दृष्टि से भी समृद्ध है। पुराणों में आख्यान की दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों तथा लोकानुश्रुतियों से बहुत कुछ संचित किया गया है। उदाहरणार्थ शुनःशेप, वामनावतार, इन्द्र–अहल्या जार, मरूत्, ययाति तथा पुरूरवा–उर्वशी आदि अनेक प्राचीन आख्यानों का पुराणों में वर्णन किया गया है। अवतार वाद का प्रभाव दिखाने के लिए मत्स्य, कर्म्म, वाराह तथा वामन आदि की कथाओं का भी इनमें समावेश हुआ हैं। इनके अलावा बहुत से नये आख्यानों का भी जन्म हुआ है, जिनके विषय में यह कहना कठिन है कि वे पुराणों के लेखक की कल्पना से लिखे गये अथवा लोकानुश्रुति से ग्रहण किये गये थे। भागवत धर्म का प्रभाव प्रकट करने के लिए भगवद्भक्तों की बहुत सी कथाएं भी पुराणों में सम्मिलित कर ली गयी हैं। उदाहरण के लिए आजामिल, पिंगला, गणिका, गजकर्ण, धुन्धकारी, गजग्राह–युद्ध आदि की कथाएँ इसी कोटि की हैं। इसके अतिरिक्त विविध धार्मिक सम्प्रदायों के प्रभाव के कारण पौराणिक आख्यानों में संकीर्ण साम्प्रदायिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उनमें परिवर्तन, ... वर्द्धन और संशोधन भी होते रहे, जिन्होंने पुराणों का स्वरूप बहुत विकृत कर दिया और पुराण 'भानुमती के पिटारे' की भान्ति हो गये।

पुराणों का अध्ययन करने पर उनकी रचना शैली के आधार पर उनके आख्यानों की कुछ विशेषताएँ भी देखी जा सकती हैं, जो इस प्रकार हैं –

1) पुराणों की रचना वक्ता–श्रोता पद्धति पर हुई है। सूत और सैनिक संवाद के रूप में अधिकांश पुराण लिखे गये हैं; अतः कथा की परम्परा बताने तथा

शंका–समाधान के रूप में कथा कही गयी है।

2) पुराणों में अलौकिक, अतिमानवीय और अति प्रस्कृत ...... और उनके अतिशयोक्ति पूर्ण कथन का अधिवय है, जो अर्थवाद का रूप है।

3) पुराणों में प्रबन्ध काव्य और धर्मगाथा (माइथॉलाजी) की शैलियों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

4) बहुत से आख्यान कई पुराणों में एक जैसे मिलते हैं। प्रत्येक पुराण में कुछ ऐसे भी आख्यान हैं, जो दूसरों में नहीं मिलते और कुछ आख्यान कुछ परिवर्तन के साथ कई पुराणों में ग्रहण कर लिये गये हैं।

5) जो पुराण जिस देव–सम्प्रदाय से विशेषतः सम्बन्धित हैं, उनमें उसी के इष्ट देव का माहात्म्य और गौरव आख्यानों के माध्यम से वर्णित किया गया है।

6) .... उपवास आदि धार्मिक कृत्यों, तीर्थों तथा पुराण .... की महिमा का वर्णन अधिकांश पुराणों का मुख्य विषय प्रतीत होता है, जो कथाओं के माध्यम से प्रतिपादित हैं। इन विषयों के कारण इन पुराणों में पंच लक्षणों के निष्ठापूर्वक निर्वाह की भी अवहेलना कर दी गयी है।

7) पुराणों के आख्यानों का गठन किसी योजना और क्रम के अनुसार नहीं है। इस दृष्टि से उनकी कथा–वस्तु शिथिल है और उनमें अवान्तर प्रसंगों और विषयों का आधिक्य हैं।

इस प्रकार पुराणों में सामान्य जन को रोचक एवं रूपात्मक शैली में अध्यात्म, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, सृष्टि–विज्ञान, इतिहास एवं खगोल–शास्त्र आदि का ज्ञान करवाने के लिए आख्यानों का समायोजन किया जाता है। इस लिए पुराणों में संकलित आख्यानों का अनेक दृष्टियों से महत्त्व है। उन्हें कपाले–कल्पित, अप्रमाणिक, मिथ्या मानना अपने ही अज्ञान का परिचय देना है। पुराण कथाओं के बाहय आवरण को भेद कर उनके मूल तत्व तक पहुँचना तभी सम्भव हो पाता है, जब उन आख्यानों के मर्म को भली भान्ति समझा जाये, क्योंकि पुराणों के तथ्यों को कल्पना के मिश्रण से मनोरंजक बनाया गया है तथा आख्यान के आवरण में उन्हें सामान्य जन के लिए बाह्य बनाने की चेष्टा की गयी है। प्राचीन काल में पुराणों को सुनने–सुनाने का माहात्म्य कदाचित इसी लिए लोक में अधिक माना जाता था, क्योंकि ये पुरान ज्ञान–विज्ञान के प्रसारण के उपर्युक्त साधन थे। पुराणों की कथा–शैली को न समझकर उनके प्रति अश्रद्धा प्रकट करने की प्रवृत्ति आजकल विशेष रूप से देखी जाती है, जबकि प्राचीन संस्कृत–साहित्य में इतिहास और पुराण दोनों अलग विद्याओं के नाम थे जिनका अध्ययन और अनुशीलन नित्य प्रति करना आवश्यक माना जाता था, जैसाकि शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है –

"इतिहासपुराण मित्यहरहः स्वाध्ययमधीते" (11.5.7.9)।

पुराणों के आख्यानों को देखकर उन्हें अविश्वसनीय कहते समय लोग यह भूल जाते हैं कि पुराणों के वंश और वंशानुचरितों में मानव सभ्यता के जिस इतिहास का वर्णन है, वह ऐतिहासिक होते हुए भी पौराणिक है, और इसीलिए उसमें तथ्यान्वेषण करते समय सावधानी की आवश्यकता है। पुराण सृष्टि–विद्या का नाम है ओर उसमें मानव–इतिहास के साथ–साथ नक्ष–नक्षत्रों का वर्णन तथा नाना प्राकृतिक व्यापारों .... का आलंकारिक शैली में निरूपण भी होता है। .... में अचेतन ग्रह–नक्षत्रों तथा चेतन मानव की भावनाओं का मानवीकरण करने के साथ–साथ सत्कर्मों में

प्रवृत्तिर और दुष्कर्मों से विरक्ति उत्पन्न करने के लिए भी रोचक और अद्‌भुत कहानियों का संकलन किया गया है। यदि पुराणों के उपमित कथा–रूप को समझा जा सके तो उनकी बहुत सी कथाओं और वृन्तों के पीछे सृष्टि–विज्ञान, मानव–स्वास्थ्य, आचार–शास्त्र और मानव–इतिहास के उपयोगी तथ्यों का संयोजन लेगा। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ पौराणिक आख्यानों का सामान्य परिचय एवं उनका महत्त्व देना अनु ....।

2.4.1 इन्द्र–अहल्या–आख्यान

वस्तुतः इस आख्यान का मूल स्रोत वैदिक साहित्य है। इस कथा का प्राचीनतम रूप शतपथ ब्राह्मण (3.3.4.17–19) में प्राप्त होता है। पुराणों में ब्रह्म पुराण (अध्याय 87) में यह कथा गौतमी गंगा तथा इन्द्र–तीर्थ के माहात्म्य–वर्णन प्रसंग में उपलब्ध है। यहाँ अहल्या के जन्म एवं पालन–पोषण आदि की घटनाएँ 'रामायण' के उत्तरकाण्ड के समान हैं, शेष घटनाओं में नवीनता है। तदनुसार ब्रह्म द्वारा निर्मित अपूर्व रूप–गुण सम्पन्न कन्या (अहल्या) को जब यौवनावस्था तक अपने पास रखने के बाद गौतम ऋषि ने ब्रह्मा को अक्षत ही लौटा दिया, तब ब्रह्मा उनके संयमपूर्ण आचरण से बहुत प्रसन्न होते है। छन्द, अग्नि, वरूण आदि सभी देवता उस पूर्ण युवती अहल्या को माँगने लगे। उन सभी देवतााओं में इन्द्र अधिक आतुर थे। तब ब्रह्मा ने शर्त रख दी कि जो पृथ्वी की परिक्रमा करके सबसे पहले लौटेगा, उसी को अहल्या मिलेगी। सभी देवता परिक्रमा करने चल पड़े। गौतम ने अर्द्धप्रसूता कामधेनु को पृथ्वी–स्वरूपा मानकर उसी की प्रदक्षिणा की और उन्होंने शिवलिंग की भी परिक्रमा कर ली। तब ब्रह्मा के पास आये। ब्रह्मा ने गौतम को अहल्या दे दी। सभी देवता निराश हो गये। इन्द्र के मन में ईर्ष्या जागी। ब्रह्मा ने ब्रह्म गिरि का क्षेत्र गौतम का दे दिया, जहाँ रहते हुए वे तप करते थे। इन्द्र .... एक बार गौतम के आश्रम में आया और ब्राह्मण के रूप में बहुत दिनों तक वहाँ रहा। एक दिन गौतम शिष्यों सहित कहीं बाहर गये हुए थे। तब गौतम का रूप धारण करके इन्द्र अहल्या के पास गये। अहल्या ने उन्हें गौतम मानकर उनसे साथ रमण किया। तभी गौतम वापस आ गये। आश्रम के रक्षकों ने उन्हें द्वार पर ही कह दिया कि आप आश्रम के भीतर और बाहर रहते हैं, यह आपके तप का ही प्रभाव है। गौतम की आवाज सुनकर अहल्या ने जोर से पूछा कि तू कौन है? तब गौतम के शाप के भय से इन्द्र बिदाल बनकर छिप गया। अहल्या भी लज्जा .... कुछ नहीं बोली। गौतम ने जब शाप देने की बात कही, तब बिडाल रूपधारी इन्द्र अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुआ। गौतम ने इन्द्र को सहस्रभग तथा अहल्या को शुष्क नदी हो जाने का शाप दिया। परन्तु अहल्या ने जब अपने को निर्दोष बताया तब गौतम ने अहल्या को शाप–मोचन का उपाय बताते हुए कहा कि गौतमी गंगा से जब तुम्हारे नदी रूप का संगम हो जायेगा तब तुम अपना पूर्व रूप प्राप्त कर लोगी। इन्द्र ने भी अपराध स्वीकार कर शाप–मुक्ति का उपाय पूछा। तब गौतम ने उन्हें यह कहा कि गौतमी गंगा में स्नान करने से तुम्हारे पाप नष्ट हो जाएंगे और तुम्हारे सहस्रभग सहस्र नेत्रों में परिवर्तित हो जाएंगे। यह कथा (आख्यान) कुछ परिवर्तन और नवीनताओं के साथ पद्मपुराण (सृष्टि खण्ड, अ. 56), श्रीमद्‌भागवत पुराण (9.21.33–34), देवी भागवत पुराण (6.8.12–13), ब्रह्मवैवर्त पुराण (कृष्ण जन्म खण्ड, 47, अध्याय तथा 61–62 अध्याय), स्कन्द पुराण (खण्ड, 207–208 और अवन्ती खण्ड, अ. 136) तथा अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है।

वस्तुतः इस आख्यान का निहितार्थ कुछ और है। कुमारिल भट्ट के तन्त्रवार्तिक (1.3.7) से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण तेजस्वी पदार्थों में ऐश्वर्य है, इस कारण तेज फुल को इन्द्र कहा गया है। दिन में लीन होने के कारण .... का शाब्दिक अर्थ रात्रि है, सूर्य

ही रात्रि के क्षय स्वरूप जरण का कारण है। अहल्या अर्थात् रात्रि जिसमें जीर्ण हुई अथवा जिसके उदय होने से अहल्या जीर्ण हुई, उसी को अहल्या–जार कहते हैं। 'अहल्या–जार' शब्द का अर्थ सूर्य है। इस आख्यान में पर स्त्री के साथ व्याभिचार की बात आलंकारिक शैली में ही कही गयी है। यहाँ अहल्या रात्रि का वाचक है और इन्द्र सूर्य का। रात्रि के पीछे सूर्य का दौड़ना तो एक प्राकृतिक सत्य हैं, अतः देवताओं द्वारा धर्म–उल्लंघन करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यही इसका आलंकारिक वर्णन है। इस यथार्थ रूप को न समझने के कारण लोग इसे सत्य कथा मान बैठते हैं। जबकि वस्तुतः यह प्राकृतिक घटना का आलंकारिक वर्णन मात्र है।

2.4.2 चन्द्रमा द्वारा गुरू–पत्नी तारा का अपहरण

यह आख्यान वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। इसका उद्‌भव एवं विकास पौराणिक साहित्य में ही हुआ है। हरिवंश पुराण (हरिवंश पर्व, 25.3–6; 25.20–49) में यह आख्यान प्राप्त होता है। तदनुसार जब अत्रिमुनि की आँखों से सोम–रूप तेज जल के आकाश में चढ़ने लगा, तब ब्रह्माजी ने चन्द्रमा को बीज, औषधि, ब्राह्मण और जल का राजा बना दिया। प्रचेताओं के पुत्र दक्ष ने अपनी नक्षत्र–रूपिणी सत्ताइस कन्याएँ चन्द्रमा को ब्याह दी। चन्द्रमा ने राजसूय यज्ञ किया। उसे अहंकार हो गया। अनीतिवश उन्होंने ब्रह्मस्पति की भार्या द्वारा .... अपहरण कर लिया। देवताओं तथा देवविषयों के कहने पर भी उसने तारा को नहीं लौटाया। बृहस्पति बहुत क्रुद्ध हुए। चन्द्रमा शुक्राचार्य की शरण में चला गया। इस बात को लेकर देवताओं और दानवों में संग्राम छिड़ गया। रूद्र ने बृहस्पति की सहायता की, क्योंकि वे बृहस्पति के पिता आंगेरा के शिष्य थे। ब्रह्म ने दोनों पक्षों को समझा–बुझाकर यह युद्ध बन्द कराया और तारा को लाकर बृहस्पति को दे दिया। उस समय तारा गर्भवती थी। बृहस्पति ने अपने क्षेत्र में पराये बीज पर आपत्ति की। तारा ने सीकोंके झुरमुट में जाकर तेजस्वी बुध का जन्म दिया। ब्रह्म के पूछने पर तारा ने यह बता दिया कि यह .... का पुत्र है। यह आख्यान कुछ नवीनताओं के साथ ब्रह्म पुराण (अ. तथा 152), पद्‌म पुराण (सृष्टि खण्ड, अ. 12 तथा उत्तर खण्ड, अ. 211), विष्णुपुराण (4.6), वायु पुराण (अ. 90), श्रीमद्‌भागवत पुराण (9.14), देवी भागवत (स्कन्द 1, अ. 11), अग्नि पुराण (अ. 274), भविष्य पुराण (उत्तरार्द्ध, अ. 88), पूर्णिमा व्रत के प्रसंग में), ब्रहम वैवर्त पुराण (प्रकृति खण्ड, अ. 58–61 तथा कृष्ण जन्म खण्ड, अ. 80–81), वाराह पुराण (अ. 32), स्कन्द्र पुराण (काशीखण्ड, पूर्वार्द्ध, अ. 15), मत्स्य पुराण (अ. 23–24), ब्रह्माण्ड पुराण (मध्य भाग, उपोद्‌घात पाद, अ. 65) और गरूण पुराण (पूर्व खण्ड, 139.1–2) में प्राप्त होता है। यहाँ ध्यातव्य बात यह है कि कुद पुराणों के अनुसार तार स्वयं चन्द्रमा के यहाँ गयी थी। चन्द्रमा उसे देखकर कामासक्त हो गया था। तारा भी उसके वैभव को देखकर काम पीड़ित हो गयी और दोनों ने स्वेच्छा से भोग किया। ऐसा आख्यान प्राप्त होता है और अपहरण की बात नहीं कही गयी है। कुछ पुराणों में कथा संक्षेपेण प्राप्त होती है।

वस्तुतः यह आख्यान एक आध्यात्मिक रूपक के रूप में प्राप्त होता है। इसका निहितार्थ यह है कि बृहस्पति और चन्द्रमा तो गुरू–शिष्य के प्रतीक हैं। गुरू–विद्या में रमण करता है, इसलिए यह उसकी पत्नी हुई। यह विद्या साधारण नहीं है, प्रत्युत 'तारा' है, जो संसार–सागर से तारती है (तारयति संसार सागरात् या सा तारा–विद्या)। शिष्य गुरू की विद्या को ग्रहण करता है, इसे ही गुरू पत्नी तारा का शिष्य चन्द्रमा द्वारा अपहरण कहा गया है। गुरू की विद्या पाकर शिष्य के .... कारण में ज्ञान पैदा होता है, उसे ही 'बुध' कहा गया है। जब शिष्य को ज्ञान मिल

जाता है तब उसे विद्या की आवश्यकता नहीं रहती, अतः वह विद्या पुनः गुरू के पास लौट जाती है, जैसे कि तारा बृहस्पति के पास चली गयी। यहाँ आलंकारिक वर्णन के माध्यम से इस आध्यात्मिक रहस्य को प्रस्तुत किया गया है। अतः आख्यानों में असंगत या अधर्म की बात नहीं कही जाती प्रत्युत रूपकादि अलंकारों के द्वारा उसे रोचक व जिज्ञासापूर्ण बनाने का प्रयत्न किया जाता है। यही इसका भर्म है, जो जन–सामान्य तक पहुँचाया जाता है। अनीति, अनाचार आदि का उल्लेख करना पुराणों का प्रयोजन नहीं है। इस बात का ध्यान अवश्य करना चाहिए।

2.4.3 अगस्त्य द्वारा दक्षिण दिशा का सेवन एवं विन्ध्याचल को 0 पर बढ़ने से रोकना

यह आख्यान सर्वप्रथम वाल्मीकि रामायण (अरण्यकाण्ड, 11.79–85) में उपलब्ध होता है। पुराणों में मात्र स्कन्द पुराण (काशी खण्ड, पूर्वार्द्ध, अ. 9–5) में यह कथा प्राप्त होती है। तदनुसार एक बार देवर्षि नारद ने सुमेठ गिरि .... अपना अपमान सुनकर विन्ध्याचल ईर्ष्या तथा क्राचम आकर आकाश की ओर 0पर बढ़ने लगा और सूर्य का मार्ग रोक कर खड़ा हो गया, जिससे समग्र विश्व काँप उठा और सभी देवता घबरा कर ब्रह्मा के पास पहुँचे। ब्रह्मा ने उन्हें महर्षि अगस्त्य के पास जाकर प्रार्थना करने हेतु भेजा। तब अगस्त्य लोपामुद्रा को काशी छोड़ कर विन्ध्य के पास पहुँचे। उन्हें देखते ही विन्ध्य इतना छोटा हो गया मानो धरती में समा जाना चाहता हो। अगस्त्य ने विन्ध्यपर्वत को आदेश दिया कि देखो, जब तक मैं यहाँ पुनः लौटकर न आॅ0 तब तक तुम उसी तरह लघुरूप में रहना। तब अगस्त्य दक्षिण दिशा को चले गए और विन्ध्याचल आज भी उनकी प्रतीक्षा में उसी रूप में खड़ा है।

इस आख्यान का निहितार्थ यह है कि अधिदैवत पक्ष में सूर्य अगस्त्य एवं पृथ्वी लोपामुद्रा है। इसी प्रकार परमेश्वर और प्रकृति को भी अगस्त्य और लोपापमुद्रा कहा जा सकता है। दक्षिण दिशा भी पृथ्वी पर होने के कारण लोपामुद्रा को ही माना जाता है। अध्यात्म की दृष्टि से विचार करने पर मनुष्य का मन अगस्त्य तथा लोपामुद्रा तन का वाचक है। अतः ये मनः स्थितियों के प्रतीक रूप में भी .... सकते हैं। पौराणिक दृष्टि अर्थात् सृष्टि .... विचार करने पर दक्षिण दिशा की ओर गमन करने वाले अगस्त्य (सूर्य) की प्रतीक्षा करता हुआ विन्ध्याचल एक अविश्वसनीय कल्पना नहीं, प्रत्युत भूगर्भशास्त्र के एक तथ्य का आख्यानात्मक निरूपण मात्र है। अगस्त्य का दक्षिण अर्थात् पृथ्वी के और निचले स्तर सुतल में चले जाना पर्वतों के 0ँचे बढ़ने की समाप्ति का सूचक है। इसी प्रकार सभी आख्यानों को प्रतीकात्मक का आलंकारिक वर्णन समझकर उनके गर्भ ....

प्रमुख पौराणिक आख्यान : प्रस्तुत प्रसंग में मात्र परिचय के लिए कतिपय पौराणिक आख्यानों को अकारादिक्रम से यहाँ दिया जा रहा हैः

अगस्त्य ऋषि समुद्र शोषण, इन्द्र–अहल्या आख्यान, इन्द्र का अपने वज्र से पर्वतों के पंख काटना, उषा–अनिरूद्ध प्रेमाख्यान, कच–देवयानी–प्रेमाख्यान, कर्ण–जन्म की कथा, कर्ण द्वारा इन्द्र को कवच दान, कृष्णावतार की कथा, कृष्ण द्वारा कालियनाग का दमन, कृष्ण का गोपियों के साथ महारास, कृष्ण द्वारा कुब्जा का कूबड़ ठीक करना, कृष्ण द्वारा कंस–वध, कृष्ण का राधा और गोपियों से पुनमिलन, कृष्ण द्वारा सांदीपनिगुरू के पुत्र को यमपुर से वापस लाना, कृष्ण द्वारा सुदामा का दारिद्रय दूर किया जाना, कृष्ण से ब्याध कर प्रतिशोध लेना, कृष्ण द्वारा स्वर्ग से अमृत–लाना, चन्द्रमा और सूर्य से राह की शत्रुता, कृष्ण चन्द्रमा का कलंकी होना, चन्द्रमा का क्षयी

होना, जनमे जय का नाग–यज्ञ, द्रौपदी का अक्षय भण्डार, नल–दमयन्त्री प्रेम ख्यान, नागों का पाताल लोक में वास, नारद–मोह की कथा, नृसिंहावतार की कथा, परशुराम द्वारा सहस्रबाहु तथा अन्य क्षत्रियों का विनाश, पाण्डवों द्वारा कर्म–फलभोग, भागीरथ द्वारा गंगा का पृथिवी पर लाना, राम कथा, विष्णु का मत्स्यावतार, शंरखासुर को लीलना और वेदों का उद्धार, विष्णु के वामनावतार की कथा, शंकुन्तला–दुष्यन्त–प्रेमाख्यान, श्रवणकुमार की कथा, शिवजी के ललाट पर द्वितीया का चन्द्र, शिवजी द्वारा ब्रह्मा की हत्या और कामदेव की हत्या, शिव जी का कामदेव से पराजित होना, शिवजी द्वारा अन्धकार का वध, शिव जी का त्रिनेत्र और योगीश्वर होना, शिव जी कोशरण में आकर आकार राम का रण–जीतना, शिव जी द्वारा त्रिपुर–संहार, शिव जी द्वारा दक्ष–यज्ञ विध्वंस, शिव जी द्वारा सती का परित्याग, शिवजी का पार्वती के कहने से कैलाश छोड़ना, शुकदेव जी का दो घड़ी से अधिक कहीं न ठहरना, समुद्र–मंथन की कथा, हनुमान का आकाश में चढ़ना, हनुमान द्वारा ऋषि राक्षस (कालनेमि) का वध, हनुमान का भीम से युद्ध और अर्जुन की ध्वजा पर आसीन होना, हरिशचन्द्र की सत्यद्रिव्यता एवं दानशीलता की कथा आदि आख्यान पुराणों में दृष्टि .... होते हैं, जिन्हें तथ्यात्मक दृष्टि से समझकर उनके माध्यम से दी गयी शिक्षा या सन्देश का पालन करना .... योजन जानना चाहिए।

प्रायः सभी संवाद सूक्तों में आख्यानों के संकेतों का आभास मिलता है। विश्वामित्र नदी संवाद नदियों के अधिदेवत्व और उनके मातृतया स्वरूप का निर्देश करता है। यमयमी संवाद सूक्त भाई और बहिन के वैवाहिक सम्बन्ध के निषेध को रेखांकित करता है। राजा रथवीति और ऋषि श्यावाश्व का आख्यान ऋषिभाव की प्रतिष्ठा के निमित्त है। आर्जीगर्ति शुनःशेप और वरूण की कथा के द्वारा सदाचार के मार्ग पर चलने का शाश्वत संदेश दिया गया है। इन्द्र ने अगस्त्य ऋषि के साथ संवाद मे ंधर्म का गूढ़ रहस्य बताते हुए कहा है कि धार्मिक कार्य को करने में कभी भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। धर्म का निश्चय करने वाला चित्त दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाता है।

इस उपदेश की पृष्ठभूमि के लिए इन्द्र का देर से पहुँचना और आगस्त्य का मरूतों को हवि दे देना आदि वृतांत माध्यम बनाया गया है। नाभानेदिष्ठ आख्यान में संकेतिक रूप से यह तथ्य समझाया गया है कि इस सृष्टि में चेतन अचेतन रूप जितने भी पदार्थ है, उनका स्वामित्व एवं उपयोग का सम्बन्ध मनुष्य तक ही सीमित नहीं है।

ऋग्वैदिक आख्यानों में अध्यात्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों और विचारों का निर्देश भी बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। बार–बार उल्लिखित किये जाने वाला देवों और असुरों का संघर्ष आदि भौतिक अर्थ में प्रकाश और अन्धकार का संघर्ष है। तो आध्यात्मिक दृष्टि में सुवृत्तियों और दुष्प्रवृत्तियों को द्वन्द्व का संसूचक कहा जा सकता है जो मानवीय अन्तःकण में नित्यप्रति चलता रहता है। दाशराज्ञ युद्ध का ऋग्वैदिक उपाख्यान लाक्षणिक रूप में बड़ी सरलता से इस ऋषि दृष्टि को प्रस्तुत करता है कि इन्द्र रूप जीवात्मा की सहायता से सुदास रूप सुन्दर संकल्प दस राजा रूप अनेक शक्तियों पर भी जय प्राप्त कर सकता है।

कुछ ऋग्वैदिक आख्यानों के अन्तर्निहित स्वरूप को संक्षेप में समझाने का यहाँ प्रयास किया गया है। प्रत्येक आख्यान में असीम अर्थ की सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं। ऊपरी तौर पर उनसे सामाजिक, नैतिक और व्यावहारिक शिक्षाओं का अधिग्रहण किया जा सकता है। पर उसी को आख्यान का वास्तविक स्वरूप मानकर सन्तोष कर लेना उचित नहीं। वेद के वेदत्व के अनुरूप आख्यानों से समन्तात् है आख्यापित् अर्थ अध्येताओं के लिए सदा ही गवेषणीय बने रहेंगे क्योंकि भाषा सीमित और अपर्याप्त है और ऋषि–दृष्टि अर्थ असीमित और पर्याप्त।

2.5 सारांश

वेद में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ प्राप्त करने के लिये विवेच्य विषय का विवेचन सूत्र, व्युत्पत्ति, कथा दृष्टान्त एवं संवाद विधियों की भांति कथा एवं आख्यान विधि भी वैदिक ज्ञान सम्प्रेषण का एक सशक्त माध्यम है। आख्यान द्वारा विषय का स्पष्टीकरण किया गया है। वैदिक ज्ञानपरम्परा में ज्ञान–विज्ञान की जितनी बातें बताई गई है, वे सभी कहीं न कहीं आख्यान से जुड़ी हुई है।

आपने पढ़ा कि आख्यान परम्परा का बीजरूप ऋग्वेद से मिलते हैं। देवों तथा ऋषियों के स्तुति के रूप में प्राप्त होती है। जैसे–जैसे परिस्थितियाँ बदलती गयी और नवीन युग का आगमन हुआ इस नवीन युग की नयी रचना धर्मिता विकसित हो गई। यही कारण है कि वेदों से अधिक और पूर्व विकसित आख्यान पुराणों में मिलते हैं यह बात अलग है कि पौराणिक आख्यानों में कल्पना के तत्त्व अधिक है। पौराणिक आख्यानों में पुराण लेखन काल के सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है। जैसे–इन्द्र, गौतम की पत्नी अहिल्या तथा इन्द्र सम्बन्धित आख्यान शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। यह आख्यान पुराणों में विकसित होकर वर्णित है।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

2.7 सन्दर्भग्रन्थ

1. वैदिक आख्यान, डॉ0 गंगासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

2.8 बोध प्रश्न

1. वैदिक आख्यान परम्परा तथा पौराणिक आख्यान परम्परा के ज्ञानात्मक पक्षों पर विचार कीजिए
2. इन्द्र वृत्त आख्यान का विषयवस्तु अपने शब्दों में लिखिए।
3. पुराणों में वर्णित अगस्त्य ऋषि द्वारा दक्षिणभारत गमन सम्बन्धी आख्यान को अपने शब्दों में लिखिए।

इकाई 3 लोकाख्यान एवं परम्परा से सातत्य

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- लोकाख्यान का अर्थ एवं उनके प्रमुख तत्त्वों से परिचित हो सकेंगे।
- वैदिक आख्यान तथा लोकाख्यान में भेद एवं अभेद का विश्लेषण कर सकेंगे।
- लोकाख्यान का मूल वेद हैं, इस तथ्य से परिचित हो सकंगे।
- लोकाख्यान से जुड़े हुए प्रश्नों का समुचित उत्तर लिखने में सक्षम हो सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

भारत में लोक आख्यान की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। लोक आख्यान लोकगाथा के रूप में प्रचलित है। गाथा शब्द की वैदिक है। 'पद्य' या गीत के अर्थ में गाथिन् शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में पाया जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण ने. ऋक् (मंत्र) तथा गाथा में अन्तर दिखलाया है। ऋक् दैवी होती थी। गाथा (मानुषी) अर्थात् गाथाओं के निर्माण में मनुष्य का योग अत्यन्त आवश्यक है। ब्राह्मण ग्रंथों में गाथाएँ ऋक्, यजुः साम से पृथक् होती थी अर्थात् गाथाओं में मंत्र का प्रयोग नही होता।

अतः प्राचीन काल से किसी विशिष्ट व्यक्ति (राजा) का अवदान सत्कृत्य को ध्यान में रखकर जो लोक गाथाएँ, लोकगीत, समाज में जनता द्वारा गाये कहे जाते थे, उन्हें लोकगाथा कहा जाता है।

इस इकाई में वैदिक गथा परम्परा जो आगे चलकर लोकगाथा, लोकाख्यान के रूप में विकसित हुआ है उसका परिचय प्राप्त करने जा रहे है कि किस प्रकार ये लोकाख्यान मानव प्रतिभा से उत्पन्न होकर वैदिक आख्यान परम्परा से पौराणिक आख्यान, महाकाव्यों, काव्यों के माध्यम से होते हुए समान्य जन तक लोकाख्यान की परम्परा चलती आयी है।

3.2 लोकाख्यान का अर्थ एवं स्वरूप

लोक शब्द अत्यन्त प्राचीन है। 'लोक' शब्द संस्कृ के लोकृदर्शने धातु से 'धञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। इस धातु का अर्थ देखना होता है। इस प्रकार वह समस्त जनसमुदाय जो इस कार्य को करता है, वह 'लोक' कहलायेगा। पुरूषसूक्त में 'लोक' शब्द का व्यवहार जीव एवं स्थान दोनों अर्थों में किया गया हैं–

नाभ्या आर्सादंतरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिदशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन्।।

पाणिनि ने वेद से पृथक् लोक की सत्ता स्वीकार की हैं। इसी प्रकार से नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि ने भी अनेक लोकधर्मी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। भगवद्गीता में भी लोक तथा लोकसंग्रह शब्द पर बड़ा बल दिया गया है। यहां लोकसंग्रह शब्द का अर्थ साधारण जनता का आचरण, व्यवहार तथा आदर्श है।

'लोक' शब्द की परिभाषा : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' के सम्बन्ध में अपने विचार को प्रकट करते हुए लिखा है कि 'लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई यह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रूचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते है और परिष्कृत रूचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुऐं आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं। विश्वभारती के उड़िया विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ0 कुंज बिहारी दास ने लोक गीतों की परिभाषा बतलाते हुए 'लोक' शब्द की भी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने लिखा है 'लोकगीत' उन लोगों के जीवन की अनायास प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति हैं जो सुसंस्कृत तथा सुसभ्य प्रभावों से बाहर, कम या अधिक रूप में आदिम अवस्था में निवास करते हैं। डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय के मत के अनुसार 'लोक' की परिभाषा निम्नलिखित हैं–

आधुनिक सभ्यता से दूर, अपने प्राकृतिक परिवेश में निवास करने वाली, तथाकथित अशिक्षित एवं असंस्कृत जनता को 'लोक' कहते हैं जिनका आचार–विचार एवं जीवन परम्परायुक्त नियमों से नियंत्रित होता है।

इससे यह ज्ञात होता है कि जो लोग परम्परा में वर्तमान हैं, उन्हें 'लोक' की संज्ञा दी जाती है। इनकी ज्ञानशक्ति मौखिक रूप से संवाहित होती रहती है। 'लोक' से ही मिलता–जुलता शब्द पश्चिम में 'फोल्कलोर' की अवधारणा पायी जाती है। जानाब्रे की पुस्तक 'रिमेन्स ऑफ जेन्टेलिज़्म एण्ड जुडाईज़्म' तथा जेब्रेन्ड की पुस्तक 'ऑबजोब्रेशन ऑन पॉपुलर एक्टिविटिज़' फोल्कलोर की अवधारणा से जुड़ी हुई प्रारम्भिक पुस्तक हैं। इग्लैण्ड के एक प्रसिद्ध पुरातत्त्वेता विलियम जॉन थॉमस ने फोल्कलोर शब्द इतना लोकप्रिया हुआ कि आज संसार के सभी भाषाओं के इस विषय का अध्ययन किया जाता है। डा0 फेजर का ग्रन्थ 'गोल्डेन बाउ' जो बारह भागों में प्रकाशित है, इस विधा का महत्त्वपूर्ण साहित्य है। इनके अलावा 'ग्रिन ब्रदर्स' ने जर्मनी के लोकगाथाओं का संकलन 'ग्रिम्स फेयरी टेल्स' के नाम से प्रसिद्ध है। डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल ने फोल्कलोर शब्द का हिन्दी पर्यावाची 'लोकवार्ता' बताया है।

3.3 प्रमुख लोकाख्यान

लोक अर्थात् सामान्य जन–मानस से जुड़ी हुई या जन सामान्य में प्रचलित कथा–कहानियाँ या लोक में घटित घटनायें लो कालान्तर में जन–सामान्य के लिए प्रेरणा–प्रदायक अथवा लोक–व्यवहार की शिक्षा देने वाली कथाओं के रूप में ग्रामीण समाज में कही या सुनाई जाती रहीं है, वे लोक आख्यान की परिधि में देखी जा सकती है। लोक–जीवन से सम्बन्धित वे कथा–कहानियाँ परवर्ती लोक अर्थात् सामान्य जनों के लिए आदर्श या नैतिक शिख देने का काम करती हैं। ऐसी काल्पनिक कथाएँ भी लोक आख्यान के रूप में मानी जा सकती हैं, जिनके द्वारा समाज में परिवार के वृद्ध या अनुभवी नाना–नानी, दादा–दादी युवाओं या बच्चों को अच्छे–बुरे, उचित–अनुचित आदि में भेद करने की शिक्षा के साथ–साथ उन्हें नैतिकता या नैतिक सामाजिक मूल्यों का भी उपदेश दिया करते थे। इन कथाओं में लोक की संवेदना, लोक की बौद्धिकता का निवेश, लोक–व्यवहारों की क्रियाशीलता आदि इन लोक–आख्यानों के केन्द्रीय आधार माने जाा सकते हैं। यही नहीं ये लोक जीवन–चक्र की लय का निर्धारण भी करते हैं। इस लय में लोक के विश्वासों, लोक की आस्थाओं, लोक के आसक्तिमूलक जीवन मूल्यों आदि का आवेग समाया रहता है। इन अख्यानों के माध्यम से लोक की अनेक छवियाँ केवल लोक के आसक्ति मोह में नहीं बँधी होती हैं, प्रत्युत इनके माध्यम से उस समय की बौद्धिक प्रतिक्रियायें भी क्रियाशीलता को प्राप्त होती हैं। ग्रामीण महिलाओं द्वारा किये जाने वाले ''हरितालिका व्रत'' ललही छट आदि व्रतों में गाये जाने वाले गीतों एवं सुनायी जाने वाली किस्से–कहानियों से ही लोक–आख्यान– परम्परा कर विकास हुआ है। इन लोक–गीतों के आख्यान, इनकी शब्द–रचना, इनका वर्ण्य–विषय आदि लोक–आख्यानों के मूल माने जा सकते हैं। विवाह के समय लोक में गाये जाने वाले रामी–सीता और शिव–पार्वती के वैवाहिक जीवन से सम्बन्धित गीत, पुत्रोत्पन्न होने पर कृष्ण और राम आदि चारों भाइयों के जन्म से जुड़ी हुई मांगलिक गीतों, यथा 'सोहर' आदि में उल्लिखित कथाएँ ही परवर्ती काल में लोक–आख्यान के रूप में प्रचलित हुई हैं। इसी प्रकार युवओं–युवतियों के प्रेम–प्रसंगों, यथा हीर–रांझा, लैला–मजनूँ आदि प्रेम–कथाएँ भी लोक–आख्यान की जनक कहीं जा सकती है। अतः लोक की सम्पूर्ण जीवनचर्या को ही लोक–आख्यान की परिधि में समाहित किया जा सकता है।

मौसम की भविष्यवाणी करने वाले आधुनिक संयन्त्र पुराने जमाने में लोक के पास नहीं थे, परन्तु उस समय के लोग अपने प्रतीकों के माध्यम से मौसम की सटीक और अचूक भविष्यवाणियाँ किया करते थे। समग्र लोक इन भविष्यवाणियों को घटित होते देखता था और उन पर अटूट दृढ़ विश्वास भी करता था। भड्डरी लोक में ऐसे ही भविश्यवक्ताओं में एक भविष्यवक्ता माने जाते थे, जिन्होंने ज्योतिष की शास्त्रीय पद्धति के समानान्तर अपनी एक लोक–ज्योतिष–निर्मित कर लिया था। गाँव का आदमी आज भी यदि शुक्रवार का बादल शनिवार तक आकाश में चारों ओर परिव्याप्त देखता है तो वर्षा होने की सम्भावना बतला देता है। इस विषय में लोक में भड्डरी की यह उक्ति कि ''**शुक्रवार की बादली रहे शनीचर छाया ऐसा बोले भड्डरी बिन बरसे न जाय।** प्रसिद्ध है। भड्डरी के ये कथन लोक–अभिप्रायों को अर्थ–गाम्भीर्य के साथ दो टूक बात करने की शैली में यथार्थः प्रकट कर देते हैं। इसी प्रकार ''यदि आषाढ़ शुक्ल नवमी को न बादल दिखें, और नहीं बिजली चमके तो किसान को अपना हल चीर–फाड़कर चूल्हे में ईंधन की भांति जला लो चाहिए तथा खेत में जिस बीज को बोना है, उसे पका कर भोजन कर लेना चाहिए'', भड्डरी का यह कथन भी लोक में

यथावत् प्रचलित है, यथा– ''आषाढ़ सुदी हो नवमी, ना बादल ना बीज। हल फारौ ईंधन करो बैठो चाबो बीज''। भड्डरी की ये भविष्यवाणियाँ लोक में भू–संरचना, जलवायु, वानस्पतिक परिवेश मानवीय संस्कृति आदि कारक मौसम के नियामक के रूप में आज भी प्रचलित हैं। अपनी लोक सापेक्ष अनुभवजन्य इसी दृष्टि के कारण वे आज भी लोक में प्रामाणिक बने हुए हैं और उनके कथन लोक को नाना प्रकार की व्यावहारिक शिक्षा दे रहे हैं। ''लोक के ये भड्डरी न केवल मौसम सम्बन्धी कथनों के लिए जाने जाते हैं, प्रत्युत सामाजिक और वैयक्तिक अभिक्रियाओं में आने वाले परिवर्तनों के संभावित परिणामों की भी वे भविष्यवाणी करते हैं। वे मौसम और समाज के संश्लेषण द्वारा मानवीय क्रिया–व्यापारों के सूक्ष्म अभिप्रायों को प्रकट करते हैं। उनके अनुसार ''यदि तीतर के रंग की बदली आकाश में दिखायी पड़े तो वह अवश्य बरसेगी और यदि विधवा स्त्री ने आँखों में काजल लगाया है, तो वह अवश्य अपना घर बसाएगी।'' यथा–

तीतर बरनी बादरी, विधवा कजर रेख।
वे बरसें वे घर करें कहें भड्डरी देख।।

लोक में प्रचालित भड्डरी के अनुभवपूर्ण ये कथन समाज को आज भी लोकव्यवहार–परक देने में समर्थ हैं। उनकी अनुभव जन्य यह आपर सम्पदा ठेठ शब्दों में प्रभावी शैली के साथ लोक को नाना प्रकार की शिक्षा देने के साथ–साथ उसे यथार्थ जीवन–बोध की दृष्टि से भी समृद्ध कर रही है। यही कारण है कि भड्डरी अपनी प्रामणिकता के कारण लोक में अब भी विश्वसनीय हैं। यह भी लोक–आख्यान की एक विधा है, जो सामान्य–जन को जीवन का बोध करवाने में आज भी समर्थ है।

लोक में प्रचलित गोदना गोदने की प्रथा में भी लोक–आख्यान के दर्शन होते हैं। गांवों में पहले किशोरी बालिकाओं के हाथों पर, पिण्डलियों पर नाक और कपोलों पर गोदनों की सुन्दर चित्रकारी की जाती थी, जो उनके लिए सौन्दर्याधायक माना जाता था। उस समय गांवों में इस लोकला में प्रवीण स्त्रियों को गोदनहारियाँ अथवा लिलहारियाँ कहा जाता था। किशोरी बालिकाएँ इन्हें देखकर डरती थीं, क्योंकि किशोरियों की कोमल काया या अंगों पर गोदने गोदते समय बहुत कष्ट होता था। यहाँ तक कि अंगों से रक्त भी निकल आता था, परन्तु देशी, प्राकृतिक वनस्पतियों का प्रयोग करके उस फूले हुए गोदने को अच्छा करने का उपचार भी किया जाता था। एक दो दिन के पश्चात् उस स्थान पर गोदे गये बूटे, मुकुट, मोर आदि के हरे–भरे, एवं आकर्षक अंकन उभर आते थे। एक तरह से ये गोदने शरीर की धरोहर माने जाते थे। तत्कालीन समाज में यह धारणा बद्धमूल थी कि ''काया पर गोदे गये ये चिन्ह मृत्यु के बाद भी स्त्री के सौभाग्य की रक्षा करते हैं और ये स्वर्ग में स्थान दिलाते हैं। आदिवासी क्षेत्रों में तो वक्ष और पेट पर भी गोदने गोद वाए जाते थे। कलाई पर अपने प्रिय अथवा अपने नाम गोदवाने का भी प्रचलन था। वस्तुतः प्रिय की स्मृति को सदैव अपने शरीर के साथ चिपकाए रहने की यह तरकीब प्रेम की आत्मीय पहचान समझी जाती है। इन लिलहारियों से सम्बन्धित लोकगीतों के माध्यम से राधा–कृष्ण के प्रणय का आख्यान लोक में प्रचलित था। किशोरियाँ प्रायः यह गीत गाती थी कि–

''बन गए नन्दलाल लिलहारी। गोदना गुदवा लो प्यारी''

इस गीत के माध्यम से राधा–कृष्ण के प्रणय सम्बन्धी आख्यान की झलक लोक में देखा जा सकता है, जहाँ राधा लिलहारी से अपने प्रत्येक अंग पर अपने प्रिय कृष्ण के नामों को अंकित करने का आग्रह करती है। मस्तक पर मुकुटधारी कपोल पर कन्हैया,

ग्रीवा पर गोविन्द आदि नामों के गीत में संकेत प्राप्त होता है। उसी गीत में तभी राधा को कृष्ण की कमर में छिपी हुई बाँसुरी दिख जाती है और रहस्य खुल जाता है। इन लोग–गीतों में लोक–आख्यान के रूप दृष्टिगोचर होते हैं, जो परवर्ती काल में पौराणिक आख्यानों का बृहद् रूप लेते हुए प्रतीत होते हैं।

एवमेव छत्तीसगढ़ की प्रसिद्ध लोक–गायकी ''पण्डवानी'' के अद्भुतरंगत के साथ लोक–आख्यान का सुन्दर उदाहरण माना जा सकता है। यह छत्तीसगढ़ी जन–मानस में प्रचलित महाभारत के प्रसंगों पर आधारित एवं गायन–श्रृंखला के रूप में एक लोक–गायन है। यह गायन के साथ–साथ एकल नाट्य भी है। पण्डवानी की प्रसिद्ध गायिका तीजनबाई को कौन भारतीय नहीं जानता। वे देश के विभिन्न क्षेत्रों में पण्डवानी लोक–गायन के माध्यम से कौरव–पाण्डव से सम्बद्ध ऐतिहासिक आख्यान का लोक में प्रचार प्रसार कर नही हैं। इनकी अपनी एक विशेष वेश–भूषा होती है। उनके साथ एक तंबूरा होता है, जो मोर–पंख के गुच्छे से सजाया रहता है। कमर में चौड़े पाट का चाँदी का डोरा अर्थात् करधनी, हाथों में बाजूबंद, बाँक जैसे छत्तीसगढ़ी आभूषण और काले सटे बालों की झूलती हुई वेणी तीजनबाई के व्यक्तित्व को और भी आकर्षक बना देती हैं। उनकी छत्तीसगढ़ी ढंग से पहनी हुई धोती और पाँवों में पैजनी तथा आँखों में काजल उनकी शोभा को और अधिक मनोहारी बना देता है। उनके साथ एक वादक मण्डली भी होती है। पण्डवानी गाने के साथ–साथ वे संवादों में उसका विस्तार भी करती हैं। अपने शरीर की मुद्राओं, चेष्टाओं और भाव–भंगिमाओं के माध्यम से उसे श्रोताओं की सहज रूप से समझाने के लिए अभिव्यक्त भी करती है। तीजनबाई अकेले ही सम्पूर्ण महाभारत मको आख्यायित करती हैं। उनकी इस प्रस्तुति से ऐसा लगता है जैसे तीजनबाई व्यास की लौकिक परम्परा की साक्षात् प्रतिमूर्ति हों। लोक में पण्डवानी लोक–गायन के माध्यम से महाभारत को सम्प्रेषित करने हेतु उनका अद्भुत कौशल होता है। गाते समय उनके पद–संचालन की गमिमयता और चेहरे की भाव–मुद्राएँ सम्पूर्ण दृश्य को सजीव बना देती हैं लोक–जीवन के मनोरंजन हेतु महाभारत के अथवा रामायण के कथानक को लोक–आख्यान के रूप में प्रस्तुत करने वाली तीजनबाई लोक में जीता–जागता उदाहरण है।

इसी तरह लोक में लोक–कथाएँ सुनाने और सुनने का प्रचलन था, जिसे लोक में 'किस्सागोई' कहा जाता था। इन लोक–कथाओं को भी लोक में आख्यान के रूप में देखा जा सकता है। फाल्गुन महीने की हल्की गर्मी आते ही गाँवों में किस्सा सुनाने का सिलसिला शुरू हो जाता था। श्रोताओं में से एक हूँका अर्थात् हुँकारा देता था, क्योंकि किस्सा सुनाने वाले को हूँका की ध्वनि प्रेरित करती है, और इससे किस्सा सुनाने वाला या अन्दाज भी लगाता चलता है कि कथा सुनी जा रही है। जैसे कि शंकर जी द्वारा सुनाई जा रही अमर कथा पार्वती सुन रही थीं। वे हूँका भी दे रहीं थीं हूँका देते–देते वे सो गई तो एक सद्यः जात पक्षिशावक हूँका लगाता रहा। कहा जाता है कि वही पक्षी शुकदेव के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। इस किस्सागोई विधा से भी लोक में कथा–कहानियों को सुनाने की चलन में लोक–आख्यान के दर्शन होते हैं। इन कथाओं में लोक का कौतूहल, लोक के सामाजिक मूल्य, लोक की सहजता, लोक का व्यंग्य, लोक की आशा–आकांक्षा आदि इस तरह समाये रहते कि उनका विवेचन करना बेझिल नहीं होता था और लोक को उनके माध्यम से एक सन्देश शिक्षा के रूप में प्राप्त होता रहता था। आज कल लोक–कथाओं का अभाव है, अतः लोक–मानस का सौन्दर्य–बोध भी कमजोर पड़ता जा रहा है। आज के गाँवों की नई पीढ़ी में सुनने–सुनाने की तहजीब भी खत्म हो गयी है।

भारतीय ग्रामीण परिवेश में आख्यानों को प्रायः आंचलिक लोक–गायन के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता रहा है। उदाहरणार्थ उत्तर–प्रदेश के कानपुर, लखनऊ, वाराणसी (बनारस) क्षेत्र में फार्ग (फगुआ) बिरहा, लावनी आदि लोक–गायनों में लोक–आख्यान की परम्परा दृष्टिगोचर होती है। 'फगुआ' लोक–गायन में राधा–कृष्ण, ब्रजवासियों में भगवान कृष्ण के प्रति प्रेम तथा अवध के राजा राम के प्रति प्रेम आदि के माध्यम से कृष्ण–कथा और राम–कथा का आख्यान लोक में प्रचलित है। इसी प्रकार लोक–गायन 'बिरहा' के द्वारा महाभारत के विविध प्रसंगों सत्यवान–सावित्री, नल–दमयन्ती, हरिश्चन्द्र आदि का आख्यान लोक में देखा जा सकता है। मिर्जापुर, उत्तर–प्रदेश के बिरहा–गायक श्री पन्धारी जी के बिरहा–गीतों में प्रसिद्ध लोक–चरित्रों के साथ–साथ महाभारत के नान प्रसंगों के आख्यान कथावस्तु के रूप में पिरोये हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इनको सुनने के लिए लोक में स्थल–स्थल पर इनके कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है, जिसे समग्र ग्रामीण–लोक श्रद्धापूर्वक श्रवण करता है और बिरहा के अन्त में प्रदत्त शिक्षा से लोक व्याहार के अनेकधिक महत्वपूर्ण सीख ग्रहण करता है। लोक–गायन 'लावनी' भी इसी प्रकार की एक माध्यम है, जिससे लोक अपने मनोरंजन के साथ–साथ अनेक पौराणिक आख्यानों से परिचित होता था। लावनी एक समूह–गायन है। इसमें प्रधान गायक के हाथ में मुरचंग होती है और शेष के हाथ में मजीरा होता है। सर्वप्रथम प्रधान गायक लावनी का मुखड़ा प्रस्तुत करता है, जिसे अन्य लोग दुहराते हैं। इसी प्रकार लावनी का विस्तार होता जाता है और इसमें पौराणिक–प्रसंगों से लेकर प्रसिद्ध लोक–चरित्रों के आख्यान कथावस्तु के रूप में एक के बाद एक क्रमशः आते रहते हैं। जैसे–जैसे लावनी चढ़ती जाती है वैसे–वैसे प्रधान–गायक के हाथों की गुरचंग भी तेज होती जाती है तथा मजीरे की ध्वनि भी तेज होती जाती है। लावनी–गायन में जब कई समूह एकत्रित हो जाते हैं तब वह प्रश्नोत्तरी शैली में भी गाई जाती है।

हमारे देश के हरियाणा राज्य में भी लावनी, बिरहा आदि की तरह 'रागणियाँ' गाई जाती है। 'रागनी' या 'रागणी' हरियाणा का प्रसिद्ध लोक–गायन है, जिसे 'साँग' भी कहा जाता है। ये साँग प्राचीन भारतीय परिवेश की प्रसिद्ध कथाओं पर आधारित होते हैं। इन्हे किस्से–कहानियों के रूप में भी गाकर सुनाया जाता है। साँग एवं रागणी में गद्य–पद्य दोनों होते हैं तथा बीच–बीच में संवाद या कथोपकथन भी होते हैं। लोक में मनोरंजन के साथ–साथ जनमानस को जागरूक करने या सावधान करने का यह एक सशक्त माध्यम होता है, जिनमें आख्यानों या किस्से–कहानियों के माध्यम से लोक को जीवन का याथार्थ अथवा मर्म सिखाया जाता है तथा प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों से सामान्य जन को अवगत कराया जाता है। इन रागणियों की पटकथा या विषय प्राचीन वैदिक अथवा पौराणिक आख्यानों पर आधृत होता है। हरियाणवी साँगों में प्रधानतया, हरिश्चन्द्र, नल–दमयन्ती, दुष्यन्त–शकुन्तला, हीर–राँझा, रानी पद्मावती, सत्यवान्–सावित्री, अंजना–पवन, शाही लक्कड़ द्वारा, किरणमयी वीरांगना, वीर विक्रमजीत (विक्रमादित्य), भर्तृहरि, गोपीचन्द, राजा भोज आदि आख्यानों अथवा महाभारत के विभिन्न प्रसंगों, यथा चरिहरण, शन्तनु का विलाप, श्रद्धा–सरण, शभुद्रमयन आदि तथा मातृ–पितृ भक्त श्रवण आदि से सम्बद्ध आख्यानों के दर्शन होते हैं। लोक में ये ———————————— हरियाणवी साँग या रागनियों के निर्माताओं और गायकों में प्रमुखतया पण्डित लखमी चन्द्र, पण्डित माँगेराम, पण्डित बाले भगत, जाट मेहर सिंह, पण्डित जगन्नाथ आदि का नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने लोक–आख्यान परम्परा को अपनी रागनियों के माध्यम से आज भी जीवित रखा है। उदाहरण के लिए कुछ कुछ हरियाणवी साँग दृष्टव्य हैं–

1. पंडित माँगेराम द्वारा रचित कृष्ण–जन्म से सम्बन्धित साँग की कतिपय पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

काम–क्रोध, मद–लोभ मारियों

यदु–कुल मांह जन्म धारियो,

बसुन्धरा का भार तारियो, मथुरा म्हं जाकै।।

शंख चक्र गदा पदम् प्रभु वैजन्ती गल में माला।

मोर मुकुट पिताम्बर बाण आ पहुँचा मुरली आलपा

शिवजी से ब्याह से सम्बंध साँ का उदाहरण टेक के रूप में–

बा राजा की राजकुमारी मैं सिर्फ लंगोटे आला सूँ।

भांग रगड़ कै पीवणियाँ मैं कुण्डी सोट्टे आला सूँ।।

2. पण्डित लखमीचन्द्र द्वारा रचित शाही लक्कड़हारा से सम्बंधित साँग की पंक्तियाँ–

मात–पिता हो जन्म देण के ना कर्म के साथी।

सतगुरु ज्ञान विचार बिना कोई बाणता ना हिमाती।।

विराट पर्व से सम्बद्ध साँग, जिसमें द्रौपदी (सैरेन्ध्री) को देखकर कीचक अपनी बहन सुदेषणा को कहता है–

ओ हे उसका राम जिसमै मन फंटा ज्या।

धाल की दासी नै मेरा घर हवस ज्या।।

3. पण्डित जगन्नाथ द्वारा रचित कृष्ण–सुदामा से सम्बद्ध साँग की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

जा कृष्ण जी नैन्यूं कहदे, तेरा यार बुलावै सै।

एक पाटे लत्यां आला माणस, तनै बाहर बुलावै सै।।

इस प्रकार अनेक पौराणिक या वैदिक प्रसंगों को लेकर लोक में मनोरंजन के साथ–साथ जीवन के तत्त्व बोध के लिए एवं अच्छे कर्म करने की प्रेरणा हेतु इन आख्यनों की परम्परा सदैव देखी जा सकती है।

3.4 लोकाख्यान का परम्परा से सातत्य

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि संस्कृत का वैदिक साहित्य (वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद) प्राचीन काल में 'श्रुति–परम्परा' से ही लोक में पढ़ाया–सुनाया जाता रहा है। अर्थात् लिखितम रूप में आने से पूर्व कई शताब्दियों तक यह सम्पूर्ण साहित्य गुरू–शिष्य परम्परा से प्राप्त ज्ञान के रूप में लोक में प्रतिष्ठित था। इसी प्रकार रामायण और महाभारत की कथा भी लोक में वक्ता–श्रोता पद्धति से प्रचलित थी। वस्तुतः कथा कहने की वक्ता–श्रोता पद्धति (पौराणिक हो या वैदिक) इनके लोक–गाथात्मक स्वरूप की ओर संकेत करती है। रामायण के विषय में तो प्रसिद्ध ही है कि उसको समग्र रूप में वाल्मीकि ने लव–कुश को कण्ठाग्र करा दिया था और वे उसे सस्वर गाते–फिरते थे। भारतीय राजपूतों की कथा भी लोक में गाथा–गायन के रूप में परिव्याप्त थी। आल्हा–उदल की कथा भी जन–सामान्य में इसी पद्धति से लोक को प्राप्त थी। गाथा–गायन की इस परम्परा ने ही आगे चलकर उन घुमक्कड़ गायकों को जन्म दिया जिनको बाद के साहित्य में '**कुशीलव**' जाति का कह कर

पुकारा जाने लगाा। मध्यकालीन भाट–चरणों के ये पूर्वजही वस्तुतः रामायण, महाभारत, पुराणों के आदिगायक रहे हैं। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में पल्लवित एवं विकसित जो वैदिक आख्यान हैं तथा इनसे भिन्न जो अन्य आख्यान हैं, वे कभी, लोक–वार्त्ता के रूप में रहे होंगे और हमारे चारण–भाँटों के पूर्वजों ने सदियों तक इन गाथाओं अथवा आख्यानों को लोक–गायन के रूप में गा–गाकर लोक का मनोरंजन किया होगा। 'पद्मपुराण' (उत्तरखण्ड, 230.30–32) के एक आख्यान में 'मकर' नामक दैत्य द्वारा ब्रह्मा के पास के वेदों को चुरा कर समुद्र में जाकर छिपाने और उसमें बहुत सी अन्यान्य बातों का मिश्रण कर देने तथा विष्णु द्वारा मत्स्यावतार में वेदों का उद्धार कर व्यास के रूप में उनको परिमार्जित करने का उल्लेख मिलता है। यह कथा–रूपक लोक और शिष्ट साहित्य के परस्पर आगम–निगम (आने–जाने) का संकेतक है। कृष्ण–द्वेपायन व्यास से पूर्व किन्हीं व्यासों द्वारा 27 (सताईस) बार पुराण–साहित्य के संकलन एवं सम्पादन होने की भागवत् पुराणगत सूचना भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है कि पुराण अनेक बार लोक से साहित्य में और साहित्य से लोक में आते–जाते रहे हैं, यथा–

अतीतास्तु तथा व्यासाः सप्तविंशतिरेव च।
पुराणसंहितास्तैस्तु कथितास्तु युगे–युगे। (1.3.24)

एवमेव रामायण एवं महाभारत के आख्यानों की भी रही होगी, जब तक कि अन्तिम रूप से उन्हें शिष्ट साहित्य का रूप न दे दिया गया होगा। वैदिक साहित्य से लेकर रामायण, महाभारत तथा पुराणों आदि में कुछ कथाओं (आख्यानों) तथा कतिपय श्लोकों का समान रूप मं किंचित परिवर्तन के साथ प्राप्त होना भी इसी तथ्य को सूचित करता प्रतीत होता है कि चाहे वेद हो अथवा रामायण–महाभारत या पुराण आदि इन सब ने जिस मूल स्रोत से उत्स ग्रहण किया, वह एक था, और निस्सन्देह वह 'लोक' था, चाहे वह देव लोक हो, प्रकृति लोक हो अथवा मनुष्य लोक हो, क्योंकि लोक के बिना इनका अस्तित्व असम्भव है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः इनका स्रोत लोकवार्त्ता है, जो यथार्थतः 'पुराण' या प्राचीन कही जा सकती है। उसी को वेद, रामायण, महाभारत तथा पुराणों ने अपने–अपने दृष्टिकोण के अनुसार ग्रहण कर लिया है। कौन कम प्राचीन है और कौन अधिक प्राचीन है, यदि इसका विचार किये बिना ही यदि विचार किया जाय तो हिन्दू, जैन और बौद्ध पुराणों के विषय में निर्विकल्प रूप से यह कहा जा सकता है कि इन सब का स्रोत एक था। समाज स्रोत से प्राप्त सामग्री को सबने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से ग्रहण किया और विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि हेतु उनका उपयोग किया। डॉ0 सत्येन्द्र की पुस्तक "**मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन**" में उनके द्वारा अभिव्यक्त यह मत विचारणीय है कि 'वेदों की लोक–भाूमि ही आगे चलकर पौराणिक स्वरूप प्राप्त कर सकी। पुराणों के समय तक वैदिक कालीन लोक कितनी ही परिस्थितियों से जटिल होता चला गया था। परिणामतः लोकवार्त्ता, लोक–तत्त्व अथवा लोकाभिव्यक्ति की लोकभूमि पर समग्र पुराण–साहित्य निर्मित हुआ। सम्भवतः इनके इस अभिमत का आधार महाभारत की वह पँक्ति रही होगी, जिसमें वेदव्यास द्वारा यह कहा गया है कि "पुराण वेदों में प्रतिपादित सृष्टि–विद्या, देव–विद्या आदि सूक्ष्म तत्त्वों का कथा शैली में विशद विवेचन करता है", यथा–

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् (आदि0 1.273)

अतः यह कहा जा सकता है कि आज तक की समग्र साहित्यिक अभिव्यक्ति का एक मात्र आन्तरिक आधार यह पुराण–वार्त्ता है, जो वस्तुतः लोकवार्त्ता अथवा लोक आख्यान है।

यहाँ इस प्रसंग में यह अवधेय है कि कुछ भारतीय विद्वान् विशेषतः डॉ0 सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का मत है कि वेद–पूर्व की लोकवार्त्ता, जिससे अनेक पौराणिक आख्यान निस्तृत हुए हैं, का सम्बन्ध द्राविण–परम्परा से है। उनका अभिमत है कि ''पौराणिक परम्पराओं का पूर्व–आर्य काल के अनार्य द्रविड़ (तथा दक्षिण देशीय) राजाओं और वंशों से सम्बन्धित होना केवल सम्भव ही नहीं, नितान्त विश्वसनीय हो सकता है। इस परम्परा को कथाओं तथा उपाख्यानों का कालान्तर में आर्यीकरण हो गया। इसका तात्पर्य यह है कि जिन जनों में से ये विकसित हुईं थीं, उनके आर्यीकरण होने पर ये कथाएँ भी आर्य–भाषा प्राकृत एवं संस्कृत में अनुदित कर ली गयीं। इस प्रकार के सम्मिश्रण में एक भाषा द्वाा एकीकृत दोनों जातियों की दन्त कथाएँ भी अविच्छेद्य रूप से सम्मिलित हो गयीं और इस दृष्टि से सूर्यवंश और चन्द्रवंश की अधिकांश पौराणिक कथाएँ प्राग्–आर्य सम्भूत किन्तु उत्तरकाल में आर्य बनी हुई दन्त कथाएँ मात्र मानी जा सकती हैं'' (भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1954, पृ0 57)। डॉ0 चाटुर्ज्या के इस मन्तव्य से यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि भारतीय इतिहास आर्यों और अनार्यों के संघर्ष का इतिहास है और उसी का एक रूप पुराणों में प्राप्त होता है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि आर्य बाहर से नहीं आये प्रत्युत वे विशुद्धरूप से भारतीय थे और अनार्य भी विशुद्ध रूप से भारतीय ही थे। वस्तुतः आर्य–अनार्य जातिवाचक नहीं है, गुणवाचक है, अतः पुराणों के सम्बन्ध में आर्य–अनार्य मिश्रण का प्रश्न उठाना उचित नहीं है। पुराणों में भी सुर और असुर का जो भेद दिखया गया है, वह जातिवाचक न होकर गुणवाचक है। एक ही पिता कश्यप की दो पत्नियों से उत्पन्न देव और दैत्य आध्यात्मिक और भौतिक शक्तियों के रूपक के रूप में तो माने जा सकते हैं, परन्तु आर्य–अनार्य दो जातियों के रूपक कदापि नहीं हो सकते। यदि पुराणों के उपमित कथा–रूप को समझा जा सके तो उनकी बहुत सी कथाओं और आख्यानों (वृत्तों) के पीछे सृष्टि–विज्ञान, मानव–स्वभाव, आचार–शास्त्र और मानव–इतिहास के उपयोगी तथ्यों का संयोजन मिलेगा। लोक में इसी ज्ञान को लोक–गायन के रूप में प्रस्तुत करके जन–सामान्य को अपने प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास और जीवन–मूल्यों से जोड़ने का प्रयास किया जाता है।

3.6 सारांश

इस प्रकार इन साक्ष्यों से यह स्पष्ट है कि लोक में प्रचलित आख्यान, प्राचीन आख्यान परम्परा की ही कडी हैं, जो लोक–वृत्तों के रूप में लोक में विख्यात हैं तथा शिष्ट–साहित्य में परिष्कृत रूप में विद्यमान है। अतः दोनों में सातत्यता दृष्टिगोचर होती है। उनकी परस्पर सातत्यता आख्यान–परम्परा को आक्षुण्य बनाये हुए है तथा आख्यान–साहित्य को मौलिक आधार प्रदान कर रही है, साथ ही साथ श्रोतृवृन्द तथा पाठकवृन्द को तत्त्वबोध कराकर आख्यान के उद्देश्य को भी सफल बना रही है।

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. लोकसाहित्य की भूमिका, कृष्णदेव उपाध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2019

3.8 बोधप्रश्न

1. लोकाख्यान के प्रमुख तत्त्वों की विवेचना कीजिए
2. वैदिक आख्यान, फोल्कलोर तथा लोकाख्यान की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
3. लोकाख्यान वैदिक आख्यान का सामयिक परिवर्धित संस्करण हैं, इस कथन से आप क्या समझते हैं?

इकाई 4 चयनित आख्यानों का प्रतिपाद्य

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

1. प्रमुख वैदिक आख्यानों का अध्ययन कर सकेंगे।
2. प्रमुख पौराणिक आख्यानों का अध्ययन कर सकेंगे।
3. वैदिक एवं पौराणिक आख्यानों से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।
4. आख्यान के विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

पूर्व की इकाइयों में आपने आख्यान का अर्थ और वैदिक आख्यान तथा पौराणिक अभियान के स्वरूप विशेषताओं का अध्ययन कर चुके हैं इस इकाई में आपको चुने हुए आख्यानों का अध्ययन करने जा रहे हैं वैदिक मंत्रों ब्राह्मण ग्रंथ के विनियोग संबंधी व्याख्या में तथा आरण्यक और उपनिशदो के कथानको में उपलब्ध आख्यान पुराणों में पौराणिक ऋषियों-मुनियों के द्वारा बड़े-बड़े आख्यानों में परिवर्तित परिवर्धित हुआ है कुछ अख्यान इतने प्रसिद्ध है कि वे युगप्रवाह के बदलते रहने पर भी उन आख्यान की लोकप्रियता कम नहीं हुई है। इन आख्यानों को भारतीय मनीषा ने हर काल में वैदिक ज्ञान परंपरा को जनमानस में पहुंचने के लिए प्रयुक्त किया है

किंतु जबसे भारतीय ज्ञान परंपरा से पश्चिमी सभ्यता परिचित हुआ है तथा पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय ज्ञान परंपरा में अपना अध्ययन शुरू किया है तभीसे वह भारतीय आख्यान परंपरा को समझने में पूर्णतः असफल रहे हैं और उन्होंने भारतीय ज्ञान परंपरा की इस लोकप्रिय ज्ञान संरक्षण की आयाम की अप व्याख्याएं की है भारतीय आख्यान परंपरा की अप व्याख्या करने में संप्रति वेडी डोंनिगर का नाम बहुचर्चित है वेडी डोनिगर के द्वारा किए गए आख्यान की व्याख्या को लेकर शिक्षा जगत में कई भ्रांतियां उत्पन्न हुई है इन्ही तथ्यो को दृष्टिगत करते हुए इस इकाई में कुछ चयनित आख्यानों को उनके मूल प्रतिपाद्य तथा आशय के साथ प्रस्तुत किया गया है इस इकाई में आप आख्यानों के मूल प्रतिपाद्य तथा आशय को पढ़ने जा रहे ।

4.2 चयनित आख्यानों के प्रतिपाद्य

प्रस्तुत इकाई में वैदिक और पौराणिक आख्यानों में से कुछ आख्यानों के प्रतिपाद्य के आधार पर उन आख्यानों की मूल कथा से विद्यार्थियों को अवगत करवाने हेतु यहाँ उनका कथानक प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे वे आख्यानों को मूलरूप में जान सकें।

4.3 वैदिक आख्यान

इस इकाई में वेद में यत्रतत्र बिखरे आख्यानों का संकलन किया गया है। वेद का यहाँ व्यापक अर्थ लिया गया है। परम्परया वेद शब्द संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों का वाचक है। इन सभी की संज्ञा वेद हैं– 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। संकीर्ण अर्थ में केवल संहिताओं को ही वेद कहा जाता है, पर यहाँ वह अर्थ अभीष्ट नहीं है। यहाँ वैदिक आख्यानों का याथातथ्य उपन्यास करने का प्रयास किया गया है।

यास्क ने अपने निरूक्त में कहा है कि वैदिक आख्यान अपने परिवर्ती साहित्य विशेषतः पुराणों तथा महाभारत में अनेक रूपों में विस्तार किया गया है। पुरूरवा और उर्वशी तथा देवापि और शन्तनु का आख्यान पौराणिक साहित्य में बहुचर्चित है। वैदिक आख्यानों का कालक्रम में परिस्कार और परिवर्द्धन होता रहा है, यही कारण है कि ऋग्वेद के अनेक आख्यान महाभारत तथा पुराणादि में परिवर्तन के साथ प्राप्त होते हैं, किन्तु थोड़ा ध्यान से अवलोकन करें, तो उनके वैदिक तत्त्व उभरकर सामने आ जाते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थवाद और विनियोग अत्यन्त कठिन है। ऐसे में आख्या ही सामान्य जन को मानसिक तृप्ति का अनुभव कराता है। ये आख्यान मानसिक उद्विघ्नता को दूर करते हैं। कठिन शास्त्रीय विवेचनों से थका हुआ पाठक इन रोचक आख्यानों से हृदय को शान्त तथा शीतल बनाता है। रोचकता के अतिरिक्त इन आख्यानों में कभी कभी गम्भीर दार्शनिक बातों का भी विवेचन रहता है। सामान्यतः ऐसे आख्यान ब्राह्मण ग्रन्थ तथा उपनिषद दोनों में बहुतायत पाये जाते हैं।

ऋग्वेद जहाँ एक ओर सर्वप्राचीन ग्रन्थ है, वहीं दूसरी ओर आख्यान परम्परा का भी आदि स्रोत है। यद्यपि बहुत से आख्यान ऋग्वेद में बीज रूप में ही प्राप्त होते हैं, वहाँ इनका वर्णनात्मक रूप नहीं हैं, क्योंकि वे देवताओं और ऋषियों की स्तुति रूप में हैं। बाद में उन्हीं का पल्लवन ब्राह्मणों, उपनिषदों, सूत्र–ग्रन्थों, महाकाव्यों, पुराणों आदि में हुआ है। यहाँ आपकी जानकारी के लिए कतिपय वैदिक आख्यान दिये जा रहे हैं –

4.3.1 वामनावतार विष्णु

वैदिक साहित्य में सर्वप्रथम ऋग्वेद (1.22.16–18) में इस आख्यान का संकेत मात्र प्राप्त होता है। यहाँ देवताओं से प्रार्थना करते हुए पृथिवी पर विष्णु के पाद–क्रमण की चर्चा हे और पृथ्वी पर देवगणों से रक्षा करने की प्रार्थना है तथा तीन पैरों के सम्पूर्ण लोकों को मापने वाले विष्णु के पराक्रम का वर्णन करते हुए यह आख्यान प्राप्त होता है (ऋ. 1.54.2–3)। तत्पश्चात् देवता और असुर जिस लोक में युद्ध कर रहे थे, उस लोक को वामन रूप धारणा करके विष्णु द्वारा जीतने का उल्लेख करते हुए तैत्तिरीय–संहिता (2.13) में तथा विष्णु के तीन पग चलने का संकेत करते हुए वाजसनेयि–संहिता (34.43) में यह आख्यान सांकेतिक रूप में प्राप्त होता है। तदनन्तर सर्वप्रथम शतपथ–ब्राह्मण (1.2.5.1–7) में यही आख्यान स्पष्टतः प्राप्त होता है। तदनुसार इस आख्यान की कथा इस प्रकार है कि एक बौर प्रजापति की दोनों सन्तानों देवों और असुरों में विवाद होने पर असुरों में विवाद होने पर असुरों ने पृथिवी को जीत लिया। परिणामस्वरूप देवता घबरायें कि यदि हमें उनसे पृथिवी का अंश न मिला तो क्या होगा? तब वे यज्ञ–रूपी विष्णु को नेता बनाकर असुरों के पास गये और पृथिवी पर अपना भाग माँगा। असुरों ने कहा कि जितने स्थान पर विष्णु स्रोते हैं, उतना अंश तुम्हें दे दिया जाएगा। देवों को इससे भय नहीं नहीं हुआ, क्योंकि विष्णु तो वामन थे। उन्होंने कहा ठीक है, इस यज्ञ के बराबर भूमि हमें पर्याप्त है। तत्पश्चात् देवों ने विष्णु को पूर्व की ओर लिटाकर तीन ओर से उसे छन्दों से घेर दिया और पूर्व की ओर अग्नि की स्थापना की और उसकी पूजा–अर्चना करते हुए चारों ओर घूमने लगे। इसके परिणामस्वरूप उन्होंने समग्र पृथिवी को प्राप्त कर लिया। यही आख्यान संक्षेप से तैत्तिरीय–ब्राह्मण (1.6.1.5) तथा ऐतरेय–ब्राह्मण (1.8) में भी उपलब्ध होता है। परवर्ति काल में यही आख्यान लौकिक साहित्य एवं पौराणिक साहित्य में अधिक व्यवस्थित रूप में प्राप्त होता है।

वस्तुतः विष्णु का आधिदैविक रूप सूर्यपरक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से परमात्मपरक रूप स्वीकार करते हुए भाष्यकारों ने इस आख्यान को अपनी रश्मियों के माध्यम से तीनों लोकों में विविध अग्नि के रूप में व्याप्त सूर्य का प्रतीक माना है। प्रस्तुत आख्यान के माध्यम से सौर देवता विष्णु के लोक संचरण के वर्णन से प्राकृतिक विज्ञान की शिक्षा दी गयी है और उनके दिव्य गुणों का उल्लेख या प्रशंसा की गयी है। आध्यात्मिक पक्ष में सूर्य के माध्यम से परमात्मा के गुणों का वर्णन एवं स्तुति है। वह विष्णु परमात्मा रूप सूर्य के रूप में महिमाशाली तथा अनन्त शक्ति वाला है। वह सम्पूर्ण जगत् उसके तीन कदमों के बराबर भी नहीं है। वह असद वृत्ति वाले दुष्टों का विनाश करता है और सद्वृत्ति वाले श्रेष्ठों की सहायता करता है। यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्मों के द्वारा ही उसका साहास्य प्राप्त किया जा सकता है।

4.3.2 पुरूरवा उर्वशी

सर्वप्रथम ऋग्वेद के संवाद–सूक्त (10.95.1–198) में अठारह मन्त्रों में पुरूखा तथा उर्वशी से सम्बद्धा यह आख्यान प्राप्त होता है। इन मन्त्रों में उर्वशी को पुरूरवा की प्रमिका के रूप में देखा गया है। इन मन्त्रों के आधार पर यह आख्यान इस प्रकार है – इस संवाद–सूक्त के अनुसार उर्वशी एक अप्सरा और राजा पुरूरवा उस पर आसक्त एवं प्रेमी के रूप में प्रस्तुत होते हैं। पुरूरवा उर्वशी करे सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे निष्ठुर पत्नी। अनुराग पूर्ण मन से मेरे पास ठहरो। हम दोनों मिलनकर वार्तालाप करेंगे। इस समय यदि हम दोनों में विर्मश नहीं होगा। आने वाले दिनों में सुख नहीं हो पाएगा। तब उर्वशी कहती है कि वार्तालाप करने से क्या होगा?

आगे चलने वाली उषा के समान मैं तुम्हारे पास से चली आई हूं। पुरूरवा तुम अपने घर लौट जाओ मैं तुम्हें वायु के समान दुस्प्राप्य हैं। पुनः पुरूरवा कहता है कि उर्वशी तुम्हारे विरह के .... मेरे तूणीर से बाण नहीं निकलने, न विजयश्री मिल पाती हैं, युद्ध में जाकर मैं सैकड़ों गायों को जीत कर नहीं ला सकता। मेरा राज्य वीरों से रहित हो गया है, इसकी कोई शोभा नहीं रही है और न सैनिक युद्ध में गर्जना करते हैं। तब उर्वशी उत्पन्न देती है कि उषाकाल में उर्वशी श्वसुर को भोजन सामग्री देने की इच्छा करती तो अपने पति के चाहने पर पति के शयन कक्ष में जाती और दिन–रात पति के पास रहकर यौन–सुख भोगती थी, तुम मुझे दिन में तीन बार पुरूष–दण्ड से भोगते थे, मेरी कोई सपली नहीं थी, तुमने मुझे सदा सन्तुष्ट किया और सुख प्रदान किया तथा तुम मेरे तन के वीर राजा बने। तब पुरूरवा ने कहा कि तुम्हारे आने के बाद सुजीर्ण, श्रेणी, ग्रन्थिनी, चरण्यु आदि स्त्रियाँ राजधज कर और सुन्दर वेशभूषा बनाकर मेरे पास नहीं आती थीं। गोशाला में जाते हुए गायों की भाँति प्रसन्नता की ध्वनि करती हुई उर्वशी ने उत्तर देते हुए कहा कि पुरूरवा! जिस समय तुमने जन्म धारण किया, उस समय देवपत्नियाँ तुम्हें देखने के लिए आई थीं, अपनी शक्ति से बहने वाली नदियों ने उनकी संवर्द्धना की। तुम्हें दस्युवधार्थ घोर युद्ध में भेजने के लिए देवताओं ने तुम्हारी संवर्धना की थी। तब पुरूरवा उत्तर देते हुए कहता है कि जिस समय मैं मनुष्य पुरूरवा अप्सराओं की ओर उनको पाने की इच्छा से बढ़ा तो वे डरी हुई हिरणी के समान अक्षवा रथ में जुते हुए घोड़ों के समान भागकर चली गईं और अदृश्य हो गईं। जिस समय मैं मनुष्य पुरूरवा देवलोकवासिनी अप्सराओं के साथ बात करने के लिए और उनके शरीर को छूने के लिए आगे बढ़ा तो वे अदृश्य हो गई; अपने शरीर को नहीं दिखाया। वे खेल में भागते–दौड़ते अश्वों के समान भागकर चली गईं तथा जिस उर्वशी का रूप–रंग आकाश से पतनशील विद्युत–ज्योति के समान शुभ था और जिसने मेरी सभी कामनाओं को पूर्ण किया था, उसने अपने गर्भ से मनुष्यों का हितकारी एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न किया था। उर्वशी अब उसका पालन पोषण करके उसे दीर्घायु करे। पुरूरवा के ऐसा कहने पर उसने कहा पुरूरवा! पृथिवी की रक्षा के लिए तुमने पुत्र को उत्पन्न किया था, मुझमें वीर्य सेचन किया था। मैंने तुम्हें कई बार बताया था कि किस कारण से मैं तुम्हारे पास नहीं रह सकूँगी, मैं इस बात को जानती थी, जो मैंने तुम्हें बता दी थी, किन्तु तुमने उसका ध्यान नहीं रखा। इस समय तुम पृथिवी–पालन का कार्य छोड़कर क्यों व्यर्थ की बातें कर रहे हो? तब पुरूरवा पूछता है कि तुम्हारे द्वारा उत्पन्न पुत्र कब मुझे चाहेगा? यदि वह मेरे पास आ जाये, तो क्या वह नहीं रोएगा? आँसू नहीं गिराएगा? परस्पर–प्रेम से परिपूर्ण पति–पत्नी से सम्बन्ध–विच्छेद करने की किसको इच्छा होगी? तुम्हारे श्वसुर गृह में तेजो रूप गर्भ पुत्र रूप में प्रकाशित हुआ है। पुनः प्रत्युत्तर देती हुई उर्वशी कहती है कि मैं तुम्हारे बात का उत्तर देती हूँ। तुम्हारा पुत्र तुम्हारे पास जाकर अश्रुपात या क्रन्दन नहीं करेगा। मैं उसके कल्याण की कामना करूँगी। मूढ़! मैं तुम्हारे पुत्र को तुम्हारे पास भेज दूँगी, तुम अपने घर को लौट जाओ। तुम अब मुझे नहीं पा सकोगे। तब पुरूरवा कहता है कि तुम्हारा प्रेमी पति आज ऐसा गिरेगा कि पुनः कभी नहीं उठ पाएगा। वह बहुत दूर चला जाएगा। वह दुर्गति में पड़ कर मर जाए, उसे भेड़ियाँ आदि खा जाएँ। तब उर्वशी पुरूरवा को समझाते हुए कहती है कि हे पुरूरवा! तुम न मरो, तुम न गिरो, तुम्हें भेड़िए न खाएँ। स्त्रियों की मित्रता स्थायी नहीं होती, इनका हृदय भेड़ियों के समान होता है तथा मैंने नाना रूप धारण कर मनुष्यों में विचरण किया है और चार वर्ष तक रात्रिनिवास किया है। दिन में एक बार घृतपान करके अपनी क्षुधानिवृत्ति करते हुए मैंने विचरण किया है। तत्पश्चात् पुरूरवा कहता है कि अन्तरिक्ष को पूर्ण करने वाली और जल को बनाने वाली उर्वशी को वसिष्ठ वश में ले

आते हैं। अच्छे कर्म करने वाला पुरूरवा तुम्हारे पास रहे। मेरा हृदय तड़प रहा हैः अतः हे उर्वशी! वापस मेरे पास लौट आओ। तब उर्वशी कहती है कि इलापुत्र पुरूरवा! ये सभी देवता तुमसे कह रहे हैं कि तुम मृत्यु पर विजय प्राप्त करोगे, हवि से देवों की पूजा करोगे और स्वर्ग में जाकर आनन्द भोगोगे। इस प्रकार पुरूरवा तथा उर्वशी का परस्पर संवाद समाप्त हो जाता है। काठक–संहिता (8.10) में यह आख्यान संक्षिप्त रूप में प्राप्त होता है। तदनुसार उर्वशी पुरूरवा की पत्नी थी। वह पुरूरवा को छोड़ कर वापस देवों के पास लौट गयी। पुरूरवा ने देवों से पुनः उर्वशी की याचना की। देवों ने 'आयु' नामक पुत्र दे दिया। उनके कहने पर पुरूरवा ने वृक्षशाखा से अरणियों का निर्माण किया और इनको मथा। उससे अग्नि उत्पन्न हुईं और पुरूरवा की कामना पूर्ण हुई। इस प्रकार अग्न्याधान करने से प्रजा, पशु आदि की प्राप्ति होती है।

संहिताओं के पश्चात् शतपथ–ब्राह्मण (11.5.1.1–17) में इस आख्यान का विस्तृत तथा कर्मकाण्डीय आख्यानात्मक रूप प्राप्त होता है। इसके अनुसार अप्सरा उर्वशी इडा के पुत्र पुरूरवा से प्रेम करने लगी और उसके साथ विवाह होने पर उर्वशी ने पुरूरवा से कहा कि तीन बार से अधिक मेरा आलिग्ड़न न करना, मेरी इच्छा के विरूद्ध न करना और मैं तुमको निर्वस्त्र न देखूँ। वह बहुत दिनों तक उसके साथ रही। उससे उसको गर्भ भी रह गया। जब वह उसके पास थी, तब गन्धर्वों ने कहा कि उर्वशी बहुत दिनों तक मनुष्यों रही है। कोई ऐसा उपाय करो कि यह फिर हमारे बीच में वापस आ जाए। उसके चारपाई से एक भेड़ दो बच्चोंां सहित बँधी रहती थी। गन्धर्व उनमें से एक मेमने को चुरा ले गए। तब उर्वशी ने कहा ये मेरे पुत्र को लिये जा रहे है, मानों यह स्थान वीर या मनुष्यों से रहित है। वे दूसरे मेमने को भी ले गये। तब भी उसने यही कहा। तब पुरूरवा ने सोचा जहाँ मैं हूँ वह स्थान वीर रहित या मनुष्य रहित कैसे हो सकता है? यद्यपि वह निर्वस्त्र था, वह उनके पीछे दौड़ा। उस समय गन्धर्वों ने बिजली उत्पन्न कर दी और उर्वशी ने उसको दिन के समान निर्वस्त्र देख लिया। वह उर्वशी तत्काल ही लुप्त हो गयी। पुरूरवा विलाप करते हुए कुरूक्षेत्र में घूमता रहा। वहाँ वह 'प्लक्षा' नामक झील के किनारे पर घूमता रहा। वहाँ अप्सराएँ हँस के रूप में तैर रही थीं। उर्वशी उसको पहचान कर बोली, 'यह वही मनुष्य है जिसके पास मैंने निवास किया था।' वे कहने लगीं कि हम इसके सामने प्रकट हो जाएँ। उसने कहा अच्छा और वे प्रकट हो गईं। पुरूरवा ने उसको पहचान लिया और प्रार्थना की कि हे क्रूर मन वाली पत्नी तू ठहर आदि इसके आगे का कथानक संहिता के जैसा है। तत्पश्चात् यह कथा है कि अन्ततः उर्वशी का हृदय पिघल गया और उर्वशी ने कहा कि आज से वर्ष भर बाद अन्तिम रात्रि में मेरे पास आना और तब तुम्हारा पुत्र होगा। वह (पुरूरवा) वर्ष भर बाद अन्तिम रात्रि को आया। देखा तो एक सोने का महल है। वहाँ लोगों ने केवल इतना कहा, चला आ। तब उर्वशी को उसके पास जाने दिया। उर्वशी बोली कल प्रातः गन्धर्व तुम्हें कोई वर देंगे। अतः तूँ वर माँग लेना। पुरूरवा ने कहा तूँ ही बता क्या माँगू? उसने यह कहा कि 'यह वर माँग कि मैं तुममें से एक हो जाऊँ। ग्रन्धर्वों ने दूसरे दिन उसको वर देने के लिए कहा। उसने माँगा कि मैं आप जैसा हो जाऊँ। वे बोले ''मनुष्यों में अग्नि का यह यज्ञ के योग्य तनु (रूप) नहीं है, जिसमें यज्ञ करके हममें से एक हो सके। उन्होंने थाली में अग्नि रख दी और कहा – 'इसमें यज्ञ कर', हम जैसा हो जाएगा। पुरूरवा वह आग और अपना पुत्र ले लिया और चला आया। उसने वन में अग्नि रख कर केवल पुत्र को यह कहा ही था कि 'मैं अभी आया', इतने में वह अग्नि लुप्त हो गई। जो अग्नि थी, उसका अश्वत्थ वृक्ष बन गया। जो थाली थी, वह शमी बन गई। वह पुनः गन्धर्वों के पास आया। वे बोले वर्षभर तक चार व्यक्तियों के योग्य भात पका, इस अश्वत्थ की तीन–तीन समिधाएँ

घृत में डुबाकर और उन मन्त्रों को पढ़कर जिनमें 'समिद्' शब्द और 'घृत' शब्द आवे, उसे समिधा रख दो। जब वह अग्नि जलेगी तो यह वही अग्नि होगी, जिसके तुझे आवश्यकता है। वे बोले परन्तु यह तो परोक्ष कृत्य है। तब उन्होंने कहा – 'अश्वत्थ की उत्तराणि बना और शमी की अधराणि। मथने से जो अग्नि उत्पन्न होगी, वह वही अग्नि होगी। वे बोले यह भी परोक्ष कृत्य है। तब वे बोले कि अश्वत्थ की ही अराणि बना और अश्वत्थ की ही उत्तराणि। इसके मथने से जो अग्नि होगी, वह वही अग्नि होगी। उसने अश्वत्थ की ही उत्तराणि बनाई और अश्वत्थ की ही अधराणि। जो अग्नि उत्पन्न हुई, वह वही अग्नि थी। पुरूरवा यज्ञ करके गन्धर्वों में से एक हो गया। इसलिए अश्वत्थ की ही उत्तराणि बनावे, अश्वत्थ की ही अंधराणि इनसे जो अग्नि उत्पन्न होती है, उस अग्नि में यज्ञ करके गन्धर्व बना जाता है।

वस्तुतः यहाँ प्रतीकात्मक रूप से वेदों में संकेतित पुरूरवा और उर्वशी विद्युत और मेघ के प्रतीक हैं। उर्वशी अर्थात विद्युत अपनी प्रभा से अंतरिक्ष को व्याप्त करती है और जो वह बार और अधिक (पुरू) रोता है अर्थात् गर्जना करता है, वह मेघ हैं, वह भी अन्तरिक्ष में व्याप्त रहता है। अतः ये दोनों मध्यमत्थानीय देवता माने गये हैं (16.95. 1–18 पर द्रसृव्य सायणभाष्य)। कुछ आचार्यों यथा स्कन्द स्वामी और आचार्य दुर्ग उर्वशी को विद्युत तथा पुरूरवा को वायु तत्व प्रकृतिपरक व्याख्या की है। जैसे विद्युत मेघों तथा जलों में संचरण करती है वैसे ही स्त्री गृहकर्मों में संचरण करते है। विद्युत के अधीन वर्षा होने से संसार की स्थिति इसके वश में होती है, ऐसे ही स्त्री के वश में घर की स्थिति है और अन्तरिक्ष में सूर्य किरणें इन्हें धारण करती है अतः पुरूरवा और उर्वशी मेघ और विद्युत के प्रतीक हैं और सर्वत्र इसी रूप में वर्णित है। परन्तु परवर्ती ग्रन्थों में इनका .... हो गया तथा व्यक्ति विशेष के रूप में कल्पित कर इसे आलंकारिक वर्णन मानकर आख्यान संज्ञा दे दी गई है।

प्रस्तुत आख्यान से यह शिक्षा दी गयी है कि पुरूरवा सदृश कामासदत्त पुरुषों को कामानिभूत स्थिति में उर्वशी सदृश कामिनियों से बचना चाहिए। क्योंकि विद्युत की तरह इतस्ततः विचरण करने वाली और नाना रूप धारण करके पुरूषों को मोहित करके वशीभूत करने वाली श्रृंगारी एवं विलास प्रवृत्ति वाली, नृत्यगान में आसक्त, चंचला कामिनियों की स्त्रिता या प्रेम, एकनिष्ठ और स्थायी नहीं होता। वे कुछ काल तक संसर्ग में रहकर, विद्युत या कुषा की भाँति भाग जाती हैं या विलुप्त हो जाती हैं और अवसर आने पर ये निष्ठुर व्यवहार से भी नहीं चूकतीं। इनके प्रेम में आकर व्यक्ति को अन्ततः विरह की पीड़ा को झेलना पड़ता है और विलासी बन कर भटकना पड़ता है। परिणामः शेष जीवन अकर्नण्यन और निराशा से ग्रसित हो जाता है; अतः उनके स्वच्छन्द प्रेम से विद्ध होकर अपने जीवन को अकर्मष्य और व्यर्थ नहीं करना चाहिए।

4.3.3 मनु–मत्स्य

जलालावन और मनु–मत्स्य–आख्यान वैदिक साहित्य का ही नहीं, प्रत्युत समग्र भारतीय तथा कुछ विदेशी साहित्य का भी प्रसिद्ध आख्यान है। कुछ विचारकों के अनुसार इस आख्यान का मूल स्रोत अथर्ववेद का निम्न मन्त्र है –

यत्र नाप्रभंशनं यत्र हिमवतः शिरः।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत।। (19.39.8)

इस मन्त्र में आये हुए 'नाप प्रभंशन' और 'हिमवान्' शब्दों के कारण इसे उक्त आख्यान का मूल स्रोत माना गया है। सच तो यह है कि इस मन्त्र में कोई कथातत्व नहीं है; अतः वेद के कुछ आलोचकों के मत में इसे वेदों का आख्यान नहीं माना जा सकता। परन्तु वैदिक साहित्य के प्रमुख विशालकाय ब्राह्मण शतपथ–ब्राह्ममण को वर्णित होने कारण इसे वैदिक आख्यान कहा जाता है। इस ब्राह्मण में जलप्लावन के उपरान्त पुनः सृष्टि–प्रक्रिया के रूप में यह आख्यान आता है। शतपथ–ब्राह्मण (1.8.1.1–10) के अनुसार एक बार नदी के तट पर अवनेजन अर्थात् प्रक्षालन या मार्जन करते हुए मनु के हाथ में अचानक एक छोटी मछली आ गई। उसने मनु से कहा, 'मुझे जल में न फेंकना, मेरा पालन–पोषण करना, मैं तुम्हें पार उतारूँगी''।

मनु ने अत्यन्त आश्चर्य से पूछा, ''तुम मुझे किससे पार उतारोगी? मत्स्य ने कहा, ''कुछ समय बाद प्रलय आने वाला है जो समस्त प्रजाओं को अपने में बहा कर ले जाएगी और नष्ट कर देगी, उस समय मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी''। तत्पश्चात् मनु ने उसके कथनानुसार उसके रक्षा की और उसका पालन–पोषण किया। उस मत्स्य को पहले घड़े में, फिर गड्ढे में, फिर तालाब में रख कर पाला और बड़ी हो जाने पर समुद्र में छोड़ दिया। समुद्र में आने के बाद उसने विशालकाय रूप धारण कर लिया। मत्स्य के कथनानुसार मनु ने एक नाव बना ली। मत्स्य के द्वारा बताये गये निश्चित समय पर प्रलय (बाढ़) आई और उसने समग्र सृष्टि को बहा कर नष्ट–भ्रष्ट कर दिया। उस समय मनु नाव में बैठ गये। तब उस मत्स्य के द्वारा उत्तर गिरि पर पहुँचा कर मनु की रक्षा की गयी है। मनु ने अन्नों के बीज आदि को पहले ही सुरक्षित रखा हुआ था। औघ (जलप्लावन) शान्त होने पर मनु ने यज्ञ किया और उन्हीं सुरक्षित बीजों से पुनः पदार्थों का सर्जन किया अर्थात् सृष्टि बनायी। तदनन्तर यही आख्यान पुराणों में विष्णु के मत्स्यावतार के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टि से प्रलय के पश्चात् पुनः सृष्टि का प्रारम्भ मनु से माना जाता है। इसी कारण मनुष्यों के प्रायः सभी नाम 'मनु' से व्युत्पन्न होकर प्रचलित हुए हैं, यथा – मनुज, मनुष्य, मानव, मानुष आदि। इतना ही नहीं अँग्रेजी का 'मैन', जर्मन का 'मन्न' और 'मेनश' शब्द भी इसी निष्पत्ति का परिवर्तित रूप प्रतीत होता है। वस्तुतः इस आख्यान से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ जलप्लावन की घटना को प्रतीकरूप में प्रस्तुत किया गया है। मनु एक यज्ञ स्रष्टा व्यक्ति हैं। विपत्ति में पड़कर उसके बाद यज्ञीय छवि से वे प्रजा और पशुओं की समृद्धि प्राप्त करते हैं। इसी कारण कथा की फलश्रुति इडायज्ञ की प्रेरणा में होता है। आधिदैविक दृष्टि से विचार करने पर 'मनु' सूर्य का नाम है। यह स्थानीय देव हैं। पृथिवी का नाम 'इडा' है। वर्षा रूपी छवि से इडा समृद्ध होती है और औषधि, अन्न, धन आदि होकर प्रजाओं की समृद्धि होती है। आध्यात्मिक दृष्टि से 'मनु' प्रजापति परमात्मा हैं। वही मननपूर्वक, कामनापूर्वक प्रजाओं की सृष्टि करता है, अतः यह प्रजापति द्वारा सृष्टि रचना का प्रतीक माना जा सकता है, क्योंकि सृष्टि से पूर्व सब सलिलरूप था। प्रजापति ने प्रजा की कामना की और जलतत्त्व से अन्य तत्त्वों का निर्माण हुआ।

इस आख्यान से यह शिक्षा मिलती है कि प्रजाओं के अराजकता, अव्यवस्था पर नियन्त्रण के लिए एक राजा की नियुक्ति होती है। विपत्ति में प्रजाएँ ही राजा के काम आकर उसकी सुरक्षा करती हैं, परन्तु विपत्ति के पश्चात् राजा का भी यह कर्त्तव्य होता है कि प्रजा की सहायता, सहयोग रूपी यज्ञ अवश्य करे जिससे राज्य की समृद्धि एवं प्रजाओं की समृद्धि होती है।

4.3.4 सरमा तथा पाणि

ऋग्वेद का 'सरमा–पणि' आख्यान एक चर्चित आख्यान है। इसका संकेत ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 108वें सूक्त (10–108) में मुख्यतः प्राप्त होता है। परन्तु इसके अतिरिक्त लगभग दस स्थलों (1.6.5, 1.62.3, 1.72.8, 1.83.4, 3.31.6, 4.16.8 एवं 5.45. 8 तथा 10.67–68) पर सरमा का एवं इस आख्यान का संकेत मात्र प्राप्त होता है। ऋग्वेद के 10.67.68 सूक्तों में इस आख्यान का सम्बन्ध वृहस्पति से जोड़ा गया है। परन्तु सरमा–पणि से सम्बद्ध आख्यान से बहुत भिन्न है। अतः ऋग्वेद (10.108) में ही इस आख्यान को देखा जाना चाहिए, जैसा कि आचार्य यास्क ने भी इस सूक्त के प्रथम मन्त्र की व्याख्या करते हुए इस आख्यान का संकेत किया है – "**देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूद इत्याख्यानम्**" (11.2.5) अर्थात् इन्द्र द्वारा प्रहित देवशुन्ती सरमा ने पणियों से संवाद किया गया आख्यान है। यह आख्यान इस प्रकार है कि पणियों ने देवों की गायें चुरा ली थीं तब इन्द्र ने सरमा को गवान्वेषण के लिए भेजा था। सरमा पणियों के पास पहुँच कर संवाद करती है। पणि लोग सरमा से पूछते हैं कि हमारे पास कौन सी ऐसी वस्तु है जिसकी प्राप्ति के लिए तुम यहाँ दुर्गम मार्ग से आयी हो, जलभरी नदी को कैसे पार किया? सरमा बताती है कि मैं इन्द्र की दूती बन कर यहाँ आयी हूँ, तुम्हारी निधियाँ को खोजने और प्राप्त करने की इच्छा से आयी हूँ, जलो ने मेरी रक्षा की है। मैं तैर कर नदी पार करके पहुँची हूँ। वे सरमा से पूछते हैं कि तुम जिस इन्द्र की दूती बनकर आयी हो, वह इन्द्र कैसा है? तब सरमा इन्द्र के पराक्रम कर बखान करती है और कहती है कि उसे कोई हरा नहीं सकता। बेगवती गहरी नदियाँ भी उनकी गति को रोकने में असमर्थ हैं। इन्द्र निश्चय ही तुम्हें मार कर सुला देंगे। तब पणि लोग सरमा को लुभाते हैं कि तुम इन्द्र लोक की सीमा से आ रही हो, अतः जिन गाथों को तुम पसन्द करो, उन्हें हम दे देंगे, नहीं तो बिना युद्ध के कौन तुम्हें गायें देना। तब सरमा कहती है कि तुम्हारे शरीर पापमय हैं। ये शरीर कहीं इन्द्र के बाणों के लक्ष्य न बन जायें। तुम्हारें यहाँ आने के मार्ग पर देवतागण कहीं आक्रमण न कर दें। तब पणि कहते हैं कि हमारी निधि पर्वतों के द्वारा सुरक्षित है, यह गायों, अश्वों और अन्य वस्तुओं से परिपूर्ण हैं। श्रेष्ठ रक्षक पणिलोग इस निधि की रक्षा करते हैं। इस स्थान पर तुमने आने का व्यर्थ प्रयास किया है। तब सरमा कहती है कि अंगिरस आयास्य ऋषि लोग और नवगु लोग सोम रस से मस्त होकर यहाँ आयेंगे और इन सारी गायों को ले जाएँगे। पणियों! उस समय तुम्हारी ये सब बातें व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगी। तब पणि कहते हैं कि सरमा! भयभीत देवों ने विवश करके तुम्हें यहाँ भेजा है। हम तुम्हें बहिन मानते हैं। तुम अब वापस मत जाओ। हम तुम्हें गायों का भाग देते हैं। तब सरमा यह जवाब देती है कि मैं भाई–बहन की बात नहीं जानती। इन्द्र और शत्रुओं के लिए भयकारी अंगिरस ही इस बात को जानते हैं। गोधन की जानकारी के लिए उन्होंने रक्षापूर्वक यहाँ भेजा है। पणियों! तुम यहाँ से दूर भाग जाओ, तुम्हारे द्वारा बाँधकर रखी गायें यहाँ से लौट चलें। बृहस्पति, सोम, पत्थर, ऋृषि और विद्वान लोग गुप्त स्थान में छुपायी गायों का समाचार जान चुके हैं। इस प्रकार यह सरमा–पणि संवाद समाप्त हो जाता है।

वस्तुतः वृष्टिरोधक प्राकृतिक शक्तियों को इन्द्र और वृहस्पति किस प्रकार विनाश करते हैं, इसी प्राकृतिक घटना को अलंकारिक एवं प्रतीकात्मक भाषा में प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः सरमा माध्यामिक देवता है, शीघ्रगमन करने के कारण यह सरमा कही जाती है (निरूक्त, 11.24: सरमा सरणात्)। स्कन्द–स्वमी और आचार्य दुर्ग सरमा को मध्यमस्थाना 'वाक्' का रूप माना है; उनके अनुसार अनावृष्टि से पीड़ित मन्त्रद्रष्टा, शब्द करते हुए स्तनयित्नु मेघ को सुनकर, असूयापूर्वक यह सब कहता है (द्रष्टव्य नि.,

11.25 पर स्कन्द एवं दुर्गभाष्य)। मैत्रायणी संहिता (4.6.4) के अनुसार भी सरमा वाक् ही है (वाग वै सरमा), गायें रश्मियाँ हैं (नि., 2.7: सर्वेडपि रश्मयो गाव उच्यन्ते)। अतः सरमा द्वारा गवान्वेषण वस्तुतः मध्यमस्थाना स्तनयित्नु वाक् द्वारा सूर्य–रश्मियों का अनुसन्धान (खोज) है, जो आख्यान के रूप में वर्णित है।

इस प्राकृतिक घटना के माध्यम से वेद आवश्यक वस्तुओं की जमाखोरी करके उन्हें छिपाने वाले तथा इस प्रकार जन–सामान्य को अभावों से पीड़ित करने वाले वणिक जनों की निन्दा करता है और उन्हें आसुरी प्रवृत्तियों का रूप (प्रतीक) मानता है। इसके माध्यम से राजा और नेता को प्रेरणा दी गयी है कि ऐसी आसुरी प्रवृत्ति के व्यक्ति बिना शक्ति प्रयोग के नहीं मानते; अतः ऐसे वणिकों द्वारा छिपाये धन और पदार्थों को गुप्तचरों के माध्यम से खोज करायें तथा शक्ति का प्रयोग करके अपने अधिकार में लेकर जनता को सुलभ करायें। यही इसका लोकमण्ड़लकारी उपदेश समझना चाहिए और यही इस आख्यान का प्रयोजन है।

4.3.5 उर्वशी तथा मैत्रावरूण वशिष्ठ

इस आख्यान का संकेत ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के 33वेंसूक्त (7.33–10–13) के कुछ मन्त्रों में प्राप्त होता है। यहाँ इस आख्यान के माध्यम से उर्वशी के मन से उत्पन्न वसिष्ठ और अगस्त्य के विषय में मात्र संकेत प्राप्त होता है, परन्तु बृहद्देवता ग्रन्थ (2. 37, 44, 156; 3.56, 5.148–156) में यह आख्यान अतिविस्तरेण वर्णित है। ऋग्वेद के अनुसार यज्ञ में दीक्षित मित्र तथा वरूण का उर्वशी को देखकर वीर्य रूखलित हो गया, जिसे विश्वेदेवों ने पवित्र स्रोत द्वारा पुष्कर (अर्थात! वासतीवर कुम्भ) के बीच में धारण कर लिया। इसके बाद अगस्त्य उत्पन्न हुए। वहीं वसिष्ठ भी उत्पन्न हुए। एक में स्पष्टतः वसिष्ठ को उर्वशी का मानस पुत्र कहा गया है तथा इन्हें मित्रावरूण का पुत्र बताया गया है, द्रष्टस्थ ऋ. 7.3.11:

उतासि मैत्रावरूणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोडधि जातः।
दुप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवाः पुष्करे त्वाददन्त।।

संहिता के पश्चात् यह आख्यान लौकिक संस्कृत साहित्य में कुछ परिवर्तन के साथ इक्ष्वाकुवंशीय राजा निमि के यज्ञ के साथ जोड़ कर इस घटना का वर्णन प्राप्त होता है।

वस्तुतः यह आख्यान नित्यपक्ष में प्राकृतिक घटना का आलंकारिक वर्णन है। स्कन्द स्वामी ने (टीका, नि. 5.14) इस आख्यान का मर्म भेदन इस प्रकार किया है। तदनुसार उर्वशी विद्युत है, वसिष्ठ आच्छादित उदक संघात, मित्रावरूण वायु तथा आदित्य और विश्वेदेव रश्मियों के प्रतीक हैं। इस प्रकार मित्रावरूण अर्थात् वायु तथा आदित्य से आकृष्ट होकर वसिष्ठ अर्थात् आच्छादित उदक संहात उर्वशी अर्थात् विस्तीर्ण अन्तरिक्ष में व्याप्त विद्युत् के संकल्प के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। उस स्कन्न अर्थात् मुक्त उदक संघाट को दैव्य अर्थात् घुलोकस्थ आदित्य के द्वारा उनकी रश्मियाँ प्रावृट् में पुष्कर अर्थात् अन्तरिक्ष में धारण करती हैं। यही इस आख्यान का रहस्य है। लोक को शिक्षा हेतु इस आख्यान का यही प्रयोजन है कि व्यक्ति को आत्मसंयमी होना चाहिए तथा यदि कोई विपरीत कार्य हो भी जाये तो संकल्पपूर्वक उसके दायित्व का निर्वहण करना चाहिए तथा तज्जन्य परिणाम को सार्थक बनाने के लिए कोई ने कोई उपाय भी करना चाहिए, जिससे सृष्टि की सार्थकता हो सके।

4.4 पौराणिक आख्यान

वैदिक आख्यानों की भाँति यहाँ कतिपय पौराणिक आख्यानों की कथा दी जा रही है जिससे पौराणिक आख्यानों का परिचय प्राप्त हो सकेगा। ये आख्यान प्रतीकात्मक, आलंकारिक, द्रर्ष्टान्तिक अथवा मात्र उल्लेखात्मक रूप वाले हो सकते हैं। कतिपय आख्यान इस प्रकार है–

4.4.1 इन्द्र द्वारा अपने वज्र से पर्वतों का पंख–छदन

इन्द्र द्वारा अपने वज्र से पर्वतों के पंख काटने की घटना का उल्लेख संक्षेप से महाभारत के परिशिष्ट अर्थात् खिल भाग कहे जाने वाले 'हरिवंश–पुराण' में हुआ है। तदनुसार जब विष्णु भगवान ने वराह का अवतार लेकर हिरणखक्ष का वध किया और उसके द्वारा अपहत की गयी प्रथिवी का उद्धार किया। तत्पश्चात् पृथिवी प्रकृतिस्थ हुई तब इन्द्र ने पृथिवी को स्थिर न रहने देने में पर्वतों को सबसे बड़ा अप्राधी जानकर, उन्हें अपने–अपने स्थान पर स्थापित करके सौपर्व वाले वज्र से उन सबके पंख काट दिये (द्रष्टव्य–हरिवंश भविष्य पर्व, 40वाँ अध्याय)। इन्द्र द्वारा सभी पर्वतों के पंख काट देने के पश्चात् एकमात्र मैनाक पर्वत बच गया। उसके साथ देवताओं ने यह शर्त कर ली थी कि यदि तुम समुद्र में स्थिर रहे अथवा छिपा रहा या शरण ले ले। तो तुम्हारे पंख नहीं काटे जाएँगे। तब से मैनाक पर्वत समुद्र में ही स्थित है। जिन पर्वतों के पंख काटे गये थे, उनमें प्रसिद्ध सुमेरू पर्वत भी था। इसके अतिरिक्त इस आख्यान का संकेत 'मत्स्यपुराण' (125.11–13) तथा 'भागवतपुराण' (8.11–34) में भी प्राप्त होता है जहाँ इसी प्रकार सपक्ष पर्वतों का स्वच्छन्द विचरण तथा इन्द्र द्वारा उनके पक्षछेदन का उल्लेख है।

पुराणों से पूर्व ऋग्वेद (2.12.2; 4.54.5) में तथा मैत्रायणी–संहिता (1.10.13) में यह आख्यान बीज रूप में प्राप्त होता है, जहाँ यह उल्लेख है कि इन्द्र पर्वतों के पंखों को काटकर उन्हें स्थिर करते हैं, एतदर्थ अधोलिखित मन्त्र द्रष्टव्य हैं – ''यः पर्वतान प्रकपितान् अरभणात्'' (ऋ. 2.12.2) तथा – ''प्रजायते वा एतद ज्येष्ठं वोकं यत्पर्वताः। ते पक्षिणः आसन्। तेषाम् इन्द्रः पक्षान् अच्छिनत्'' (मंत्रा. स. 1.10.13)। इसी आख्यान का पल्लवन पुराणादि् परवर्ति–ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः अधिक दैविक दृष्टि से यह आख्यान अन्तरिक्ष में वर्तमान मेघ और मध्यम ज्योति विद्युत के पारपरिक संघर्ष का आलंकारिक वर्णन है, जिसके परिणामस्वरूप वर्षा होती है (दुषणा निरूक्त, 2.16ः तत्को व्रज मान शति नैरू वताः ....

....। आध्यात्मिक दृष्टि से .... करने पर आत्मा पर अज्ञान और अविद्या का अचारण डालने वाली असुरी शक्तियों या वृत्तियों या पापमानना का वृत शब्द से अभिहित है। इस प्रकार वैदिक ग्रन्थों में यह आख्यान आध्यात्मिक एवं प्राकृतिक रहस्यों का उपस्थापना करना है, परन्तु पुराणों में आकर यह अपर्याप्त इन्द्र द्वारा पर्वत के पक्ष–छेदन तथा वृत्र नामक असुर के वध के रूप में विकसित हो गया है। आधिभौतिक दृष्टि से पर्वत (वृत्र) अस्थिरता का प्रतीक है तथा बलयुक्त अर्थात् शक्तिशाली बल युक्त पुरूष का प्रतीक है। इस आख्यान में पर्वतों अर्थात् बादलों को स्थिर करके वर्षा करवाकर पृथ्वी अर्थात् इस पर रहने वालों जड़–चेतन जगत् का कल्याण करना इसका प्रयोजन है।

4.4.2 अगस्त्य ऋषि द्वारा समुद्र–शोषण

अगस्त्य ऋषि द्वारा समुद्र–शोषण की कथा वैदिक साहित्य में नहीं मिलती। यह आख्यान विशुद्ध रूप से पौराणिक युग का है। पद्मपुराण में यह कथा दो स्थलों पर आयी है। एक सृष्टिखण्ड के 19वें अध्याय में और दूसरी 22वें अध्याय में। इस पुराण के 19वें अध्याय की कथा महाभारत के वनपर्व में आई कथा के समान है। तदनुसार जब इन्द्र ने वृता दैत्य देवताओं के भय से समुद्र में छिप गये। दैत्यों ने यह गुप्त मन्त्रण की कि देवताओं से पार पाने का एक ही उपाय है कि ऋत्विक् ऋषियों को मार दिया जाय, उनके यज्ञ–कर्म में बाधा पहुँचाई जाये। न यज्ञ हो पाएँगे, न अपना भाग प्राप्त कर देवता पुष्ट हो सकेंगे। तब निर्बल देवताओं को हराना कठिन नहीं होगा। अपनी इस योजना के अनुसार कालकेय नामक दैत्य वसिष्ठ, च्यवन, भरद्वाज आदि ऋषियों के अग्नि होव में विध्न डालने लगे और तर स्त्रियों को मारने लगे। यह सब संहार–लीला कर वे समुद्र में छिप जाते थे। इस प्रकार देवता उनके कुछ नहीं कर पाते थे। जब कुछ उपाय नहीं सूझा तब इन्द्रादि देवता विष्णु भगवान् के पास गये।

तब विष्णु ने यह उपाय बताया कि महर्षि अगस्त्य को, जिन्होंने विन्ध्याचल पर्वत का बढ़ना अपने तपोबल से रोक दिया था, समुद्र–शोषण के लिए तैयार किया जा सके तो काम बन सकता है। देवता गण अगस्त्य के पास पहुँचे और अपनी विपत्ति में सहायता करने की प्रार्थना की। अगस्त्य ने सागरपान करना स्वीकार कर लिया। देवताओं और ऋषियों के साथ समुद्र तट पर जाकर मित्रावरूण के पुत्र अगस्त्य ने सबके देखते–देखते समुद्र को पीना आरम्भ किया और कुछ ही देर में उन्होंने समुद्र को जलशून्य कर दिया। समुद्र को निर्जल हुआ देख कर देवता लोग अपने दिव्य आयुध लेकर दैत्यों पर टूट पड़े और थोड़ी देर में ही दैत्य मारे गये, परन्तु मरने से बचे हुए दैत्य पाताल लोक चले गये। देवताओं ने इस उपकार के लिए अगस्त्य की स्तुति की। पुनः समुद्र भरने की प्रार्थना करने पर अगस्त्य ने कहा कि मैंने यह जल तो पचा लिया, अब आप लोग समुद्र को भरने का कोई दूसरा उपाय सोचें। इस प्रकार यह आख्यान समाप्त हो जाता है।

पद्मपुराण के 22वें अध्याय की कथा में कुछ भिन्नता है। उस कथा के अनुसार वृत्रासुर के वध के उपरान्त जब तारक, कालकेय, कमलाक्ष, कालदंष्ट्र, विरोचन आदि दैत्य समुद्र में छिपे रह कर, अवसर पाते ही देवताओं और ऋषियों सताने हेतु अपने छापामार युद्ध को सहस्रों युग तक चलाते ही रहे, तब इन्द्र ने अग्नि और मारूत को समुद्र सुखाने का आदेश देते हैं। किन्तु समुद्र सुखाने से उसमें रहने वाले जीव–जन्तुओं का भी नाश हो जाएगा और यह अधर्म होगा, इस कारण अग्नि और मारूत समुद्र सुखाने से इन्कार कर दिया। इन्द्र उनकी इस अवज्ञा से स्पष्ट होकर उन्हें शाप दिया कि तुम दोनों पृथिवी पर मुनियों के रूप में अवतार लो, किन्तु मनुष्य रूप में भी तुम्हें चुल्लुओं में भरकर समुद्र को पीना पड़ेगा। इन्द्र के शाप के कारण अग्नि और मारूत मित्रावरूण के वीर्य से अगस्त्य और वसिष्ठ के रूप में कुम्भ से उत्पन्न हुए और दोनों ही घोर तपस्वी हुए। अगस्त्य ने मलयपर्वत पर घोर तपस्या की। परन्तु उन्हें इस बात पर बहुत रोष आया कि तारकासुर संसार के लोगों को बहुत पीड़ा पहुँचा रहा है, तब उन्होंने समुद्र को पी लिया। उनके इस कार्य से प्रसन्न होकर शंकर, ब्रह्ममा, विष्णु आदि वहाँ उपस्थित हुए और उन्होंने अगस्त्य को अनेक वर प्रदान किये (सृष्टि खण्ड, 22.33–38)। अगस्त्य द्वारा समुद्र शोषण की यह कथा भविष्य–पुराण (उत्तरार्द्ध, अ. 106), स्कन्द पुराण (नागर खण्ड, अध्याय 33–35) तथा

मत्स्य–पुराण (अध्याय 61) में भी प्राप्त होती है, परन्तु कुछ परिवर्तनों के साथ। यहाँ यह अवधेय है कि परिवर्तन होते हुए मूल कथा एक जैसी है।

इस कथा (आख्यान) का उद्देश्य अगस्त्य की लोकोपकारी प्रवृत्ति और उनके तपोबल की महिमा के माध्यम से लोक अर्थात् जनमानस को लोकोपकारी प्रवृत्ति को अपना कर जीवों की मदद करने का उपदेश किया गया है तथा घोर तप अर्थात् कठिन परिश्रम के द्वारा असम्भव को भी सम्भव किया जा सकता है, एतदर्थ लोक को प्रेरित किया गया है, जो आख्यान का प्रयोजन होता है।

4.4.3 चन्द्रमा और सूर्य से राहु–केतु की शत्रुता

ब्रह्मवैवर्त्त–पुराण (कृष्ण खण्ड, अध्याय 79–81) में यह आख्यान आता है। यहाँ चन्द्रमा और सूर्य से राहु–केतु की शत्रुता का कारण पृथक–पृथक बनाया गया है। इस पुराण में चन्द्रमा के राहु–ग्रस्त होने का कारण देवगुरू बृहस्पति की पत्नी तारा द्वारा चन्द्रमा को दिया शाप बताया गया है। तदनुसार भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी को गुरू–पत्नी तारा मन्दाकिनी नदी में स्नान कर रही थी। वहीं से चन्द्रमा ने उनका हरण कर लिया। तारा ने उसको बहुत समझाया कि ब्राह्मणी और गुरू–पत्नी होने के कारण मैं एक प्रकार से तुम्हारी माता के समान हूँ तथा गुरू–पत्नी गमन से सौ ब्रह्म–हत्या का पाप लगता है। परन्तु चन्द्रमा ने उन्हें नहीं छोड़ा। जब वह उन्हें भोगने के लिए उद्यत हुआ, तब तारा ने उसे शाप दिया कि तुम कलङ्की, यक्ष्मा से पीड़ित तथा राहु–ग्रस्त होओगे। चन्द्रमा ने रोती हुए तारा को गोदी में बैठाकर नाना नन्दी, नद तथा पर्वतों में रमण किया। परन्तु इस पुराण में सूर्य के राहु–ग्रस्त होने का कारण जमदग्नि ऋषि द्वारा उनका शापित होना बताया गया है। तदनुसार एक समय परशुराम के पिता ऋषि जमदग्नि रेणुका के साथ नर्मदा तट पर दिन में ही सम्भोग कर रहे थे। यह देखकर, सूर्य ने कहा कि ऋषि! आप ब्रह्मा के प्रपौत्र है, वेदों के ज्ञाता हैं, आप धर्म का त्याग क्यों कर रहे हैं? क्योंकि दिन में मैथुन को शास्त्रों में वर्जित माना गया है। सूर्य के टोकने पर जमदग्नि ने मैथुन तो त्याग दिया, पर सूर्य पर बहुत क्रोधित हुए और कहने लगे कि मेरे आगे पाण्डित्य और शास्त्र ज्ञान का उपदेश करने वाला तू कौन है? तब क्रुद्ध – जमदग्नि ने सूर्य को शाप दिया कि तुमने हमारा रस–भंग किया है, इसलिए तुम राहु–ग्रस्त होओगे। सूर्य ने भी जमदग्नि को शाप दिया कि क्षत्रिय के शास्त्र से तुम्हारी मृत्यु होगी। दोनों का कलह देखकर ब्रह्मा ने मध्यस्तता की और सूर्य से कहा कि न्यून एवं अधिक वर्ष में ही तुम राहु–ग्रस्त होओगे और वह ग्रहण कहीं दिखाई देगा और कहीं नहीं दिखाई देगा। जमदग्नि को भी ब्रह्मा ने कहा कि तुम्हारी मृत्यु कार्त्तवीर्य अर्जुन से होगी और तुम्हारा पुत्र 21 बार (इक्कीस) पृथ्वी को क्षत्रिय विहीन करेगा। ब्रह्मवैवर्त पुराण के इस आख्यान में नवीनता यह है कि "समुद्र–मन्थन से निकले अमृत का छल से राहु द्वारा पान करने की शिकायत सूर्य चन्द्र ने विष्णु को की थी जिससे राहु और सूर्य–चन्द्र में वैर–भाव उत्पन्न हुआ", इस वैर–भाव को कारण न मान कर यहाँ जमदग्नि और तारा के शाप को कारण माना गया है जब कि शेष सभी पुराणों में समुद्र–मन्थन की घटना से पारस्परिक शत्रुता को इसका कारण बताया गया है।

पद्मपुराण (अध्याय, 10), मत्स्य–पुराण (126.65, 93.10; 127.11), ब्रह्मभाण्ड–पुराण (2. 30.90; 24.136–139), वायु–पुराण (52.37.82; 23.90), विष्णु–पुराण (2.12.23) में सर्वत्र समुद्र–मन्थन की घटना से उत्पन्न इनकी पारस्परिक शत्रुता को सूर्य–चन्द्र के राहु–ग्रस्त होने का कारण बताया गया है। तदनुसार आख्यान यह है कि समुद्र–मन्थन के बाद राहु को छल–कपट से अमृतपान करते देखकर सूर्य–चन्द्र ने इसकी शिकायत

विष्णु से की। विष्णु ने राहु का सिर काट डाला। इसके सिर से केतु की उत्पत्ति हुई एवं राहु शिरविहीन अवस्था में विचरण करने लगा, क्योंकि अमृतपान करके वह अमर हो गया था। तब विष्णु के भय से ये दोनों वहाँ से तो भाग गये, किन्तु सूर्य–चन्द्र के प्रति इनका प्रतिशोध भाव बना रहा। इसी कारण आज भी वे इनको ग्रस्ते हैं, जिसे सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण के नाम से जाना जाता है। इस आख्यान का मानवीकृत रूप साहित्य में वर्णित होने पर भी इसका प्राकृतिक स्वरूप लुप्त नहीं हुआ है, क्योंकि सूर्य–चन्द्र ग्रहों के नामोल्लेख के कारण वह अन्ततः अपने प्राकृतिक स्वरूप का संकेत दे ही देता है।

पुराणों से पूर्व यह आख्यान वेदों में संकेतित है। प्राकृतिक दृश्यों एवं पदार्थों का मानवीकरण करके किसी सन्देश या स्थिति को प्रस्तुत करना वैदिक आख्यानों का प्रमुख प्रयोजन होने कारण यह उनकी विशिष्ट शैली है। यह आख्यान भी इसी कोटि का है। इसका मूल स्रोत अथर्ववेद का एक मन्त्र है, जिसमें राहु–केतु के प्रभाव से 'शम्' अर्थात् शान्ति या मंगल की कामना की गयी है, यथा (अथर्व., 19.9.10):

शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।
शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रूद्रास्तिग्मतेजसः ।।

वेद की इस कामना से यह संकेत प्राप्त होता है कि वेद में इन्हें अशुभ और आसुरी प्रवृत्ति के ग्रह के रूप में माना गया है। परवर्ती काल में यही राहु–केतु के रूप में मानवीकृत होकर दो असुर के रूप में प्रचलित हो गये, जो उज्जवल, पवित्र जनहितकर सूर्य–चन्द्र सदृश देवों को ग्रसते रहते हैं अर्थात् हानि पहुँचाते हैं। ऋग्वेद में (5.20.5–9; 5.40) इन्हें 'स्वर्भानु' नामक एक असुर के रूप में बताया गया है, जो सूर्य के प्रकाश को रोकता है। ऐसा भी माना जाता है कि 'स्वर्भानु' ही परवर्ती साहित्य में राहु–केतु का रूप धारण कर लिया है। 'भागवत–पुराण' (5.23.6) में इसे 'चन्द्रार्कप्रमर्दन' नाम से संबोधित भी किया गया है। यह आख्यान इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वेदों और पुराणों में प्राकृतिक–पदार्थों–दृश्यों या ब्रह्ममाण्डीय रहस्यों के प्रतिपादन के साथ–साथ व्यावहारिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षाएँ आलंकारिक शैली में प्रस्तुत की गयी हैं। यहाँ राहु–केतु प्राकृतिक ग्रह होते हुए भी आसुरी प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं, जो दैवी शक्तियों के प्रति ईर्ष्या, द्वेष एवं वैमनस्य की भावना से उन्हें हानि पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। सूर्य चन्द्र देव हैं और प्रकाश, जीवन एवं नैरोग्य प्रदान कर चराचर जगत् का हित करते हैं। राहु–केतु समय–समय पर जब आकाशमण्डल में इनके सामने से परिभ्रमण करते हुए गुजरते हैं, तो उनके सामने आने से उनका उतना भाग अवरूद्ध हो जाता है। जनव्यवहार की भाषा में यही खगोलीय अवस्था सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण के रूप में प्रसिद्ध है। ग्रहों की यह गतिशीलता का क्रम ज्ञान इससे प्राप्त होता है। यही आख्यान के रूप में वर्णित है।

इस आख्यान से यह शिक्षा प्राप्त होती है कि सूर्य–चन्द्र दिव्य गुण एवं हितकारी गुणों वाले होने के कारण 'देवों' के प्रतीक है और राहु–केतु असुरों–दैत्यों के प्रतीक हैं। दैत्यों अथवा असुरों का यह स्वभाव होता है कि वे श्रेष्ठजनों की श्रेष्ठता को सहन नहीं कर पाते और अकारण ईर्ष्या–द्वेष, वैमनस्य की भावना रखकर उन्हें हानि पहुँचाने का प्रयत्न करते रहते हैं। ऐसे लोगों से सावधान रखना चाहिए तथा अनके कुप्रयासों को सफल नहीं होने देना चाहिए। इस कथा का आशय यह भी है कि अपने अन्दर भी आसुरी प्रवृत्तियों को जन्म नहीं लेने देना चाहिए, क्योंकि यह प्रवृत्ति व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए अहितकारी होती है।

4.4.4 नारद–मोह

सामान्यतया नारद का उल्लेख वैदिक साहित्य (ऋ., 8.13, 9.104–105; अथर्व., 5.19.9 तथा ऐत. ब्रा., 7.13) से ही प्रारम्भ हो जाता है। वैदिक साहित्य में नारद मन्त्रद्रष्टा ऋषि और अध्यापक के रूप में ही आते हैं, परन्तु पौराणिक साहित्य में ये कुशल वीणा वादक, सतत् भ्रमणशील, इधर से उधर सूचना पहुँचाने वाले तथा नारी के व्यामोह में पड़ने वाले देवर्षि के रूप में चित्रित हुए हैं ('ब्रह्मखण्ड, 8.21)। प्रस्तुत प्रसंग में उनके नारी–रूप पर मोहित होने से सम्बन्धित पौराणिक आख्यानों पर ही विचार करना समीचीन होगा।

शिवपुराण (रूद्रसंहिता, सृष्टि खण्ड, अध्याय 2–5) के अनुसार नारद हिमालय पर तप कर रहे थे। उनके कठोर तप से भयभीत इन्द्र ने उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिए कामदेव को भेजा, किन्तु कामदेव को भस्म करते समय शिव द्वारा उसे प्रदत्त शाप, कि 'हिमालय प्रदेश में तप करने वालों पर तेरा प्रभाव नहीं पड़ेगा', के कारण उसका प्रयत्न निष्फल रहा। तब नारद जी को अपने काममयी होने का अभिमान हो गया। ब्रह्म और शिव के पास जाकर उन्होंने अपने इस पुरूषार्थ का बखान किया। ब्रह्मा और शिव ने उन्हें सावधान किया कि हम दोनों से कहा तो कहा, कहीं ऐसे ही विष्णु के सामने जाकर अपनी डींग मत हांकने लगना। परन्तु नारद भला क्यों मानते? वे विष्णु के पास भी गये और कामदेव से अप्रभावित रहने की शेखी बघारने लगे।

नारद के जाने के पश्चात् विष्णु ने एक माया–नगरी का निर्माण किया, जिसका राजा शीलनिधि था। 'श्रीमति' नाम की उसकी एक कन्या थी। राजा ने उसका स्वयंवर रचाया। मायनिर्मित बहुत से राजा पुरूष उसमें उपस्थित हुए। समाचार पाकर नारद जी भी उसमें पहुँचे। 'श्रीमति' को देखकर नारद काम मोहित हो गये। राजा ने नारद से कन्या की हस्तरेखायें दिखायीं। नारद ने कन्या के भाग्य की प्रशंसा की और यह भविष्यवाणी की कि कामजयी पुरूष उसका पति बनेगा। नारद जी सुन्दर रूप प्राप्त करने हेतु विष्णु के पास गये। उन्होंने उन्हें 'हरि' कहकर सम्बोधित किया और उनके जैसा ही रूप चाहा था, अतः विष्णु ने 'हरि' का श्लोपधि 'बन्दर' लेकर नारद का मुख बन्दर जैसा कर दिया। मर्कट–मुख वाले नारद श्रीमति के स्वयंवर में पहुँच गये। उसमें विष्णु भी उपस्थित हुए। नारद जी ने अपने को सुन्दर समझ कर इधर–उधर मुख उचकाया, पर श्रीमती ने उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया और वरमाला विष्णु के गले में डाल दिया। विष्णु श्रीमती को लेकर वहाँ से अन्तर्द्धान हो गये। शिवगणों ने नारद की बहुत खिल्ली उड़ाई और उनके वानर–रूप की जानकारी उन्हें करायी। क्रोधित होकर नारद ने शिव–गणों को राक्षस होने का शाप दिया। क्रोध में ही जलते–भुनते वे विष्णु लोक गये और विष्णु को शाप दिया कि तुम मनुष्य होकर प्रिया के विरह में दुःखी होंगे और वानरों की ही सहायता से तुम्हें अपनी प्रिया प्राप्त होगी। विष्णु ने शिवेच्छा जानकार नारद का शाप तो ग्रहण कर लिया, किन्तु जैसे ही अपनी माया हटायी, नारद बहुत दुःखी हुए और पश्चातापस्वरूप उन्होंने शिवस्रोत का पाठ किया, पृथिवी का भ्रमण किया। काशी भी गये। वहाँ उन्होंने अपने द्वारा अभिशप्त शिवगणों को रावण की अवहेलना करने पर शाप मुक्त होने का वर दिया। यहीं यह आख्यान समाप्त हो जाता है।

'देवी भागवत–पुराण' (6.26–27) में नारद–मोह या स्त्री के कारण नारद के दुःख भोगने की एक दूसरी कथा भी प्राप्त होती है। इस कथा के अनुसार नारद मुनि और पर्वत मुनि दोनों एक बार पृथ्वी–भ्रमण के लिए देवलोक से चले। चलते समय दोनों ने यह शपथ ली कि वे एक–दूसरे से अपने मन के किसी भाव को नहीं छिपाएँगे, चाहे

वह कैसा भी श्लील अथवा अश्लील हो। देवलोक से चलकर सर्वप्रथम वे भारत वर्ष में आये। यहाँ वे चातुर्मास बिताने के लिए राजा संजय के यहाँ ठहर गये। संजय ने अपनी नवयौवना कन्या दमयन्ती को ऋषियों के आतिथ्य के लिए नियुक्त कर दिया। दमयन्ती नारद के वीणा–वादन पर मोहित हो गयी। नारद भी उस पर आसवत हो गये। उधर पर्वत भी अपने मन में दमयन्ती के प्रति अनुरक्ति अनुभव करने लगे थे। किन्तु नारद की ओर आकर्षित होने से दमयन्ती पर्वती की ओर उपेक्षाभाव रखने लगी। उसका यह भाव आतिथ्य में भी नारद के प्रति विशेष–स्नेह एवं सार–सम्भार तथा पर्वत के प्रति अनवधानता के रूप में अभिव्यक्त होने लगा। पर्वत ने अपने मन का सन्दे नारद से प्रकट कर दिया। तब नारद ने भी अपने मन की बात सच–सच बता दिया। परन्तु नारद ने पूछने पर बताया, स्वयमेव नहीं; अतः पर्वत ने इस दुराव एवं शपथ–भंग के लिए उन्हें बन्दर–मुख हो जाने का शाप दे दिया। नारद ने भी उन्हें प्रति शाप दिया कि तुम भी मृत्युलोक में ही रहो और स्वर्ग–भ्रष्ट हो जाओ। तब दमयन्ती के पिता ने उसको बहुत समझाया कि बन्दर मुख नारद का ध्यान अपने मन से निकाल दे, किन्तु, वह तो उनकी कला पर विमुग्ध थी, अतः उसका विवाह नारद से हो गया। यों तो दमयन्ती नारद को कभी यह अनुभव नहीं होने देती थी कि उनके बन्दर–मुख होने से वह उन्हें कम प्यार करती है, परन्तु नारद हीनभाव से ग्रस्त रहने के कारण सदा दुःखी रहते थे। एक बार पर्वतमुनि घूमते–फिरते अपने मित्र का समाचार जानने के लिए वहाँ आ गये। नारद को दुःखी देखकर उन्होंने अपना शाप वापस ले लिया। तब नारद ने भी अपना शाप लौटा लिया। यह आख्यान यहीं समाप्त हो जाता है।

भविष्य पुराण (उत्तरार्द्ध, अध्याय 3) में भी नारद मोह की कथा प्राप्त होती है, जो शिवपुराण के अनुसार ही है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण (ब्रह्मखण्ड, 8–21) में भी नारद से सम्बद्ध कथा मिलती है, परन्तु यह उपर्युक्त कथाओं से सर्वथा भिन्न है और नारद के मोह से भी सम्बद्ध नहीं है। लिंड़पुराण (उत्तरार्द्ध, अध्याय 5) में नारद–मोह की जो कथा प्राप्त होती है, वह शिवपुराण और देवी भागवत पुराण की कथाओं का मिला–जुला रूप उपलब्ध होता है।

इस पौराणिक आख्यान से लोक को यही शिक्षा प्राप्त होता है कि मनुष्य को अपने पुरूषार्थ, सौन्दर्य, गुण आदि पर अहंकार नहीं करना चाहिए और न ही अधिक महत्व देना चाहिए, क्योंकि लोक में जो कुछ भी है, वह ईश्वर प्रदत्त है; अतः यथार्थ बोधपूर्वक लोकव्यवहार में प्रवृत्त होना चाहिए। दूसरी शिक्षा यह प्राप्त होती है कि सच्चा मित्र से कपट नहीं रखना चाहिए और न ही लिए गये शपथ को भंग करना चाहिए तथा व्यामोह में फँस कर मित्र के प्रति विश्वासघात भी नहीं करना चाहिए। यदि बाद में भी मैत्री–भाव का यथार्थबोध हो जाय तो मित्र के प्रति पूर्वकृत अपराध–शमन के साथ उसका निवारण कर लेना चाहिए।

4.5 सारांश

जिन आख्यानों का मूल प्रतिपाद्य अपने अभी विस्तृत रूप में पढ़ा उन आख्यानों में पहले आख्यान अपने प्रजापति द्वारा अपनी पुत्री के गमन का आख्यान है वस्तुतः यह आख्यान वैदिक सभ्यता को नैतिक रूप से आवेश से दिखाने के लिए प्रयाग प्रयुक्त किया जाता है किंतु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है यह आख्यान एक ऐतिहासिक आख्यान नहीं है बल्कि सृष्टि वैज्ञानिक तथ्यों को प्रस्तुत करने वाला एक अलंकारिक वर्णन है ।इसका कोई वास्तविक अर्थ नहीं है सृष्टि के निर्माता प्रजापति द्वारा प्रजापति को पहले उत्पन्न होना और सृष्टि को उसके बाद उत्पन्न होने की तथ्य को प्रस्तुत करता है प्रजापति और सृष्टि पुनः मिलकर सृष्टि के विकास को

आगे बढ़ते हैं यही इस आख्यान का आशय है इसी प्रकार से एक दूसरा आख्यान है इंद्र के द्वारा गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या के मध्य व्यभिचार का वर्णन। यह आख्यान भी वस्तुतः एक सामाजिक आख्यान नहीं है यहां अहिल्या रात्रि की वाचक है और इंद्र आदित्य का इस आख्यान में आदित्य अर्थात इंद्र द्वारा रात्रि को समाप्त करने के लिए जरतों का वर्णन किया गया है ।इस तथ्य की पुष्टि मास्क ने की है सूर्य तथा मेघ रश्मि के घर सर से वर्षा होती है इस तथ्य को उपस्थित करता हुआ इंद्र वृत्त युद्ध में इंद्र स्वयं सूर्य का वाचन है तथा वृत्त मेघ का जनता को वर्षा प्राप्त हो सके इसलिए सूर्य ने मेघ को प्रभावित किया घर्षण किया उसको नियंत्रण में लिया इस कथानक का यही आशय है ना कि इस कथानक में इंद्र और वृत्त के मध्य युद्ध हुआ इसी प्रकार से वैदिक संहिताओं ब्राह्मण में वर्ण सुना सिर्फ आख्यान रोग ग्रस्त व्यक्तियों को अपने रोग से मुक्त होने के लिए निरंतर प्रयासरत रहने की प्रेरणा देता है पौराणिक आख्यानों जो कि अधिकतर वैदिक आख्यान के विकसित रूप है उन आख्यानों में इंद्र अहिल्या आख्यान पुनः विकसित होकर आता है पुराण की इस आख्यान में इंद्र के द्वारा अहिल्या के पीछे-पीछे दौड़ना एक प्राकृतिक सत्य है चंद्रमा द्वारा गुरु पत्नी के साथ व्यभिचार संबंध की अब व्याख्या वाला आख्यान वस्तुतः एक आध्यात्मिक रूपक है जिसमें गुरु विद्या तथा शिष्य के मध्य संबंधों को व्यक्त किया गया है क्योंकि गुरु विद्या में रमन करता है तो विद्या को तारा रूप में प्रस्तुत किया गया है तारा रूप विद्या गुरु की पत्नी यहां कहीं गई चंद्रमा शिष्य है तो गुरु अपने विद्या को शिष्य में संक्रमण करता है इसलिए चंद्रमा ने विद्या को संक्रमित किया इस प्रकार की कहानी इसमें कहीं गई हैअगस्त ऋषि और विंध्याचल को ऊपर उठने से रुकने की कहानी एक अवधि दैविक कहानी है जिसमें भोगकर भी गतिविधियों का वर्णन किया गया है

4.6 पारिभाषिक शब्दावली

....

....

4.7 सन्दर्भग्रन्थ

1. वैदिक आख्यान, डॉ0 गंगासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

4.8 बोध प्रश्न

....

....

सप्तम खण्ड
ग्रन्थ निर्माण की भारतीय विधि

सप्तम खण्ड का परिचय

एम. ए. हिन्दू अध्ययन के तृतीय पाठ्यक्रम के ग्रन्थनिर्माण की भारतीय विधि नामक सप्तम और अन्तिम खण्ड में आपका स्वागत है। भारत में बहुत अधिक मात्रा में ग्रन्थों की रचना हुई है, जिसमें शास्त्रग्रन्थों की रचना भी अधिक मात्रा में हुई है। इन ग्रन्थों के निर्माण के विषय पर चिन्तन करने और ग्रन्थनिर्माण की विधि एवं प्रक्रिया को सुव्यवस्थित बनाने की परम्परा भी भारत में रही है। इस खण्ड कुल तीन इकाइयाँ हैं। भारत में ग्रन्थों के निर्माण के लिए अनुबन्ध-चतुष्टय को अनिवार्य माना है तथा ग्रन्थों के निर्माण और विश्लेषण के लिए तन्त्रयुक्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रथम इकाई में अधिकरण की अवधारणा पर विचार करते हुए अनुबन्ध-चतुष्टय के अन्तर्गत ग्रन्थ का विषय, उसका अधिकारी, सम्बन्ध तथा प्रयोजन को भी वर्णित किया गया है। भारत में ग्रन्थों के निर्माण एवं विश्लेषण हेतु कुछ साधनों को प्रयोग में लाया जाता है। इनको तन्त्रयुक्तियाँ कहा जाता है। तन्त्रयुक्तियों का परिचय तथा इनका विश्लेषण द्वितीय इकाई में प्रस्तुत है। भारतीय परम्परा में ग्रन्थों को सम्पादित करने के लिए किस प्रकार की विधि एवं नियमों की सङ्कल्पना हुई है? यह जानते हुए अन्तिम इकाई में आचार्य अभिनवगुप्त के उदाहरण को भी वर्णित किया गया है। इस खण्ड के साथ ही एम. ए. हिन्दू अध्ययन का तृतीय पाठ्यक्रम पूर्ण होता है।

इकाई 1 अधिकरण की अवधारणा एवम् अनुबन्ध चतुष्टय

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- वेदान्त क्या है इसको समझ सकेंगे।
- वेदान्तसार में वर्णित अनुबन्धचतुष्टय की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- वेदांत पढ़ने का अधिकारी कौन एवं शास्त्र पढ़ने का प्रयोजन क्या है, जान सकेंगे
- वेदान्तसार में वर्णित साधनचतुष्टय की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- वेदांत का हमारे जीवन में उपयोग ,जान सकेगें
- वेदान्त दर्शन में ज्ञान की अवधारणा को जान सकेंगे

1.1 प्रस्तावना

इसके पहले आपलोगों ने मीमांसा में अधिकरण अर्थात् topic को पढ़ा अब अनुबन्ध चतुष्टय के बारे में पढेंगे ,ब्रह्मसूत्र का पहला अधिकरण है – अथातो ब्रह्मजिज्ञासाधिकरण | इसमें पहले 'अथ्' शब्द का प्रयोग किया गया है | 'अथ्' के प्रयोग से लगता है कि इससे पहले कुछ और बात चल रही थी | ऐसा हुआ एक कंजूस सेठ जी अपनी पत्नी के साथ बज़ार में घूम रहे थे | अचानक एक मिठाई की दुकान देख कर अपनी पत्नी से बोले: "और रसगुल्ले खाओगी?" पत्नी ने हैरान होकर पूछा: "जी अभी तक एक भी कहाँ खाए हैं जो और खाया जाए?" सेठ जी बोले: "अभी पिछले साल ही तो खिलाए थे!"

तो 'अब' से यह जान पड़ता है कि पहले जीव संसार में ही उलझा रहता है – संसार के पीछे छिपे अग्यात ब्रह्म में रूचि एक परिपक्वता की निशानी है| आदि जगदगुरु शंकराचार्य जी ने "भज गोविंदम" में लिखा है:

बालस्तावत् क्रीडासक्तः,
तरुणस्तावत् तरुणीसक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तासक्तः,
परे ब्रह्मणि कोऽपि न सक्तः ॥७॥

बचपन में खेल में रूचि होती है , युवावस्था में युवा स्त्री के प्रति आकर्षण होता है, वृद्धावस्था में चिंताओं से घिरे रहते हैं पर ब्रह्म से कोई प्रेम नहीं करता है ॥७॥

तो 'अथ्' से जाना कि संसार में बहुत उलझे – अब थोड़ी परमात्मा की जिज्ञासा की जाए |

उस ब्रह्म को जानने के लिए गुरु के पास जाकर जिज्ञासा करनी पड़ती है| शास्त्र भी यही कहते हैं: ऋक्भाष्यभूमिका में सायणाचार्य कहते हैं ' अतिगम्भीरस्य वेदज्ञस्य अर्थम् अवबोधयितुम् शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि । गोपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है 'षड्ङ्गविदस्तत्तथाधीमहे इति । बिना प्रयोजन के मन्दमति व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, फिर मतिमान् की तो बात ही क्या कहना। किसी विद्वान् ने लिखा है-

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते ॥

इसलिये वेदार्थ का बोध कराना सभी वेदाङ्गों का मुख्य प्रयोजन है।

1.2 अधिकरण सिद्धान्त

मीमांसा दर्शन जिसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'धर्म' है का प्रथम सूत्र 'अथातो धर्मजिज्ञासा' है। धर्म शब्द का अर्थ काम, यज्ञ, होम आदि से होता है। मीमांसा दर्शन का प्रतिपाद्य द्वादश अध्यायों में किया गया है, जिससे 'द्वादश लक्षणी' भी कहा जाता है। ये प्रतिपाद्य दो भागों में विभाजित है-

वह दो प्रकार के विचारात्मक शास्त्र हैं। शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथी मिश्र के अनुसार, उपदेश विचार के बाद और अतिदेश विचार का आरम्भ होता है।
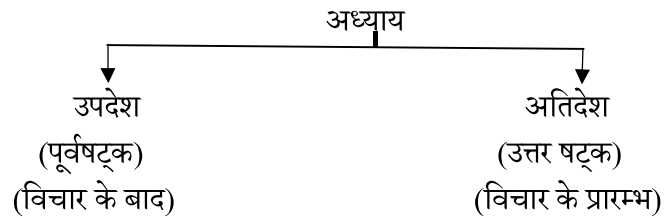
वर्तमान समय में उपलब्ध मीमांसा दर्शन में बारह अध्याय है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद तथा तृतीय, छठे और दसवें अध्याय में आठ-आठ पाद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में 60 पाद है। इसे 'शबराध्याय' कहते है। इसमें लगभग 1000 अधिकरण है परन्तु मीमांसा दर्शन की सूत्र-संख्या में विवाद है।

- किन्ही के मतानुसार 2652 सूत्र तो किन्ही के अनुसार 2742 सूत्र हैं।
- अधिकरण शब्द 'अधि' उपसर्गपूर्वक तथा 'कृ' धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है।

अधि क्रियते तत्र। विषयादिपन्चावयवविवेचनोपेतः ग्रन्थः। एकन्यायोपादनमित्यर्थः।
अधिक्रियतेऽर्थाद्विचारोस्मिन्नेनेति वा अधिकरणं वेदविचारग्रन्थमालिकां मीमांसा ।।

अर्थात्, विषय, संशय , पूर्व पक्ष, उत्तर पक्ष, निर्णय ये पाँच अवयव हैं। इन पंचावयवों के विवेचन से युक्त ग्रन्थ को अथवा विषयादि पाँचों अवयवों का प्रतिपादन जिस ग्रन्थ में हुआ है, उसे अधिकरण कहते हैं।

अर्थात् मीमांसा शास्त्र द्वारा कथित-एक अर्थ का प्रतिपादन। अधिकरण शब्द का मूल अर्थ 'एकार्थप्रतिपादन' है।

मीमांसाशास्त्र प्रसिद्धे एकार्थप्रतिपादके विषयसंसयपूर्वपक्ष - सिद्धान्तनिर्णयात्मक पञ्चांग बोधक वाक्य समुदाये न्याये। तत्रैकैकम अधिकरणं पञ्चावयवं विषयः सन्देहः संगतिः पूर्वपक्षः सिद्धान्तश्चेति पञ्चावयवा इति।

- वाचस्पत्यम भागे 1 पृ0 926

शब्दकल्पद्रुम में सिद्धान्त शब्द की व्युत्पत्ति बतायी गयी है- सिद्धः अन्तो यस्मात् पूर्वपक्षं निरस्त सिद्धान्त पक्षस्थानम् इति भरतः ।

सिद्धान्त की परिभाषा- पदार्थो की परीक्षणों द्वारा अनेक बार परीक्षा करके अनेक माध्यमों द्वारा सिद्ध करने के बाद जो स्थायी और अन्तिम निर्णय लिया जाता है उनको सिद्धान्त कहते हैं।

शास्त्रार्थ एवं परीक्षणों द्वारा किसी विषय पर निर्णय किये गये लक्ष्य को भी सिद्धान्त कहते हैं।

शास्त्र की दृष्टि से सिद्धान्त चार प्रकार के होते है: -

(1)सर्वतन्त्र सिद्धान्त (2)प्रतितन्त्र सिद्धान्त (3)अधिकरण सिद्धान्त(4)अभ्युपगम सिद्धान्त

शास्त्र के अर्थ की संस्थिति किये गए अर्थ को सिद्धान्त कहते हैं।

तंत्राधिकरणाभ्युपगसंस्थितिः सिद्धांतः।।
स्वतंत्रेप्रीततेत्राधिकरणाभ्युपगसंस्थिपत्यर्थातंर भावात्।।27।।

1. जो सूत्र प्रत्येक शास्त्रों में अविरूद्धता से स्वीकार किए गए हो, उसे सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहते हैं। अर्थात् जिस बात को सभी शास्त्रकार मानते है। जैसे: पाँच इन्द्रियाँ होना, आयुर्वेद में, सभी ग्रन्थों में रोग निदान के उपाय को स्वीकार किया गया है।

2. जो बात एक शास्त्र में सिद्ध हो, और दूसरे में असिद्ध हो उसे प्रतितंत्र सिद्धान्त कहते हैं। जैसे वेद में 16 संस्कारों का वर्णन है परन्तु अन्य गृह्य सूत्रों में 16 संस्कारों को अलग-अलग प्रकार से बताया गया है। गृह्य सूत्रानुसार विवाह संस्कार को प्रथम संस्कार माना गया है। ना की 'गर्भाधान संस्कार' को।

3. जिस अर्थ के सिद्ध होने से अन्य अर्थ भी नियम से सिद्ध तो उसे अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं। इसके पाँच अवयव होते हैं, विषय, संशय, पर्व पक्ष, उत्तर पक्ष एवं निर्णय।

   उदाहरण: देह और इन्द्रियों से भिन्न कोई जानने वाला है जिसे आत्मा कहते हैं।

   यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरण सिद्धांतः।।30।।

4. बिना परीक्षा किए किसी पदार्थ को मानकर उस पदार्थ की विशेष परीक्षा करने को अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं। सामान्य अर्थ में, वादी एवं प्रतिवादी द्वारा शास्त्रार्थ में बताया गया सिद्धान्त खण्डित हो जाने पर भी, उस खण्डित सिद्धान्त को मानना अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है। जैसे:-

    वादी: द्रव्य अपने रस द्वारा काम करता है।

    प्रतिवादी: द्रव्य अपने गुण, कर्म तथा तेज से कार्य करता है।

1.3 अनुबंध चतुष्टय का अर्थ

जो अपने ज्ञान से अन्य को बांधकर ग्रन्थ अथवा शास्त्र में प्रवृत्त करते हैं उन्हें अनुबन्ध चतुष्टय कहते हैं। अतः अनुबन्धों के ज्ञान के बाद ही किसी शास्त्र में पुरूष की प्रवृत्ति संभव है। यदि शास्त्र के आदि में अनुबन्धों को उल्लेख नहीं होता है तो शास्त्र पढ़ने में पाठक की प्रवृत्ति नहीं होती है। अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन ये चार अनुबन्ध है, इन्हें ही 'अनुबन्ध चतुष्टय' कहा जाता है।

1.4 अधिकरण सिद्धान्त एवं अनुबंध चतुष्टय का सम्बन्ध

अधिकरण सिद्धान्त: अधिकरण सिद्धान्त: मीमांसागत अधिकरणों की संख्या में आचार्यो में मतभेद है। कुछ के अनुसार अधिकरणों की संख्या 907 है और कुछ के अनुसार यह सखूंया 915 है।

श्लोकों की अनुसार अधिकरणों की संख्या 1250 है। मीमांसाशास्त्र में प्रत्येक अधिकरण के 5 भाग है-

1. विषय
2. संशय
3. पूर्वपक्ष
4. उत्तर पक्ष
5. निर्णय

इस शास्त्र में वाक्य, प्रकरण, प्रसंग और ग्रंथ का तात्पर्य निकालने के लिए सूक्ष्म नियम और युक्ति दी गयी है। तात्पर्य निर्णय के छः भेद कहे गए हैंः-

तात्पर्य निर्णय

1) उपक्रम (आरम्भ) उपसंहार (अन्त)
2) अभ्यास
3) अपूर्वता
4) फल
5) अर्थवाद
6) उत्पत्ति

1. उपक्रम: उपक्रम से आशय आरम्भ से है।
2. उपसंहार: उपसंहार का आशय अन्त से है।
3. अभ्यास: बार-बार कथन अभ्यास कहलाता है।
4. अपूर्वता: नवीनता अर्थात् पहले जैसा न होना।
5. फल: परिणाम या लाभ को फल कहते हैं।
6. अर्थवाद: किसी बात को पुष्ट करने हेतु दृष्टांत, उपमा आदि
7. उत्पत्ति: प्रमाणों द्वारा पदार्थ की सिद्धि।

तात्पर्य निर्णय के उदाहरण

1. उपक्रम, उपसंहार: छान्दोग्योपनिषद् के छठें अध्याय के प्रकरण में कहा गया है-

   ''एकम् एवं अद्वितीयम।''

   अर्थात्, एकमात्र ब्रह्म ही अद्वितीय वस्तु है अन्य कोई नहीं (उपक्रम)

   ''एतत् आत्मा इदम् सर्वम्'' (छान्दोग्योपनिषद्)

   अर्थात्, यह सारा संसार प्रपंच रहस्य स्वरूप है,

   एकमात्र आत्मा ही सत्य है। (उपसंहार)

2. अभ्यास: प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु को उसके अर्थात् ग्रन्थ के मध्य में बार-बार प्रतिपादन करना ही अभ्यास है। जैसे: अद्वितीय ब्रह्म के बारे में कहना - 'तत्वमसि', अहं ब्रह्मास्मि'। इन महावाक्यों के द्वारा ब्रह्म के अद्वितीयता का बार-बार प्रतिपादन करना।

3. अपूर्वता: प्रतिपाद्य विषय - वस्तु को श्रुति या वेद के अतिरिक्त किसी और का विषय नहीं बनाना। अर्थात् जो पृथक-पृथक युक्ति से न समझकर केवल वेद से समझा जाए, वह अपूर्वता कहलाता है।

4. फल: आत्माज्ञान के लिए किए जाने वाले साधन-अनुष्ठान का प्रयोजन जिस प्रकरण में आता है, उसे फल कहते हैं।

   'आचार्यवान् पुरूषो वेदः।'

   आचार्यवान् पुरूष ही आत्मा को जानता है, उसके लिए ब्रह्म की दूरी तभी तक है, जब तक वह शरीर बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता।

5. अर्थवाद: प्रतिपाद्य की स्थान-स्थान पर प्रशंसा ही अर्थवाद है। जैसे: श्वेतकेतू - आरूणि संवाद।

छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित श्वेतकेतु - आरूणि का संवाद:

जब श्वेतकेतु ज्ञान की सभी शाखाओं में बारह साल का प्रशिक्षण पूरा करने के पश्चात् गुरूकुल से लौटे, तो उनके पिता उद्दालक ने उनकी अभिव्यक्ति में अहंकार पाया। श्वेतकेतु के अहंकार के खण्डन हेतु ऋषि उद्दालक आरूणी उनसे प्रश्न करते हैं: -

त ह पितोवाच 'श्वेतकेतो! यन्तु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यों, येनाश्रुत श्रुतं भवत्यमतं मतविज्ञातं विज्ञातमिति।।'

श्वेतकेतु अपने पिता के प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ रहे। अतः उन्होंने अपने पिता से ज्ञान देने का अनुरोध किया। आरूणी ऋषि ने अनुरोध स्वीकार करते हुए श्वेतकेतु से संवाद आगे बढ़ाया।

श्वेतकेतु - आरूणी संवाद में, ब्रह्म के विषय में और उसे कैसे प्राप्त किया जाये, इसके बारे में एक व्यापक विचार देखने को मिलता है।

अधिकरण के पांच अवयव-

१.विषय २.संशय ३.पूर्व पक्ष ४.उत्तर पक्ष ५.निर्णय

1. विषय: जिस पर आधारित होकर विचार प्रवत्त होता है, उसे विषय कहते हैं। यहाँ मीमांसा शास्त्र ही विषय है।

   'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।'

   अर्थात् अपने अध्याय का ही अध्ययन करना चाहिए।

2. संशय- जिसमें दो या दो से अधिक पक्षों की सम्भावना पर विचार होता है, उसे संशय कहते हैं। स्थाणों का पुरूषो वा सूखा वृक्ष है अथवा पुरूष है।

3. पूर्व -पक्ष- वादी के द्वारा प्रतिपादित वस्तु को पूर्व पक्ष कहते है। जैसे: वेद अपौरूषेय है।

   पूर्व पक्ष इस पर वादी प्रश्न करता है कि - वेद किस प्रकार से अपौरूषेय है।

4. उत्तर पक्ष- वादी द्वारा प्रतिपादित विषय - वस्तु को उत्तर देकर समाधान करना उत्तर पक्ष कहलाता है।

   जैसे: - पूर्व पक्ष द्वारा किये गये प्रश्न का उत्तर-उत्तर पक्ष द्वारा:-

   - वेद की संस्कृत वैदिक संस्कृत है, यह लौकिक संस्कृत से भिन्न है।
   - इसमें उ, उत्, नु, कम्, चित्, न, ईम् आदि निपात केवल वेद में प्रयोग होते है।
   - वेद में लेट् लकार का प्रयोग होता है। इस लकार का प्रयोग लोक में नहीं होता।
   - वेद गूढ़ात्मक है। इसके अर्थ को सरलता से नहीं समझा जा सकता है।
   - वेद में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित का प्रयोग होता है परन्तु लोक में नहीं।

निर्णय -प्रतिपादित विषय में संशय, शंका का समाधान कर अंतिम सिद्धान्त ही निर्णय की स्थापना करता है|

जैसे- मीमांसा शास्त्र के अध्ययन में अंतिम सिद्धान्त इस निर्णय को स्थापित करता है की विद्यार्थी को शास्त्र को एक ही शाखा का निरंतर प्रतिदिन अध्ययन करना चाहिए जिससे वह उस शाखा में प्रवीण हो| निर्णय के लिए तीन संगतियाँ होती हैं-

1. शास्त्र संगति
2. अध्याय संगति
3. पाद संगति

अधिकरण सिद्धान्त को समझने के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन गुणों का होना आवश्यक है| ये तीनों गुण जिसमें होते हैं वही मीमांसा वह वेद पठन-पाठन का अधिकारी होता है|

अनुबन्ध चतुष्टय – अनुबध्यते अनेन इति अन्बुन्धः अर्थात् जिसके द्वारा ग्रन्थ शुरू से लेकर अंत तक बंधा रहता है ,उसे अनुबन्ध कहते हैं ,वेदांत में अधिकारी,विषय,प्रयोजन और संबंध को अनुबन्ध चतुष्टय कहा गया है -

अनुबन्ध चतुष्टय.. वेदान्तसार के अनुसार..

अनुबन्ध चतुष्टय क्या हैं…सुसंबद्ध तथा विचार करने योग्य तत्वों को अनुबन्ध कहते हैं। जब भी कोई ग्रन्थ लिखा या पढ़ा जाता है तो यह विचार उठता है किइस ग्रन्थ को पढ़ने का अधिकारी कौन है? इस ग्रन्थ द्वारा प्रतिपाद्य विषय क्या है? विषय और उस शास्त्र में संबन्ध क्या है? तथा उस शास्त्र का प्रयोजन क्या है।

कोश ग्रंथ वाचस्पत्यम् में अनुबन्ध चतुष्टय -

ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः।।

अर्थात् कोई भी व्यक्ति या पाठक उस ग्रन्थ को सुनने या पढ़ने में तब तक नहीं लगता जब तक उस ग्रन्थ के संबंध में स्थापित होने वाली विषयवस्तु और उद्देश्य का ज्ञान न हो जाये। इसी प्रकार, अनुबंधों का ज्ञान श्रोता और किसी अन्य को भी धर्मग्रंथों को सुनने और अध्ययन करने के लिए प्रेरित करता है। परिणामस्वरूप, वे धर्मग्रंथों के अध्ययन में शामिल हो जाते हैं।

कुमारिल भट्ट के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय -

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते॥

अर्थात्, सभी धर्मग्रंथों में या किसी भी कार्य में कोई भी तब तक शामिल नहीं होता जब तक कि उद्देश्य न बताया गया हो। अत: शास्त्रों में संबंध एवं उद्देश्य का उल्लेख करना आवश्यक है।अनुबन्धों के द्वारा ही पढ़ने वाला व्यक्ति शास्त्र / ग्रन्थ की ओर प्रवृत्त होता है, तथा शास्त्र अपने ज्ञान से पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करता है।यदि शास्त्र केआरम्भ में ही अनुबन्धों का वर्णन नहीं होता है, तो शास्त्र पढ़ने में पाठक की रुचि नहीं हो पाती है।

भक्तमाल में अनुबन्ध चतुष्टय

वेदांतसार में तो अनुबन्ध चतुष्टय पर विस्तार से हमलोग चर्चा तो करेंगे ही लेकिन बच्चो हमे अगर अन्य शास्त्रों से भी कुछ पढ़ना लाभप्रद होता है इससे हमारे मस्तिष्क का विकास तो होता ही है कुछ अन्य संदर्भो से पढने से विषय और स्पष्ट होते हैं।

आइये प्यारे बच्चों हमसब भक्तमाल में अनुबन्ध चतुष्टय खोजते हैं इससे पहले हम भक्तमाल क्या है -जानते है

भक्त उन्हें कहते हैं जिनके हृदय में भगवान के चरण कमल के प्रति निष्काम प्रेम होता है। भगवान की बनाई हुई इस वाटिका में खिले हुए जो भक्त पुष्प हैं, उन्हें नाभा जी नाम के विद्वान संत ने संग्रहीत किया और उसे एक ग्रंथ का आकार प्रदान किया जिसे भक्तमाल कहते हैं। भक्तमाल माने ऐसी माला जिसमें भक्त चरित्रों को गुम्फित किया गया हो।

बार बार पद वन्दौ, श्री नाभा आभा ऐन।
जिन काढ़्यौ गाभा वेद को, भक्तमाल रस दैन॥

प्रत्येक ग्रंथ का अनुबन्ध चतुष्टय होता है इसका अधिकारी कौन है, इसका संबन्ध क्या है, इसका विषय क्या है, इसका प्रयोजन क्या है तो भक्तमाल में अनुबन्ध चतुष्टय के बारे में नाभादासजी कहते हैं -

अधिकारी- भ्रमर स्वभाव के रसिक जन ही अधिकारी हैं। किसी सरोवर में जब कमल खिलता है तो भौंरा एक योजन दूर से गुनगुनाता हुआ आता है और कमल की कर्णिका पर बैठ कर मकरंद पान करता हुआ सब कुछ भूल जाता है। उसी कमल की नाल के पास बैठा मेंढक टर्र टर्र करता हुआ कीड़े बीन बीन कर खाता है। मेंढक वृत्ति के लोग भक्तमाल के अधिकारी नहीं हैं, भ्रमर वृत्ति के लोग ही अधिकारी हैं।

भ्रमर के छः पैर होते हैं श्रद्धा, आस्तिकता, कृति आदरता (अर्थात् ग्रंथ के प्रति आदर भाव कि यह गपाष्टक नहीं, सिद्ध संत की वाणी है), उपकृति (ग्रंथ, ग्रंथकर्ता और वक्ता के प्रति यह भाव कि आपने बड़ा उपकार किया जो यह ग्रंथ सुनाया), भक्तों के चरणों में नमन और निर्मत्सरता (भक्त चरित्रों की प्रशंसा सुन मात्सर्य भाव न होना)। भौर के दो पंख होते हैं श्रद्धा और विश्वास। भक्तमाल का अधिकारी वही है जिसमें भौरे जैसी रसग्राह्यता हो।

संबन्ध- सदाचार ही संबन्ध है। भक्तों के जीवन का सदाचार श्रोता-वक्ता में अवतरित होना चाहिए।

विषय- भक्तमाल का विषय है श्री हरि और हरिजन सेवा में रुचि।

प्रयोजन- भक्तमाल का प्रयोजन है भगवत्, भागवत प्रीति।

गीता में अनुबन्ध चतुष्टय

गीता दर्पण में स्वामी रामसुखदासजी

गीता में अनुबन्ध चतुष्टय पर अपना मत कुछ इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि

विषयश्चाधिकारी च ग्रंथस्य च प्रयोजनम् ।

संबंधश्च चतुर्थोऽस्तीत्यनुबंधचतुष्टयम् ।।

प्रत्येक ग्रंथ में चार बातें होती हैं- ग्रंथ का विषय, उसका प्रयोजन, उसका अधिकारी और प्रतिपाद्य – प्रतिपादक का संबंध। इन चारों को 'अनुबन्ध - चतुष्टय' नाम से कहा जाता है। गीता का अनुबन्ध – चतुष्टय इस प्रकार है-

1. **अधिकारी-** जो अपना कल्याण चाहते हैं, वे सब के सब गीता के अधिकारी हैं। मनुष्य चाहे किसी देश में रहने वाला हो, किसी वेश को धारण करने वाला हो, किसी संप्रदाय को मानने वाला हो, किसी वर्ण आश्रम का हो, किसी अवस्थावाला हो और किसी परिस्थिति में स्थित हो, वह गीता का अधिकारी है।
2. **विषय-** जिनसे जीव का कल्याण हो, वे कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि सब विषय (साधन) गीता में आये हैं।
3. **संबंध-** गीता के विषय और गीता में परस्पर 'प्रतिपाद्य' है और गीताग्रंथ स्वयं 'प्रतिपादक' है। जिसको समझाया जाता है, वह विषय 'प्रतिपाद्य' कहलाता है और जो समझाने वाला होता है, वह 'प्रतिपादक' कहलाता है। जीव का कल्याण कैसे हो- यह

गीता का प्रतिपाद्य विषय है और कल्याण की युक्तियाँ बताने वाली होने से गीता स्वयं प्रतिपादक

4. **प्रयोजन**- जिसको प्राप्त होने पर करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता, उसकी प्राप्ति कराना अर्थात् जीव का उद्धार करना गीता का प्रयोजन है।

वेदान्त सार में भी मङ्गलाचरण के बाद इन अनुबन्धों का उल्लेख किया गया है, जो निम्नलिखित हैं..

वेदान्त सार में चार अनुबन्ध का उल्लेख किया गया है।

1..अधिकारी, 2..विषय, 3..संबन्ध, 4..प्रयोजन

ये चारअनुबन्ध चतुष्टय कहे जाते हैं..

इनकी व्याख्या निम्नलिखित है…

1..अधिकारी .

यह अनुबन्ध चतुष्टय का प्रथम भाग है।

वेदांतसार में अधिकारी किसे माना गया है?

अधिकारी अर्थात वेदान्त सार को पढ़ने के लिये योग्य कौन है ….ग्रन्थ को कौन पढ़ सकता है?

अधिकारी तु विधिवतधीत वेदान्गात्वेनापाततोअधिगताखिल वेदार्थो अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्ध वर्जनपुरःसरंनित्यनैमित्तिक प्रयश्चित्तोपासनानुष्ठानेननिर्गतनिखिल कल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तःसाधन चतुष्टयसंपन्नःप्रमाता।

अर्थात.. अधिकारी वह होता है, जिसने इस जन्म में या पूर्व जन्म में वेद -वेदाङ्गों का विधि पूर्वक अध्ययन किया हो,तथा संपूर्ण वेदों का अर्थज्ञान प्राप्त किया हो, काम्य कर्म तथा शास्त्रों द्वारा निषिद्ध कर्मो का त्याग कर दिया हो,जिसक मन नित्य नैमित्तिक, प्रायश्चित तथा उपासना कर्मों को करने से सभी पापों से मुक्त हो कर नितान्त स्वच्छ हो गया हो,ऐसे चार साधनों से सम्पन्न प्रमाता ही अधिकारी (वेदांत पढ़ने का) है।इसके अतिरिक अधिकारी को किन कर्मों का त्याग करना है, और क्या करना है.. इसका वर्णन इस प्रकार है..ऊपर बताए गए कर्मों में काम्य कर्म क्या हैं…

क. काम्य कर्म का अर्थ ,

काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि

अर्थात.. स्वर्ग प्राप्ति आदि इच्छाओं से किये जाने वाले ज्योतिष्टोम यज्ञ आदि काम्य कर्म हैं।

काम्य कर्म वे होते हैं, जो किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं।

ज्योतिष्टोम यज्ञ भी स्वर्ग की कामना से किया जाने वाला यज्ञ है। अतः यह काम्य कर्म है। ये कर्म पुण्य देने वाले होते हुए भी जन्म मरण के हेतु हैं,अतः इनका त्याग करना चाहिए।

ख. निषिद्ध कर्म का अर्थ ,

निषिद्धानि -नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राहमणहननादीनि

अर्थात.. नरक जैसी अनिष्ट स्थान को प्राप्त करने वाले ब्राह्मण हत्या आदि कर्म, निषिद्ध कर्म हैं।मनुष्य अज्ञान तथा भ्रम वश कई अनिष्ट कर्मों को अपने अभीष्ट को प्राप्त करने के लिये करता है, जो निषिद्ध कर्म हैं,अर्थात जिन्हें करने को मन किया गया है। जैसे.. ब्रह्मणो न हन्तव्यः इस श्रुति द्वारा ब्राह्मण की हत्या को -किया गया है तथा इसी तरह से गो हत्या तथा सुरापान, असत्य भाषण भी धर्मशास्त्रों मे निषिद्ध हैं।

ग. नित्य कर्म का अर्थ ,

नित्यानि – अकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि।

अर्थात…जिन कर्मो के न करने से हानि होती है, वे नित्य कर्म कहे जाते हैं। जैसे .. संध्यावंदन आदि। कुछ कर्म हैं जिनके करने से कुछ विशेष पुण्य नहीं होता है पर न करने से पाप बढता है या हानि होती है। जैसे.. प्रतिदिन दन्त की सफाई करना तथा स्नान करने से कोई पुण्य नहीं होता है, परन्तु इन्हें न करने से शरीर में गन्दगी एकत्र हो जाती है तथा स्वास्थ्य प्रतिकूल होता है। उसी प्रकार प्रातःकाल पूजा करना तथा संध्या वन्दन आदि करना भी नित्यकर्म हैं।अनजाने में मनुष्य से जो पाप कर्म हो जाते हैं, उन्हें एकत्र न होने देना तथा,उनके निराकरण के लिये प्रातः, सायं वन्दन आदि कर्म करना चहिये। वेदान्त के अनुसार संध्यादि वन्दन न करने से कोई हानि नहीं है, पर करने से पाप का अवरोध होता है।

नित्य कर्मों को करने का परम उद्देश्य बुद्धि की शुद्धि है। सांसारिक बन्धन से मोक्ष प्राप्त करना ही परम प्रयोजन है।

घ. नैमित्तिक कर्म का अर्थ ,

नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जतेष्ट्यादीनि अर्थात.. पुत्र उत्पत्ति आदि के अवसर पर शास्त्रों में निर्दिष्ट जातेष्टि यज्ञ आदि नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं। नैमित्तिक अर्थात किसी निमित्त (लक्ष्य) को प्राप्त करने के बाद किया जाने वाला कर्म नैमित्तिक मर्म कहे जाते हैं। ये कर्म शास्त्रों द्वारा बताये गये हैं। पुत्र के जन्म होने पर, शास्त्रों में अभिहित विधि के अनुसार,पिता द्वारा जो यज्ञ आदि के द्वारा जो जातकर्म संस्कार किया जाता है, उसे ही जातेष्टि कहा गया है।

ङ प्रायश्चित कर्म का अर्थ ,

परिभाषा - प्रायश्चित्तानि-पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि..

अर्थ .. पाप के निवारण के लिये किये जाने वाले चान्द्रायण आदि व्रत प्रायश्चित कर्म कहे जाते हैं।मनुष्य द्वारा शास्त्रों में बताये गये कर्मों को न करने से तथा निषिद्ध अर्थात मना किये गये कर्मों को करने से,जो पाप उत्पन्न होता है, उसके निवारण के लिये जो कर्म किये जाते हैं, उन्हे प्रायश्चित कर्म कहा जाता है।जैसे चान्द्रायण व्रत.. मनुस्मृति में चान्द्रायण के चार प्रकार बताये गये हैं। इस व्रत में चन्द्रमा के घटने और बढने के साथ आहार बढ़ाया या घटाया जाता है।

च. उपासना कर्म का अर्थ ,

उपसनानि सगुणब्रह्म विषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि…

सूत्रार्थ..सगुण ब्रह्म में चित्त की वृत्तियों को स्थिर करने के लिये, जो कर्म किये जाते हैं, उसे उपासना कर्म कहते हैं। जैसे.. शाण्डिल्य विद्या आदि।

शाण्डिल्य विद्या..शाण्डिल्य ऋषि नें सर्वम् खल्विदं ब्रह्म से लेकर स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राण शरीरे भारूपः आदि मे कहा है कि संसार और आत्मा कि ब्रह्म रूप में उपासना करनी चाहिये। इसीलिये शाण्डिल्य विद्या कहा गया है।

आदि शब्द से शतपथ ब्राह्मण में कहे गये स आत्मनमुपासीत्, मनोमयं आदि विद्या कि ओर इङ्गित किया गया है।उपासना कर्मों को करने का परम् प्रयोजन चित्त को एकाग्र करना है।

अनुबन्ध चतुष्टय साधन चतुष्टय..क्या है..साधन चतुष्टय के बारे में वेदांत में बताया गया है कि..

साधनानि -नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविराग शमादिषट्कसंपत्तिमुमुक्षित्वानि..

सूत्रार्थ.. नित्य तथा अनित्य वस्तु का विवेक, ऐहलौकिक तथा पारलौकिक फल के भोग से विराग अर्थात अनासक्ति शमादि छः संपत्तियां तथा मोक्ष प्राप्ति की कामना, ये चार साधन हैं। इनमें प्रथम साधन दूसरे साधन को प्राप्त करने का साधन है, दूसरा तीसरे को, तथा तीसरा चतुर्थ को प्राप्त करने का साधन है वेदान्त पढ़ने का आधिकारी होने के लिये उपरोक्त चार साधनों से युक्त होना आवश्यक है।

1. नित्य अनित्य वस्तु विवेक क्या है..

   नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद् ब्रह्मैव नित्यंवस्तुतोऽन्यदखिलम् नित्यमिति विवेचनम्।। अर्थात्

   प्रथम साधन- नित्यानित्य वस्तु विवेक मुमुक्ष के लिए प्रथम आवश्यकता है नित्य (Eternal) और अनित्य (Non-Eternal) पदार्थों के बीच विवेकपूर्ण भेद कर सकना। इसके अन्तर्गत जगत और ब्रह्म के बीच भेद, शरीर और आत्मा का भेद, आत्मा और परमात्मा की एकता, साधन और साध्य के बीच भेद आदि समावेश होता है।

   केवल ब्रह्म ही नित्य है, उसके अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण संसार अनित्य है, इस प्रकार का विवेचन नित्य-अनित्य वस्तु विवेक है।

   जो काल स्थान आदि से बंधा नहीं है वह नित्य है। जैसे ब्रह्म क्योंकि यह तीनों कालों से परे है यह श्रुति वाक्यों से प्रमाणित भी है…निजं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्। अजो नित्यः शाश्वतः......संसार की सभी वस्तुएं काल से बंधी हैं, अतः अनित्य हैं.. श्रुति वाक्य.. नेह नानास्ति किञ्चन।यो वै भूमा तदमृतं यदल्पं तन्मर्त्यं।

2. इहामुत्रार्थ फलभोगविराग..अर्थात्

   द्वितीय साधन- इहामुत्रार्थ-भोगविरागः विवेकपूर्ण ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् तृष्णा का त्याग आवश्यक है। अनेक लौकिक और पारलौकिक भोग हैं, जिनकी आकांक्षा मात्र व्यक्ति को असंयमित कर देती है और लक्ष्य की ओर बढ़ना कठिन कर देती है। अतः द्वितीय साधन लौकिक एवं पारलौकिक भोगों की कामना से पूर्ण विरक्ति हो जाना है।

   इस लोक से प्राप्त होने वाले सुन्दर पदार्थ कर्म से उत्पन्न होने के कारण अनित्य हैं…

   परलोक प्राप्त होने वाले अमृत आदि पदार्थ भी कर्म से प्राप्त होने के कारण अनित्य होंगे, इस प्रकार निश्चय करके ऐहलौकिक तथा पारलौकिक वस्तुओं से विरक्त होना इहामुत्रार्थ फलभोगविराग है।

3. शमादि षट् संपत्ति..

   शमादयस्तु शमदमोपरतितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः

   अर्थ..शम दम उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा ये षट् संपत्तियां हैं।अर्थात्

तृतीय साधन-

शम-दमादि साधन सम्पत् : इस साधन के अन्तर्गत छः प्रकार के संयम आते हैं। आकांक्षा का त्याग करने के पश्चात् इन्द्रिय, मन आदि उन शारीरिक अंगों पर अधिकार करने का प्रश्न उठता है जो मनुष्य को भोगों की और प्रवृत्त करते हैं। शम का अर्थ है-मन का संयम। दम का अर्थ है-इन्द्रियों पर नियन्त्रण तीसरा संयम है उपरति- जिसका तात्पर्य निहित कर्मों का विधिपूर्वक परित्याग कर देना है। चौथा संयम है। तितिक्षा जिसका तात्पर्य शरीर को शीतोष्ण आदि कष्टों को सहन करने योग्य बनाना। पाँचवाँ संयम है-समाधान- जिसका अर्थ है शब्द आदि विषयों से निगृहीत मन को श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा अनेक उपकारक विषयों के चिन्तन में निरन्तर लगाए रखना। छठा संगम है-गुरुपदृष्टि जिसका अर्थ वेदान्त वाक्यों में विश्वास श्रद्धा है।

1.. शम. क्या है..

   शमस्तावद. श्रवणादिव्यतिरिक्त विषयेभ्यो मनसो निग्रहः

   अर्थ…श्रवण – मनन आदि के अतिरिक्त संसारिक विषयों की ओर बार बार जाते हुए मन को रोकने की वृत्ति शम कही जाती है।

   शम, मन की विशिष्ट वृत्ति है जो मन को भौतिक सुख संपत्ति की ओर जाने से रोकता है।श्रवण आदि अर्थात वेद शास्त्रों का अध्ययन, मनन, चिन्तन तथा उसका आचरण कहा गया है।

2.. दम..वाह्येन्द्रियनाम् तद्व्यतिरिक्त विषयेभ्यो निवर्तनम्

   अर्थात ब्रह्म के साक्षात्कार के साधन वेद अध्ययन आदि के अतिरिक्त अन्य विषयों से अपनी इन्द्रियों को हटा लेना दम है।

3.. उपरति.. निवर्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो
   उपरन्माणमुपरतिस्थवाविहितानांकर्माणां विधिना परित्यागः।

   वाह्य विषयों की ओर जाने से रोकी गई इन्द्रियों को ब्रह्म के अतिरिक्त विषयों से निरोध अर्थात रोकना उपरति है।

   या शास्त्रों के द्वारा बताये गये कर्मों का शास्त्रों के द्वारा बताई गयी विधि से त्याग करना उपरति है।

4.. तितिक्षा…शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता

   अर्थात सर्दी, गर्मी आदि को शरीर का धर्म समझ कर सहन करना तितिक्षा है।

   मान -अपमान, सुख -दुख, सर्दी – गर्मी आदि को यह मानकर सहन करना चहिये कि ये सब तो शरीर के धर्म हैं, आत्मा को यह सब कुछ नहीं अनुभूत होता है।

5. समाधान…मन के वश में हो जाने पर उसके अनुरूप विषयों में लगाने को समाधि कहते हैं। अर्थात मन के वश में हो जाने पर उसे श्रवण मनन निदिध्यासन आदि में ही एकाग्र कर देना तथा इन्हीं का अनवरत चिन्तन करना समाधान है।

6.. श्रद्धा…गुरुपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा..

अर्थात गुरु के द्वारा कहे गये वाक्यों मे विश्वास श्रद्धा है।

4.. मोक्ष प्राप्ति की इच्छा..

मुमुक्षत्वं -मोक्षेच्छा… मोक्ष प्राप्ति की कामना ही मुमुक्षत्व है।अर्थात्

चतुर्थ साधन- मुमुक्षुत्व: उपर्युक्त तीनों साधनों को प्राप्त करने के बाद साधक को लक्ष्य प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प करना चाहिए, क्योंकि बिना संकल्प के अव्यवसाय नहीं होता और अव्यवसाय के अभाव में लक्ष्य प्राप्ति नहीं हो सकती। यह लक्ष्य है मुमुक्षुत्व अर्थात् मोक्ष पाने की इच्छा।

वेदान्त शब्द का शाब्दिक अर्थ 'वेदों का अन्तिम भाग' है। वेद शब्द 'विद ज्ञाने' धातु से निष्पन्न ज्ञान का पर्यायवाची है। 'मोक्ष' क्या है और इसकी प्राप्ति के कौन-कौन से साधन हैं? इसकी व्याख्या ही वेदान्त है। सभी भारतीय दर्शनों में ज्ञान की प्राप्ति का मूल मोक्ष को ही स्वीकारा गया है। अत: मोक्ष प्राप्ति का साधन ही ब्रह्मज्ञान है।

वेदान्त का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। वेदान्त के अनुसार मोक्ष प्राप्ति ज्ञान से ही हो सकती है। इसने हमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की एकता और अनेकता का स्पष्ट ज्ञान कराकर हमें अपनी अनन्त शक्ति से परिचित कराया। शंकराचार्य ने विस्तार से इस मान्यता का खण्डन किया कि मोक्ष एक साध्य वस्तु है, जिसे कर्म द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने स्पष्ट किया कि साध्य वस्तु वही हो सकती है जो पहले से न हो, जिसे उत्पन्न किया जा सके। मोक्ष तो स्वयं आत्मा का स्वरूप है, वह पहले से ही सिद्ध है, अतः कर्म द्वारा उसे प्राप्त करना सम्भव नहीं है। मोक्ष तो आत्म स्वरूप होने के कारण नित्य वस्तु है। अज्ञानरूपी अन्धकार से आवृत्ति होने के कारण उसकी प्रतीति नहीं होती। ज्ञान के प्रकाश से वह प्रकट हो जाता है और यहीं उसकी प्राप्ति होती है। अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान अनिवार्य है, कर्म नहीं कर्म तो स्वयं अज्ञानजन्य है और पुनः पाप-पुण्य को उत्पन्न करने के कारण जन्म-मरण के बन्धन को उत्पन्न करता है। अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान आवश्यक है।

शंकराचार्य ने ज्ञान के दो भेद बताए हैं- अपरा तथा परा। अपरा को हम लौकिक अथवा व्यावहारिक ज्ञान मानते हैं और परा को आध्यात्मिक ज्ञान अपरा ज्ञान के अन्तर्गत इस जगत और मनुष्य जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित ज्ञान आता है। शंकराचार्य की दृष्टि में इस ज्ञान की केवल व्यवहारिक उपयोगिता है। इस प्रकार के ज्ञान से मनुष्य अपने जीवन के अन्तिम उद्देश्य (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं कर सकता। शंकराचार्य के अनुसार पर ज्ञान सच्चा ज्ञान है। इस ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य अपने जीवन का अन्तिम उद्देश्य अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर सकता है। शंकर वेद, ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद् एवं गीता की तत्त्व मीमांसा को परा ज्ञान कहते हैं। अपरा और परा दोनों प्रकार के ज्ञान के लिए शंकर ने श्रवण, मनन, निदिध्यासन का समर्थन किया है। परा ज्ञान की प्राप्ति के लिए वेदान्त में श्रवण, मनन, निदिध्यासन के साथ साधन चतुष्टय को आवश्यक माना गया है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी वही है, जिसने पहले साधन चतुष्टय प्राप्त कर लिया है।

अनधिकारी मनुष्य किसी भी शास्त्र का अध्ययन करने के पहले, इस ग्रन्थ को पढ़ने का अधिकारी कौन है ? इसका निर्णय करना आवश्यक माना गया है। शास्त्राध्यन का अधिकारी वो है , जो जगत की आसक्ति से उपरत (अर्थात् जो सांसारिकता में रत न हो; विरक्त; जिसका मन

संसार और विषय-भोग से हट गया हो; रागरहित; उदासीन)हो गया है। जिसने जगत की वस्तुस्थिति का चिंतन किया है, और इसकी नश्वरता को समझकर इससे उपरत हो गया है , वो उपनिषद का अध्ययन करने का अधिकारी है। हाथ में भविष्य दिखाने वाले , मन्नत माँगने वाले इस ग्रन्थ को पढ़ने के अधिकारी नहीं है। पुत्रार्थी या धनार्थी अधिकारी नहीं हैं। जिम में स्वस्थ लोग जाते है। यह संसार भी व्यायाम शाला है, यहाँ स्वस्थ शरीर के व्यक्ति ही वेदांत,मीमांसा,उपनिषद आदि को समझ सकते हैं। यहाँ अधिक भीड़ नहीं होती, क्योंकि अधिकारी ही अधिक नहीं होते।

अनधिकारी मनुष्य के बारे में नाभादासजी भक्तमाल में कहते है कि अनधिकारी व्यक्ति जब भक्त चरित्र सुनेगा तो उसे गुणों में भी दोष ही दिखाई देंगे, वह दोषों का ही अनुसंधान करेगा। यदि ऐसी प्रवृत्ति रहेगी तो परलोक की हानि होगी और जीवन में कभी सुख शांति मिलेगी नहीं। यह भाव दृढ़ रहना चाहिए कि भक्तों के विषय में जो कुछ कहा जा रहा है वह यथार्थ है, अतिरंजित करके नहीं कहा जा रहा। भगवान के भक्त के चरित्र में सब कुछ संभव है, कुछ भी असंभव नहीं है

उत्कर्ष सुनत संतन को अचरज कोऊ जनि करो

भारतीय शास्त्र के किसी भी ग्रंथ चाहे वो वैदिक हो या पौराणिक अध्ययन करने से पहले व उसको समझने के लिये अनुबन्ध चतुष्टय की महती (बहुत) आवश्यकता है । यहाँ तक तो बच्चों आपने बात समझ ली अब बात आती है कि शास्त्रों को न पढ़ने का अधिकार किसके पास नही है मतलब अनधिकारी कौन है तो – संसार में चौरासी लाख योनियों में मनुष्य योनि उत्तम है। शास्त्रीय दृष्टि से संसार में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं- **पामर, विषयी , मुमुक्षु और जीवन्मुक्त।**

पामर — इनमें लोकायतिक, चार्वाक् आदि आते हैं, जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं। उनका कथन है कि शरीर के जन्म के साथ ही आत्मा का जन्म होता है। जैसे-जैसे शरीर बढ़ता है, आत्मा का विकास होता है। शरीर के शिथिल होने पर आत्मा शिथिल, इसके नाश होने पर नाश- यह इनलोगों का कहना है। जबतक जियो सुख से जियो। स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, ईश्वर, वेद सब मिथ्या है। वेदों की रचना अज्ञानी निशाचरों ने की है– यह इनका मत है। इनका वेद, शास्त्र, परलोक तथा पुनर्जन्म में विश्वास नहीं है। गीता के सोहलवें अध्याय में भगवान् इनके लिये ही कहते हैं :-

"आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।" (श्रीमद्भगवद्गीता १६/२०)

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! वे लोग प्रत्येक जन्म में तमो-प्रधान आसुरी योनि को प्राप्त करते हैं। मुझे प्राप्त न होकर इससे भी अधिक कूकर-सूकर योनियों में जन्मते हैं।

विषयी — यह आत्मा-परमात्मा को मानते हैं। परलोक, ईश्वर तथा वेद में विश्वास रखते हैं। परन्तु पांच विषयों में अत्यन्त आसक्त होने के कारण परलोक तथा शास्त्रों की बातें इनको अच्छी नहीं लगती। किसी के विशेष दबाव डालने पर नाममात्र के तामसी देवताओं की आराधना करते हैं। कभी-कभी तो दुष्प्रचार व अज्ञान के कारण ये लोग उनकी भी पूजा करने लगते हैं जो देवता हैं ही नहीं, सामान्य मनुष्य हैं। साईं बाबा को पूजने वाले, रामपाल के भक्त, जयगुरुदेव के भक्त, राधा स्वामी वाले, ब्रह्मकुमारी के भक्त आदि आस्तिक होने पर भी निश्चित्

ही नरक को प्राप्त करते हैं तथा जबतक जीवित हैं तबतक कष्टप्रद व दिशाहीन आराधना करके दुःख भोगते हैं।

मुमुक्षु — इनको ईश्वर, वेद, धर्मशास्त्र, गुरु तथा पुनर्जन्म में विश्वास है। आरम्भ में सकाम कर्म उपासना करके लौकिक कामना पूर्ण होने पर इनका विश्वास दृढ़ हो जाता है। किन्तु बाद में सत्शास्त्रों के पठन-पाठन , सत्संग करने से विवेक सहित वैराग्य हो जाने पर अंतःकरण के तीन दोषों को दूर करने के लिये निष्काम भाव से उपासना करते हैं। तीन दोषों में मल अर्थात् जन्मान्तरों का पाप , विक्षेप अर्थात् चंचलता एवं आवरण अर्थात् पर्दा – ज्ञान को ढंकने वाला – इनसे छूटकर मुक्ति की इच्छा करता हैं।

जीवनमुक्त — जो कृतार्थ हो चुके हैं। जिन्होंने कर्मोपासना से अंतःकरण शुद्ध कर लिया है। अन्त में विवेक सहित उत्कट वैराग्य हो जाने पर स्त्री, पुत्र, परिवार, धन आदि छोड़कर श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जा करके, विधिवत् संन्यास लेकर, जीवात्मा-परमात्मा की एकता का अनुभव कराने वाले महावाक्यों का तथा प्रस्थानत्रयी का गुरु के द्वारा श्रवण-मनन-निदिध्यासन करके अथवा हठयोग की धारणा-ध्यान-समाधि रूपी संयम अर्थात् अन्तरङ्ग साधनों द्वारा आत्मदर्शन करके जिन्होंने जीवनमुक्ति का आनन्द प्राप्त किया है — उनको जीवन्मुक्त कहते हैं।

इन चार प्रकार के मनुष्यों में से दो को वेदान्त के ग्रन्थ पढ़ने का अधिकार नहीं है। क्योंकि पापियों को ऐसे ग्रन्थों में श्रद्धा-विश्वास ही नहीं। विषयी पुरुषों को भोगों में ही आनन्द प्राप्त होता है। उनमें श्रद्धा-विश्वास का अभाव है। अतः दोनों का वेदान्त-शास्त्र में अधिकार नहीं।

चौथे जीवन्मुक्त महात्मा जो देहाध्यास से परे हो चुके हैं। जिन्हे शीत-उष्ण, भूख-प्यास, सुख-दुःख आदि का भान नहीं है। जो ज्ञान की छठीं पदार्थाभाविनी या सातवीं तुर्यगा में पहुँचकर कृतार्थ हो चुकें हैं, उनको कोई कार्य करना शेष नहीं। ऐसे ब्रह्मकोटि या अवधूत कोटि के महात्मा अधिकारातीत हो जाने के कारण उनको भी ग्रन्थ के पठन-पाठन से कोई प्रयोजन नहीं। क्योंकि वेदान्त ग्रन्थों के तात्पर्य का जो महाफल हैं, वे उसे चख चुकें हैं।

अतः तीसरी कोटि के जिज्ञासु या मुमुक्षुओं का ही इसमें अधिकार है। जिनका इष्टदेव के समान ही गुरुओं में श्रद्धा तथा विश्वास है तथा जो विवेक-वैराग्य सम्पन्न हैं, उनको वेदान्त-शास्त्र पढ़ने का अधिकार है।

2.विषय..

यह अनुबन्ध चतुष्टय का दूसरा भाग है।

"जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात् "

अर्थ .. इस वेदान्तसार का विषय – जीव और ब्रह्म का एक होना तथा सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व आदि विरुद्ध धर्मों से विमुक्त, शुद्ध चैतन्य का ज्ञान है। यही वेदान्त वाक्यों का लक्ष्य है।

वेदान्त के अनुसार सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व ये माया द्वारा आरोपित हैं, वास्तविक नहीं हैं। ये उपाधियों के कारण भिन्न प्रतीत होते हैं। इस भिन्नता को मिटा देने पर केवल चैतन्य अंश शेष रहता है। यही जीव और ब्रह्म का ऐक्य है तथा परमार्थिक है।अज्ञान की उपाधि नष्ट हो जाने पर जीवत्व नष्ट हो जाता है, और वह ब्रह्म ही हो जाता है..ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति।

3..संबन्ध..

यह अनुबन्ध चतुष्टय का तीसरा भाग है।

सूत्र..सम्बन्धस्तु-तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादिकोपनिशत् प्रमाणस्य च बोध्य – बोधकभावः

सूत्रार्थ.. उन दोनों अर्थात जीव और ब्रह्म का ऐक्य.. एक होना तथा उनके प्रतिपादक उपनिषत् वाक्यों का बोध्य बोधक भाव, संबन्ध है।

अर्थात जीव और ब्रह्म का अभेद अर्थात जीव और ब्रह्म एक ही है, उनमें कोई भेद नहीं है, यही बात वेदान्त का विषय है, तथा इस भाव का प्रतिपादन करने वाले उपनिषत् वाक्यों का बोध्य बोधक भाव है यही संबन्ध है।

वेदान्तसार का विषय है जीव और ब्रह्म का अभेद होना, तथा उपनिषद इस बात के प्रतिपादक और प्रमाण हैं।अतः उपनिषद और वेदान्त के विषय में बोध्य – बोधक भाव संबन्ध है।बोध्य अर्थात जानने योग्य, जिसका ज्ञान हो सके। बोधक..अर्थात ज्ञान कराने वाला शास्त्र है

4.. प्रयोजन..

यह अनुबन्ध चतुष्टय का चतुर्थ भाग है।

प्रयोजनं तु तदैक्य प्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः, स्वरूपानन्दावाप्तिश्च "तरति शोकम् आत्मवित् " इत्यादि श्रुतेः " ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति " इत्यादि श्रुतेश्च ।

सूत्रार्थ.. इस वेदान्तसार का प्रयोजन, जीव और ब्रह्म के ऐक्य के ज्ञान के मध्य आने वाले अज्ञान की निवृत्ति हो कर आत्मा के स्वरूपानन्द की प्राप्ति है।

वेदान्तसार का मुख्य प्रयोजन अज्ञान का निवारण/ निवृत्ति तथा आत्मा के स्वरूपानान्द की प्राप्ति है।आत्मगत अज्ञान तथा तथा उस अज्ञान से उत्पन्न संपूर्ण विकार के समाप्त होने पर ही अखण्डानन्द ब्रह्म की प्राप्ति होती है। और इसे प्राप्त करना ही वेदान्त का प्रयोजन है।

1.5 सांराश

इस इकाई में हमने अधिकरण की अवधारणा, अनुबन्ध चतुष्टय तथा इनके अंतःसम्बन्धों के बारे में चर्चा की।

विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष तथा निर्णय ये पाँच अवयव है। इन पाँच अवयवों के विवेचन से युक्त ग्रन्थ को अथवा विषयादि पाँचों अवयवों का प्रतिपादन जिस ग्रन्थ में हुआ है, उसे अधिकरण कहते हैं।

जो अपने ज्ञान से अन्य को बांधकर शास्त्र में प्रवृत्त करते हैं उसे अनुबंध कहा जाता है, अधिकारी विषय संबंध तथा प्रयोजन ये चार अनुबन्ध है, इन्हें ही अनुबन्ध चतुष्टय कहा जाता है।

अधिकारी : वेदान्तसार में प्रमाता तु अधिकारी इस प्रकार अन्वय किया गया है। प्रमाता ही अधिकारी है। प्रमाता का अर्थ ज्ञान प्राप्त करने वाला पुरूष है।

विषय : वेदान्तशास्त्र जीव तथा ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन करता है। जीव अल्पज्ञ है तथा ब्रह्म सर्वज्ञ है। अज्ञान का नाश करने वाले जीव तथा ब्रह्म के शुद्ध चैतन्य स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिये ही ऐसा विषय स्वीकार किया है।

सम्बन्ध : जीव और ब्रह्म के ऐक्य का बोध्यबोधक भाव ही सम्बन्ध कहलाता है।

प्रयोजन : जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिये व्यक्ति किसी भी कार्य में प्रवृत्त होता है उसकी प्राप्ति ही उस कार्य का प्रयोजन कहलाता है।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

अधिकारी : ज्ञान प्राप्त करने वाला पुरूष

विषय : जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना हो।

सम्बन्ध : दो वस्तुओं के बीच का बोध्यबोधक भाव।

प्रयोजन : किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये कार्य में प्रवृत्त होना।

1.7 सन्दर्भग्रन्थ

1. वेदांत सार- सदानंद योगेन्द्र
2. श्रीमद्भगवद्गीता- गीताप्रेस, गोरखपुर

1.8 बोधप्रश्न

1. अधिकरण के अवधारण की व्याख्या करें।
2. अनुबन्ध चतुष्टय के अर्थ एवं स्वरूप का वर्णन करें।
3. अधिकरण और अनुबन्ध के अन्तःसम्बन्ध पर संक्षिप्त लेख लिखें।
4. ज्ञान प्राप्ति में अधिकारी के गुणों के बारे में बताए।
5. अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन कैसे शास्त्र में प्रवृत्त करते हैं, बताइए।

इकाई 2 तन्त्रयुक्तियों का परिचय एवं विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

तन्त्रयुक्ति संस्कृत में अर्थ है शास्त्र कार्यों की रचना करने की पद्धति। प्राचीन भारतीय व्यापक रूप से और सही ढंग से ज्ञान की खोज के लिए जाने जाते हैं। हमारे ऋषि–महर्षि एक शास्त्र के निर्माण में नियम निर्धारित किए, शास्त्र को क्रमबद्ध तरीके से पेश किया। किसी भी दिए गए विषय के सभी पहलुओं या लक्षणों को परिभाषित किया, किसी विशेष विषय के बारे में पिछले साहित्य का सन्दर्भ दिया, नए विचारों और सिद्धान्तों प्रस्तुत किया जिससे रचना की एक व्यापक पद्धति स्थापित हुई जिसमें शास्त्रों की व्याख्या करना। ऐसी पद्धतियाँ आधुनिक वैज्ञानिक रचनाओं एवं ग्रन्थों में देखने को मिलती। इनमें प्राप्त समस्त सिद्धान्त जीव के वास्तविक स्वरूप का अवबोधन कराने का कार्य करते हैं।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात्–

- आप प्रमुख तन्त्रयुक्तियों के सिद्धान्तों के बारे में जान सकेंगे।
- प्रमुख तन्त्रयुक्तियों को भली–भाँति समझ पायेंगे।
- तन्त्रयुक्तियों के स्वरूप को परिभाषित करने में समर्थ हो सकेंगे।
- शास्त्र योजना को समझने के लिए जिस विश्लेषणात्मक पद्धति एवं प्रक्रिया की आवश्यकता होती है उस प्रकिया को समझ सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

अनुसंधान मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति का हिस्सा है। जो प्रश्न अथवा संभावनाएँ मनुष्य के सम्मुख उपस्थित होती है। उनके मूल तथ्यों की वह खोज करता है। प्रत्येक क्षेत्र में शोध हो और सामाजिक समस्याओं का स्पष्ट वैज्ञानिक, सैद्धान्तिक ढांचा उभरे, यही शोध का आधार है। मात्र मौलिक अथवा नवीन समस्याओं से जुड़े ज्ञान की खोज ही अनुसंधान का लक्ष्य नहीं है बल्कि सम्भावानात्मक तथा समन्वयात्मक ज्ञान की खोज भी अनुसंधान का लक्ष्य है।

पश्चिम में वैज्ञानिक पद्धति का प्रारम्भ पुर्नजागरण से होता है। भारत में यह परम्परा काफी पुरानी है। आश्रमों में जो ज्ञानविज्ञान पलता था अथवा जिसका परीक्षण एवं विकास होता था वह वैज्ञानिक होने के साथ साथ वैज्ञानिक पद्धतियुक्त भी होता था। वैदिक ज्ञान निगम तथा तन्त्रज्ञान को आगम के रूप में जाना जाता था। अतः आगमपन तथा निगमन पद्धतियों के स्रोत भी वेद एवं आगम है। अब प्रश्न उठता है कि क्या भारतीय ज्ञान के अध्ययन मे अनुसंधान पद्धतियों का उपयोग होता था? उत्तर हैं हाँ होता था। और विकसित रूप में प्रयुक्त हुआ है इसे पारिभाषिक रूप में तन्त्रयुक्ति कहा जाता है। आधुनिक अनुसंधान पद्धतियों में सभी का उपयोग प्राचीन भारतीय अध्ययन में नहीं हो सकता मात्र कुछ अनुसंधान पद्धतियाँ ही उपयोगी हो सकती है। किन्तु तन्त्रयुक्ति/भारतीय वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग सभी प्रकार के अध्ययन में हो सकता है। आइये तन्त्रयुक्ति पर विचार करें–

ब्रह्मण्ड के ग्रहों, पिण्डों तथा प्रत्येक वस्तुओं में एक नियम बद्धता है। इसी नियमबद्धता से जुड़े मामलों का ज्ञान भी एक संगठित संरचना से प्राप्त होती है। जिसे आप प्रमाण व्यवस्था कहते हैं। इस प्रमाण व्यवस्था से प्राप्त ज्ञान को प्रस्तुत करने की व्यवस्था को आप शास्त्र के रूप में प्राप्त करते हैं। इन शास्त्र–रचना की पद्धति को तन्त्रयुक्ति के नाम से जान जाता था। शास्त्र–रचना के सिद्धान्तों के प्रयोग से ही शास्त्र लेखन हुआ करता था।

तन्त्रयुक्ति शब्द व्यावहारिक रूप से सभी भारतीय शास्त्रकारों द्वारा उपयोग किया जाता है, इसमें शास्त्रों की रचना के लिए अनुसंधान का एक समूह शामिल है। तन्त्रयुक्ति दो शब्दों से तन्त्र एवं युक्ति से मिलकर बना है।

भाषा चिन्तन का विकसित रचना ही 'शास्त्र रचना पद्धति है'। शास्त्र रचना पद्धति तो प्राचीन भारतीय साहित्य की वह विधि है जिसका उल्लेख विश्व के अन्य किसी भी साहित्य में नहीं है। किसी भाषा के मूलभूत तत्त्वों एवं उसकी संरचना तथा शास्त्र योजना को समझने के लिए जिस विश्लेषणात्मक पद्धति एवं प्रक्रिया की आवश्यकता होती है उसकी पूर्ण परिणति ईसा से कई वर्ष पूर्ण भारत में हो चुकी थी।

2.2 अनुसंधान का अर्थ एवं अवधारणा

आधुनिक प्रकार के अनुसंधान कार्यों को वैज्ञानिक तर्क विधि का औपचारिक तथा सुव्यवस्थित उपयोग कहा जा सकता है। अनुसंधान वर्तमान ज्ञान के परिमार्जन एवं नवीन ज्ञान के सृजन की एक प्रक्रिया है। मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाली प्रगति में अनुसंधान की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सुनियोजित ढंग से समस्याओं का समाधान खोजने की यह एक वैधानिक विधि है। अनुसंधान का उद्देश्य आलोचनात्मक ढंग से किसी समस्या का विश्लेषण करना तथा उसका समाधान खोजना होता है। आँग्ल भाषा में अनुसंधान का पर्याय Research है जो Re (बार–बार) तथा Search (खोज) शब्दों से मिलकर बना है। अतः इस Research शब्द का शाब्दिक अर्थ है बार–बार खोज करना। हिन्दी शब्द अनुसंधान भी अनुवर्ती ढंग से संधान करने की ओर संकेत करता है। परन्तु वास्तव में अंग्रेजी के Research तथा हिन्दी के अनुसंधान शब्दों में क्रमशः प्रयुक्त Re एवं अनु शब्दांश दोहराने या बार–बार कोई कार्य करने के सूचक नहीं है वरन् ये प्रत्यय वास्तव में गहनता या गम्भीरता से कार्य सम्पादित करने के द्योतक हैं। ये शब्द निःसन्देह इंगित करते हैं कि गम्भीरता, गहनता एवं विश्लेषणात्मक ढंग से किसी एक समस्या का आलोचनात्मक अध्ययन करके उसका समाधान खोजना ही अनुसंधान है। यही कारण है कि सुनियोजित ढंग

से सूचनाओं को संकलित करने तथा उनका विश्लेषण करके नवीन तथ्यों अथवा सिद्धान्तों की खोज करने का कार्य ही अनुसंधान प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है। अनुसंधान शब्द के लिये प्रायः शोध, गवेषणा, अन्वेषण, परिपृच्छा, खोज या जाँच जैसे शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है। शोध शब्द शुद्धिकरण का सूचक है जो अत्यन्त शुद्धता व यर्थाथता के साथ किसी कार्य को करने का भाव प्रतिध्वनित करता है। गवेष्णा शब्द प्राचीन काल में जंगल से लौटती गायों के भटक जाने पर उनके खुरों के निशान देखकर खोजने के कार्य के लिये प्रयुक्त किया जाता था एवं कालान्तर में इस शब्द का प्रयोग सप्रमाण व व्यवस्थित ढंग से खोज करने के प्रयास के रूप में होने लगा है।

अनुसंधान की परिभाषा

पी.एम. कुक ने अनुसंधान की विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट किया है कि किसी दी गई समस्या के सन्दर्भ में ईमानदारी, व्यापकता, समझदारी से तथ्यों की खोज करना तथा उनके अर्थ या निहतार्थों को प्रस्तुत करना अनुसंधान है। किसी दिये गये अनुसंधान कार्य के परिणामों व निष्कर्षों को उस अध्ययन के क्षेत्र में ज्ञान में वृद्धि करने वाले प्रामाणिक, पुष्टि योग्य योगदान करने वाले होने चाहिए।

डब्ल्यू. एस. मॉनरो के अनुसार, ''अनुसंधान को समस्याओं के अध्ययन की उस विधि के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें समाधानी को आंशिक अथवा पूर्ण रूप से तथ्यों के आधार पर प्रतिपादित किया जाता है।''

स्पष्ट है कि अनुसंधान किसी अर्थपूर्ण व मौलिक समस्या का समाधान खोजने का एक ऐसा व्यवस्थित, वस्तुनिष्ठ, सोद्देश्य, तर्कसंगत तथा इन्द्रियानुभविक प्रयास है जिसमें वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया जाता है। निःसन्देह यह प्रक्रिया स्वसंशोधनीय, पुनरावृत्ति योग्य होते है।

विधि के आधार पर अनुसंधान वर्णात्मक, ऐतिहासिक तथा प्रयोगात्मक तीन प्रकार के अनुसंधान प्रचलित है तथा आधारसामग्री के प्रकृति के आधार पर संप्रत्यात्मक अनुसंधान और अनुभवजन अनुसंधान माना गया है। तंत्रयुक्ति सम्प्रत्यात्मक अनुसंधान से बहुत गहरे रूप से जुड़ी हुई है।

2.3 शास्त्र

शास्त्र किसे कहा जाता है– शिष्यतेऽनेनेति शास्त्रम् शास्त्र + ष्ट्रन वाचस्पत्यम् अर्थात् शासन करने वाले ग्रन्थों को शास्त्र कहा जाता है। शासन करने का अर्थ है – मनुष्यों के लिए शुभाशुभ कार्यों का निर्देशन करने वाला। शास्त्र की परिभाषा हम इस श्लोक से प्राप्त कर सकते हैं–

श्रेयान्द्रव्यमयाघज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्ये।।

हे परंतप अर्जुन। द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं। जो शिक्षा अनुशासन प्रदान कर हमारी रक्षा करती है, मार्गदर्शन करती है, कभी–कभी हमारी उंगली पकड़कर हमें चलाती है, उसे ''शास्त्र'' कहा गया है। इस प्रकार यदि हम शास्त्र व ग्रन्थ की और देखें तो शास्त्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

प्राचीन चिन्तनों ने न केवल शास्त्रपरक ग्रन्थों का प्रणायन किया वरन् किसी भी शास्त्र की रचना कैसे कर सकते हैं। किस प्रकार शास्त्र को दोष रहित, सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित रूप दे सकते हैं। इसका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है।

शास्त्र के निर्माण की एक पद्धति होती है जिसका निर्देश प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है जिसका प्रारम्भिक रूप भाषा चिन्तन है जो वर्तमान सदी में स्वयं एक स्वतन्त्र विषय बन गया है। इस पद्धति के आवश्यक उपकरणों को 'तन्त्रमुक्ति' पद से अभिहित किया गया है।

तन्त्रयुक्ति सटीक व्यावहारिक अनुप्रयोग के लिए इसके सही स्पष्ट अर्थ की व्याख्या करने के लिए तंत्र (विज्ञान) का अध्ययन करने की पद्धति या तकनीक या प्रणालीगत दृष्टिकोण है।

'तन्त्र' शास्त्र/चिकित्सा का ही पर्यायवाचक शब्द है, और 'युक्ति' का अर्थ योजना होता है। अतः 'तन्त्रयुक्ति' का अर्थ शास्त्र की योजना होता है।

'त्रायते शरीरमनेनेति तन्त्रं शास्त्रं चिकित्सा च, तस्य युक्तयो योजनास्तन्त्रयुक्तयः।

(आचार्य डल्हण)

इससे शरीर की रक्षा होती है, इसलिए यह तन्त्र है। इसे शास्त्र तथा चिकित्सा भी कहते हैं। उसकी युक्ति अर्थात् योजना 'तन्त्रयुक्ति' कही जाती है। शरीर की रक्षा शास्त्र और चिकित्सा दोनों से ही की जाती है। शास्त्र के द्वारा आध्यात्मिक तथा नैतिक पक्ष की रक्षा होती है और चिकित्सा से शरीर की रक्षा होती है।

'युक्ति' का अर्थ है– योजना, उपाय, न्याय, नीति आदि। इस प्रकार तंत्र युक्ति का शाब्दिक अर्थ है– तंत्र की योजना।

2.3.1 तन्त्रयुक्ति–प्रयोजन

'वाक्ययोजनमर्थयोजनञ्च नं च। (सु. उत्तरस्थान 65/4)

वाक्य योजना और अर्थ–योजना में तन्त्रयुक्ति के प्रयोजन कहे जाते हैं। उनमें योगोद्देश निर्देश आदि वाक्य–योजना जो योजनाएँ वाक्य में शब्दों के हेरफेर, अन्वय आदि पर बल देती हैं तथा अधिकरण पदार्थादि तन्त्र–योजना– जो योजनाएँ लीन अर्थ को प्रकाशित करती अथवा असंगत अर्थो को संगति प्रदान करती हैं। पुनः कहा है–

> **यथाम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा।**
> **प्रबोधस्य प्रकाशार्थस्तथा तन्त्रस्य युक्तयः।।** (सु.0. 67/5–7)

तन्त्रयुक्ति द्वारा असद्वादि प्रयुक्त वाक्यों का प्रतिषेध एवं स्ववाक्य की सिद्धि भी की जाती है। जो अर्थ व्यक्त और युक्त नहीं है, जो लीन और अनिर्मल है एवं जो कोई लेशमात्र कहे गए हैं, उन सभी की साधक तन्त्रयुक्ति हैं। जिस प्रकार कमल–वन का प्रकाशक सूर्य तथा घर का प्रकाशक दीपक है, ठीक उसी प्रकार बोध योग्य विषयों के प्रकाश के लिए तन्त्र की युक्तियाँ है। असम्बद्ध वाक्य का सम्बन्ध जोड़ना और छिपे अर्थों को प्रकाशित करने में इन तन्त्रयुक्तियों का प्रयोग करते हैं। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने आन्वीक्षिकी को दीपक के समान समस्त विद्याओं का प्रकाशक माना है। चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाली जो विधियां शास्त्र में वर्णित है, उनका तन्त्रयुक्तियाँ स्पष्टीकरण करती है जबकि आन्वीक्षिकी केवल विचार के नियमों का ही

प्रतिपादन करती है।

तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति–

तनोति तन्यते वा..............। शब्द कल्पद्रुम

(च.सू. 30/72)

'तनु विस्तारे' धातु से 'औणादिक ष्ट्रन् प्रत्यय' के द्वारा तन्त्र शब्द की निष्पत्ति की गयी है, चुरादिगण के तनु धातु में घञ् प्रत्यय लगाने से भी 'तन्त्र' शब्द की निष्पत्ति हुयी है।

वृद्ध वाग्भट ने 'तंत्रयुक्ति' को 'युक्तिद' कहा है। जिस प्रकार स्वर्ण में जड़ा रत्न उत्तम होता है, उसी प्रकार यह शास्त्र भी छत्तीस तंत्र युक्ति पदों से अलंकृत है। इन तन्त्रयुक्तियों द्वारा वैद्य इस वाङमय तक पहुँच सकते है अर्थात् कठिन अर्थ को समझ सकते हैं।

लघु वाग्भट ने– **इति तन्त्रगुणैर्युक्तं तन्त्रदोषैर्विवर्जितम्।............स्थितम्।।** इसे 'तन्त्रगुण' कहा है।

शास्त्रज्ञान के लिए तन्त्रयुक्ति का महत्त्व–

आधीयानोऽपि शास्त्राणि तन्त्रयुक्तया बिना भिषक्।
नाधिगच्छति शास्त्रार्थानर्थान् भाग्यक्षये यथा।। च.सि. 12/48

यदि आयुर्वेद के ज्ञान को प्राप्त करने का इच्छुक पुरुष तन्त्रयुक्तियों को बिना समझे शास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ कर देता है, तो वह आयुर्वेद के तात्त्विक (रहस्यमय) अर्थों को नहीं समझ सकता। जैसे भाग्य के क्षीण हो जाने पर अर्थात् दुर्भाग्य के उदय हो जाने पर मानव अर्थों (धन, सम्पत्ति आदि) को प्राप्त नहीं कर सकता, भले ही वह कितना ही परिश्रम करें। वास्तव में तन्त्रयुक्तियाँ शास्त्र को समझने की सही दिशा का निर्देश करती हैं और उसके गुप्त रहस्यों को प्रकट करने में सहायक होती है।

प्राचीनकाल में यह परम्परा थी कि शास्त्र– विशेष की रचना में सोचने के जिन विशेष तकनीकी ढंगों, व्याकरण एवं रचना की शैलियों अथवा युक्तियों का उपयोग किया जाता था ग्रन्थ के अन्त में प्रायः उनका निर्देश कर दिया जाता था। इससे उस शास्त्र को समझने में सहूलियत होती थी। चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट ने भी इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए अपने–अपने शास्त्रों में प्रयुक्त तंत्रयुक्तियों का ग्रन्थ के अन्त में उल्लेख कर दिया है। चरक के सिद्धिस्थान बारहवाँ अध्याय, सुश्रुत उत्तरतंत्र पैसठवाँ अध्याय तथा अष्टांगसंग्रह उत्तरतन्त्र पचासवाँ अध्याय में इनका उल्लेख हैं।

तन्त्रयुक्ति संख्या– सुश्रुत संहिता के उत्तर तंत्र के प्रतिसंस्कर्ता ''नागार्जुन'' महर्षि सुश्रुत (4–7वीं शती) ने बत्तीस तन्त्रयुक्तियाँ बतलायी है।

1. अधिकरण, 2. योग, 3. पदार्थ, 4. हेत्वर्थ, 5. उद्देश, 6. निर्देश, 7. उपदेश, 8. अपदेश, 9. प्रदेश, 10. अतिदेश, 11. अपवर्ग, 12. वाक्यशेष, 13. अर्थापत्ति, 14. विपर्यय, 15. प्रसंग, 16. एकान्त, 17. अनेकान्त, 18. पूर्वपक्ष, 19. निर्णय, 20. अनुमत, 21. विधान, 22. अनागतावेक्षण, 23. अतिक्रान्तावेक्षण, 24. संशय, 25. व्याख्यान, 26. स्वसंज्ञा, 27. निर्वचन, 28. निदर्शन, 29. नियोग, 30. विकल्प, 31. समुच्चय, 32. 0ह्म।

इन तन्त्रयुक्तियों द्वारा शास्त्र की गूढ़ता को ठीक से समझा जा सके। जबकि चरक संहिता के प्रतिसंस्कर्ता दृढ़बल ने सुश्रुत संहिता में वर्णित 32 तथा 4 और भी उसमें मिलाकर कुल 36 तंत्रयुक्तियों का वर्णन किया है जो निम्न है– 1. प्रयोजन, 2. प्रत्युत्सार, 3. उद्धार और 4. सम्भव।

अष्टांग संग्रह (वृद्ध वाग्भट्ट कृत 6वीं शताब्दी ईस्वी) और अष्टांग हृदय (लघु वाग्भट्ट कृत 7वीं शताब्दी ईस्वी) में चरकोत्त 36 तंत्रयुक्तियों का ही वर्णन मिलता है। नागार्जुन से पूर्व कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सुश्रुत के समान ही 32 तन्त्रयुक्तियों का वर्णन मिलता है। चरक संहिता के टीकाकार भट्टार हरिचन्द्र ने चरकन्यास में चरकोक्त 36 के अतिरिक्त 4 और भी तन्त्रयुक्तियों को समाहित कर 40 की संख्या बतायी है– 1. परिप्रश्न, 2. व्याकरण, 3. व्युत्क्रान्ताभिधान और 4. हेतु।

इस प्रकार तंत्रयुक्तियों की संख्या सुश्रुत ने 32, चरक ने 36 तथा भट्टाहरिश्चन्द्र ने 40 बतलायी है। इससे हमें यह दृष्टि प्राप्त होती है कि भारतीय शोध प्रणाली में निरन्तर विकास होता रहा है। यदि तंत्रयुक्तियों पर पुनःविचार किया जाय, तो हमें इनके स्वरूप में नये तत्त्वों को जोड़ना पड़ेगा।

तंत्रयुक्तियों का लक्षण–

1. अधिकरण **(Subject Matter)**–

तंत्र यमर्थमधिकृत्योच्यते तदधिकरणं, यथा रसं दोषं वा।। सु.उ. 65/8
जिस विषय पर अधिकार करके कहा जाय उसे 'अधिकरण' कहते हैं– जैसे रस या दोष के आधार पर चिकित्सा प्रतिपादित की जाती है।

अधिकरण का अर्थ है मूल–विषय या विषयवस्तु। यह शब्द प्रायः निम्न दो अर्थो में प्रयुक्त होता है–

क. किसी विषयविशेष को अधिकृत कर अथवा उसे आधार बनाकर उसका विवेचन करना यथा रसाधिकार, दोषाधिकार, दीर्घजीवनीयाध्याय आदि। विषय वस्तु की व्यापकता अथवा सीमा के आधार पर इसके अन्य भेद भी सम्भव है– यथा ग्रन्थाधिकरण, अध्यायाधिकरण, प्रकरणाधिकरण, वाक्याधिकरण आदि।

ख. सामान्य रूप से कहे गये विषय को विशेष अर्थ में ग्रहण करना; यथा ''कोई सात दिन पर, कोई दस दिन पर औषधि देने का आदेश देते हैं''– प्रसंग वश इसे ज्वराधिकार में ग्रहण करना।

2. योग **(Arrangement)**–

योग का अर्थ है– ''व्यवस्था'' ''सम्बन्ध'' या ''जोड़''। जब छितराए हुए पदों का अर्थ की दृष्टि से व्यवस्थित कर पास–पास बैठाया जाता है या प्रसंगोचित अर्थ को प्रकाशित करने के लिए उनका अर्थान्वय किया जाता है तो उसे योग कहते हैं। उदाहरण के लिए 0पर दिये गये श्लोक में ठीक–ठीक अर्थ करने के लिए ''तैलं सिद्धं पिवेत्'' को एकसाथ लेना होगा जबकि इसमें तैलं शब्द प्रथम पाद में और सिद्धं शब्द तृतीय पाद में आया है। योग योजना है। व्यस्त अर्थात् पृथक्–पृथक् कहे हुए, पदों को एक साथ इकट्ठा करना 'योग' है। जैसे प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण, उपनय और निगमन।

3. पदार्थ **(Import of term)**–

पद के अर्थ को पदार्थ कहते हैं। प्रत्येक पद का अपना अर्थ होता है : अपनी विषयवस्तु होती है जिसकी ओर वह इंगित करता है; जिसके लिए उसका प्रयोग किया जाता है। पद एकार्थक भी होते है और अनेकार्थक भी। किसी भी सूत्र अथवा वाक्य में पद का जो अभीष्ठ अर्थ होता है अथवा जिसके लिए उसका प्रयोग किया जाता है, उसे पदार्थ कहते हैं।

4. हेत्वर्थ **(Extension of Argument)**–

जो अन्यत्र कहा हुआ विषय कही हुयी बात जब दूसरे प्रसंगों में भी उसी प्रकार कार्य करती है तो उसे हेत्वर्थ कहते है। जैसे जल से मिट्टी का पिण्ड क्लेद युक्त हो जाता है वैसे ही दुग्ध सेवन से व्रण क्लेद युक्त हो जाता है। यहाँ पर बाह्य के दृष्टान्त से आश्यन्तर की सिद्धि की गयी है। अन्य के लिए कही हुई जो बात दूसरे अर्थ को सिद्ध करती है, उसे हेत्वर्थ कहते है। यथा– पानी से मिट्टी का ढेला गीला होता है उसी प्रकार उड़द, दूध आदि से व्रण भी क्लेदयुक्त होता है।

चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में

जो अन्यत्र कहा हुआ विषय कही हुई बात जब दूसरे प्रसंगों में भी उसी प्रकार कार्य करती है तो उसे हेत्वर्थ कहते हैं। जैसे समान गुण द्रव्य के अभ्यास से धातुओं की वृद्धि होती है। उसी प्रकार रस धातु से आवश्यकतानुसार सभी धातु अपने अपने पोष्य अंशो को ग्रहण कर अपने–अपने स्थान पर चले जाते है।

16– एकांत तन्त्रयुक्ति

''सर्वत्र यदवधारणोनोच्यते स एकान्तः।'' यथा –
मदनफलं वामयति (एव) 123

सर्वावस्था में होने वाली जो बात निश्चयात्मक रूप में कही जाय, अर्थात जो बिना विकल्प के निश्चित रूप से कही जाय वह एकांत है। जैसे– निशोथ विरेचन करता है। मदन फल वमन कराता है। इसके विपक्ष में कुछ की कहकर इसका खण्डन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार यदि कहा जाता है कि ''सूर्योदय पूर्व दिशा में होता है'' तो यह एकान्त्र है।

प्रयोग

5. उद्देश **(Concise Statement)**–

'समासवचनमुद्देशः। यथा शल्यमिति'। (सु.उ. 65/12)

किसी बात को विस्तार से न कह कर संक्षेप में कह देना उद्देश है। जैसे– सभी पीड़ा पहुँचाने वाले को शरीर अथवा आगन्तुक भेद से यह न कह कर कि पीड़ाकर शारीरिक दोष अथवा आगन्तुक कारण है केवल 'शल्य' कह दिया जाय।

उद्देशो नाम सडक्षेपाभिधानम्। (चक्रपाणि)

संक्षेप में कहीं बात को 'उद्देश' कहते है।

6. निर्देश **(Amplification/enlUrgement)**–

विस्तरवचनं निर्देशः। यथा शारीरमागन्तुकं चेति।।– सु.उ. 65/13

विस्तरेण भाषणं निर्देशः इत्यर्थः।'' डल्हण (सु.उ. 65/13)

विस्तार से कहने का नाम निर्देश है, यथा– शारीरशल्य, आगन्तुजशल्य अर्थात् शल्य दो प्रकार का है– प्रथम शारीर शल्य; द्वितीय आगन्तुक शल्य।

7. उपदेश **(Injunction)**–

एवमित्युपदेशः। यथा– तथा न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत्। (सु.उ. 65/14)

इस प्रकार से करे ये उपदेश है। जैसे– रात्री में जागना नहीं चाहिए और दिन में सोना नहीं चाहिए।

उपदेशोंनामप्तानुशासनम्। (चक्रपाणि)

आप्तपुरुषों के अनुशासन हि उपदेश है।

8. अपदेश **(Adducement of reason)**–

अनेन कारणेनेत्यपदेशः, यथाऽपदिश्यते– मधुरः श्लेष्माणमभिवर्धयतीति।।15।।

(सु.उ. 65/15)

अनेन कारणेनेति कार्य प्रति हेतुकथनमुपदेश इत्यर्थः। (डल्हण)

इस कारण से यह कार्य हुआ है, या होता है, ऐसा कहना अपदेश है। यथा– कहते है कि मधुर रस कफ को बढ़ाता है।

'यत्प्रतिज्ञातार्थ साधनाय हेतुवचनम्'। (चक्रपाणि)

प्रतिज्ञात विषय की सिद्धि के लिए जो कारण रूप वचन कहा जाता है, वह अपदेश है।

9. प्रदेश लक्षण **(Appeal to a president)**–

प्रकृतस्यातिक्रान्तेन साधनं प्रदेशः। यथा– देवदत्तस्यानेन शल्यमुद्धृतं तथा यज्ञदत्तस्याप्ययमुद्धरिष्यतीति।। सु.उ. 65/16

प्रकृत वस्तु के भी आगे जाकर सिद्ध करने का नाम प्रदेश है। यथा– इसने देवदत्त का शल्य निकाला है, इसी प्रकार यज्ञदत्त का भी शल्य निकाला।

10. अतिदेश **(Prosticedent to extended application)**–

प्रकृतस्यानागतस्य साधनमतिदेशः यथा– यतोऽस्य वायुरूर्ध्वमुत्तिष्ठते तेनोदावर्ती स्यादिति।।17।। (सु.उ. 65/17)

प्रकृत अथवा वर्तमान लक्षणों के आधार पर अनागत (भविष्य में होने वाले) रोग की सम्भावना। जैसे– किसी रोगी में वात की उर्ध्वगति को देखकर भविष्य में उसे उदावर्त से पीड़ित होने की सम्भावना करना।

11. अपवर्ग **(Exception)**–

अभिव्याप्यापकर्षणमपवर्गः, यथा– अस्वेधा विषोपसृष्टाः, अन्यत्र
कीटविषादिति।।18।। (सु.उ. 65/18)

किसी भी विषय का व्यापक रूप से निषेध या विधान कर उसमें से किसी एक

अंश को उसमें से निकाल देना। सामान्य भाषा में यह 'अपवाद' भी कहा जाता है। जैसे– विष सेवी का स्वेदन नहीं करते हैं किन्तु कीटविष का स्वेदन का स्वेदन करते है या बासी अन्न अखाद्य है, किन्तु मांस और हरित् शुष्क साग को छोड़कर।

12. वाक्यशेष **(Supply of Clipsis)**–

जब किसी पद के न कहने पर भी उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है तब इसे वाक्यशेष कहते है, जैसे– शिर, पाणि, पाद आदि कहने पर पुरुष कहे बिना भी पुरुष के ही अंग है ऐसा ज्ञान होता है।

13. अर्थापत्ति **(Implication)**–

जो न कहा हुआ भी अर्थ से प्रतिपादित होता है, उसको अर्थापत्ति कहते हैं यथा– चावल खा0ंगा यह कहने से अर्थ से समझ लिया जाता है कि, यह यवागू नहीं पीना चाहता।।20।।

दूसरा उदाहरण– रात में दही नहीं खाना चाहिये यह कहने पर दिन में दही खाना चाहिये यह बोध हो जाता है।

14. विपर्यय **(Reversed opinion)**–

यद्यत्राभिहितं तस्य प्रातिलोभ्यं विपर्ययः।

यथा–कशाल्पप्राणाभीरवो दुश्चिकित्स्या इत्युक्ते विपरीतं गृह्यते दृढादयः सुचिकित्स्य इति।।21।। सु.उ. 65/21

जो कहा जाये उसके विपरीत का नाम 'विपर्यय' है। जैसे– कृश, अल्प प्राण एवं भीरू पुरूष दुश्चिकित्स्य होते हैं। यह कहने पर विपरीत रूप में यह समझ लिया जाता है कि दृढ़, बहुप्राण और निडर व्यक्ति सुचिकित्स्य होते है।

15. प्रसंग **(Restatement)**–

पूर्वोक्त अर्थ का प्रकरण में आ जाने से पुनः कहना प्रसंग कहलाता है या प्रकरणों के बीच में जो विषय बार–बार कहा जाता है– समाप्त किया जाता है, उसे प्रसंग कहते हैं। जैसे– **पंचमहाभूतशरीरीसमवाय पुरूष** है, उसी में सभी शारीरिक क्रियायें होती है, और चिकित्सा का अधिष्ठान है (सु.सू. 1/1), यह कहकर उसे पुनः **'भूतचिन्ताशारीर'** (सु.शा. 1) में प्रकरणवश उद्धृत करना प्रसंग कहा गया है और वही कर्म पुरूष चिकित्सा में अधिकृत है।

16. एकान्त **(Categorical/Certanity Statement)**–

(सर्वत्र) यदवधारणोनोच्यते स एकान्तः यथा– त्रिवृद्विरेचयति, मदनफलं वामयति (एव)।।23।। सु.उ. 65/23

जो बिना विकल्प के निश्चित रूप से कहा जाता है, वह एकान्त है। जैसे– निशोथ विरेचन करता है, मदन फल वमन कराता है।

17. अनेकान्त **(Compromising Statement)**–

कहीं ऐसा और कहीं दूसरा ऐसा यानि दो पक्षों में से एक का भी निश्चय न होना अनेकान्त कहा जाता है। जैसे– कोई आचार्य कहते है कि द्रव्य प्रधान है, कोई रस को, कोई वीर्य को और कोई विपाक को प्रधान मानते है।

1. चिकित्सकीय विधि में–

   यदि किसी व्यक्ति को कोई रोग। बिमारी हो गयी हो तो वह व्यक्ति जिस भी चिकित्सा के विभाग में जाता है तो उसे चिकित्सा विशेषज्ञों द्वारा उसे उस प्रकार की इलाज बतायी जाती है, जैसे– आयुर्वेद पद्धति आयुर्वेदिक चिकित्सा को बताएगा, होम्योपैथिक पद्धति होम्योपैथिक विधि इत्यादि। इस प्रकार अनेकान्त पद्धति का प्रयोग हमें चिकित्सा के क्षेत्र में देखने को मिलता है।

2. अन्वेषण विधि में

   अनेकान्त तन्त्रयुक्ति का प्रयोग हमें अन्वेषण विधि में व्यापक रूप से मिलता है। हम किसी भी प्रकार का शोध जब करते है चाहे वह सामाजिक विषयों पर हो, तकनीकी विषयों पर हो या किसी अन्य विषय पर आधारित हो। हमारे पहले विभिन्न

18. पूर्वपक्ष **(Objection)**–

आक्षेपापूर्वकप्रश्न को पूर्वपक्ष कहते हैं, जैसे– वातजन्य चार प्रमेह किस कारण से असाध्य होते हैं।

19. निर्णय **(Decision)**–

पूर्वपक्ष के उत्तर को अथवा विचारपूर्वक विषय की स्थापना का निर्णय कहते हैं। जैसे– वायु शरीर की धातु (वसा, मज्जा और मेद) को दूषित कर वस्ति में जाकर वसा, मेद और मज्जायुक्त से मिला मूत्र वायु त्याग करता है, इसलिए वातजन्य प्रमेह असाध्य है।

20. अनुभत **(Concession/Approval Others Opininon)**–

दूसरे मत को स्वीकार करना (विरोध न करना) अनुमत है। जैसे– दूसरा कहे सात रस हैं, इसका विरोध न करने से किसी भी प्रकार में सहमत होना अनुमत है।

21. विधान **(Right Order)**–

प्रकरण के अनुसार कहने का नाम विधान है। जैसे– टांग के मर्म ग्यारह प्रकरण के अनुसार कह दिये हैं।

22. अनागतावेक्षण **(Prospective references)**–

भविष्य में अर्थात् आगे कहा जाने वाला विषय 'अनागतावेक्षण' है। जैसे– श्लोक (सूत्र) स्थान में किसी विषय के बारे में कहा जाये कि इसे चिकित्सा स्थान में कहा जायेगा।

23. अतिक्रान्तावेक्षण **(Retrospective References)**–

जहाँ पूर्व में कहे गये विषय वर्णित हो वही अतिक्रान्तावेक्षण है। जैसे– श्लोक स्थान में जैसा कहा है, उसे चिकित्सा में वैसा ही बोला जाये। जैसे– चिकित्सा में कहे कि– श्लोकस्थान में जैसा कहा है।

चरक सि स्थान में 'अतिक्रान्तावेक्षण' के स्थान पर 'अतीतावेक्षण' नाम मिलता है, इसे संग्रहकार भी इसी नाम से जानते हैं। किन्तु सु.उ. तंत्र में अतिक्रान्तावेक्षण नाम ही दिया गया है।

24. संशय **(Doubt)**–

हेतु का दोनों में घटना संशय है। जैसे– तलहृदय (मर्म) पर चोट लगना प्राणहर है, जबकि हाथ पैर का काटना प्राणनाशक नहीं है।

25. व्याख्यान **(Explanation)**–

किसी विषय का अतिशय रूप से वर्णन करना व्याख्यान है। जैसे– सुश्रुत संहिता में पच्चीस तत्त्व वाले पुरूष का आख्यान किया गया है, दूसरे आयुर्वेद तंत्रों में भूतादि को अहंकार से प्रारम्भ करके (अव्यक्त से नहीं) व्याख्यान किया जाता है।

26. स्वसंज्ञा **(Technical Terminology)**–

अन्य शास्त्रों में सामान्य रूप से न पायी जाने वाली लेकिन अपने शास्त्र के अनुकूल किसी वस्तु के नामकरण या संज्ञा प्रदान करने को 'स्वसंज्ञा कहते है। जैसे– आयुर्वेद में मधु घृत के लिए मिथुन संज्ञा, हरड़, बहेड़ा और ऑवला के लिए त्रिफला संज्ञा दी गयी है।

शास्त्रकार व्यवहार के लिए अपने शास्त्र में सीमित संज्ञाएँ बना लेते हैं, जो अन्य शास्त्रों में नहीं प्रचलित होती या अन्यत्र उनका अर्थ दूसरा होता है। जैसे– घी–तैल के लिए 'यमक' संज्ञा दी गयी है। इसी प्रकार घी–तैल–वसा–मज्जा के लिए आयर्वुेद में 'महास्नेह' की 'स्वसंज्ञा' दी गयी है।

27. निर्वचन **(Certain)**–

निश्चित रूप से बताना 'निर्वचन' कहलाता है; जैसे– जिस शास्त्र के आदेशों के पालने से आयु का लाभ होता है वह आयुर्वेद कहलाता है (आयुर्विद्यतेऽस्मिन्ननेन) या जिससे आयु के बारे में ज्ञान प्राप्त होता है (आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः), वह आयुर्वेद है।

28. निदर्शन **(Analogy)**–

जहाँ दृष्टान्त के द्वारा अर्थ समझ में आता हो वह 'निदर्शन' कहलाता है; जैसे– अग्नि हवा के सम्पर्क में आने से वृद्धि को प्राप्त होकर तृणादि (घास–फूस) के ढेर को जला देती है उसी प्रकार वात, पित्त और कफ दोष के प्रकोप से व्रण (Boil/Ulcer) में विकार की वृद्धि होती है।

विमर्श– चक्रपाणि ने 'निदर्शन' की यह परिभाषा की है कि 'जिसके द्वारा विद्वान् और मुर्ख व्यक्ति भी विषय को भली प्रकार समझ सके वह निर्देशन है; जैसे– विष, शस्त्र और अशनि (वज्र) अज्ञानता के कारण प्राणनाश कर देते हैं उसी प्रकार औषध भी अज्ञानता में प्रयुक्त किये जाने पर प्राणहर होती है।

29. नियोग **(Mission/Official or Authoriative instructions)**–

इदमेव कर्त्तव्यमिति नियोगः। यथा– पथ्यमेव भोक्तव्यमिति।।37।। सु.उ. 65/37

'यही करना चाहिए', इस प्रकार का आदेश 'नियोग' कहलाता है। जैसे– पथ्य भोजन का ही सेवन करना चाहिए।

30. समुच्चय **(Aggregation)**–

अनेक विषयों का एक ही साथ समावेश करना 'समुच्चय' कहलाता है। जैसे मांसवर्ग में हरिण का मांस एवं एणमृग का मांस प्रधान होता है, वैसे ही तित्तिर, शारंग, लावा आदि पक्षियों का मांस भी प्रधान होता है।

31. विकल्प **(Alternative & Option)**–

जहाँ बात को द्विविधा के साथ कहा जाता है, उसे 'विकल्प' कहते है। जैसे– या तो मांसरस और भात खाना चाहिए या घृतयुक्त यवागू का सेवन करना चाहिए।

32. उह्य **(Deduction)**–

किसी ग्रन्थ में जो विषय शब्दतः का उल्लेख नहीं कहा गया हो, किन्तु बुद्धि से तर्कपूर्वक उस विषय को समझ लिया जाये उसे '0ह्य' कहते हैं। जैसे अन्न चार प्रकार का बताया गया है– भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और पेय। यदि किसी स्थान पर अन्नपान के प्रसंग में दो अन्न का उल्लेख है तो वहाँ स्वबुद्धि से अन्य शेष दो का ग्रहण कर लिया जाता है। चार प्रकार के आहार का प्रचलन कम और दो प्रकार के आहार का प्रचलन अधिक है। अतः द्वित्व (अन्न–पान) प्रसिद्ध है। और भी– अन्न कहने से भक्ष्य और पान कहने से लेह्य का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि ठोस होने से अन्न का भक्ष्य से और दूव होने से पेय का लेह्य से साधर्म्य है।

विशेष– आचार्य सुश्रुत ने 32 तन्त्रयुक्तियों का वर्णन किया है। आचार्य चरक ने उनके साथ 4 अन्य तन्त्रयुक्तियों को जोड़ा है, जिससे उनकी संख्या 36 हो गयी, वे हैं– 1. प्रयोजन, 2. प्रत्युत्सार, 3. उद्धार और 4. सम्भव। भट्टारहरिचन्द्र ने– 1. परिप्रश्न, 2. व्युत्क्रान्ताभिधान, 3. व्याकरण और 4. हेतु– इन चार अतिरिक्त तन्त्रयुक्तियों का वर्णन किया है। किन्तु चक्रपाणि आचार्य का कहना है कि इन चारों तन्त्रयुक्तियों का पूर्वोक्त तन्त्रयुक्तियों में अन्तर्भाव हो जाता है, जैसे– परिप्रश्न का उद्देश में, व्याकरण का व्याख्यान में, व्युत्क्रान्ताभिधान का निर्देश में और हेतु का प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तोपदेश इन प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतएव चरकाचार्य ने अलग से इनके वर्णन की आवश्यकता नहीं समझी है। चरकोक्त जिन 4 अधिक तन्त्रयुक्तियों का नामोल्लेख किया गया है उनका विवरण इस प्रकार है–

1. प्रयोजन **(Purpose)**–

प्रदेशोद्देशनिर्देशवाक्यशेषाः प्रयोजनम्। उपदेशापदेशातिदेशार्थापत्तिनिर्णयाः।।42।। (च.सि. 12/42)

जिस उद्देश्य के लिए शास्त्र की रचना होती है अथवा जिस लक्ष्य की सिद्धि के लिए किसी कार्य का आरम्भ किया जाय, वह लक्ष्य प्रयोजन कहलाता है। जैसे– धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्' (च.सू. 1)। यहाँ आयुर्वेद का प्रयोजन शरीर में धातुसाम्य– स्थापन कहा गया है।

2. प्रत्युत्सार **(Rebuttal/DisclEimer/Disproof)**–

प्रत्युत्सारस्तथोद्वारः सम्भवस्तन्त्रयुक्तयः।

प्रमाण और युक्ति के द्वारा दूसरे के मत का खण्डन करना 'प्रत्युत्सार' कहलाता है। जैसे वायोविद् आचार्य ने जब तक कहा कि पुरूष की उत्पत्ति रस से होती है और रोगों की भी उत्पत्ति रस से ही होती है तब हिरण्याक्ष ने कहा कि आत्मा रसज नहीं है। यह प्रत्युत्सार का उदाहरण है।

3. उद्वार **(Reaffirmation/Reasserting)**–

दूसरे के मत का खण्डन करके अपने पक्ष का समर्थन करना 'उद्वार' कहलाता है। जैसे– पुरुष एवं रोगों की उत्पत्ति के सम्बन्ध की सम्भाषागोष्ठी में अन्य मतों का खण्डन कर यह कहना कि जिन भावों की समृद्धि से पुरूष की उत्पत्ति होती है, उन्हीं भावों की विपन्नता से रोगों की उत्पत्ति होती है।

4. सम्भव **(Possibility)**–

जो वस्तु जहाँ से उत्पन्न होता है, वह उस उत्पन्न होने वाले को 'सम्भव' कहलाता है। जैसे– मुख/मुह के 0पर व्यंग, नीलिका आदि रोग होते हैं और मुख इनकी उत्पत्ति का स्थान होने से 'सम्भव' कहा जाता है।

तन्त्रगुण–

चरक संहिता, विमानस्थान, अध्याय 8 में शास्त्रपरीक्षा का निर्देश किया गया है। इसके अन्तर्गत यह बतलाया गया है कि ग्राह्य शास्त्र के कौन–कौन से गुण होते है। यहाँ चरकसंहिता, विमानस्थान अ. 8/3 के आधार पर तन्त्र के ग्रहणीय निम्न गुण निर्धारित किये गये है– 1. समुदृद्यशस्विधीस्पुरूषासेवितम्, 2. अर्थबहुलम्, 3. आप्तजनपूजितं, 4. त्रिविधशिष्यबुद्धिहितम्, 5. अपगतेपनरूक्तदोषम्, 6. आर्ष, 7. सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रमम्, 8. स्वधारम्, 9. अनवपतितशब्दम्, 10. अकष्टशब्दम्, 11. पुष्कलरभिधानम्, 12. क्रमागतार्थम्, 13. अर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानम्, 14. सङ्गतार्थम्, 15. असङ्कुलप्रकरणम्, 16. आशुप्रबोधकं, 17. लक्षणवच्च, 18. उदाहरणवच्च। इस प्रकार चरक संहिता के अनुसार वर्णित शास्त्रपरीक्षा के आधार पर उपर्युक्त तन्त्रगुणों का उल्लेख किया गया है, जिसका वर्णन किया जा रहा है।

1. **समुहद्यशस्विधीरपुरूषोसेवितम्**– जिस शास्त्र के विषय में यह धारणा हो जाए कि शास्त्र महान है, इसे यशस्वी धीर पुरूष पढ़ते है और प्रयोग में लाते हैं, इसमें उत्तम विचार हैं, इसका विद्वज्जन यथार्थवक्ता लोग सम्मान करते है।
2. **अर्थ बहुलम्**– अर्थ की अधिकता अर्थात् स्पष्ट हो।
3. **आप्तजनपूजितं**– आप्त पुरूषों द्वारा पूजित हो।
4. **त्रिविधशिष्यबुद्धिहितम्**– तीनों प्रकार के शिष्यों (उत्तम, मध्यम और अल्पबुद्धि वाले) के लिए लाभप्रद हो।
5. **अपगतपुनरूक्तदोषम्**– पुनरूक्त (एक ही बात को बार–बार कहना) दोष से रहित हो।
6. **आर्ष**– ऋषियों ने बनाया हो।
7. **सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रमम्**– सम्यक् रूप से लिखा गया, सूत्र–भाष्य और संग्रह के क्रम में हो अर्थात् जिस संग्रह को पहले रखना हो उसे पूर्व में व बाद वाले विषय को उत्तर स्थल में रखा गया हो।
8. **स्वाधारम्**– **'स्वाधारम् शोभनाभिधेयम्'–चक्र**। अर्थात् तन्त्र सुन्दर अथवा लाभकारी विषयों से युक्त हो। 'शोभनाभिधेयम्' से शुभ विषयों या शुभ विषयों या शुभ अभिधेय का तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए। आयुर्वेद में शुभ का अर्थ 'कल्याणकारी' ग्रहण किया जाता है। अतः 'स्वाधारम्' से कल्याणकारी विषयों से युक्त होना समझना चाहिए।
9. **अनवपतितशब्दम्**– तन्त्र अशिष्ट और अश्लील शब्दों से रहित हो।
10. **अकष्टशब्दम्**– जिसके उच्चारण में कष्ट न हो ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया हो।
11. **पुष्कलाभिधानम्**– विषय का वर्णन अधिक रूप में किया गया हो अर्थात् विषयवस्तु का वर्णन विस्तृत रूप में किया गया हो ताकि विषया या ग्रन्थकर्ता का अभिप्राय स्पष्ट हो जाए। जैसे 'त्रिसूत्र' कह देने पर सम्पूर्ण विषय का बोध नहीं होता।

अतः चरकसंहिता में हेतु, लिङ्ग व औषध 'त्रिसूत्र' का वर्णन यथास्थान विस्तृत रूप में किया गया है, जिससे विषय–बोध हो जाता है।

12. **क्रमागतार्थम्–** का तात्पर्य यह है कि प्रकरणानुसार विषय क्रम में वर्णित हो जो परम्परागत बताया गया है।
13. **अर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानम्–** तन्त्र में विषयों के तत्त्व यानि यथास्वरूप का वर्णन प्रधानता के साथ किया गया हो अथवा विषयों का तत्त्व–विनिश्चय करने में प्रधान तन्त्र या ग्रन्थ माना जाता हो।
14. **सङ्गतार्थम्–** का तात्पर्य यह है कि पूर्व व बाद के वाक्यों में विरोध न हो। इस तरह के प्रकरण के अनुसार विषय वाला शास्त्र होना चाहिए। जिस तरह के प्रकरण हो उसके अनुसार ही उस प्रकरण में विषयों का वर्णन किया गया हो, इसे संगतार्थ कहा जाता है।
15. **असङ्कुलप्रकरणम्–** जिसमें प्रकरणानुसार विषय हो। प्रथम प्रकरण का कोई विषय दूसरे प्रकरण में एवं दूसरे का तीसरे में न कहा गया हो। यथा– रोग प्रकरण में द्रव्यादि का वर्णन न हो, उसी प्रकार रस प्रकरण में कर्म या रोगों का वर्णन न हो। इसे असङ्कुलप्रकरणम् कहा जाता है।
16. **आशुप्रबोधकं–** तन्त्र/ग्रन्थ इस प्रकार के विषय, भाषा, शैली आदि से युक्त हो जिसके पढ़ने से शीघ्र ही वह समझ में आ जाए, इसे ही आशुप्रबोधकं कहा जाता है।
17. **लक्षणवच्च–** तन्त्र या ग्रन्थ में विषयों के लक्षणों (परिभाषाओं) का यथोचित रूप में व यथास्थान वर्णन हो।
18. **उदाहरणवच्च–** जिसमें विषयों को उदाहरण से स्पष्ट किया गया हो।

तन्त्रदोष

तन्त्रदोष के ज्ञान की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए तन्त्रयुक्ति में शंकर शर्मा कहते है कि अंगों का दुष्टलक्षणों से रहित होना यानि दोष का अभाव होना ही अंग का आभूषण कहा जाता है। इसलिए दोषों का अलंकार से सम्बन्ध होने के कारण दुर्लक्षणों का ज्ञान अति आवश्यक है; क्योंकि जब तक इन दोषों का ज्ञान नही होगा तब तक शास्त्र से दोष को दूर नहीं किया जा सकता। इस प्रकार दोषज्ञान के आधार पर शास्त्र के दोष को दूर कर शास्त्र का सम्यक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। भिन्नक्रम दोषयुक्त विषयों का ज्ञान होने पर उसे यथाक्रम किया जा सकता है तथा संदिग्ध का समाधान किया जा सकता है।

इस प्रकार तन्त्र दोष का ज्ञान भी अति आवश्यकत है ताकि यह निर्धारित किया जा सके कि किस ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए या किस ग्रन्थ का अध्ययन नहीं करना चाहिए।

सभी पारम्परिक ग्रन्थ व्यावहारिक शास्त्र है, अतः इनकी रचना में भी अनेक दोषा आ सकते हैं। विषय के प्रतिपादन, गुढ़ार्थ ज्ञान और शास्त्रों के ज्ञान के लिए इन दोषों का ज्ञान भी आवश्यक है। जो तंत्रों को दूषित करे उसे तंत्र दोष कहते हैं। महर्षि चरक ने विमानस्थान अध्याय 8 में निम्न पाँच तंत्र वाक्य दोषों का वर्णन किया है–

वाक्यदोष– तत्पश्चात् वाक्यदोष का परिचय प्रस्तुत है– वाक्यदोष उसे कहते हैं, जो किसी अर्थ में न्यून (अपने अभिधेय का निर्वाह करने में कुछ कम समर्थ हो), अधिक

(आवश्यकता से अधिक), अनर्थक, अपार्थक तथा विरूद्ध हो। इन दोषों के बिना वाक्य के स्वाभाविक अर्थ की हानि नहीं होती। इनका क्रमशः परिचय इस प्रकार है–

1. **न्यून**– जिस वाक्य में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन (जिनकी व्याख्या 0पर इसी अध्याय में की गयी है) में से किसी एक की भी कमी हो तो उसमें न्यूनत्व दोष होता है। अथवा जो विषय अनेक प्रकार के उपदेशों से सिद्ध होता हो, उसको यदि एक ही हेतु से सिद्ध किया जाता हो तो वह भी न्यूनत्व दोष है।

2. **अधिक**– न्यूनत्व दोष के लक्षणों से विपरीत को अधिकत्व दोष कहते हैं। अथवा आयुर्वेदीय विषय की व्याख्या के अवसर पर बार्हस्पत्य, औशनस या अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को उद्धृत करना। अथवा उस प्रसंग में जो कुछ भी असंबद्ध बात कही जाय, अथवा सम्बन्धित विषय को भी दो बार कहना, वह पुनरूक्त दोष होने के कारण अधिकत्व दोष होता है। वह पुनरूक्त (एक ही बात को दो बार कहना) भी दो प्रकार का होता है– **1. अर्थपुनरूक्त** और **2. शब्दपुनरूक्त**। अर्थपुनरूक्त का उदाहरण– भेषज, औषध और साधन (रोगशमन साधन) ये तीनों शब्द आयुर्वेद में समानार्थक हैं। शब्द पुनरूक्त का उदाहरण– भेषज, भेषज। उक्त दोनों पुनरूक्त के उदाहरणों में भेषज के बाद औषध तथा साधन का दूसरे में द्वितीय भेषज शब्द का प्रयोग पुनः उक्त है, जो दोष है।

3. **अनर्थक**– उस अक्षरसमूह मात्र को अनर्थक कहते है; जिससे किसी अर्थ की सिद्धि न होती हो। जैसे– पञ्चवर्ग (1. कवर्ग, 2. चवर्ग, 3. टवर्ग, 4. तवर्ग, 5. पवर्ग) की भांति जो किसी अर्थ के लिए ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी को साहित्यशास्त्र में 'निरर्थकदोष' कहा गया है। जैसे– च, वा, तु, हि इन अक्षरों का गद्य या पद्य में व्यर्थ प्रयोग।

4. **अपार्थक**– इसमें शब्द तो सार्थक होते हैं किन्तु इनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होता है, जैसे– चक्र, नक्र, तक्र, वंश, वज्र, निशाकर। ये सार्थक शब्द अनुचित संयोजन के कारण स्वयं अपगत अर्थ वाले हो गये हैं।

5. **विरूद्ध**– जो विषय दृष्टांत, सिद्धान्त या समय के विपरीत होते हैं। यह तीन प्रकार का होता है– **क. सिद्धान्त विरूद्ध, ख. दृष्टांत विरूद्ध और ग. समय विरूद्ध कथन।**

क. **सिद्धान्त विरूद्ध**– भेषज असाध्य रोगों को दूर करने में समर्थ है।

ख. **दृष्टांत विरूद्ध**– अग्नि वैसे ही उष्ण है जैसे– जल।

ग. **समय विरूद्ध**– यह तीन प्रकार का है–

घ. **आयुर्वेदिक विरूद्ध**– चिकित्सा के चतुष्पाद (भिषक, औषध, उपस्थाता, परिचारक) और रोगी भेषज है। किन्तु यह कहना कि चतुष्पाद भेषज नही है यह 'आयुर्वेदिक समय विरूद्ध' है।

ङ **याज्ञिक समय विरूद्ध**– यज्ञ में पशुओं की बलि देनी चाहिए यह 'याज्ञिक समय' है, किन्तु यज्ञ में बलि का न देना 'याज्ञिक समय विरूद्ध' है।

च. **मोक्षशास्त्रिक समय विरूद्ध**– सभी प्राणियों से अहिंसा का व्यवहार मोक्षशास्त्रिक है किन्तु यह कहना कि सभी प्राणी बध्य हैं, यह 'मोक्षशास्त्रिक समय विरूद्ध' है।

2.4 सारांश

वैदिक ज्ञान से आजतक के ज्ञान के निरन्तर प्रवाहमान परम्परा से स्पष्ट है कि भारत में प्राचीनकाल से ही अनुसंधान एवं अनुसंधान पद्धतियों की परम्परा अस्तित्व में थी जिसे तन्त्रयुक्ति कहा जाता था। वह श्रृंखला मध्यकाल में प्रभावित हुई थी। आज यह आवश्यकता है कि प्राचीन अनुसंधान पद्धतियों पर विचार करके नयी अनुसंधान पद्धति प्राप्त करें तथा इनका प्रयोग करें जिससे भारतीय ज्ञान परम्परा की समग्रतावादी व्यवहार विज्ञान प्राप्त हो सकें। प्राचीन अनुसंधान पद्धति तथा आधुनिक अनुसंधान पद्धतियों में समन्वय बैठाया जा सकें।

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

अपवर्ग – समाप्ति, जलप्राप्ति, अपकर्षण

वाक्यशेष – अपूर्ण वाक्य।

विपर्यय – विपरीत अर्थ की कल्पना करना।

विधान – क्रम से रखना, व्यवस्था अनागतवेक्षण – जो विषय सामने नहीं आया है, उस पर करना।

अतिक्रांतावेक्षण – बीती हुई बातों पर पुनः विचार करना।

स्वसंज्ञा – अन्य शास्त्रों के समान न होना ही 'स्वसंज्ञा' है।

निदर्शन – दृष्टान्व देकर विषय को स्पष्ट करने का नाम निर्देशन है।

उपदेश – विशिष्ट निर्देशन

2.6 सन्दर्भग्रन्थ

1. चरकसंहिता
2. कौटिल्य अर्थशास्त्र
3. अनुसंधान संदर्शिका, प्रो. एस.पी. गुप्ता, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद
4. The Doctrine of Tantryukti डॉ डब्ल्यू के.लेले तन्त्रयुक्ति
5. प्राचीन भारत में अनुसंधान पद्धति, प्रो. ओमप्रकाश सिंह का लेख
6. तन्त्रयुक्ति, वैद्यसागर मिश्र
7. तन्त्रयुक्ति, नीलमेघ भिषगाचार्य

2.7 बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय शोधप्रविधियों की विवेचना कीजिए।
2. तंत्रयुक्ति किसे कहते हैं? तंत्रयुक्ति के स्वरूप एवं वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।
3. तंत्रगुण तथा तंत्रदोष किसे कहते हैं? विवेचना कीजिए।
4. अनुसंधान से आप क्या समझते है? प्राचीन भारत के विकसित अनुसंधान प्रणाली की विवेचना कीजिए।

इकाई 3 ग्रन्थ सम्पादन की संकल्पना : अभिनवगुप्त

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

ग्रन्थ निर्माण की भारतीय विधि विषयक इस खण्ड की इकाई तीन– ग्रन्थ सम्पादन की संकल्पना विषयक इस इकाई के अध्ययन से आप परिचित होंगे –

- भारतीय परम्परा में ग्रन्थों के निर्माण के अन्नतर उनमें कालकम से पाठभेदों का आविर्भाव हुआ।
- पाठभेदों के आविर्भाव के अनेक कारण रहे माने जाते हैं।
- इन पाठभेदों के अध्ययन से मूलपाठ तक पहुंचने में कठिनाई होती है।
- इस स्थिति में मूलपाठ का निर्धारण सम्पादक का दायित्व बन जाता है।
- सम्पादक कतिपय नियमों का अनुसरण करता हुआ इन पाठों की समीक्षा करता है।
- ग्रन्थ के रचयिता कवि या आचार्य के सम्पूर्ण अभ्यास को ध्यान में रखकर मूलपाठ का निर्धारण करना सम्पादक का दायित्व बन जाता है।
- केवल समस्त पाठभेदों को संगृहीत कर उनको एकत्र प्रस्तुत करने में सम्पादक को अपनी इतिश्री नहीं मान लेनी चाहिए।
- ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय, प्रकरण तथा उसके रचयिता के अभ्यास को देखकर सम्पादक को मूलपाठ का निर्धारण करना चाहिए।

3.1 प्रस्तावना

विगत हजारों वर्षों से भारत वर्ष में अनेक विषयों के ग्रन्थों का निर्माण हुआ। अनेक भाषाओं में कवियों ने काव्यों की रचना कर समाज को ललित विधि से दिशा प्रदान करने का प्रयास किया। अनेक भाषाओं में और विशेषकर संस्कृत भाषा में लिखित शास्त्रीय ग्रन्थों तथा काव्यों का मूलपाठ परम्परा से प्राप्त होने पर भी अनेक स्थलों पर आज भी तर्कपूर्ण पाठनिर्धारण की अपेक्षा रखता है। इसमें कारण बनता है आचार्य या

कवि के द्वारा लिखित मूल हस्तलेख का अनुपलब्ध होना और शताब्दियों के कालक्रम से इन कृतियों के मूलपाठ में अध्येताओं या लिपिकर्ताओं द्वारा समय समय पर अपनी विचारधारा या समझ के अनुसार नवीन पाठों का समावेश कर देना।

विभिन्न भाषाओं में, विशेषकर संस्कृत में, विरचित शास्त्रग्रन्थों तथा काव्यों के मूलपाठ के विवादित स्थलों का सम्पादन कर उनके मौलिक स्वरूप की रक्षा करना आज भी प्रतीक्षित है। संस्कृत भाषा में विरचित ग्रन्थों की प्रतिलिपियों का निर्माण विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित लिपियों में व्यापक रूप में किया गया। लिपियों का परिवर्तन संस्कृत ग्रन्थों में पाठभेद के संक्रमण का कारण बना। इन ग्रन्थों के सम्पादन के लिए अपेक्षित हो जाता है सम्पादक का अनेक लिपियों से परिचित होना तथा शास्त्रीय परम्परा के आधार पर अर्थसंगति के प्रति निरन्तर जागरूक रहना।

इस दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि विगत सहस्राब्दियों में संस्कृत भाषा में लिखित शास्त्रीय तथा काव्य ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों में उपलब्ध होती है अनेक पाठभेदों की विशाल परम्परा। उनमें से किसी एक का चयन कर उस ग्रन्थ के मूल के रूप की प्रतिष्ठा कर पाठक तक शास्त्र या कवि के सही अभिप्राय को पहुंचाने का दायित्व सम्पादक पर जाता है। पाश्चात्य सम्पादक तथा पाश्चात्य पद्धति में शिक्षित भारतीय विद्वान् सम्पादक सभी पाठभेदों का संग्रह कर उनका उल्लेख करने मात्र तक अपने दायित्व की इतिश्री मानते हैं, जो किसी ग्रन्थ का सम्पादन न हो डाकुमेण्टेशन मात्र कहलाता है। परन्तु भारतीय सम्पादकों की दृष्टि की विशेषता है कि अनेक पाठों में से किसी एक पाठ का चयन कर उसका मूल रूप में निर्धारण कर प्रकाशित करने में ग्रन्थ के सम्पादन की पूर्णता मानते हैं। इस हेतु प्रधान रूप से सहायक बनती है पारम्परिक ज्ञान से प्रौढ़ सम्पादक की अन्तःप्रज्ञा, जिसके विकास में कारण बनता है सम्पादन हेतु गृहीत शास्त्रग्रन्थ के विषय का गहन अभ्यास तथा विभिन्ना लिपियों का ज्ञान। प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन कार्य में संलग्न विद्वानों द्वारा उपयुक्त विधियों को अपनाया जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने ग्रन्थों के सम्पादन तथा व्याख्या पद्धति पर विचार करते हुए कतिपय सूत्र प्रदान किए हैं।

3.2 आचार्य अभिनवगुप्त

आचार्य अभिनवगुप्त भारतीय शास्त्रों के व्यापक अध्येता तथा व्याख्याता आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। आपका समय दसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। आपका कार्यक्षेत्र कश्मीर का भूभाग रहा है। आपका भारतीय दर्शन तथा सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में अभिनवग्रन्थों की रचना तथा विस्तृत व्याख्याओं के प्रवर्तन के माध्यम से किया गया शास्त्रीय अवदान महत्त्वपूर्ण है। आचार्य अभिनवगुप्त ने कला तथा कलात्मक अनुभूति विषयक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त भारतीय शास्त्रीय परम्परा को प्रदान किए। शैवदर्शन, तन्त्रशास्त्र सम्बन्धी प्रयोग जो कश्मीर में उपजे, अभिनवगुप्त उनके गहन अध्येता, समीक्षक तथा प्रचारक रहे हैं। शैवदर्शन के प्रवर्तक आचार्य उत्पलदेव की परात्रिशिका तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी पर आपकी व्याख्या तथा तन्त्रालोक और तन्त्रसार जैसे विशालकाय शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन आपके गहन अध्येता तथा सिद्धान्तप्रवर्तक होने का प्रमाण है। क्रम, कुल और प्रत्यभिज्ञाविषयक आपके विचार मालिनीविजयवार्तिक में उपलब्ध होते हैं। भारतीय तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा विषयक ग्रन्थों के आप अद्भुत प्रवर्तक हैं। आपने साहित्यशास्त्र के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की व्याख्या प्रस्तुत की इनमें प्रथम है 'अभिनवभारती' जो आचार्य भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर टीका है और दूसरी है 'ध्वन्यालोकलोचन' जो आचार्य

आनन्दवर्द्धन विरचित ध्वन्यालोक ग्रन्थ की विस्तृत टीका है। यह एक विलक्षण संयोग ही माना जाएगा कि इन दो टीका ग्रन्थों के कारण आपको साहित्यशास्त्र का मूर्धन्य आचार्य माना जाता है। भरतमुनि के रससम्प्रदाय और आनन्दवर्द्धन के ध्वनिसम्प्रदाय के आप व्याख्याता आचार्य हैं। दोनों ही सम्प्रदायों को साहित्यशास्त्र में सर्वाधिक महत्त्व आचार्य अभिनवगुप्त की लोचन और अभिनवभारती नामक टीकाओं से प्रकाशित हुआ।

नाट्यशास्त्र पर आपकी टीका अभिनवभारती शैव दर्शन से प्रभावित टीका है। इसमें नाट्य तथा संगीत दोनों पर आचार्य ने अपने अभिमत प्रकाशित किए हैं। रसनिष्पत्तिसूत्र – विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः (नाट्यशास्त्र अध्याय 6)– पर अभिनवभारती में उपस्थित विस्तृत व्याख्यान और चार सिद्धान्तों की उपस्थिति आचार्य अभिनवगुप्त की देन है। चार सिद्धान्त हैं आचार्य लोल्लट का उत्पत्तिवाद, आचार्य शंकुक का अनुमितिवाद, आचार्य भट्टनायक का भुक्तिवाद और आचार्य अभिनवगुप्त स्वयं का अभिव्यक्तिवाद। अपने सिद्धान्त के माध्यम से आचार्य अभिनवगुप्त ने रस की अलौकिकता की सिद्धि के अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। उनके अनुसार रस न कार्य रूप है न हि ज्ञाप्य रूप अतः इसका कारण न कारक रूप हो सकता और न ही ज्ञापक रूप। इसके अतिरिक्त यह निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों रूप भी है और नहीं भी है। अतः रस अलौकिक है। चारों सिद्धान्तों पर विचार करें तो विदित होता है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्य की संरचना पर जितना विचार नहीं किया उससे अधिक विचार किया है काव्य के आस्वाद पक्ष पर । आस्वाद का अर्थ है सहृदय की चेतना में उत्पन्ना होने वाला आनन्द, आह्लाद या फिर चमत्कार। आचार्य अभिनवगुप्त अत्यन्त विनयी आचार्य हैं। उन्होंने कहा कि चारों व्याख्याता वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं–

> उर्ध्वर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्वं धीः पश्यती श्रान्तिमवेदयन्ती।
> फलं तदाद्यैः परिकल्पितानां विवेकसोपानपरम्पराणाम् ।।
> अभिनवभारती, प्रथम अध्याय नाट्यशास्त्र।।

रस की लोक में सर्वप्रथम उत्पत्ति होती है रामादि अनुकार्य में। इसका नट के द्वारा अनुकरण किया जाता है और सहृदय के द्वारा अपनी वासना के अनुरूप इसका आस्वाद किया जाता है। चारों परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं न कि दूषक। यदि उत्पत्ति नहीं होगी रस की तो उसकी नट भी अभिव्यक्ति नहीं होगी और न ही सामाजिक को होगी रसानुभूति। आचार्य भट्टनायक द्वारा प्रवर्तित साधारणीकरण व्यापार की व्याख्या को आचार्य अभिनवगुप्त ने साहित्यशास्त्र को प्रदान किया। साधारणीकरण के माध्यम से रस सामाजिक के लिए आस्वाद योग्य बन जाता है। अन्यथा उसके साथ रामादि रूपी विशेषणांश के जुड़े होने के कारण वह सामाजिक के लिए अनुभव योग्य नहीं हो पाता। साधारणीकरण से उसका विशेषणांश हट जाता है और समस्त सामाजिकों के लिए वह आस्वाद योग्य हो जाता है। साधारणीकरण की व्याख्या प्रस्तुत करना आचार्य अभिनवगुप्त की अभूतपूर्व देन है।

3.3 ग्रन्थ सम्पादन की परम्परा

ग्रन्थ सम्पादन की आवश्यकता पर विगत अनेक वर्षों से बल दिया जाता रहा है। वैदिक वाङ्मय की अपौरुषेयता ने वेदों के मूल स्वरूप को सुरक्षित रखा। उनमें पाठभेदजनित परिवर्तन हुए पर बहुत अधिक नहीं। पाश्चात्यों ने अपने अनुभव और शासकीय अनुरोध पर इनके अनेक अर्थ किए। पर भारतीय मनीषी टीकाकारों सायण

इत्यादि ने इनके मूल रूप को सुरक्षित रखा।

अक्षरब्रह्म के रूप में वैदिक मन्त्रों की उपस्थिति और उनके शुद्ध उच्चारण से होने वाली अपूर्व की सिद्धि ने वैदिक मन्त्रों के मूल रूप में परिवर्तन नहीं होने दिया। इसके विपरीत विभिन्न शास्त्र ग्रन्थों तथा लौकिक काव्यों रामायण, महाभारत, भास, कालिदास आदि के काव्यों के प्रकाशित संस्करणों के मूलपाठ में अनेक अन्तर आज भी पाए जाते हैं। इन अन्तरों का अध्ययन कर मूल ग्रन्थ के स्वरूप का निर्धारण करने की आवश्यकता विद्वानों द्वारा समय समय पर महसूस की जाती है।

प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादित संस्करणों को अध्येताओं को अध्ययन और शोध के लिए उपलब्ध कराने के लिए विभिन्न शासकीय और अशासकीय संस्थाओं द्वारा अनेक प्रयास किए गए। भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पुणे से महाभारत का सम्पादित मूल श्री विष्णु एस. सुक्थंकर के सम्पादकत्व में सन् 1966 में प्रकाशित किया। भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र का सम्पादित मूल श्री रामकृष्ण कवि द्वारा सम्पादित कर 1956 में और महाकवि वाल्मीकि के आदिकाव्य रामायण का सम्पादित मूलपाठ प्रो0 जी. एच. भट्ट के सम्पादकत्व में 1960 में ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा से प्रकाशित हुआ। कालिदासग्रन्थावली के रूप में सम्पूर्ण कालिदास साहित्य का सम्पादित मूल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 1976 और 1986 में प्रकाशित किया गया। इसके सम्पादक रहे सनातनकवि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी। इसका तृतीय संस्करण हिन्दी अनुवाद के साथ कालिदास संस्कृत अकादमी उज्जैन से सन् 2007 में काव्यख्यण्ड और नाट्यखण्ड के रूप में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ।

11वीं शताब्दी में धारानरेश भोजराज के नेतृत्व में निर्मित साहित्यशास्त्र के विश्वकोशात्मक ग्रन्थ – शृंगारप्रकाश का मूलपाठ अध्येताओं को अध्ययन और शोध के लिए उपलब्ध ही नहीं था। इसका सम्पादित मूल दो खण्डों में 2007 में इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र द्वारा प्रथम बार प्रकाशित किया गया। इसके सम्पादक रहे आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी और सहायक सम्पादक प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी। इसी प्रकार साहित्यशास्त्रसमुच्चय के रूप में सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र के 30 से भी अधिक मूलग्रन्थों का ग्यारह खण्डों में आचार्य प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी तथा प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी के सम्पादकत्व में प्रकाशन काशी के कालिदास संस्थान द्वारा वर्ष 2013 से 2019 के बीच सम्पन्न किया गया।

ग्रन्थों के सम्पादन की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि अब तक विभिन्न प्रकाशन संस्थानों से इन ग्रन्थों के मूलपाठ प्रकाशित किए गए हैं। इन प्रकाशित संस्करणों का अध्ययन करने से विदित होता है कि इनके मूलपाठ में परस्पर अन्तर है। विशेषकर पुराणों के संस्करणों में अनेक अध्यायों का अन्तर मिलता है। काशी में पुराण अनुसन्धान केन्द्र रामनगर से प्रकाशित पुराण के संस्करणों और गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित संस्करणों में अनेक अध्यायों का अन्तर आज भी उपलब्ध है। वायुपुराण के संस्करण में यह अन्तर अनेक अध्यायों के क्रम के निर्धारण में कठिनाई का कारण बनता है। महाकवि बाणभट्ट द्वारा विरचित हर्षचरित आख्यायिका के अनेक संस्करण प्रकाशित हैं परन्तु उनमें मूलपाठ में बहुत अन्तर मिलता है। आचार्य कुन्तक विरचित वक्रोक्तिजीवितम् का संस्करण धारवाड, कर्नाटक से आचार्य कृष्णमूर्ति के सम्पादकत्व में प्रकाशित है और चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी से भी प्रकाशित है। दोनों ही संस्करणों में प्रकाशित वृत्तिभाग में लगभग बीस प्रतिशत तक अन्तर आज भी मिलता है। चौखम्बा से प्रकाशित संस्करण में धारवाड़ से प्रकाशित संस्करण की अपेक्षा 20 प्रतिशत मूल कम प्रकाशित है। इस अन्तर को समाप्त करना सम्पादक का दायित्व है

और इन्हीं विसंगतियों को समाप्त करने के लिए आज भी संस्कृत शास्त्रों के और यहां तक की काव्यों के भी विधिवत सम्पादन की आवश्यकता है।

ग्रन्थों के सम्पादित मूलपाठ को यदि उपलब्ध कराया जाता है तो उनपर होने वाले शोधकार्यों को पूर्णता प्राप्त हो सकेगी और उनकी प्रामाणिकता पर प्रश्न नहीं उठ सकेगा। अध्येताओं की रुचि को बनाए रखने के लिए भी ग्रन्थों के विधिवत सम्पादन की आज आवश्यकता है। ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करणों का सम्पादन उनके उपलब्ध पाण्डुग्रन्थों के संकलन और उनके पाठभेदों के अध्ययन के आधार पर किया जाता है। यही विधि पूर्ववर्ती अनेक सम्पादित रूप से प्रकाशित संस्करणों में अपनाई गई है।

ग्रन्थों के मूलपाठ में अनेक पाठभेदों की उपस्थिति के अनेक कारण माने जाते हैं परन्तु इनमें सर्वप्रमुख कारण है लिपिकरों का अनवधानता से मूलपाठ की प्रतिलिपि करना। प्रकाशन के संसाधनों के अभाव में अपने हस्तलेख से ग्रन्थों की प्रतिलिपियां तैयार कराई जाती थीं। इस प्रक्रिया में कार्यरत सभी लिपिकरों का ज्ञान एक समान नहीं होता था। वे शास्त्रीय या भाषायी सूक्ष्मताओं से परिचित नहीं होते थे इसलिए सामूहिक रूप से पाण्डुलिपियों के निर्माण के समय पाण्डुग्रन्थों में पाठभेद उपस्थित हो जाते थे और वे पाठभेद कालान्तर में प्रकाशित संस्करणों व पाण्डुग्रन्थों में अभ्यास में आने लगे। इस विधि से ग्रन्थों की प्रतिलिपि कराने में असावधानी के कारण शास्त्रकार या कवि की कृतियों के मूलपाठ में अन्तर पाया जाना स्वाभाविक है।

इन कारणों में शास्त्रकार या कवि के द्वारा विरचित ग्रन्थ की मूलप्रति की अनुपलब्धता भी प्रामाणिक पाठ के निर्धारण में उत्पन्न होने वाली कठिनाई में कारण बनती है। कहीं कहीं उपयुक्त समालोचना के विना ही अतार्किक विधि से अध्येताओं द्वारा अपने अनुरूप पाठपरिवर्तन करने से भी मूलपाठ के निर्धारण में कठिनाई उत्पन्न होती है। क्षेत्रीय परम्पराओं के प्रभाव से किए पाठपरिवर्तन भी शास्त्रकार या कवि के मौलिक अभिप्राय को समझने में कठिनाई उत्पन्न करते दिखाई देते हैं। इसलिए विद्वान् सम्पादक का दायित्व बनता है कि वह इन सभी से पनपी पाठभेदपरम्परा में से समुचित पाठ का चयन कर मूलपाठ की अर्थसंगति का निर्धारण कर प्रामाणिक संस्करण अध्येताओं को उपलब्ध कराने के लिए अपने अध्यवसाय को समर्पित करे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संस्कृतग्रन्थों के मूलपाठविषयक विसंगतियों को ध्यान में रखकर आज भी अनेक विद्वान् शास्त्रग्रन्थों के प्रामाणिक सम्पादित संस्करणों के निर्माण में प्रवृत्त दिखाई देते हैं।

3.4 ग्रन्थसम्पादन के नियम

आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' नामक अपनी टीका के प्रारम्भ में ही सम्पादन के नियमों का परिकर कारिकाओं के अन्तर्गत उल्लेख किया है। उनने नाट्यशास्त्र पर टीका लेखन तथा उसके सम्पादन हेतु जिस पद्धति का उल्लेख किया है उसको ही आलोचकों ने आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा अपनाए गए सम्पादन के नियमों के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार व्याख्यापद्धति या ग्रन्थ सम्पादन के नियम हैं –

उपादेयस्य सम्पाठः तदन्यस्य प्रतीकनम्।
स्फुटस्याख्या/स्फुटव्याख्या विरोधानां परिहारः सुपूर्णता।। 1.5।।

लक्ष्यानुसरणं श्लिष्ट–वक्तव्यांशविवेचनम्।

संगतिः पौनरुक्त्यानां समाधानमनाकुलम् / समाधानसमाकुलम्।। 1.6।।
संग्रहश्चेत्ययं व्याख्याप्रकारोऽत्र समाश्रितः।। 7।।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार–

1. उपादेय पाठ का ग्रहण किया जाना।
2. अनुपादेय पाठों का परित्याग।
3. स्पष्ट व्याख्या – निगदव्याख्यातम्।
4. ग्रन्थगत विरोधों का परिहार।
5. विषय की पूर्णता का प्रतिपादन।
6. उचित स्थान पर उदाहरणों को देना।
7. उनसे सम्बद्ध वक्तव्यांश की विवेचना।
8. ग्रन्थ में प्रतीत होने वाली पुनरुक्तियों की समाधानपूर्वक संगति और
9. अनाकुल समाधान की प्रस्तुति।
10. विस्तृत विषय का संक्षेप में सङ्ग्रह।

इन नियमों को आचार्य अभिनवगुप्त ने व्याख्यापद्धति के मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य ने इस पद्धति के आधार पर भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती नामक व्याख्यान की रचना की है।

यहां आचार्य ने व्याख्यापद्धति शब्द का प्रयोग किया है। वे नाट्यशास्त्र पर व्याख्यान लिखने के संकल्प के कारण ऐसा करते हैं। इस व्याख्यापद्धति को ग्रन्थों के सम्पादन के नियमों के रूप में सम्पादकों द्वारा अपनाया जाता है। इनमें से कुछ का सम्बन्ध सम्पादन के नियमों से है। शेष को व्याख्यापद्धति के मानदण्ड माना जाता है। इनमें से अनाकुल समाधान सम्पूर्ण सम्पादन का निष्कर्ष होता है। उपलब्ध अनेक पाठभेदों में से मूलपाठ के रूप में स्वीकृत पाठ सभी के द्वारा ग्राह्य होना चाहिए यही है अनाकुल समाधान का अर्थ।

सम्पादन के इन नियमों से विदित होता है कि किसी भी ग्रन्थ के पाण्डुग्रन्थों में उपलब्ध होने वाले पाठभेदों का संग्रह करने के अनन्तर उनमें से कवि और कविता के अनुरूप समुचिततम पाठ का चयन कर मूल रूप से प्रकाशन किया जाना सम्पादक का दायित्व बनता है। अन्य पाठभेदों को पादटिप्पणी में प्रस्तुत करना चाहिए जिससे कि अध्येता उन पर चाहे तो विचार कर सकता है, परन्तु तार्किक दृष्टि से। केवल पाठभेदों को प्रस्तुत कर अध्येता को मूलपाठ के निर्धारण का अधिकार देने पर मूल के संरक्षण के स्थान पर उसके सम्बन्ध में अनेक नवीन भ्रान्तियों का उदय होना सम्भव है। अतः विद्वान् सम्पादक को कवि और उसकी कविता के प्रयोगों के आधार पर मूलपाठ के निर्धारण का तार्किक विधान कर ही किसी शास्त्रीय या काव्यग्रन्थ का सम्पादन कार्य पूर्ण कर प्रकाशन में प्रवृत्त होना चाहिए। इसी में ग्रन्थ के मूलपाठ की शुद्ध परम्परा अध्येताओं तक पहुंचायी जा सकती है।

3.5 पाठभेद का निर्धारण

आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत सम्पादन के सूत्रों पर विचार किया जाए तो उनको अपनाते हुए सम्पादकों ने ग्रन्थों के सम्पादन में अनेक विसंगतियों को दूर किया है।

इन सूत्रों में कतिवय का उदाहरण पूर्वक विवेचन प्रस्तुत है –

1. **उपादेयस्य सम्पाठः** – संस्कृत भाषा में विरचित शास्त्रग्रन्थों या कवियों की रचनाओं के पाठभेदों में जो पाठ सर्वाधिक उपादेय हो उसको सम्पादक के द्वारा मूलपाठ माना जाना चाहिए।

   कुमारसम्भव के द्वितीय सर्ग में सभी देवता ब्रह्मा जी के पास जाते हैं तारकासुर के वध के निमित्त सेनानी के निर्माण की प्रार्थना करने के लिए –

   तदिच्छामो विभो! सृष्टं सेनान्यं तस्य शान्तये।
   कर्मबन्धच्छिदं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः ।। 2.51।।

   उपर्युक्त पद्य में प्रकाशित संस्करणों में स्रष्टुं पाठ स्वीकार किया गया है परन्तु आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी द्वारा उज्जैन की कालिदास संस्कृत अकादमी से प्रकाशित संस्करण में 'सृष्टं' पाठ स्वीकार किया गया है। यदि सृज् धातु से तुमुन् प्रत्यय के योग से निर्मित 'स्रष्टुं' पाठ मानेंगे तो सेनानी के निर्माण का कर्तृत्व देवताओं में स्थित होगा और अर्थ होगा वयं स्रष्टुमिच्छामः। यदि क्तप्रत्ययान्त 'सृष्टं' पाठ मानेंगे तो सेनानी के निर्माण का कर्तृत्व ब्रह्मा जी में स्थिर होगा– त्वया सृष्टमिच्छामः। सभी देवताओं को यही अभीष्ट है। इसके अतिरिक्त यदि देवता सेनानी के निर्माण में समर्थ हैं तो उन्होंने ब्रह्मा जी से सेनानी के निर्माण की प्रार्थना ही क्यों की। वे स्वयं सेनानी का निर्माण कर सकते थे।

   यह पाठ तार्किक विवेचन के उपरान्त सम्पादक द्वारा ग्रन्थसंगति को बनाये रखने के लिए स्वीकार किया गया। इस पाठ को समर्थन पाण्डुग्रन्थ से मिलता है। अमेरिका स्थित हार्वर्ड विश्वविद्यालय के ग्रन्थागार में स्थित कुमारसम्भव के पाण्डुग्रन्थ संख्या 833 में यह पाठ प्रकाशित है। इसकी प्रतिलिपि उपर्युक्त कालिदासग्रन्थावली के संस्करण के प्रारम्भ में प्रकाशित है।

2. **तदन्यस्य प्रतीकनम्** – सम्पादक को उपादेय पाठ के अतिरिक्त पाठों का उल्लेख कर देना चाहिए। सम्पादक का दायित्व बनता है कि वह उपलब्ध समस्त पाठों को प्रस्तुत करे और उपादेय पाठ को मूल के रूप में स्वीकार करे। ऐसा करने से अन्य पाठों के औचित्य और अनौचित्य के विषय में अध्येता स्वयं विचार कर किसी तार्किक निर्णय पर पहुंच सकता है। पाठभेदों के ग्रन्थसंकेत के साथ पादटिप्पणी में देना चाहिए। पाठभेद का सम्पूर्ण सन्दर्भ भी अपेक्षित है कि वह किस पाण्डुग्रन्थ में या किस प्रकाशित संस्करण में प्राप्त होता है।

महाकवि कालिदास विरचित अभिज्ञानशाकुन्तल के मंगलपद्य के चतुर्थ चरण में अनेक पाठभेद मिलते हैं –

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।

यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नः/प्रसन्नाः/प्रपन्नांस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ।।

उपर्युक्त पद्य में महाकवि कालिदास ने अष्टमूर्त्ति शिव जी से सभी के कल्याण व रक्षा की कामना की है। जल, अग्नि, काल की गति के नियामक सूर्य और चन्द्र, शब्द, पृथ्वी, वायु और यज्ञ में आहुति प्रदान करने वाली यजमान की चेतना इन आठ तत्त्वों

के रूप में शिव जी विराजमान हैं।

इस मंगलाचरणात्मक नान्दीपद्य के अन्तिम चरण में– प्रपन्नः, प्रसन्नाः और प्रपन्नाान् तीन पाठ मिलते हैं। प्रथम दो विशेषण बनते हैं 'ईशः' पदवाच्य शिवजी के और तीसरा पाठ बनता है विशेषण 'वः' पदवाच्य भक्त का। महाकवि ने शिवजी से सभी की रक्षा की प्रार्थना की है। प्रपन्न का अर्थ है शरणागत, परन्तु यदि शिव को प्रपन्न मानेंगे– **प्रपन्नाः ईशः वः अवतु** – तो उनसे भक्त की रक्षा करने की प्रार्थना का औचित्य सिद्ध नहीं होगा। शरणागति ईश के प्रति भक्त में अभीष्ट है न कि ईश की भक्त के प्रति। इसी प्रकार यदि शिवजी को प्रसन्ना मानते हैं– **प्रसन्नाः ईशः वः अवतु** – तो भी उनसे रक्षा करने की प्रार्थना करने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि जो प्रसन्न है वे रक्षा अवश्य करेंगे।

इन अनौचित्यों को ध्यान में रखते हुए कालिदासग्रन्थावली के आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित संस्करण में प्रपन्नाान् को मूलपाठ स्वीकार किया गया है। 'प्रपन्नान् वः ईशः अवतु' – अर्थात् शरणागत भक्तों की ईश (शिवजी) रक्षा करें। शरणागत भक्त हैं ग्रन्थकर्ता महाकवि कालिदास, अध्येता सहृदय और अभिज्ञानशाकुन्तल का अभिनय करते समय अभिनेता। 'वः' अव्यय युष्मान्, युष्मभ्यं और युष्माकम् इन तीन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः इसका अर्थ होगा – शिवजी भक्तिपूर्वक शरणागति को प्राप्त होने वाले कवि, अध्येता और अभिनेता सभी की रक्षा करें। प्रपन्ना शब्द का द्वितीया विभक्ति बहुवचन में 'प्रपन्नाान्' रूप बनता है और 'वः' भी द्वितीया बहुवचनान्त पद 'युष्मान्' के अर्थ का वाचक है। अतः दोनों में सामानाधिकरण्य के कारण विशेषण–विशेष्यभाव सिद्ध होता है।

विचार करने पर यही अर्थ महाकवि कालिदास को भी अभीष्ट रहा होगा। पूर्ववर्ती दोनों पाठों को स्वीकार करने से उत्पन्ना होने वाले अर्थविषयक अनौचित्य उदित का भी तार्किक समाधान हो जाता है। इस प्रकार के उपादेय पाठ का मूल के रूप में स्वीकार किया जाना किसी पाण्डुग्रन्थ में इसकी उपलब्धता की अपेक्षा नहीं करता। यहां अपपाठों के उदित होने में कारण हैं लिपिकर को ब्राह्मी लिपि का समुचित अभ्यास न होना। महाकवि कालिदास के समय ब्राह्मी लिपि अभ्यास में थी।। लिपिकर द्वारा 'प्रपन्नाान्' के स्थान पर 'प्रपन्ना' या 'प्रसन्ना' इन दो अपपाठों का लिखा जाना इसी लिपिगत अभ्यास की कमी या असावधानीपूर्वक अभिज्ञानशाकुन्तल की प्रतिलिपि के लेखन का परिणाम है।

यहां कवि के मूलभाव को ध्यान में रखकर पाठनिर्धारण किया गया है। महाकवि के अन्य नाटकों में से मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय में 'वः' अव्यय का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। मालविकाग्निमित्र के नान्दी पद्य में– सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः – और विक्रमोर्वशीयम् के नान्दी पद्य में– सः स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः – इस प्रकार महाकवि ने सबके कल्याण की कामना की है।

दोनों ही नाटकों के नान्दी पद्यों में महाकवि कालिदास ने 'वः' अर्थात् हम सबके कल्याण की कामना की है। ऐसी स्थिति में महाकवि को अभिज्ञानशाकुन्तल में भी प्रपन्ना भक्त की रक्षा ही अभीष्ट होगी और 'प्रपन्नाः' और 'प्रसन्नाः' के स्थान पर 'प्रपन्नाान्' पाठ मानना अधिक उचित है।

2. **स्फुटस्याख्या/ स्फुटव्याख्या** – व्याख्यापद्धतियों में अनेक स्थलों पर व्याख्याकारों द्वारा – **निगदव्याख्यातम्** – अर्थ स्पष्ट है या व्याख्या की आवश्यकता नहीं – ऐसा

लिखा मिलता है। व्याख्याकारों को जहां अर्थ सर्वविदित हो या लोकप्रिय हो वहां किसी प्रकार के विशेष व्याख्यान से बचना चाहिए और निगद व्याख्यातम् इत्यादि प्रयोग के माध्यम से संकेत कर आगे के पाठों पर विचार करना चाहिए।

5. समाधानम् अनाकुलम् – सम्पादक का दायित्व बनता है कि वह अविवादित समाधान प्रस्तुत करे। परन्तु उसका समाधान अनाकुल होना चाहिए।

कहीं–कहीं उपलब्ध पाठभेदों में से चयनित पाठ पाण्डुग्रन्थों में उपलब्ध हो जाता है, जिससे सम्पादक द्वारा चयनित पाठ की प्रमाणिकता की सिद्धि होती है। उदाहरणार्थ चार नाटयवृत्तियों भारती, सात्त्वती, आरभटी और कैशिकी में से चतुर्थ वृत्ति का सर्वप्रचालित पाठ है 'कैशिकी' जबकि विचार करने पर 'कौशिकी' या 'कौशकी' यह पाठ अधिक समीचीन प्रतीत होता हैं। चारों नाट्यवृत्तियों में 'भारती' शब्दवृत्ति मानी जाती है तथा अवशिष्ट तीन अर्थवृत्तियां। 'केश' शब्द से ठक् प्रत्यय करने पर कैशिकी शब्द निष्पन्ना होता है जबकि 'कोश' शब्द से ठक् प्रत्यय करने पर कौशिकी या कौशकी। कौशिकी पाठ अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि यह वृत्ति शरीर के एक अंग विशेष 'केश' से निष्पन्न न होकर सम्पूर्ण शरीर 'कोश' की प्रतिनिधिभूत वृत्ति है।

कतिपय विद्वानों ने शृंगार रस की प्रधानता होने के कारण 'कौशिकी' यह पाठ माना है जो उचित नहीं क्योंकि आचार्य भरत के अनुसार कैशिकी का जो स्वरूप स्वीकार किया गया है उसमें नृत्यगीतादि, कामोपभोगादि, हसितरुदितादि का अभिनय कोशाश्रित ही होता है न कि केशाश्रित–

> या श्लक्ष्णनैपथ्यविशेषभिन्ना स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता।
> कोमोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति।।

> बहुवाद्यनृत्यगीता शृंगाराभिनयचित्रनैपथ्या।
> माल्यालंकारयुता प्रशस्तवेषा च कान्ता च।।

> चित्रपदवाक्यबन्धैरलङ्कृता हसितरुदितरोषाद्यैः।
> स्त्रीपुरुषकामयुक्ता विज्ञेया कैशिकीवृत्तिः।।

कौशिकी इस पाठ को कुमारसम्भव अष्टमसर्ग के 85 वें पद्य की टीका में आचार्य वल्लभदेव ने स्वीकार किया है–

> स व्यबुध्यत बुधस्तवोचितः शातकुम्भकमलाकरैः समम्।
> मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः किन्नरैरुषसि गीतमंगलः।।

इसके अतिरिक्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारत कला भवन में संरक्षित देवनागरी लिपि में लिखित पाण्डुग्रन्थ संख्या 2034 में उपर्युक्त पद्य के साथ लिखित पार्श्वटिप्पणी में चारों वृत्तियों का उल्लेख करते हुए लिपिकर जे कौशकी यह पाठ स्वीकार किया है–

> कौशिकी स्यात्तु शृंगारे रसे वीरे तु सात्त्वती।
> रौद्रबीभत्सयोर्वृत्तिर्नियतारभटी पुनः।।

> शृंगारादिषु सर्वेषु रसेष्वष्टासु भारती।।
> कौशक्यारभटी चैव सात्त्वती भारती तथा।
> चतस्रो वृत्तयो ज्ञेयास्तासु नाट्यं प्रतिष्ठितम्।।

इससे सिद्ध होता है कि अद्यावधि प्रचलित पाठ कैशिकी के स्थान पर कौशिकी या कौशकी पाठ भी प्राचीन टीकाकारों व पाण्डुग्रन्थों में प्रसिद्ध थे।

यदि लिपि की दृष्टि से विचार किया जाय तो ब्राह्मीलिपि में लिखित मूलपाठ में एक रेखा मात्र के परिवर्तन से कौशिकी या कैशिकी पाठ बन जाता है। अतः लिपिकर द्वारा असावधानीपूर्वक प्रतिलिपि करना भी इस पाठभेद के प्रचलित होने में कारण बन सकता है।

इसी प्रकार का एक उदाहरण कालिदास वाङ्मय से विचारणीय है। महाकवि कालिदास विरचित रघुवंश महाकाव्य के एक पद्य में इस प्रकार की स्थिति आती है –

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतः स्वैरगतेः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ।।2.5।।

पुत्रप्राप्ति की कामना से महाराज दिलीप गुरु वशिष्ठ की गौ नन्दिनी की सेवा में तत्पर होते हैं उसको तृण के आस्वादपूर्ण ग्रास खिलाते हुए, कीट इत्यादि के दंश को हटाते हुए और उनसे उत्पन्ना खुजली दूर करते हुए। राजा अव्याहत गति थे और नन्दिनी स्वैरगति अर्थात् यथेष्ट गमन करने वाली।

उपर्युक्त पद्य में प्रकाशित संस्करणों में अव्याहतैः स्वैरगतैः सः, अव्याहतस्वैरगतैश्च, अव्याहतैः स्वैरगतैः, अव्याहतस्वैरगतेश्च, अव्याहतस्वैरगतेस्स इत्यादि पाठ मिलते हैं।

इन पाठों पर विचार करने और मूल में स्वीकृत पाठ अव्याहतः स्वैरगतेः स तस्या – पर विचार करने पर स्पष्ट होता है कि इस पद्य में समुच्चयवाची चकार के माध्यम से महाकवि ने समाराधन के तृतीया विभक्ति से द्योतित समस्त प्रकारों का संग्रह किया है। अतः उसके अन्नतर तृतीयान्त पदों – अव्याहतैः और स्वैरगतैः – इन दोनों का प्रयोग अतार्किक प्रतीत होता है। अतः मूलपाठ के रूप में – अव्याहतः स्वैरगतेः यह पाठ स्वीकार किया जाना चाहिए। अव्याहतः सः– यानी राजा था अव्याहत (स्वतन्त्र) गति वाला और स्वैरगतेः तस्याः– अर्थात् स्वैरगति (इच्छानुकूल गमन) वाली थी नन्दिनी। राजा का अव्याहतगति होना अनिवार्य है। उसके गमन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए जैसा कि सामान्यतः उसकी रक्षा को ध्यान में रख कर राज्याधिकारियों द्वारा लगाया जाता है। ऐसी स्थिति में राजा सर्वत्र गमन नहीं कर सकता और स्वतन्त्र होकर गौ के समाराधन में समर्पित नहीं हो पाता। यदि राजा के गमन पर प्रतिबन्ध होगा तो गौ की सेवा स्वतन्त्र रूप से सम्भव नहीं हो सकेगी।

इसी प्रकार नन्दिनी गौ को भी स्वैरगति होना चाहिए। वह जहां चाहे वहां भ्रमण करे। उसका भ्रमण राजा दिलीप के भ्रमण से नियन्त्रित नहीं होना चाहिए। ऐसा होने पर ही उसका समुचित समाराधन राजा द्वारा किया जा सकेगा।

इसके अतिरिक्त समाराधन के समस्त तृतीया विभक्ति से द्योतित प्रकारों के 'च' इस समुच्चयवाची अव्यय के प्रयोग से महाकवि कालिदास द्वारा स्वयं समाहार कर दिए जाने पर पुनः तृतीयान्त पदों – अव्याहतैः स्वैरगतैः – का प्रयोग समाराधन के प्रकारों के रूप में किया जाना अनुचित और अतार्किक है। यह शास्त्रसम्मत भी नहीं है।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए काशीहिन्दूविश्वविद्यालय से प्रकाशित कालिदासग्रन्थावली के द्वितीय संस्करण में आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने – अव्याहतः स्वैरगतेः – यह मूलपाठ स्वीकार किया है। ऐसा मानने पर अर्थसंगति का निर्धारण हो जाता है और महाकवि कालिदास के अभीष्ट अर्थ तक हम पहुंच जाते हैं। इस पाठ

को समर्थन लन्दन स्थित वेलकम ट्रस्ट में सुरक्षित रघुवंश की पाण्डुलिपि संख्या 520 से प्राप्त होता है। जहां 'अव्याहतः स्वैरगतेः' पाठ ही लिपिकर द्वारा लिखा गया है।

4. विरोधानां परिहारः— परस्पर विरोधी पाठभेदों पर तार्किक रूप से विचार कर सम्पादक को मूलपाठ का निर्धारण करना चाहिए। ऐसा करने पर पाठभेदों के निराकरण का तार्किक आधार स्पष्ट होता है और अध्येता की मूलपाठ के प्रति श्रद्धा स्थिर होतीहै।

सम्पादक की अन्तःप्रज्ञाश्रित तार्किक विचारपद्धति पाठनिर्धारण में सहायक बनती है और ग्रन्थ के अन्तर्विरोध का समाधान करने में समर्थ होती है। इसका उदाहरण बनता है आचार्य भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र का मंगलपद्य जहाँ आचार्य ब्रह्मा जी और शिवजी दोनों को प्रणाम निवेदित करते हैं परन्तु नाट्यशास्त्र का प्रतिपादक केवल ब्रह्मा जी को बताते हैं, शिवजी के नाट्यशास्त्र के प्रयोग पक्ष के निर्माण में स्मरण भी नहीं करते—

> **प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ।**
> **नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम् ।। 1.1 ।।**

प्रणाम निवेदित है पितामह और महेश्वर दोनों को। मैं नाट्यशास्त्र का प्रतिपादन करने जा रहा हूँ जिसका उपदेश ब्रह्मा जी ने किया है।

नाट्यशास्त्र में सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं ब्रह्मा परन्तु प्रयोग के प्रवर्तक माने जाते हैं शिव जी। अतः दोनों का समान महत्त्व है नाट्यशास्त्र के निर्माण में।

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला से प्रकाशित नाट्यशास्त्र के काव्यलक्षणखण्ड के अनुवाद तथा टिप्पणी सहित संस्करण के प्रकाशन में आचार्य प्रो0 रेवाप्रसाद द्विवेदी ने इस कारिका को पादटिप्पणी में दे दिया और — **ब्रह्मणा यदुदाहृतम्** — इस पाठ के स्थान पर पाठ दिया — **द्वाभ्यां यत् समुदाहृतम्** — अर्थात् ब्रह्मा जी और शिवजी दोनों के द्वारा प्रतिपादित नाट्यशास्त्र का प्रतिपादन करने जा रहे हैं, यह अर्थ किया। इस प्रकार कारिका का मूल बनता है —

> **प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ।**
> **नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि द्वाभ्यां यत् समुदाहृतम् ।। 1.1 ।।**

यह पाठ किसी पाण्डुग्रन्थ में नहीं मिलता परन्तु सम्पादक द्वारा अन्तःप्रज्ञाश्रित अर्थसंगति के आधार पर उपस्थित किया गया है। सभी पाण्डुग्रन्थों का अध्ययन करना सम्भव नहीं और करने पर यह पाठ मिल भी सकता है।

3.6 सारांश

संस्कृत भाषा या अन्य भाषाओं में विरचित प्राचीन ग्रन्थों के संस्करणों में अनेक पाठभेद विषयक विसंगतियां आज भी प्राप्त होती हैं। इनको दूर कर मूलपाठ का संरक्षण करना प्रत्येक ग्रन्थ के सम्पादक का दायित्व बनता है। मूलपाठ के निर्धारण के विषय में जो मानदण्ड आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा निर्धारित किए गए हैं ग्रन्थ सम्पादन में संलग्न सम्पादकों को उनको अपनाना चाहिए। आवश्यकता पड़े तो अपनी अन्तःप्रज्ञा के आधार पर मूलग्रन्थ के लेखक के अभिप्राय की रक्षा करते हुए तार्किक पाठ को मूलपाठ के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। पाण्डुग्रन्थों में पाठभेदों का उपस्थित होना लिपिकर के भाषा विषयक ज्ञान की कमी या असावधानीपूर्वक प्रतिलिपि निर्माण से सम्भव है। कहीं

कहीं लिपिकर द्वारा कवि के अभिप्राय को ध्यान में न रखते हुए भी नवीन पाठों का निर्माण कर दिया जाता है। समस्त पाठभेदों को देखकर उपयुक्ततम का चयन करना प्रत्येक सम्पादक का दायित्व बनता है। अतः सम्पादन का कार्य लिपि तथा भाषा के ज्ञान, सम्पादित किए जाने वाले ग्रन्थ के विषय से परिचित होने, ग्रन्थरचयिता के मूल अभिप्राय से परिचित होने, पाण्डुग्रन्थों तथा प्रकाशित संस्करणों में उपलब्ध पाठों की तार्किक विवेचना के सामर्थ्य और अन्तःप्रज्ञाश्रित तार्किक विवेचना के आधार पर निर्धारित किया जाता है।

3.7 शब्दावली

अन्तःप्रज्ञा – सम्पादक की प्रज्ञा, उसका विषय के तार्किक विवेचन का सामर्थ्य।

हस्तलेख – प्राचीन समय में हाथ से लिखकर तैयार की गयी ग्रन्थ की प्रतिलिपि।

लिपिकर्ता – ग्रन्थ की प्रतिलिपि करने के व्यवसाय में संलग्न व्यक्ति।

अर्थसंगति – ग्रन्थरचयिता के अभिप्राय को समझ कर मूलपाठ पर विचार करना।

पाण्डुग्रन्थ – ग्रन्थ की प्राचीन प्रतिलिपि।

डाकुमेन्टेशन – पाण्डुग्रन्थों व प्रकाशित संस्करणों में प्राप्त पाठभेदों का संग्रह।

विश्वकोशात्मक– किसी विषय का विस्तृत प्रतिपादन करने वाला विशाल ग्रन्थ।

पाठपरिवर्तन – मूलपाठ में किया गया परिवर्तन।

पुनरुक्ति – किसी विषय का अनेक बार कथन।

अनुपादेय – प्रसंग या विषय के अनुरूप न होने से स्वीकार करने योग्य न होना।

अनाकुल – सभी के द्वारा ग्राह्य। किसी को आकुल या उद्विग्न न करने वाला।

पादटिप्पणी – ग्रन्थ के नीचे दिया जाने वाला सन्दर्भ या टिप्पणी।

मंगलपद्य – ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण के निमित्त प्रस्तुत पद्य।

3.8 सन्दर्भग्रन्थ

1. **महाभारत**, वेदव्यास, सं. विष्णु एस. सुक्थंकर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पुणे सन् 1966
2. **नाट्यशास्त्र**, भरतमुनि, सं. रामकृष्ण कवि, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1956
3. **रामायण**, महाकवि वाल्मीकि, सम्पादित मूलपाठ जी. एच. भट्ट, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1960
4. **कालिदासग्रन्थावली** (हिन्दी अनुवाद सहित) (प्रथम भाग– काव्यखण्ड, द्वितीय भाग– नाट्य खण्ड)– सं. आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रधान सम्पादक – प्रो0 मिथिला प्रसाद त्रिपाठी, सहा. सं. प्रो0 सदाशिव कुमार द्विवेदी, प्रकाशक कालिदास संस्कृत अकादमी, विश्वविद्यालय मार्ग उज्जैन, प्रकाशन वर्ष 2008
5. **शृंगारप्रकाश** (खण्ड 1 व 2), रचयिता भोजराज, सं. आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी, सहा. सं. प्रो0 सदाशिव कुमार द्विवेदी, प्रकाशक इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली, 2005

6. साहित्यशास्त्रमुच्चय (साहित्यशास्त्रग्रन्थ मूलप्रकाशन शृंखला– प्रथम से सप्तम भाग– 11वाल्यूम)– आचार्य दण्डी काव्यलक्षणादर्श से लेकर शोभाकरमित्र के अलंकाररत्नाकर तथा अग्निपुराण में उपलब्ध साहित्यागम इत्यदि 30 से अधिक मूल ग्रन्थों के सम्पादित मूल का प्रकाशन– सम्पादक रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रो0 सदाशिव– कुमारद्विवेदी, प्रकाशक कालिदास संस्थान, 28 महामनापुरी, पोस्ट– काहिविवि, वाराणसी 221005, 2013 से 2017

7. नाट्यशास्त्रम् (काव्यलक्षणखण्ड), भरतमुनि, सम्पादक तथा अनुवादक रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला तथा आर्यन बुक्स इण्टरनेशनल, नई दिल्ली, 2005

3.9 बोध प्रश्न

1. प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए।
2. आचार्य अभिनवगुप्त के भारतीय ज्ञान परम्परा में अवदान को निरूपित करिए।
3. आचार्य अभिनवगुप्त के सम्पादन के सूत्रों का विवेचन कीजिए।
4. प्राचीन ग्रन्थों में उत्पन्न होने वाले पाठभेदों के कारणों का विवेचन कीजिए।
5. सम्पादन के किन्हीं दो सूत्रों का सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
6. अन्तःप्रज्ञा के आधार पर पाठभेद निर्धारण के महत्त्व पर सोदाहरण प्रकाश डालिए।
7. कतिपय ग्रन्थों के सम्पादित संस्करणों का उल्लेख करते हुए सम्पादन के महत्त्व पर प्रकाश पर प्रकाश डालिए।